जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

शंका-समाधान 1 से 5 तक

पुस्तक 1

सम्पादक :

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

वाराणसी

आद्यप्रकाशक :

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला

गाँधी रोड, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथमावृत्ति : फरवरी 1967
द्वितीया वृत्ति : 2015

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

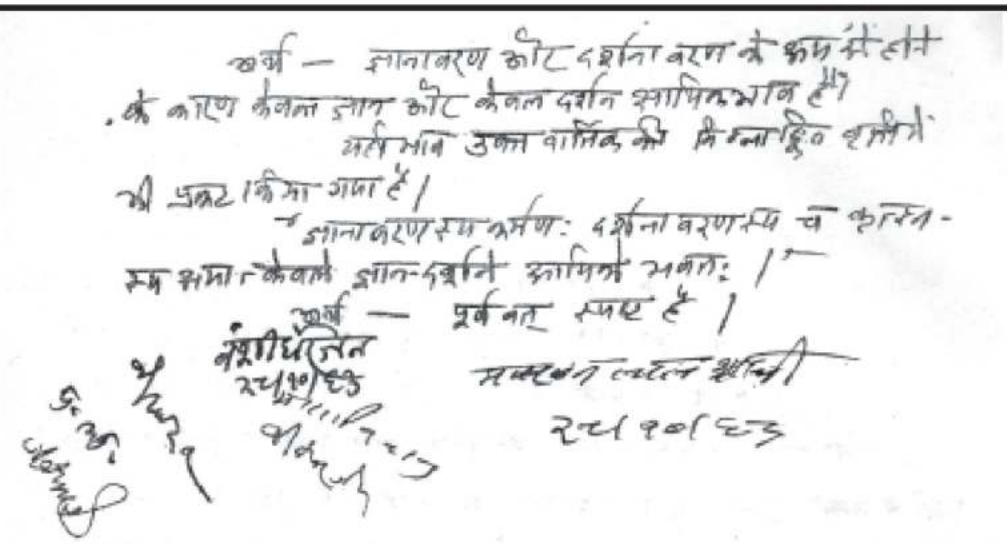
प्रकाशकीय

जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा पुस्तक-1 का अत्यधिक दीर्घकाल के पश्चात् प्रकाशन करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। वर्तमान शताब्दी में वीतराग जिनेन्द्र परमात्माओं द्वारा प्रतिपादित वीतरागी सन्तों और ज्ञानी-धर्मात्माओं द्वारा सुरक्षित वीतरागमार्ग, क्रियाकाण्ड के घटाटोप में आच्छादित हो गया था, ऐसे समय में हमारे महान पुण्योदय से परम उपकारी आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा जिनागम के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन कर एक आध्यात्म क्रान्ति का सूत्रपात किया गया। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा आगम और स्वानुभव के आधार पर प्रतिपादित शुद्ध आध्यात्मिक जैनमार्ग का निहित स्वार्थों द्वारा जानबूझकर विरोध किया गया और समाज को दिग्भ्रमित करने का प्रयास किया गया। गुरुदेवश्री की मौजूदगी के समय ही इस समस्या के समाधान हेतु उभयपक्ष के विद्वानों द्वारा जयपुर खानिया में लिखित तत्त्वचर्चा हुई जिसका प्रकाशन फरवरी १९६७ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल ग्रन्थमाला द्वारा किया गया। वह प्रकाशन काफी समय से अनुपलब्ध था और यह चर्चा एक ऐतिहासिक दस्तावेज होने के कारण दीर्घ काल तक इसकी सुरक्षा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी भावना से इसका पुनर्प्रकाशन किया जा रहा है। साथ ही इस तत्त्वचर्चा के दोनों खण्डों का प्रकाशन इंटरनेट पर भी उपलब्ध कराया जा रहा है। जिससे लम्बी अवधि के लिए यह ऐतिहासिक दस्तावेज सुरक्षित रह सके।

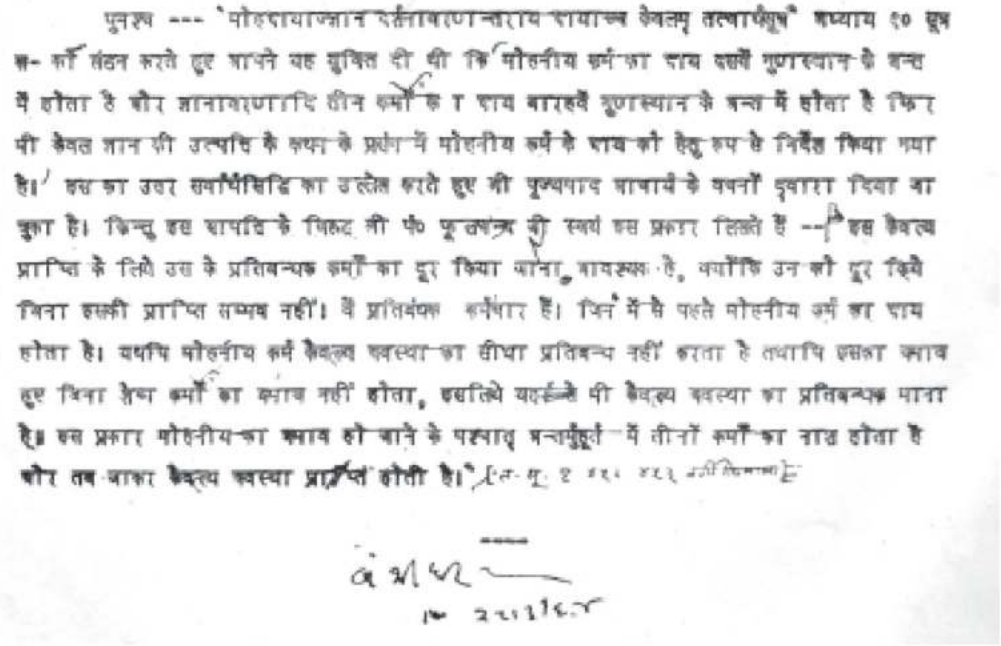
अन्त में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में सविनय वन्दन करते हुए परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्त उपकारों का स्मरण करते हुए उनके चरणों में वन्दन समर्पित करते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई



प्रथम तथा द्वितीय दौर के पत्रकों पर मध्यस्थ के साथ प्रथम
पक्ष के पाँचों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर



तृतीय दौर के पत्रकों पर प्रथम पक्ष के अन्यतम
प्रतिनिधि पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना के हस्ताक्षर

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागम में सर्वत्र भावचारित्र या निश्चय चारित्र की ही प्रधानता है, क्योंकि यह मोक्ष का साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथ में सूक्ष्म गुणस्थान परिपाटी के अनुसार व्यवहार चारित्र होता ही है। उसका निषेध नहीं है. परन्तु ज्ञानी की सदा स्वरूपरमणता की दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्ष मार्ग में उसकी मुख्यता है। मोक्ष-मार्ग का तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंका में प्रसंगवश इसी प्रकार की सम्बन्धित और भी अनेक चर्चाएँ आई हैं परन्तु उन सबका समाधान उक्त कथन से हो जाता है, अतः यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

9/11/83

9-11-83

तीनों दौरों के पत्रकों पर मध्यस्थ के साथ द्वितीय पक्ष के
तीनों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर

विषय-सूची

1. शंका-समाधान 1-109

मंगलाचरण 1

प्रथम दौर 1-3

शंका 1 और उसका समाधान 1-3

द्वितीय दौर 4-14

प्रतिशंका 2 4-8

प्रतिशंका 2 का समाधान 9-14

तृतीय दौर 14-109

प्रतिशंका 3 14-45

प्रतिशंका 3 का समाधान 46-109

1. अध्यात्म में रागादि को पौद्गलिक बतलाने का कारण 56
2. समयसार गाथा 68 की टीका का आशय 59
3. कर्मोदय जीव की अन्तरंग योग्यता का सूचक है, जीवभाव का कर्ता नहीं 61
4. प्रस्तुत प्रतिशंका में उल्लखित अन्य उद्धरणों का स्पष्टीकरण 62
5. सम्यक् नियति का स्वरूप निर्देश 65
6. प्रसंग से प्रकृतोपयोगी नयों का खुलासा 70
7. कर्ता-कर्म आदि का विचार 73

2. शंका-समाधान 110-133

प्रथम दौर 110-111

शंका 2 और उसका समाधान 110-111

द्वितीय दौर 112-116

प्रतिशंका 2 112-113

प्रतिशंका 2 का समाधान 113-116

तृतीय दौर 116-133

प्रतिशंका 3 116-122

प्रतिशंका 3 का समाधान 123-133

1. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरों का उपसंहार 123
2. प्रतिशंका 3 के आधार से विचार 123

3. शंका-समाधान 134-186

प्रथम दौर 134-135

शंका 3 और उसका समाधान 134-135

द्वितीय दौर 136-145

प्रतिशंका 2 136-141

प्रतिशंका 2 का समाधान 142-145

तृतीय दौर 146-186

प्रतिशंका 3 146-159

प्रतिशंका 3 का समाधान 160-186

1. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरों का उपसंहार 160
2. प्रतिशंका 3 के आधार से विचार 161

4. शंका-समाधान 187-229

प्रथम दौर 187-188

शंका 4 और उसका समाधान 187-188

द्वितीय दौर 189-194

प्रतिशंका 2 189-192

प्रतिशंका 2 का समाधान 192-194

तृतीय दौर 194-229

प्रतिशंका 3 194-209

1. प्रश्न चार का परिशिष्ट 206

प्रतिशंका 3 का समाधान 209-229

1. उपसंहार 209
2. प्रतिशंका 3 के आधार से विवेचन 210

3. प्रश्न चार के परिशिष्ट का ऊहापोह 225

5. शंका-समाधान 230-

प्रथम दौर 230-232

शंका 5 और उसका समाधान 230-232

द्वितीय दौर 233-261

प्रतिशंका 2 233-242

1. अकाल में दिव्यध्वनि 237
2. निर्जरा तथा मुक्ति का अनियत समय 238
3. अनियत गुणपर्याय 238
4. क्रम-अक्रम परिणमन 238
5. द्रव्यकर्म की अनियत पर्याय 239
6. निमित्त-उपादानकारण 240
7. केवलज्ञान की अपेक्षा 241

प्रतिशंका 2 का समाधान 242-261

तृतीय दौर 262-548

प्रतिशंका 3 262-364

1. सिद्धों के कर्मबन्ध क्यों नहीं 316
2. करणानुयोगसम्बन्धी विषयों का विचार 328
3. स्वकाल 345
4. दिव्यध्वनि का अनियत समय 347
5. कर्मनिर्जरा और मुक्ति का अनियत काल 348
6. कर्म का अनियत परिपाक 350

प्रतिशंका 3 का समाधान 365-

1. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्य का स्वकाल में होना स्वीकार 365
2. केवलज्ञान ज्ञापक हूँ कारक नहीं 366
3. कारक साकल्य में पाँच का समवाय स्वीकृत है 366
4. अलंघ्यशक्ति पद का वास्तविक अर्थ 368
5. प्रत्येक कार्य में अन्तरंग बहिरंग सामग्री की स्वीकृति 370
6. निश्चयनय से कर्ता-कर्म की व्यवस्था 371
7. दो प्रश्न और उनका समाधान 374
8. समस्याओं का मुख्यहेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नहीं 381
9. सर्वज्ञवचन का श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नहीं होता 387
10. क्रमबद्ध या नियतक्रम पद का अर्थ 381
11. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२३ की संस्कृत टीका 393
12. सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है 394
13. प्रकृत प्रतिशंका के कतिपय कथनों का खुलासा 396
14. आगमपठित क्रम-अक्रम पद का सही अर्थ 404
15. निमित्तवादी पुरुषार्थी नहीं हो सकता 408
16. श्रद्धा और कर्तव्य का समन्वय 409
17. एकान्त नियति और सम्यक् नियति में अन्तर 412
18. उपादान विचार 418
19. कार्य का नियामक उपादान कारण होता है 421
20. परिणमनक्रिया और परिणाम दो नहीं 429
21. 'णियमा' पद की सार्थकता 430
22. निमित्तविचार 431
23. उपादान कारण ही कार्य का नियामक है 433
24. दो आगम प्रमाणों का यथार्थ तात्पर्य 440

25. अनन्तर पूर्वोत्तर दो पर्यायों में ही हेतु-फलभाव होता है 449
26. आगमिक अन्य दो प्रमाणों का यथार्थ तात्पर्य 454
27. टीकांश का पुनः खुलासा 455
28. अन्य दो प्रमाण तथा उनका खुलासा 456
29. अन्य दो उल्लेखों का स्पष्टीकरण 457
30. अनवस्था दोष का परिहार 462
31. बाह्य सामग्री में अकिंत्करपने का खुलासा 463
32. नयों के विषय का स्पष्टीकरण 464
33. समयसार की 80वीं गाथा का वास्तविक अर्थ 465
34. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तीन गाथाएँ आदि 470
35. प्रतिशंका 3 में उपस्थित 4 प्रमाणों का स्पष्टीकरण 476
36. प्रतिशंका तीन में उपस्थित कतिपय तर्कों का सप्रमाण खण्डन 479
37. कर्मशास्त्र के अनुसार भी सब कार्य क्रम-नियमित ही होते हैं 483
38. कारणनुयोगसम्बन्धी विषयों पर उपस्थित आपत्तियों का समाधान 493
39. स्वकाल विचार 513
40. दिव्यध्वनि आदि सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं 517
41. कर्मनिर्जरा और मुक्ति का काल नियत है, अनियत नहीं 519
42. कर्मों का परिपाक प्रतिनियत ही होता है 522

प्रकाशकीय वक्तव्य

(प्रथमावृत्ति से)

लगभग 200 वर्ष की अवधि में जितने भी पुण्यपुरुष हुए हैं, उनमें आचार्यकल्प पण्डितश्री टोडरमलजी का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। वे अपने काल के मनीषियों में तो अग्रणी थे ही, आज का विद्वत्समाज भी उनकी अनुपम प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा मानता हे। अभी तक के इतिहास में इनके सिवाय शायद ही कोई ऐसा भाग्यवान गृहस्थ विद्वान् हुआ होगा जो 'आचार्यकल्प' जैसे प्रख्यात विशेषण से अलंकृत किया गया हो। इनकी परिमार्जित लेखनी से जो कुछ भी लिखा गया है, वह सब सर्वज्ञ वीतरागदेव की दिव्यध्वनि का अनुसरण करनेवाला होने से आगम ही है, ये छन्द, व्याकरण, न्याय, अलंकार, गणित और धर्म-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ सदाचार की मूर्ति थे। जिस प्रकार यह बात सच है कि यदि भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि को अवधारण करनेवाले उत्तरकालीन आचार्यों की आगमरूप में वाणी का प्रसाद हमें न मिला होता तो हमें उससे सर्वथा वंचित ही रहना पड़ता; उसी प्रकार यह बात भी सच है कि सटीक गोम्मटसारादि महान् सिद्धान्त ग्रन्थों को भाषावचनिकारूप में यदि आपने प्रस्तुत न किया होता तो आज उनके मर्म को जानने-समझनेवाले विद्वानों का सर्वथा अभाव ही होता।

जैनधर्म का दूसरा नाम आत्मधर्म है। प्रत्येक संसारी आत्मा का प्रधान कर्तव्य है कि वह अपने स्वरूप को समझकर उसे प्राप्त करने के मार्ग में लगे। इस तथ्य को हृदयंगम करके अपने स्वतन्त्ररूप से तीर्थंकरों की वाणी के प्रसादरूप में 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसे महान शास्त्र की रचना द्वारा हमारे समान अगणित भव्य जीवों का महान उपकार किया है। जैन अध्यात्म क्या है? - इस विषय का सांगोपांग विवेचन करनेवाला भाषावचनिकारूप यह प्रतिनिधि ग्रन्थराज है। इसमें निश्चय-व्यवहार निमित्त-उपादान, कार्य-कारणभाव तथा सम्यग्दर्शनादि के स्वरूप को बड़ी ही मनोरम सुस्पष्ट शैली में समझाया गया है। स्वसमय और परसमय को ठीक तरह समझकर जिसे जैन अध्यात्म में प्रवेश कर साक्षात् समयसार बनना है, उसे मनोयोगपूर्वक इस ग्रन्थराज को स्वाध्याय, चिन्तन, मनन द्वारा आत्मसात् करने

की अति आवश्यकता है। इसमें पण्डितजी की विवेकशालिनी प्रतिभासम्पन्न दृष्टि का दर्शन पद-पद पर होता है। यह उनके दिग्दिगन्तव्यापी निर्मल यश का उज्ज्वल प्रकाश है। वे लोकोत्तर महान पुरुष थे, यह इससे सिद्ध होता है।

जिस समय पण्डितजी इस भूतल को अलंकृत कर रहे थे, उस समय शीघ्रगामी रेल, मोटरकार आदि वाहनों का सर्वथा अभाव था। फिर भी अध्यात्म रहस्य के ज्ञाता के रूप में पूरे देश में उन्होंने प्रख्याति प्राप्त कर ली थी। दूर-दूर से आत्मकल्याण के इच्छुक भव्य जन उनकी पुनीत वाणी का प्रसाद पाने के लिए उनकी शरण में आकर कृतकृत्य होते थे। जो आने में असमर्थ रहते, वे लेख द्वारा अपनी जिज्ञासा प्रगट कर लेख द्वारा ही उनका सम्यक् समाधान प्राप्त करते थे। मुलतान की धर्मवत्सल समाज के लिए पण्डितजी द्वारा लिखी गयी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' इसका जीता-जागता उदाहरण है। जैसा इसका नाम है, उसी के अनुयप यह अध्यात्मरस से ओतप्रोत हे। जिसका अध्यात्म में भले प्रकार प्रवेश हो गया है, वह ही इसके मर्म को समझने का अधिकारी है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मानुभूति से किस प्रकार ओत-प्रोत होता है, इसे पण्डितजी ने इस चिट्ठी में बड़े ही मार्मिक शब्दों में समझाया है।

यह पण्डितजी के जीवन का एक पहलू है। उनके जीवन का दूसरा पहलू है, समाज सुधार और धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड में आये हुए विकार को दूर करना। उन्होंने देखा कि सर्वज्ञदेव, वीतराग गुरु और वीतराग वाणी का अनुयायी आज का समाज पाखण्डियों के बहकावे में आकर अनेक विपरीत मान्यताओं का उपासक बनता जा रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में तीन मूढ़ता और छह अनायतनों से रहित होता है। किन्तु आज का समाज इनके चक्कर में पड़ा हुआ है, अतएव उन्होंने क्रियाकाण्ड में आये हुए विकार को न केवल दूर किया, अपितु समाज को सनातन सत्य मार्ग पर ले जाने में भी पूरी सफलता प्राप्त की। यह गुरुतर कार्य करते हुए उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा, पर वे इससे विचलित न हुए। सम्यग्दृष्टि पुरुष वज्रपात होने पर भी सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं होता, यह परमागम की आज्ञा है जो उनके जीवन में अक्षरश: घटित होती है। उनकी षडयन्त्र का सामना करते हुए प्राणान्त जैसी महान् आपत्ति का सामना करना पड़ा, परन्तु वे अपने धर्म (कर्तव्य) से अणुमात्र भी विचलित न हुए। यह है उनके जीवित कार्यों का संक्षेप में लेखा-जोखा।

ऐसा महान पुरुष जिस देश और जिस नगरी में जन्म लेता है, वह तो धन्य है ही, जिस

परिवार को और माता-पिता को अपने जन्म से अलंकृत करता है, वे भी धन्य है। जैसा कि प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष राजस्थान के अन्तर्गत जयपुर यह नगरी उनकी कार्यक्षेत्र रही है। अभी 200 वर्ष से कुछ ही अधिक हुआ है, जब उन्होंने अपने जन्म से इस भूमण्डल को अलंकृत किया था। वे गोदीका वंश के लाड़ले लाल थे। उनके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रम्भादेवी था। पण्डित वंशीधरजी उनके शिक्षा गुरु थे। स्वाध्याय, शास्त्रगोष्ठी और ग्रन्थ लेखन यह उनका मुख्य कार्य था। अल्प आयु में ही यद्यपि उन्हें अपने वर्तमान जीवन से हाथ धोना पड़ा, परंतु इतने स्वल्प काल में उन्होंने जो साहित्य सेवा की है, उसकी तुलना नहीं। उन्होंने अपने जीवनकाल में गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - इन छह ग्रन्थों का ढूंढारी भाषा में अनुवाद किया तथा मोक्षमार्गप्रकाशक, अर्थसंदृष्टि अधिकार, गोम्मटसारपूजा और रहस्यपूर्ण चिट्ठी इन चार ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना की। उनकी ये सभी रचनायें मौलिक होने के साथ सिद्धान्त और अध्यात्मरस से ओत-प्रोत हैं। गोम्मटसारादि ग्रन्थों का अनुवाद करते समय इनके साथ उनकी संस्कृत टीकाओं का भी उन्होंने अनुवाद किया है। यह सब साहित्यिक कार्य करते हुए उनके चित्त में अपने विशेषज्ञपने का अहंकार छूकर भी नहीं गया था। उन्होंने यह सब कार्य स्व-परकल्याण की भावना से ही किया है। उनके लिखे हुए किसी भी ग्रन्थ का आप स्वाध्याय कीजिए, पद-पद पर उनकी इस उदात्त वृत्ति के दर्शन उसमें आप करेंगे। यों तो गोम्मटसारादि सभी ग्रन्थों में गणित का भरपूर उपयोग हुआ है, किन्तु त्रिलोकसार और उसकी टीका में और भी बारीकी के साथ इसका उपयोग किया गया है। वहाँ लोक और उसके अवान्तरभेदों का क्षेत्रफल, घनफल बतलाते समय अधोलोक को यवमध्य, यवमुरज और पिनष्टि आदि अनेक आकाररूप से प्रस्तुत कर विविध प्रकार से उसके घनफल निकालने की विधि बतलायी गयी है। पण्डितजी गणित के विशेषज्ञ तो थे ही, इसलिए उन सब विधियों को स्पष्ट करने में उन्होंने किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रहने दी। पिनष्टि के आकार में अधोलोक की रचना करने पर उसके घनफल के लाने की क्या विधि है, और ठीक अधोलोक का जो घनफल है, वह इस विधि से भी कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह सब स्पष्टीकरण भी पण्डितजी ने किया है। फिर भी अपनी लघुता दिखलाते हुए वहाँ उन्होंने लिखा है - 'याका भाव मेरे ठीक समझ में नहीं आया।' यह एक उदाहरण है जो उनकी उदात्तवृत्ति और महानता को प्रकट करने के

लिए पर्याप्त है। ऐसे विपुल उदाहरण उनकी सभी रचनाओं में पद-पद पर मिलेंगे जो उनकी निरभिमानवृत्ति के सूचक हैं।

ऐसे महान मनीषी की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए उनके नाम और व्यक्तित्व के अनुरूप एक स्मारक होना चाहिए इसे पूरा समाज चिरकाल से अनुभव करता आ रहा था। इसे योगायोग ही समझना चाहिए कि सोनगढ़ के महान सन्त पूज्य श्रीकानजीस्वामी का इस कमी की ओर सर्व प्रथम ध्यान गया। उन्होंने अपने प्रवचन के मध्य इसका अनेक बार संकेत भी किया।

एक तो जयपुर निवासी श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदीका पण्डितजी के वंशज हैं, लक्ष्मी की उन्हें सब प्रकार से अनुकूलता मिली हुई है, स्वभाव के भद्र और आत्मकल्याण के इच्छुक हैं, अपनी गाढ़ी कमाई का उपयोग धर्मकार्यों के प्रवर्तन में विशेषरूप से हो, यह उनकी भीतरी भावना है, साथ ही उनका पूरा परिवार ऐसे धार्मिक कार्यों में उनके साथ है।

दूसरे आत्मकल्याण के इच्छुक और स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा है। इसलिए वे अपने व्यापारादि कार्यों को गौणकर बीच-बीच में पूज्य स्वामीजी का सानिध्य प्राप्त करने और उनके अध्यात्मरस से ओत-प्रोत मार्मिक प्रवचनों से लाभान्वित होने के अभिप्रायवश सोनगढ़ जाते रहते हैं, और महीनों वहाँ रहते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल भवन का शिलान्यास

जब किसी महान कार्य होने की बेला आ जाती है, तब भीतरी और बाहरी सब प्रकार की अनुकूताएँ सहज सुलभ हो जाती हैं, यह प्रकृति का अकाट्य नियम है। एक तो पूज्य स्वामीजी का पण्डितजी की स्मृतिस्वरूप स्मारक की कमी की ओर ध्यान जाना और दूसरे गोदीकाजी का पण्डितजी का वंशज होना, यह ऐसा अपूर्व योग मिला कि गोदीकाजी ने सहज ही इस कमी को पूरा करने के लिए अपने परिवार की ओर से स्वीकारता दे दी। यत: पण्डितजी का मुख्य कार्यक्षेत्र जयपुर नगर रहा है, अत: निश्चय हुआ कि जयपुर में ही योग्य स्थान की तरबीज करके शीघ्रातिशीघ्र पण्डितजी के व्यक्तित्व और साधना के अनुरूप स्मारक निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय।

गोदीकीजी और उनके समस्त सहयोगी चाहते थे कि स्मारक की शिलान्यास विधि स्वयं पूज्य स्वामीजी के करकमलों द्वारा सम्पन्न हो। इसके लिए पूज्य स्वामीजी से निवेदन भी किया गया। किन्तु इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए स्वयं स्वामीजी तो नहीं पधार

सके। फिर भी उनकी आज्ञा से उनके अनन्य शिष्य श्रीमान् पण्डित खेमचन्द्रजी जेठालालजी सेठ शिलान्यास विधि के समय सपरिवार जयपुर पधारे और बड़े समारोह के साथ उनके हाथ से धार्मिक विधिपूर्वक शिलान्यास विधि सम्पन्न की गयी।

पण्डित श्री खेमचन्द्रजी जहाँ अध्यात्म के प्रगाढ़ विद्वान और सुयोग्य वक्ता हैं, वहाँ वे उदार दानी भी हैं। उनका परिवार बहुत बड़ा है। परिवार में सबसे बड़े तो वे स्वयं हैं। किन्तु उनकी व्यापार आदि लौकिक कार्यों में रुचि न होने के कारण वे स्वयं पूज्य स्वामीजी के सानिध्य में सोनगढ़ में रहकर स्वाध्याय आदि में अपना समय यापन करते रहते हैं। इस दृष्टि से वे बड़े भाग्यवान हैं। इस कार्य में उन्हें उनके पूरे परिवार का सहयोग प्राप्त है।

उनके भाईयों में दूसरे भाई श्री मणिलाल जेठालालजी सेठ हैं। बम्बई में मुम्बादेवी के मन्दिर के पास जो श्री 1008 सीमन्धर भगवान के विशाल जिनालय का निर्माण हुआ है और दादर में विशाल जिनालय व समवसरण मन्दिर तथा मानस्तम्भ के साथ कान्ह नगर की स्थापना हुई है, यह सब विशेषकर इनके दीर्घ परिश्रम व त्यागभावना का सुपरिणाम है। इस समय बम्बई में जो दिगम्बर धर्म का विशेष प्रचार दृष्टिगोचर होता है, इसमें भी इनका बड़ा हाथ है। इनके अन्य दो भाई और हैं। वे भी बड़े योग्य हैं। इनके कुटुम्ब में सब भाईयों के जितने पुत्र, पुत्री आदि हैं, वे सब अपने बड़ों का अनुवर्तन करते हैं। इनकी कौटुम्बिक व्यवस्था बड़ी सुन्दर है। मुझे प्रसंगवश इतना संकेत आवश्यक प्रतीत होता है कि इस समय श्री मणिलाल जेठालालजी सेठ का स्वास्थ्य कई कारणों से कुछ अधिक कमजोर प्रतीत होता है। वे पूरा स्वास्थ्य लाभकर पूर्ववत् धर्म कार्यों के सम्पन्न करने में दत्तावधान बनें, यह मेरी अन्त:करणपूर्वक भावना है।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला का श्रीगणेश

जब श्री पण्डित खेमचन्दजी जेठालालजी सेठ के हाथ से जयपुर में शिलान्यास विधि का मंगल कार्य सम्पन्न हो रहा था, उस समय वहाँ उपस्थित सभी विद्वानों के मन में यह विचार आया कि पण्डितजी के जीवित कार्यों में उनकी साहित्य सेवा मुख्य है, इसलिए उसकी स्मृतिस्वरूप भवन निर्माण के साथ उनके नाम से एक ग्रन्थमाला की स्थापना भी अवश्य होनी चाहिए। विचार प्रशंसायोग्य और करणीय था, अत: जैसे ही पण्डित श्री खेमचन्दजी जेठालालजी सेठ को इसकी जानकारी मिली, तत्काल उन्होंने इसके लिए 5001 रुपयों के दान की उदार घोषणा कर इस मंगल कार्य को आगे बढ़ाया। जैन समाज की उदारता

सुप्रसिद्ध है। यदि किसी परमार्थ के अनुरूप कार्य की योजना बने तो वह तत्काल उसकी पूर्ति में सहायक होती है। मुझे यह संकेत करते हुए प्रसन्नता होती है कि जैसे ही वहाँ उपस्थित पूरी समाज को इसकी जानकारी हुई, तत्काल उसकी ओर से भी लगभग 10000 (दस हजार) रुपयों की स्वीकृति मिल गयी। इस प्रकार जहाँ भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ, वहाँ उसके साथ ही '**आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल ग्रन्थमाला**' का श्रीगणेश भी उसके साथ कर दिया गया।

ग्रन्थमाला से प्रथम पुष्प के रूप में मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रकाशन का निश्चय

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी की मातृभाषा ढूंढारी हिन्दी थी। उन्होंने अपने पूरे साहित्य के साथ मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का निर्माण इसी भाषा में किया है। यद्यपि यह भाषा बहुत ही सुगम और सुनने में मधुर है, फिर भी पूरे देश का ख्याल कर आधुनिक हिन्दी में मोक्षमार्गप्रकाशक का एक प्रामाणिक संस्करण तैयार कराया जाये, यह विचार कर ग्रन्थमाला की ओर से सर्व प्रथम इस कार्य को हाथ में लिया गया। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए जयपुर के भण्डारों से प्राप्त अनेक हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों के आधार से इस ग्रन्थ की आधुनिक हिन्दी में एक प्रति तैयार करायी गयी। जहाँ तक सम्भव हुआ, इसे प्रामाणिक बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। मुझे प्रसन्नता है कि आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी की स्मृति में इस ग्रन्थमाला की स्थापना की गयी और इतनी अल्प अवधि में उन्हीं के द्वारा रचित इस महान ग्रन्थ का इसकी ओर से प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशन हो रहा है। जितना भव्य इसका श्रीगणेश है, उतनी ही भव्यता को लिए हुए यह संस्था अपना कार्य सम्पन्न करती रहेगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा का संक्षिप्त इतिहास

चिरकाल से जयपुर तत्त्वचर्चा का केन्द्र रहा है। इसके लिए यह पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। आज पूरे जैन समाज में जो तत्त्वज्ञान की जागृति दृष्टिगोचर होती हे, उसमें यहाँ के मनीषियों का बड़ा योगदान है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी तो यहाँ की विभूति थे ही। श्री शाह पण्डित दीपचन्दजी काशलीवाल, श्री पण्डित गुमानीरामजी, श्री पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, श्री पण्डित सदासुखजी और श्री पण्डित दौलतरामजी आदि गणयमान्य समर्थ विद्वान् भी जयपुर की ही देन हैं। इन सब विद्वानों ने अपने जीवनकाल में जो साहित्य की सृष्टि की है, उससे पूरा जैन समाज अनुप्राणित हुआ है। इसलिए इस नगर का वातावरण तत्त्वचर्चा के लिए उपयुक्त रहा है।

इसे तो विधि की विडम्बना ही कहनी चाहिए कि दिगम्बर परम्परा में पूज्य श्री कानजीस्वामी के दीक्षित होने के बाद समाज में मतभेद का प्राबल्य दृष्टिगोचर होने लगा। पूज्य श्री कानजीस्वामी का त्याग अपूर्व है। **दिगम्बर परम्परा ही मोक्षमार्ग के अनुरूप सनातन समीचीन परम्परा है, इसकी व्यापक घोषणा इस काल में यदि किसी के त्यागी ने की है तो वे एकमात्र पूज्य श्री कानजीस्वामी ही हैं।** उनके व्यक्तित्व, त्याग, विद्वत्ता और वक्तृत्व आदि गुणों के विषय में जितना भी लिखा जाय थोड़ा है। मोक्षमार्ग के अनुयप अध्यात्म का आत्मानुभवी ऐसा अपूर्व वक्ता इस काल में हम सबके लिए सुलभ है, इसे मैं हम सबका महान् पुण्योदय ही मानता हूँ। उनके पवित्र सानिध्य की छाया चिर काल तक हम सबके ऊपर बनी रहे, यह मेरी मंगल कामना है।

यों तो स्वपर के कल्याण के लिए जिन मंगल कार्यों का प्रारम्भ किया जाता है, उनके मध्य कुछ न कुछ बाधाएँ उपस्थित हुआ ही करती हैं, यह संसार का नियम है। पर उन बाधाओं को बाधा न गिनकर जो महान पुरुष होते हैं, वे अपने उद्दिष्ट कार्यों में ही लगे रहते हैं, यही उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता होती है। इस कसौटी पर जब हम पूज्य श्री कानजीस्वामी को कसकर देखते-परखते हैं तो वे महान् से महान्तर ही सिद्ध होते हैं। उनके इस लोकोत्तर गुण का पूरा समाज अनुवर्ती बने, यह मेरी अन्त:करण की पवित्र भावना है। विश्वास है कि पूरा समाज कालान्तर में उनकी इस महत्ता को अनुभव करेगा।

जैसा कि मैं पूर्व में निर्देश कर आया हूँ जयपुर सदा से तत्त्वचर्चा का केन्द्र रहा है। जब इस काल में अध्यात्म को लेकर विद्वानों में मतभेद बढ़ने लगा और इसकी जानकारी पूज्य श्री 108 आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघ को हुई तब, (उनके निकटवर्ती साधर्मी भाईयों से ज्ञात हुआ है) पूज्य श्री आचार्य महाराज ने अपने संघ में यह भावना व्यक्त की कि यदि दोनों ओर के सभी प्रमुख विद्वान् एक स्थान पर बैठकर तत्त्वचर्चा द्वारा आपसी मतभेद को दूर कर लें तो सर्वोत्तम हो। उनके संघ में श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी (निवाई) और श्री ब्रह्मचारी लाडमलजी जयपुर शान्तपरिणामी और सेवाभावी महानुभाव हैं। इन्होंने पूज्य श्री महाराज की सद्भावना को जानकर दोनों ओर के विद्वानों का एक सम्मेलन बुलाने का संकल्प किया। साथ ही इस सम्मेलन के करने में जो अर्थव्यय होगा, उसका उत्तरदायित्व श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी (निवाई) ने लिया।

यह सम्मेलन 20-9-1963 से उक्त दोनों ब्रह्मचारियों के आमन्त्रण पर बुलाया गया

था जिसकी सानन्द समाप्ति 1-10-1963 के दिन हुई थी। प्रसन्नता है कि इसे सभी विद्वानों ने साभार स्वीकार कर लिया और यथासम्भव अधिकतर प्रमुख विद्वान् प्रसन्नता पूर्वक सम्मेलन में सम्मिलित भी हुए। यद्यपि यह सम्मेलन 20 तारीख से प्रारम्भ होना था, परन्तु प्रथम दिन होने के कारण उसका प्रारम्भ 21 तारीख से हो सका, जो 1-10-1963 तक निर्बाधगति से चलता रहा। सम्मेलन की पूरी कार्यवाही लिखितरूप में होती थी, इससे किसी को किसी प्रकार शिकायत करने का अवसर ही नहीं आया। इस सम्मेलन की समस्त कार्यवाही पूज्य श्री 108 आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघ के सानिध्य में होने के कारण बड़ी शान्ति बनी रही। इसका विशेष स्पष्टीकरण सम्पादकीय वक्तव्य में पढ़ने को मिलेगा।

जैसा कि सम्मेलन के नियमों से ज्ञात होगा, यह निश्चय हुआ था कि शंका-समाधान पद्धति से लिखितरूप में पूरी चर्चा के तीन दौर रखे जायें। तदनुसार दो दौर तो श्री 108 आचार्य महाराज के सानिध्य में ही सम्पन्न हो गये थे। दोनों ओर से तीसरा दौर वहाँ सम्पन्न न हो सका। अतएव उसकी व्यवस्था परीक्षरूप में करने की योजना स्वीकार की गयी। प्रसन्नता है कि पिछले वर्ष के जून माह में तीसरा दौर भी सम्पन्न हो गया है।

शंका-समाधान पद्धति से लिखितरूप में इस तत्त्वचर्चा का ऐतिहासिक बड़ा महत्त्व है। **वस्तुतः देखा जाये तो यह तत्त्वचर्चा स्वयं अपने में एक जीवित इतिहास बन गया है।**

वर्तमान विद्वानों में आपस में मतभेद का मूल कारण क्या है, इस तथ्य को समझने के लिए भी यह तत्त्वचर्चा बड़ी उपयोगी है। शंका-समाधान के प्रसंग से यत्र-तत्र बीच-बीच में दोनों ओर से जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनसे आपसी मतभेद के मूल कारण पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। मैंने स्वयं तत्त्वचर्चा में सक्रिय भाग लिया है, इसलिए मैं इस विषय में तत्काल इससे और अधिक लिखना वांछनीय नहीं मानता। अस्तु

ग्रन्थमाला से जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा के प्रकाशन का निश्चय

इस प्रकार सविधि तत्त्वचर्चा के सम्पन्न होने के बाद उसके मुद्रण-प्रकाशन की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था, क्योंकि इतनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा बिना मुद्रण-प्रकाशन के रह जाये, यह उचित न होता। पूरी समाज उसकी ओर उत्कण्ठापूर्वक देख रही थी। जब आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति को यह ज्ञात हुआ कि दोनों ही पक्ष निर्णयानुसार मिलकर उसे प्रकाशित कराने की स्थिति में नहीं हैं तो इस दिशा में उसकी ओर से मुद्रण-प्रकाशन का निश्चय किया गया। तदनुसार इसकी सूचना सिद्धान्ताचार्य

पण्डित श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री को दी गयी क्योंकि एक तो उनका इस तत्त्वचर्चा में सक्रिय महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। दूसरे तत्त्वचर्चा के प्रकाशन के सम्बन्ध में दोनों ओर की लिखा-पढ़ी को ध्यान में रहते हुए उन्हें अपने पक्ष से मिलकर इसके प्रकाशन का निर्णय भी लेना था। मुझे प्रसन्नता है कि प्रबन्ध समिति के प्रस्ताव को अपने पक्ष की सम्मतिपूर्वक उन्होंने अन्त में सहर्ष स्वीकार कर लिया और तत्त्वचर्चा की पाण्डुलिपि सविधि ग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति के अधिकार में दे दी।

यद्यपि ग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति ने इसके प्रकाशन का भार तो सम्हाला, परन्तु योग्य सम्पादन के बिना उसका प्रकाशित करना उचित न समझकर सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री फूलचन्द्रजी से ही इसके सम्पादन की और प्रकाशन में योगदान करने की प्रार्थना की गयी। चूँकि पण्डितजी का वर्तमान निवास वाराणसी ही है, अत: वहीं इसके मुद्रण का भी विचार किया गया। स्पष्ट है कि इसका योग्यतापूर्वक सम्पादन तो उन्होंने किया ही, इसके मुद्रण और प्रकाशन में भी उनका पूरा योगदान मिला है।

पण्डितजी इस काल में जैन सिद्धान्त के उच्च कोटि के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इसे सभी मनीषी, यहाँ तक कि उनसे विचार-भेद रखनेवाले मनीषी भी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन जैसा कर्मठ विद्वान आज समाज के लिए सुलभ है, इसे समग्र जैन समाज का सौभाग्य ही समझना चाहिए। अतएव उनकी देखरेख में यह कार्य सम्पन्न हो, यह ग्रन्थमाला प्रबन्ध समिति की भावना थी। जिसे उन्होंने कार्यान्वित करके पूरी समाज का बड़ा उपकार किया।

यह जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला का दूसरा और तीसरा पुष्प है, जो ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो रहा है।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल स्मारक भवन का मनोरम रूप

मैं यह तो पहले ही बतला आया हूँ कि पूज्य श्री कानजीस्वामी की सत्प्रेरणा से जयपुर में ही आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल की स्मृति स्वरूप स्मारक बनाने का निर्णय हुआ था, जो अब उनकी समृति के अनुरूप विशालरूप में निर्मित हो चुका है। जयपुर में जिस स्थान पर इसका निर्माण हुआ है, वह शिक्षा का केन्द्र है। जयपुर राजस्थान का विश्वविद्यालय और दूसरी शिक्षा संस्थाओं के सन्निकट यह स्मारक भवन अति आकर्षक अपने ढंग का एक है। इसके मध्य लगभग 110 फुट लम्बा और 64 फुट चौड़ा एक विशाल हाल है। सामने की ओर एक तरफ सुन्दर चैत्यालय और दूसरी तरफ स्वाध्यायशाला का

निर्माण किया गया है तथा दायें-बायें दोनों ओर स्नातकों के निवास योग्य कमरे बनाये गये हें। कमरों के आगे छायादार दहलान है। दूसरे मंजिल पर भी हॉल के ऊपरी भाग के दोनों ओर इसी प्रकार व्यवस्थित कमरों की पंक्ति बनी हुई है। हॉल इतना ऊँचा बनाया गया है कि उसके ऊपर की छत से पूरे जयपुर की रमणीय छटा के दर्शन होते हैं। हॉल के पीछे की ओर नीचे और ऊपर की मंजिल में स्नानगृह आदि की सुन्दर व्यवस्था है। इस भव्य इमारत के पीछे अलग से अतिथिभवन का भी निर्माण किया गया है। चारों ओर खुला मैदान पर्याप्त है जिससे इस इमारत की शोभा द्विगुणित हो गयी है। मुख्य प्रवेश द्वार भी कलात्मक बनाया गया है। इस सबके दर्शन करने मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री सेठ पूरणचन्दजी गोदीका और उनके पूरे परिवार ने अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा को इसमें ओत दिया है। जयपुर राजस्थान में ही नहीं पूरे देश में यह स्मारक अपनी विशेषता रखता है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा स्मारक भवन का उद्घाटन

मुझे यह सूचित करते हुए अति आनन्द का अनुभव हो रहा है कि इसी मार्च माह के मध्य सोनगढ़ के आध्यात्मिक सन्त पूज्य श्री कानजीस्वामी के करकमलों द्वारा इसका उद्घाटन हो रहा है और उसी समय उन्हीं के पुनीत कर कमलों द्वारा ग्रन्थमाला के उक्त खिले हुए सौरभमय दो सुन्दर पुष्पों के दर्शन भी सबके लिए सुलभ होंगे।

आभार प्रदर्शन

सर्व प्रथम श्री 108 आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके समस्त संघ का स्मरण कर लेना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिनके आशीर्वाद स्वरूप तत्त्वचर्चा का आयोजन होकर उसका सम्यक् प्रकार से समापन हो सका।

मैं इस तत्त्वचर्चा के आयोजक और प्रबन्धक ब्रह्मचारी श्री सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई और श्री ब्रह्मचारी लाडमलजी जयपुर का सर्व प्रथम आभार मानना अपना प्रधान कर्तव्य मानता हूँ। यह उक्त दोनों महानुभावों के परिश्रम का ही सुपरिणाम है कि जिसके कारण यह तत्त्वचर्चा एक ऐतिहासिकरूप धारण कर सकी।

मुझे यहाँ दोनों पक्ष के उन नामांकित विद्वानों के प्रति भी आभार प्रदर्शित करते हुए अपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है, क्योंकि उनके मनोयोग और दीर्घ अध्यवसाय का ही यह सुपरिणाम है जो विशाल ग्रन्थ के रूप में आज समाज को उपलब्ध हो रहा है। तत्त्वज्ञान की जागृति में समाज और दूसरे मनीषी विद्वान पूरा लाभ उठावेंगे ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति के सब सदस्य और उनका तत्त्वचर्चा के प्रकाशन का निर्णय तो स्तुति योग्य है ही, क्योंकि उसने अपने निर्णय द्वारा पूरी समाज के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार उक्त तत्त्वचर्चा का ऐतिहासिक महत्त्व है; उसी प्रकार उक्त तत्त्वचर्चा जयपुर में होने के कारण जयपुर को ही उसके प्रकाशन का श्रेय मिले, इसका भी अपना महत्त्व है। प्रबन्धसमिति के इस निर्णय से जयपुर की ख्याति में वृद्धि ही हुई है, ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस तत्त्वचर्चा को जो ऐतिहासिक स्वरूप मिला है, उसमें सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री फूलचन्द्रजी साहब का विशिष्ट योगदान है। इतना ही नहीं, जिस रूप में वह है, उस रूप में उसका सुन्दर सम्पादन होकर वह प्रकाशित हो जाये, इस महत्त्वपूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व भी उन्हीं को सम्हालना पड़ा है। एतदर्थ मैं प्रबन्ध समिति की ओर से उसका जितना आभार मानूँ थोड़ा है। उनकी सेवाओं से चिरकाल तक समाज इसी प्रकार अनुप्राणित होती रहे, यह भावना है।

कोई भी वस्तु चाहे जितनी सुन्दर क्यों न हो, पर यदि उसका बाह्य परिवेश उसके अनुरूप न हो तो उसकी सुन्दरता छिप जाती है। मुझे प्रसन्नता है कि इस तत्त्वचर्चा का आन्तररूप जितना हृदयग्राही है, उतना ही हृदयग्राही उसका मुद्रण भी हुआ है। इसके लिए मैं श्री महावीर प्रेस, वाराणसी के मालिक श्री बाबूलालजी फागुल्ल का विशेषरूप से आभारी हूँ और महावीर प्रेस के उन कर्मचारियों का भी जिन्होंने मनोयोगपूर्वक इस कार्य को समय के भीतर ही सम्पन्न किया है।

यह प्रकाशन मात्र स्व-पर कल्याण की भावना से किया गया है। विश्वास है कि आत्मकल्याण के इच्छुक प्रत्येक प्राणी को यथार्थ तत्त्व का निर्णय करने में यह प्रकाशन बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

विनीत

नेमिचन्द पाटनी

व्यवस्थापक

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला

जयपुर

सम्पादक की ओर से

1. भेदविज्ञान का माहात्म्य

एक ही जीव की विविध अवस्थाओं के सूचक गुणस्थान चौदह हैं। नियम यह है कि सर्व प्रथम अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित है। मिथ्यात्व गुणस्थान का मुख्य कार्य अपने आत्मस्वरूप को भूलकर पर में निजबुद्धि कराना है। इसकी अदेव में देवबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि और अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि नियम से होती है। कषाय की मन्दतावश कदाचित् ऐसा जीव अणुव्रतों और महाव्रतों का भी पालन करता है। कदाचित् क्षयोपशम की विशेषतावश ग्यारह अंग और नौ पूर्वों का पाठी भी हो जाता है, फिर भी मिथ्यादृष्टि बना रहता है। **विषय-कषाय की मन्दता या क्षयोपशम की विशेषता का होना अन्य बात है और आत्मकार्य में सावधान होकर भेदविज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टि बन मोक्ष के लिए उद्यमशील होना अन्य बात है।** इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भगान कुन्दकुन्ददेव ने दर्शनप्राभृत में धर्म का मूल सम्यग्दर्शन को कहा है - दंसणमूलो धम्मो। सतत जागरूक रहते हुए परमागम का अभ्यास करना, अणुव्रत-महाव्रतों का पालन करना तथा देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा-भक्ति करना इसकी जहाँ बाह्य कर्तव्य के रूप में परमागम में स्वीकृति है, वहाँ उसी परमागम में अन्तरंग कर्तव्य के रूप में भेदविज्ञान की कला को सम्पादित करना सबसे बड़ा पुरुषार्थ बतलाया गया है। आचार्य अमृतचनद्रदेव ने इसी तथ्य को हृदयंगम कर समयसार-कलश में यह वचन कहा है कि आज तक जितने भी सिद्ध हुए, वे एकमात्र भेदविज्ञान के बल से ही सिद्ध हुए और जो संसारी बने हुए हैं, वे भेदविज्ञान को नहीं प्राप्त करने के कारण ही संसारी बने हुए हैं। भेदविज्ञान की महिमा सर्वोपरि है।

2. प्राचीन इतिहास

हमारे बुंदेलखण्ड की यह परिपाटी है कि प्रत्येक गाँव या नगर के प्रत्येक जिनालय में रात्रि वचनिका में दो शास्त्र अवश्य रखे जाते हैं। उसमें भी प्रथम शास्त्र तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसका सर्व प्रथम वाचन किया जाता है और दूसरा शास्त्र पुण्य पुरुषों की जीवनचर्या का परिचायक होता है। इसका अन्त में वाचन किया जाता है। प्रथम शास्त्र के

रूप में कभी-कभी चरणानुयोग सम्बन्धी शास्त्र का भी वाचन होता है और सबके अन्त में शास्त्रसभा में उपस्थित महानुभावों में से कोई एक महाशय भजन बोलते हैं, जो अध्यात्मरस से ओत-प्रोत होता है। बचपन में तो मैं इसके महत्त्व को नहीं जानता था, किन्तु अब इस पद्धति की विशेषता समझ में आने लगी है। यह संसारी प्राणी तत्त्वज्ञान का प्रयोजन समझकर आत्मकार्य में सावधान बने, यह इस पद्धति का मुख्य प्रयोजन है। यह पद्धति मेरे ख्याल से पूरे भारतवर्ष में प्रचलित होने का भी यही कारण है। इतना अवश्य है कि किसी विशिष्ट ज्ञानी के आ जाने पर शास्त्रगोष्ठी में तत्त्वज्ञान की प्ररूपणा पर सदा से विशेष बल दिया जाता रहा है, जो अबाधितरूप से आज तक प्रचलित है। स्वयं जब कोई विद्वान् किसी नगर में जाते हैं, तब वे तत्त्वज्ञान के आलम्बन से ही शास्त्र प्ररूपणा करते हैं। अन्त में प्रथमानुयोग का तो मंगलाचरण मात्र कर दिया जाता है। वहाँ उपस्थित श्रोताजन भी यही चाहते हैं कि पण्डितजी कुछ ऐसे तथ्यों का निर्देश करें, जिन्हें समझकर हम आत्मकल्याण में लग सकें।

बहुत प्राचीनकालीन परिपाटी की तो मैं चर्चा नहीं करता। अभी 2-3 सौ वर्ष की पिछली परिपाटी की ओर भी यदि ध्यान दिया जाय तो उससे विदित होता है कि प्रत्येक नगर में ऐसी गोष्ठियाँ सदा से होती रही हैं जो तत्त्वज्ञान के उद्देश्य से ही स्थापित की जाती थीं और उनमें प्रमुखरूप से अध्यात्म के प्ररूपक शास्त्रों का स्वाध्याय-मनन चिन्तन कर आत्मकार्य में सावधानता प्राप्त की जाती थी। पण्डितप्रवर बनारसीदासजी की जीवनी से जैनसमाज का प्रत्येक गृहस्थ सुपरिचित है। उन्होंने नाटक समयसार की रचना कर जैन समाज का महान् उपकार किया है। उनकी लिखी हुई अर्धकथानक पुस्तक के पढ़ने से भी यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र अध्यात्मरस से ओतप्रोत अध्यात्म शास्त्र के बल से ही वे दिगम्बर जैन परम्परा में आकृष्ट हुए थे। उनके काल में आगरा में ऐसी एक गोष्ठी थी जिसमें समयसारादि महान् ग्रन्थों का स्वाध्याय कर यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है, इस पर विशदरूप से ऊहापोह किया जाता था। ऐसी ही एक गोष्ठी दिल्ली में भी थी, यह छहढाला जैसे महान् ग्रन्थ के निर्माता पण्डित प्रवर दौलतरामजी की जीवनी पर सम्यक् ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा लिखित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' का स्वाध्याय तो सबने किया ही होगा। उससे भी मालूम पड़ता है कि मूलतान और जयपुर में भी ऐसी गोष्ठियाँ सदा से चलती आयी हैं। सदा से इन सब गोष्ठियों के स्थापित करने का एक ही उद्देश्य रहा है कि **जैसे बने वैसे तत्त्वज्ञान की जागृतिपूर्वक आत्मकार्य में सावधान हुआ जाये।** इसमें मैंने मुनिजनों और त्यागी गृहस्थों की चर्चा जानबूझकर नहीं की है। क्योंकि ये महानुभाव

आत्मकार्य में सावधान बने रहने के लिए ही गृहस्थी व परिग्रह का त्याग करते हैं। अणुव्रत-महाव्रत का पालना यह इनका मुख्य कार्य नहीं है, किन्तु सतत् आत्मकार्य में जागरूक रहते हुए विज्ञानघनस्वरूप आत्मा को प्राप्त करना ही इनका मुख्य कार्य है। जो आत्मकार्य में सावधान होता है, उसके आत्मकार्य के अनुवर्ती देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-श्रद्धा, अणुव्रत-महाव्रत का पालन आदि कार्य में सावधानी तो होती है।

3. वर्तमान स्थिति

यह समग्र दिगम्बर परम्परा का प्राचीन इतिहास है। इसके प्रकाश में हमें वर्तमान को जानना है। यदि विचारकर देखा जाये तो इस दृष्टि से हम बड़े सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि इस काल में पुनः समस्त समाज का ध्यान उस शिक्षा की ओर गया है, जिससे दिगम्बर जैन धर्म ही यथार्थ धर्म कहलाने का अधिकारी है। धर्म का उपदेश तो अन्य पन्थों के प्रवर्तकों ने भी दिया है परन्तु उनका वह उपदेश बाह्य सदाचार और क्रियाकाण्ड तक ही सीमित है। इस पंचम काल में जैन परम्परा में भी ऐसे पन्थों का उदय हुआ है, परन्तु उन्होंने धर्म के नाम पर मोक्षमार्ग की चर्चा करके भी उसे पुनः लौकिक बनाने में ही अपनी चरितार्थता समझी है। एकमात्र दिगम्बर परम्परा ही ऐसी धारा है, जिसमें कल्याण के मार्ग का यथार्थरूप में निर्देश किया गया है।

संसारी आत्मा अपने अपराधवश अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। उसे अन्तरंग और बहिरंग उन दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने के लिए अपने त्रिकालाबाधित निज स्वरूप की ओर ध्यान देना ही होगा। यदि हमारी आध्यात्मविद्या चरितार्थ है तो इसी मायने में चरितार्थ है। वह ऐसी आलेकिक ज्ञान ज्योति है जो इन अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के बन्धनों के मध्य सोये हुए ज्ञानज्योतिस्वरूप उस शाश्वत आत्मा का दर्शन करा देती है। इसीलिए सभी आचार्यों ने इस अध्यात्मज्ञान की मुक्तकण्ठ से स्तुति की है। आचार्य कुन्दकुन्द तो इसकी स्तुति करते हुए समयसार जैसे परमागम में यहाँ तक लिख गये कि - **जिसने सर्व परद्रव्य-परभावों से भिन्न, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इस आत्मा को अनुभव लिया, उसने पूरे जैन शासन को जान लिया।** उक्त प्रकार के आत्मा को अनुभवना ही समग्र जैन शासन का जानना है, यह आचार्य का उपदेश है जो कि भगवद्वाणी के रूप में मान्य है और यह बात ठीक भी है, क्योंकि चक्रवर्ती के भोग और देवेन्द्र पद का प्राप्त करना, यह धर्म का उद्देश्य नहीं है। सर्व प्रकार के कलंक दोषों से रहित विज्ञानघनस्वरूप निज आत्मा को प्राप्त करना ही धर्म का उद्देश्य है। यही परमागमस्वरूप वीतराग वाणी का सार है।

4. कुछ शंकाओं का निरसन

ऐसी अध्यात्मविद्याप्रवण वीतराग वाणी परमागम का प्रधान अंग अनादिकाल से बनी चली आ रही है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह वाणी इस काल में पुनः मुखरित हुई है। सोनगढ़ के अध्यात्म सन्त कानजीस्वामी तो उसके मुखरित होने में निमित्तमात्र हैं। वह उनकी वाणी नहीं है। वीतराग वाणी है, शुद्धात्मा की अपनी पुकार है। कुछ भाईयों का कहना है कि कानजीस्वामी एकान्त की प्ररूपणा करते हैं। वे व्यवहार को उड़ाते हैं। जबकि वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। निश्चयधर्म आत्मधर्म है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप है। ऐसी प्ररूपणा करते समय यदि यह कहा जाये कि ऐसे आत्मधर्म को व्यवहारधर्म स्पर्श नहीं करता है, वह उससे सर्वथा भिन्न है तो ऐसी कथनी को व्यवहारधर्म का उड़ाना कैसे मान लिया जाये अर्थात् नहीं माना जा सकता है। हाँ, यदि वे यह कहने लगें कि व्यवहार से देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति करना, स्वाध्याय करना, जिनवाणी का सुनना-सुनाना, अणुव्रत-महाव्रत का पालना इन सब क्रियाओं के करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मोक्षमार्ग ये होती भी नहीं हैं। तब तो माना जाय कि वे व्यवहार को उड़ाते हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित प्रतिक्रमण पाठ को हमने देखा है। उसमें यह भी निदेश किया गया है कि **जिसने जीवन पर्यन्त के लिए मद्य-मांस आदि का त्याग नहीं किया है, वह नाम का भी जैनी नहीं है।** क्या यह व्यवस्था की प्ररूपणा नहीं है। क्या इससे हम यह नहीं समझ सकते कि वे व्यवहार को उड़ाना नहीं चाहते, बल्कि उसे प्राणवान् बनाने में ही लगे हुए हें। प्राणवान् व्यवहार ही मोक्षमार्ग का सच्चा व्यवहार है। ऐसी परमागम की आज्ञा है। उनकी पूरी कथनी और करनी पर बारीकी से ध्यान दिया जाये तो उससे यही सिद्ध होता है।

उन्होंने अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को छोड़कर दिगम्बर परम्परा स्वीकार की और इस परम्परा में आने के बाद अपने को अव्रती श्रावक घोषित किया। एकमात्र उनकी यह घोषणा ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे मोक्षमार्ग के अनुरूप सम्यक् व्यवहार को जीवन में भीतर से स्वीकार करते हैं। यदि वे एकान्त के पक्षपाती होते तो कह सकते थे कि मैं 'पर्यायदृश्टि से भी न गृहस्थ हूँ और न मुनि हूँ। मैं तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ।' वे जिस स्थिति में है, उसे भीतर से स्वीकार तो करते ही हैं और यह जीव अन्तरात्मा बन कर परमात्मा कैसे बनता है, इस मार्ग का भी दर्शन कराते हैं। वास्तव में देखा जाये तो जो भी ज्ञानी मोक्षमार्ग का उपदेश देता है, वह दूसरे के लिए नहीं देता है। उसके अन्तरात्मा की पुकार क्या

है, उसे ही वह अपने को सुनाता है। दूसरे भव्य प्राणी उसे सुनकर अपना आत्महित का कार्य साध लें यह दूसरी बात है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वे अनेकान्त के आशय को समझते हैं और जीवन में उसे स्वीकार करते हैं।

उनके विषय में एक आक्षेप यह भी है कि वे पुण्य का निषेध करते हैं, पर हमें उन पर किया गया यह आक्षेप भी उपहासास्पद प्रतीत होता है। वस्तुतः वे पुण्य का निषेध नहीं करते किन्तु मुझे पुण्य का अर्जन करना, वे इस भाव का निषेध अवश्य करते हैं। उनका कहना है कि इस संसारी प्राणी को अर्जन करने योग्य यदि कोई वस्तु है, तो वह आत्मनिधि ही है किन्तु जब उसके अर्जन के उपायों का विचार करते हैं, उसकी कथा करते हैं, उसके अनुकूल क्रिया करते हैं, तो पुण्य का अर्जन स्वयमेव हो जाता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति पूजा का तथा अणुव्रत-महाव्रत के धारण का उपदेश शास्त्रों में पुण्य के अर्जन की दृष्टि से नहीं दिया गया है, किन्तु ये सब क्रियाएँ निश्चय मोक्षमार्ग के परिकर्मस्वरूप हैं, मात्र इसीलिए इनका शास्त्रों में उपदेश दिया गया है। वे अपनी आगमानुकूल वाणी द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हैं।

एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि वे कार्य-कारण परम्परा में बाह्य निमित्त को नहीं स्वीकार करते, किन्तु इसके स्थान में स्थिति यह है कि वे भेदविज्ञान को जीवन का प्रधान अंग बनाने की दृष्टि से कार्य-कारणपरम्परा के निश्चय कार्य-कारणपरम्परा और व्यवहार (उपचरित) कार्य-कारण ऐसे दो भेद करके निश्चय कार्य-कारणपरम्परा ही यथार्थ कार्य-कारणपरम्परा है, ऐसी घोषणा अवश्य करते हैं। साथ ही वे व्यवहार कार्य-कारणपरम्परा का निषेध तो नहीं करते, परन्तु उसे विकल्पमूलक बतलाकर मोक्षमार्ग में वह आश्रय करने योग्य नहीं है, यह भी कहते हैं। वे अपने प्रवचनों में यह सर्वदा कहते रहते हैं कि प्रत्येक कार्य पाँच के समवाय में होता है। उनके इस कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक कार्य के प्रति अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर बाह्य सामग्री में निमित्तता (व्यवहार हेतुता) को स्वीकार अवश्य करते हें। किन्तु यह व्यवहारहेतुता परमार्थस्वरूप नहीं है, ऐसा यदि वे कहते हैं और इसे कोई उनके द्वारा बाह्य निमित्त को अस्वीकृति मानता है तो उसका इलाज नहीं है। **इतना अवश्य है कि जीवन में मोक्षमार्ग की सम्प्राप्ति स्वाश्रित उपयोग के बल से ही होती है, इसलिए वे सर्व प्रकार के पराश्रितपने का निषेधकर स्वाश्रितपने का ज्ञान अवश्य कराते रहते हैं।**

5. स्वामीजी के उपदेशों का सुफल

यह उनके उपदेश देने की पद्धति है। मैंने सर्व प्रकार से उनके उपदेशों को समझने

का प्रयत्न किया है। किन्तु मुझे तो वह सर्व प्रकार से मोक्षमार्ग के अनुरूप ही प्रतीत हुआ। अभी कुछ दिन पूर्व श्री सवाई सिंघई धन्यकुमारजी की लेखमाला जैन सन्देश में प्रकाशित हुई थी। सोनगढ़ से आकर ही उन्होंने एक प्रत्यक्ष द्रष्टा के नाते उसे प्रकाशित कराया है। स० सि० धन्यकुमारजी न केवल दूसरी भाषाओं के विद्वान् हैं, किन्तु वे संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हैं। श्रीयुत् पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री का सानिध्य मिलने से उन्होंने धर्मशास्त्र का बारीकी से अध्ययन किया है। प्रतिदिन उनका प्रात:कालीन स्वाध्याय अध्ययन के रूप में ही होता है। वे हजार काम छोड़कर आत्मकल्याण की इच्छा से धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करते रहते हें। यह उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता है। उन्होंने सोनगढ़ की स्थिति का अध्ययन कर जो कुछ भी लिखा है, उससे भी स्वामीजी के उपदेश देने की शैली पर विशद प्रकाश पड़ता है। यह उनके उपदेश का ही माहात्म्य है कि अब तक 15-20 हजार श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर परम्परा को स्वीकार कर लिया है। उनके लेख से यह भी ज्ञात होता है कि अब तक 708 अजैन बन्धु भी उनके उपदेश से दिगम्बर धर्म में दीक्षित हो गये हैं।

6. सौराष्ट्र की स्थिति में परिवर्तन

जिस सौराष्ट्र की धरणी को भगवान् नेमिनाथ ने पुण्यभूमि बनाने का स्वरूप प्रदान किया। जिस सौराष्ट्र ने धरसेन आचार्य के रूप में अंग-पूर्वज्ञान को सुरक्षित बनाये रखा और जिस सौराष्ट्र ने आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली को सादर आमन्त्रित कर अंग-पूर्वज्ञान की सुरक्षा का महान् कार्य किया। वही सौराष्ट्र शताब्दियों तक अपने प्राचीन गौरव को ऐसे भुलाये हुए था, मानो दिगम्बर परम्परा में उसका कभी कोई स्थान ही न रहा हो। किन्तु हर्ष का विषय है कि उसी सौराष्ट्र ने वर्तमान काल में कानजीस्वामी के रूप में पुन: अंगड़ाई ली है। आज वह दिगम्बर परम्परा का सजग प्रहरी बनकर समाज के सामने उपस्थित है। हम अपनी निधि को अपनी असावधानी के कारण खो देने के लिए भले ही तैयार हो जायें, पर वह खोने नहीं देगा। जैसे कोई सो कर जागता है और अपनी निधि की सम्हाल में जुट जाता है। आज समग्र सौराष्ट्र की वही स्थिति बन पड़ी है। **कोई कुछ भी क्यों न कहे, मैं तो कहता हूँ कि वर्तमान में श्री कानजीस्वामी का उदय दिगम्बर परम्परा के लिए अभ्युदयस्वरूप है।** जिसके जीवन में दिगम्बर परम्परा का माहात्म्य समाया हुआ है, वह श्रीकानजीस्वामी और समग्र सौराष्ट्र को आदर की दृष्टि से देखे बिना रह ही नहीं सकता। वहाँ पुन: प्रतिष्ठित हुए दिगम्बर बीसियों जिनालयों के गगनचुम्बी शिखरों की लहराती हुई पताकाएँ सभी भव्य जनों को बुला-बुला

कर कह रही है कि आओ, इधर आओ, शुद्धस्वरूप का भान करने का तुम्हें यह सुवर्ण अवसर प्राप्त है।

7. तत्त्वचर्चा की पृष्ठभूमि

यह वर्तमान स्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी कुछ काल से समाज में विरोधी प्रचार चल रहा है। अतीत काल में उसे शमन करने के लिए अनेक उपाय किये गये। **जैनतत्त्वमीमांसा** ग्रन्थ भी इसी अभिप्राय से लिखा गया। कई वर्ष पूर्व श्रीमान् पण्डित मक्खनलालजी साहब न्यायालंकार ने जैनदर्शन में प्रकाशित अपने वक्तव्य द्वारा चर्चा के लिए आमंत्रित किया। आमंत्रित विद्वानों में मेरा और श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री इन दो विद्वानों के भी नाम थे। उसके बाद मथुरा में भी दिगम्बर जैन संघ की बैठक के समय भी श्रीयुत पण्डित राजेन्द्रकुमारजी के साथ इस सम्बन्ध में कुछ विचार विनिमय हुआ। अतएव श्रीयुत पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य के साथ मिलकर तत्त्वचर्चा की एक रूपरेखा तैयार की गयी। वह तत्कालीन साप्ताहिक पत्रों में मुद्रित भी हो चुकी है। इस प्रकार एक ओर विरोध भी होता रहा और दूसरी ओर तत्त्वचर्चा का वातावरण भी बनता रहा।

8. तत्त्वचर्चा के लिए आमन्त्रण

श्री 108 आचार्य शिवसागर महाराज प्रकृति से शान्तपरिणामी हैं। सन् 1963 में जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा के पूर्व श्रीयुक्त पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री उनके दर्शनों के लिए गये थे। उस समय आचार्य महाराज और पण्डितजी के मध्य इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह हुआ। उसी वर्ष भाद्रपद में श्रीयुक्त पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य भी दशलक्षण पर्व के निमित्त जयपुर आमन्त्रित किये गये थे। उस समय भी इस विषय पर विचार विनिमय हुआ। यत: स्वयं आचार्य महाराज चाहते थे कि दोनों ओर के विद्वानों के मध्य तत्त्वचर्चा होकर यह विरोध शान्त हो जाये, अत: उनके भाव को समझकर संघ के दो विवेकी ब्रह्मचारी श्रीयुक्त सेठ हीरालालजी पाटनी और श्रीयुक्त ब्रह्मचारी लाडमलजी ने एक आमन्त्रणपत्र द्वारा दोनों ओर के मनीषियों को तत्त्वचर्चा के लिए आमन्त्रित किया जो इस प्रकार है —

तत्त्वचर्चा के लिये आमन्त्रण

खानियां जयपुर
दिनांक 13-9-63

आदरणीय महानुभाव,

दर्शन विशुद्धि

जैन समाज की वर्तमान दशा से आप परिचित हैं। वर्तमान कुछ सैद्धांतिक विवादग्रस्त विषयों को लेकर समाज के मार्गदर्शक विद्वान परस्पर दो मत हो रहे हैं और उनकी आपसी खींचतान से साधारण जनता दुविधा में पड़ रही है। कई बार सोचा गया कि हमारे प्रमुख विद्वान किसी एक स्थान पर एकत्रित हो चर्चा द्वारा किसी एक निर्णीत पथ पर पहुँचने का कष्ट करते तो समाज का बहुत कल्याण होता, पर ऐसा हो नहीं सका। विद्वत् परिषद् किसे आमन्त्रित करे और किसे आमन्त्रित न करे, इसका सामंजस्य न बैठने के कारण स्वयं आयोजन करने में असमर्थता प्रकट करती है। साथ ही कुछ विद्वान् इसकी चर्चा स्वतन्त्ररूप से करना पसन्द करते हैं। अत: हमने विचार किया है कि खानियां जयपुर में जहाँ कि परम पूज्य आचार्य श्री 108 शिवसागरजी महाराज का संघ सहित चतुर्मास हो रहा है, इस चर्चा का आयोजन किया जावे। यह आयोजन चतुर्मास समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होना चाहिए। चर्चा में निम्नलिखित विद्वानों को आमन्त्रित करने का विचार किया है। आप तथा आमन्त्रित विद्वान् समाज के प्रकाशस्तम्भ हैं। अत: चर्चा में उपस्थित होकर आयोजन को अवश्य सफल करें। यह आयोजन दिनांक 20 अक्टूबर 1963 रविवार से रखा गया है, इस अवसर पर पधारने की स्वीकृति प्रदान करें। विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और साथ ही जिनागम की रक्षा करना हमारे विद्वानों का सबसे प्रमुख कार्य। अत: हम आशा रखते हैं कि दोनों विचारधाराओं के विद्वान् अवश्य ही एकत्रित हों। आमन्त्रित विद्वानों के ठहरने आदि की पूर्ण व्यवस्था रहेगी। आमन्त्रित विद्वानों के सिवाय यदि आप किसी अन्य विद्वान् को भी बुलाना उचित समझते हैं तो उसकी सूचना देने की कृपा करें। प्रत्येक विद्वानों के नाम बुक पोस्ट में पत्रिका भेज दी है। यदि किसी को न मिली हो तो इस प्रकाशन को ही आमन्त्रण समझने की कृपा करें।

हितैषी,

हीरालाल पाटनी, पोस्ट निवाई (राजस्थान); ब्रह्मचारी लाडमल जैन, दीवानी का मन्दिर, लालजी सांड का रास्ता, जयपुर।

आमन्त्रित विद्वान्

(1) श्री पण्डित बंशीधरजी शास्त्री, ईसरी बाजार; (2) श्री माणिकचंदजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद; (3) श्री मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना; (4) श्री कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी; (5) श्री जीवंधरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर; (6) श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी; (7) श्री बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना; (8) श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी; (9) श्री इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर; (10) श्री नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर; (11) श्री दयाचन्दजी शास्त्री, सागर; (12) श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर; (13) श्री अजितकुमारजी शास्त्री, दिल्ली; (14) श्री सुमेरचन्दजी शास्त्री, बी.ए., सिवनी; (15) श्री वर्धमानजी शास्त्री, शोलापुर; (16) श्री पन्नालालजी सोनी व्यावर; (17) श्री रतनचन्दजी मुख्तियार, सहारनपुर; (18) श्री बाबू नेमीचन्दजी वकील, सहारनपुर; (19) श्री ब्रह्मचारी हुकमचन्दजी सलावा, मेरठ; (20) श्री पण्डित लालबहादुरजी शास्त्री, इन्दौर; (21) श्री पण्डित चैनसुखदसजी शास्त्री, जयपुर; (22) श्री कु; नेमीचन्दजी पाटनी, आगरा; (23) श्री ब्रह्मचारी पण्डित श्रीलालजी, महावीरजी; (24) श्री पण्डित बाबूलालजी, कलकत्ता; (25) श्री रामजीभाई, सोनगढ़; (26) श्री हिम्मतभाई, सोनगढ़; (27) श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना; (28) श्री बाबू हीराचन्दजी बोहरा, कलकत्ता; (29) श्री सेठ नेमीचन्दजी बड़जात्या, नागौर; (30) श्री खेमचन्दभाई, सोनगढ़; (31) श्री बाबूभाई, सोनगढ़; (32) श्री पण्डित मक्खनलालजी, दिल्ली; (33) श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार, दरियागंज, दिल्ली; (34) श्री मूलचन्दजी किशनदासजी कापड़िया, सूरत; (35) श्री पण्डित राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा; (36) श्री ब्रह्मचारी चाँदमलजी चूड़ीवाल, नागौर; (37) श्री सर सेठ भागचन्दजी सोनी, अजमेर।

9. तत्त्वचर्चा के आमन्त्रण की स्वीकृति

यह आमन्त्रण, आमन्त्रणपत्र में निर्दिष्ट सभी महानुभावों के पास मुद्रित पत्रक के रूप में ही भेजा गया था, इसे आमन्त्रणदाताओं ने वर्तमान पत्रों में भी प्रकाशित करा दिया था। ऐसा करने का उनका उद्देश्य यही था कि जिन महानुभावों को तत्त्वगोष्ठी में सम्मिलित करने के लिए आमन्त्रित किया गया था, उन्हें किसी न किसी रूप में इसकी सूचना मिल जाये। मुझे यह आमन्त्रण 24-9-63 को मिल सका, क्योंकि उस समय मैं कारंजा गया हुआ था। आमन्त्रण सद्भावना पूर्ण और अच्छे उद्देश्य को लिए हुए था, इसलिए मैंने विचार किया कि

यदि तत्त्वचर्चा के अनुकूल परिस्थिति बनती है तो इसमें अवश्य ही सम्मिलित होना चाहिए।

कारंजा ब्रह्मचर्याश्रम के अधिष्ठाता श्रीयुक्त पण्डित माणिचनद्रजी न्यायतीर्थ एक विचारक और सहृदय विद्वान् व्यक्ति हैं। उनकी शान्त और उदार प्रकृति के कारण उन्हें सभी आश्रमवासी तथा सभी परिचित महानुभाव तात्याजी कहते हैं। महाराष्ट्र में तात्याजी सम्मानित व्यक्ति को ही कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सद्‌गुणों के कारण वे सबके सम्मानास्पद बने हुए हैं।

मैंने इस सम्बन्ध में जब उनसे परामर्श किया तो उनका भी यही कहना था कि मालूम पड़ता है कि यह सम्मेलन आचार्यश्री शिवसागर महाराज की अनुमतिपूर्वक उनकी छत्रछाया में हो रहा है, अतएव आपको निर्भय होकर इसमें अवश्य ही भाग लेना चाहिए। मुझे उनकी यह प्रामाणिक सम्मति उचित प्रतीत हुई, अतएव जयपुर के पते पर मैंने श्रीयुक्त ब्रह्मचारी लाडमलजी को लिखा कि यदि दोनों पक्ष के प्रमुख विद्वान् तत्त्वगोष्ठी को सफल बनाने के लिए कतिपय नियमों को स्वीकार कर लें तो मैं इस गोष्ठी में सहर्ष सम्मिलित होने के लिए तैयार हूँ और साथ ही पत्र के साथ वे नियम भी बनाकर भेज दिये।

यह तो पाठकों ने पढ़ा ही होगा कि मेरे और श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरण आचार्य के नाम से जैन सन्देश 17 अक्टूबर सन् 63 के अंक में 'सैद्धान्तिक चर्चा के लिए आधारभूत कुछ नियम' इस शीर्षक से एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ था। मैंने इन नियमों को बनाते समय उस वक्तव्य को अपनी दृष्टि में रखा है।

पहले तो ब्रह्मचारीजी का मेरे पास यही उत्तर आया कि कुछ पहले श्रीयुक्त पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री यहाँ आये थे। उनके साथ इस विषय में ऊहापोह हो लिया है, अत: नियमों के विषय में आप उनसे बातचीत कर लें और अपनी स्वीकृति भेज दें।

किन्तु इसके उत्तर में उनसे पुन: यही निवेदन किया गया कि उक्त नियम दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं, अत: तत्त्वगोष्ठी के पूर्व दूसरे पक्ष की ओर से उनकी स्वीकृति आवश्यक है। तत्त्वचर्चा में सम्मिलित होने के लिए मेरा बिस्तर बँधा रखा है। किन्तु मैं नियमों की स्वीकृति मिलने पर ही सम्मिलित हो सकूँगा।

जैसा कि ब्रह्मचारीजी के पत्र से मालूम हुआ था, मेरा उत्तर पहुँचने पर उन्होंने उन नियमों की प्रतिलिपि दूसरे पक्ष के प्रमुख विद्वानों के पास भेज दी थी और अन्त में श्रीमान्

पण्डित मक्खनलालजी न्यायालंकार तथा श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य का अनुकूल उत्तर प्राप्त कर उसकी खबर मुझे दी थी। मुझे ब्रह्मचारीजी का यह पत्र 17 अक्टूबर 63 को डोंगरगढ़ में मिला था। तत्त्वचर्चा प्रारम्भ होने के लिए कुल तीन दिन शेष थे, इसलिए मैंने तार द्वारा अपनी स्वीकृति दे दी और लिख दिया कि यहाँ से मैं सीधा जयपुर पहुँच रहा हूँ।

10. जयपुर के लिये प्रस्थान

डोंगरगढ़ मेरे परम स्नेही दानवीर सेठ भागचन्दजी का निवास स्थान है। इन दोनों दम्पति का मुझ पर परम स्नेह है। मेरे बाह्य सुख-दु:ख का वे बराबर ख्याल रखते हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि आप इतने बड़े सम्मेलन में अकेले जा रहे हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं आपके साथ चलने के लिये तैयार हूँ। पर मैं वहाँ चलकर भी आपकी क्या सहायता कर सकूँगा, यह मुझे समझ में नहीं आता। उनकी इस परेशानी को देखकर मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि **मेरे लिए पञ्च परमेष्ठी और धर्म की शरण है, भय किस बात का।** आप चिन्ता न करें। यह सुवर्ण अवसर है। मुझे प्रेमपूर्वक विदा कीजिए। **वहाँ जो भी महानुभाव पधारेंगे, वे सब अपने धर्मबन्धु हैं, अतएव चिन्ता करने की कोई बात नहीं।** और इस प्रकार विविध वार्तालाप द्वारा उन्हें आश्वस्त कर मैं उसी दिन रात्रि की गाड़ी से जयपुर के लिये रवाना हो गया और तारीख 19 की शाम को मैं जयपुर पहुँच गया।

डोंगरगढ़ से रवाना होने के पूर्व मैंने एक जरूरी तार सोनगढ़ माननीय रामजीभाई को दिया था। उसमें लिखा था कि मैं तत्त्वगोष्ठी में सम्मिलित होने के लिये जयपुर जा रहा हूँ। आप किसी निजी विश्वस्त आदमी के हाथ जैन गजट और दूसरे साप्ताहिक पत्रों की फाइल अवश्य भेज दें। क्योंकि उस समय तक यह स्पष्ट न हो सका था कि यह चर्चा किस विषय पर होगी ? इसलिए मुझे इस ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हुआ।

11. श्रीमान् पण्डित चैनसुखदासजी के सानिध्य में

जैसा कि मैं पहले ही संकेत कर आया हूँ कि मैं 19 तारीख की शाम को ही जयपुर पहुँच गया था। मैं अपने जीवन में जयपुर कभी नहीं गया था, इसलिए इस विचार में पड़ गया कि कहाँ जाया जाये ? मेरे पास ब्रह्मचारी लाडमलजी का पता तो था ही, इसलिए मैंने रिक्शा द्वारा सर्व प्रथम वहीं पहुँचने का निश्चय किया। किन्तु वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि यहाँ सम्मेलन की कोई तैयारी नहीं है। यहाँ तो मात्र एक जिनालय और उसी के अन्तर्गत दो-तीन कमरों की एक धर्मशाला है जो सदा बन्द रहती है। क्या किया जाये, यह विचार ही कर रहा

था कि इतने में एक सद्गृहस्थ सज्जन से मेरी भेंट हो गयी। पहले तो उन्होंने मेरा नाम और स्थान पूछा। उसकी जानकारी होने पर वे बोले कि आप अच्छे आ गये। आप नहीं आते तो सम्मेलन स्थगित हो जाता। इसके बाद उन्होंने बतलाया कि तत्त्वचर्चा का आयोजन खानिया में किया गया है। मेरे यह कहने पर कि मुझे वहाँ पहुँचाने का प्रबन्ध करा दीजिए। रिक्शावाला जो लेगा मैं दे दूँगा। उन्होंने कहा कि खानिया शहर के बाहर बहुत दूर जंगल में है। रात्रि में आपको लेकर वहाँ रिक्शावाला नहीं जायेगा। इस बात को सुनकर मैं पुनः विचार में पड़ गया कि अब क्या किया जाये। जो पता दिया था, वहाँ तो ठहरने का प्रबन्ध ही नहीं था। अन्त में मुझे श्रीमान् पण्डित चैनसुखदासजी का स्मरण हो आया। मैंने उनसे कहा कि पण्डितजी यहाँ से कितनी दूर रहते हैं, मुझे उनके पास ही पहुँचाने का प्रबन्ध करा दीजिए। वे बोले यह ठीक है, उनका निवासस्थान यहीं नजदीक है। इसके बाद उन्होंने श्री मन्दिरजी की मालिन से कहा कि इन्हें पण्डितजी के पास पहुँचा आओ, ये तुम्हें चार आना पैसे दे देंगे। किन्तु मालिन तैयार नहीं हुई, वह बहुत अधिक पैसे माँगने लगी। मैं इसके लिए भी तैयार था, पर ये महाशय नहीं माने और स्वयं मेरा सामान लेकर मुझे पण्डितजी के पास पहुँचा आये। मैं उनका नाम तो नहीं जानता, पर उनकी इस सहृदयता को जीवनभर नहीं भूल सकता। ऐसे उदारचरित महानुभाव आज भी अपनी समाज में हैं, यह गौरव की बात है।

पण्डितजी एक उच्चकोटि के कर्मठ विद्वान् हैं। उनका पूरा समय समाज सेवा, साहित्य निर्माण और छात्रों के हित में व्यतीत होता है। मेरे वहाँ पहुँचने पर उन्होंने मुझे इस प्रकार से अपनाया जैसे मैं उनका चिरपरिचित आत्मीयजन होऊँ। प्रातःकाल किसी तरह श्री नेमिचन्दजी पाटनी को मेरे आने की खबर लग गयी। वे तत्काल मेरे पास आये। भेंट होने पर उन्होंने अपनी स्थिति बतलायी और साथ ही बोले कि जब आप आ ही गये तो मैं हर तरह आपके साथ हूँ।

12. चरणरज वन्दना

आपस की बहुत कुछ बातें होने के बाद मैंने उनसे कहा कि सर्व प्रथम मैं उस जिनालय में जाना चाहता हूँ जहाँ बैठकर आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी साहब परमागम की रचना करते थे। एक तो वह जिनालय है, दूसरे वह पण्डितजी के चरणस्पर्श से भी मेरे लिए वन्दनीय है। पाटनीजी बोले, वहाँ तो मैं प्रतिदिन जाता हूँ। प्रातःकालीन प्रवचन मैं वहीं करता हूँ, यह जान मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं तत्काल उनके साथ हो लिया। श्री जिनालय में पहुँच कर पहले तो वीतरागदेव के दर्शन किये। बाद में जहाँ पण्डितजी बैठते

थे, उस स्थान की चरण रज को अपने मस्तक पर धार किया। **साथ ही निवेदन किया कि जिस कार्य के लिए मैं यहाँ आया हूँ, यह आपका ही कार्य है, मुझे आपका बल चाहिए।** पश्चात् प्रवचन करके पण्डितजी के निवासस्थान पर लौट आया।

मध्याह्न में, मैं और पाटनीजी खानियाजी गये। वहाँ आवश्यक कृतिकर्म करके आये हुए विद्वानों से मिले। अनेक विद्वान आ चुके थे और कुछ आनेवाले थे। किन्तु प्रारम्भिक दिन होने से उस दिन कार्य प्रारम्भ न हो सका। ब्रह्मचारीजी से मिलने पर मालूम हुआ कि अभी कुछ विद्वानों का आना शेष है, इसलिए कल 21 तारीख को दिन के 01 बजे से गोष्ठी का कार्य प्रारम्भ होगा। आप कल नियत समय पर अवश्य ही आ जावें। मैं वहाँ से लौटकर तथा पण्डितजी से अनुज्ञा लेकर पाटनीजी के घर चला गया। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि श्री दिगम्बर जैन महामुमुक्षु मण्डल और मुमुक्षु मण्डल बम्बई के मन्त्री श्री चिमनलालजी, सोनगढ़ से आवश्यक सामग्री लेकर आ गये हैं। वे मुझसे मिले। बड़ी प्रसन्नता हुई। जहाँ तक मुझे स्मरण है श्री सेठ लादूलालजी भी किशनगढ़ से इसी दिन आ गये थे। ये पाटनीजी के बहनोई हैं। साथ में पाटनीजी की बहिन भी आई थीं। आते ही भीतर की पूरी व्यवस्था पाटनीजी की बहिन ने सम्हाली और बाहर की लिखापढ़ी का पूरा भार श्री सेठ लादूलालजी ने सम्हाला। मेरा काम उत्तर पत्रों का तैयार करना रहता था और उनकी तीन कापी तैयार कर देना इनका काम रहता था। ये धर्मशास्त्र और संस्कृत के अच्छे जानकार हैं। साथ ही मिलनसार और बड़े सहृदय व्यक्ति हैं।

13. अधिकृत कार्यवाही का प्रारम्भ

तारीख 21 को नियत समय पर हम सब लोग मिलकर खानियाजी पहुँच गये और आवश्यक कृतिकर्म सम्पन्न होने के बाद बैठक में सम्मिलित हो गये। इसके आगे की प्रतिदिन की पूरी कार्यवाही श्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने लिपिबद्ध की है। वे बड़े कर्मठ व्यक्ति हैं। लिखा-पढ़ी का काम आसानी से निपटा लेते हैं। प्रत्येक दिन की उस कार्यवाही पर मध्यस्थ के हस्ताक्षर हैं, इसलिए मैं उसी रूप में उसे यहाँ दे रहा हूँ। इतना अवश्य है कि तारीख 21 की बैठक श्री 108 आचार्य महाराज की संरक्षता में सम्पन्न हुई और तारीख 22 की बैठक समाजमान्य सर सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। अतएव इन दोनों दिनों की कार्यवाही पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर हैं। प्रत्येक दिन की अधिकृत कार्यवाही और उपस्थिति इस प्रकार है—

श्री सिद्धपरमेष्ठिने नमः

तत्त्वगोष्ठी का विवरण

आज दिनांक 21-10-63 को मध्याह्न 12.00 बजे खानिया स्थित नसियाँ में श्रीमान् 108 पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के सानिध्य में समागत विद्वानों की गोष्ठी हुई जिसमें निम्नांकित विद्वान् उपस्थित रहे—

(1) श्री पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर (2) श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर (3) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना (4) श्री पण्डित जीवन्धरजी शास्त्री, इन्दौर (5) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी (6) श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, जयपुर (7) श्री ब्रह्मचारी श्रीलालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी (8) श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना (9) श्री सेठ ब्रह्मचारी पन्नालालजी उमाभाई, अहमदाबाद (10) श्री चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई (11) श्री पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा (12) श्री सेठ रामचन्द्रजी कोठयारी, जयपुर (13) ब्रह्मचारी सूरजमलजी, खानिया (14) श्री भाई कोदरलाल जीवराजजी, तलोद (15) श्री पण्डित कपूरचन्दजी वरैया, लश्कर (16) श्री सेठ सुमेरमलजी चौधरी, अजमेर (17) श्री पण्डित मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं।

कार्य—

पारस्परिक ऊहापोह के बाद तत्त्वचर्चा के लिये निम्नलिखित नियम पारित किये—

(1) चर्चा वीतरागभाव से होगी।

(2) चर्चा लिखित होगी।

(3) वस्तुसिद्धि के लिये आगम ही प्रमाण होगा।

(4) पूर्वाचार्यानुसार प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे।

(5) चर्चा शङ्का-समाधान के रूप में होगी।

(6) दोनों ओर से शङ्का-समाधान के रूप में जो लिखित पत्रों का आदान-प्रदान होगा, उनमें से अपने-अपने पत्रों पर अधिक से अधिक 5-5 विद्वानों और मध्यस्थ की सही होगी। इसके लिए दोनों पक्षों की ओर से 5-5 प्रतिनिधि नियत होंगे।

(7) किसी एक विषय सम्बन्धी किसी विशेष प्रश्न पर शङ्का-समाधान के रूप में पत्रों का आदान-प्रदान अधिक से अधिक तीन बार तक होगा।

आज की बैठक 4 बजे समाप्त हुई।

दिनांक 22-10-63

आज खानियास्थित छोटी नसिया के ऊपर दिन के 01 बजे से श्रीमान् 108 आचार्य शिवसागरजी महाराज के सन्निधान एवं रायबहादुर सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, अजमेर की अध्यक्षता में दूसरी बैठक प्रारम्भ हुई। जिसमें निम्न प्रकार उपस्थिति रही—

(1) श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर (2) श्री पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद (3) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी (4) श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, आगरा (5) श्री पण्डित अजितकुमारजी, दिल्ली (6) श्री ब्रह्मचारी पन्नालालजी उमाभाई, अहमदाबाद (7)श्री पण्डित मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं (8) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना (9) श्री पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर (10) श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, वीना (11) श्री पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर (12) श्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर (13) श्री रामचन्द्रजी कोटयारी, जयपुर (14) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई (15) श्री सेठ कोदरलालजी, तलोद (16) श्री सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजानगढ़ (17) श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना (18) श्री कपूरचन्द्रजी वरैया, एम.ए., लश्कर (19) श्री पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा, (20) श्री सेठ रायबहादुर भागचन्द्रजी सोनी, अजमेर (21) श्री ब्रह्मचारी सूरजमलजी, खानिया (22) श्री ब्रह्मचारी श्रीलालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी (23) ब्रह्मचारी श्री सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई (24) श्री सेठ सुमेरमलजी, अजमेर।

कार्य—

चर्चा विषयक नियमों में निम्नलिखित आठवाँ नियम स्वीकृत किया गया—

(8) चर्चा में सामायिक, पन्थसम्बन्धी तथा व्यक्तिविशेष सम्बन्धी विषयों पर चर्चा न होकर तत्त्व-सम्बन्धी ही चर्चा होगी।

मध्यस्थ का चुनाव—

श्रीमान् पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर मध्यस्थ चुने गये। मध्यस्थ का कार्य चर्चा में व्यवस्था बनाये रखना तथा दोनों ओर के लिखित पत्रों का आदान-प्रदान करना रहेगा। मध्यस्थ निर्णायक नहीं होगा।

चर्चा के विषय—

श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री ने चर्चा के लिये निम्नलिखित विषय प्रस्तुत किये—

(1) द्रव्यकर्मों के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

(2) जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

(3) जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

(4) व्यवहार धर्म निश्चयधर्म में साधक है या नहीं ?

(5) द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं या अनियतक्रम से भी ?

(6) उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं ?

तदनन्तर—

उल्लिखित प्रश्नों की एक प्रतिलिपि मध्यस्थ महोदय ने श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री को उनके हस्ताक्षर लेकर सौंपी। पण्डित फूलचन्द्रजी साहब इन प्रश्नों का लिखित उत्तर दिनांक 23-10-63 के एक बजे मध्यस्थ महोदय को सौंप देंगे। साथ ही अपनी ओर से चर्चणीय विषयों की सूची भी प्रस्तुत कर देंगे। उभय पक्ष के 5-5 प्रतिनिधियों के नाम कल की बैठक में प्रस्तुत कर देंगे, यह निश्चित हुआ।

आज की बैठक के अध्यक्ष श्री सेठ भागचन्द्रजी सोनी को धन्यवाद दिये जाने के बाद 04 बजे सहर्ष समाप्त हुआ।

खानिया

दिनांक 20-10-63

श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी साहब!

आज दिनांक की बैठक में चर्चणीय विषय निम्नप्रकार हैं। इनका उत्तर लिखकर आप दिनांक 23-10-63 को मध्याह्न 01 बजे तक हमारे पास भेजने का कष्ट करेंगे। साथ ही आपकी ओर से चर्चणीय विषयों की सूची भी हमें 01 बजे तक प्राप्त हो जावे, ऐसी व्यवस्था कीजिये।

चर्चणीय विषय

(1) द्रव्यकर्मों के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

(2) जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

(3) जीव दया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

(4) व्यवहारधर्म निश्चयधर्म में साधक है या नहीं ?

(5) द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती है या अनितक्रम से भी ?

(6) उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

तृतीय बैठक दिनांक 23-10-63

आज दिनांक 23-10-63 को मध्याह्न के बाद 1 बजे से पूज्यवर 108 आचार्य शिवसागरजी के सन्निधान और श्री पण्डित बंशीधरजी शास्त्री, इन्दौर की मध्यस्थता में कार्य प्रारम्भ हुआ। उपस्थिति निम्न प्रकार रही —

(1) श्री ब्रह्मचारी सेठ पन्नालालजी उम्मेदभाई, अहमदाबाद; (2) श्री सेठ रायबहादुर भागचन्द्रजी सोनी, अजमेर; (3) श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर; (4) श्री पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद; (5) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी; (6) श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, जयपुर; (7) श्री पण्डित अजितकुमारजी, दिल्ली; (8) श्री पण्डित मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं; (9) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना; (10) श्री पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर; (11) श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना; (12) श्री पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर; (13) श्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर; (14) श्री रामचन्द्रजी कोटयारी, जयपुर; (15) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई; (16) श्री सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजागढ़; (17) श्री श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना; (18) श्री कपूरचन्द्रजी वरैया, लश्कर; (19) श्री पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा; (20) श्री ब्रह्मचारी सूरजमलजी, खानिया; (21) श्री ब्रह्मचारी श्रीलालजी काव्यतीर्थ, श्री महावीरजी; (22) श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी, निबाई; (23) श्री कोदरलालजी, तलोद; (24) श्री ब्रह्मचारी रतनचन्द्रजी मुख्तार, सहारनपुर; (25) श्री नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर; (26) श्री ब्रह्मचारी चाँदमलजी

चूड़ीवाल, नागौद; (27) श्री सेठ नेमिचन्द्रजी बड़जात्या, नागौद; (28) श्री इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर।

कार्य —

पाँच-पाँच प्रतिनिधियों का चुनाव —

प्रथम पक्ष से निम्नलिखित पाँच-पाँच प्रतिनिधियों के नाम प्रस्तुत किये गये —

(1) श्री पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद; (2) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना; (3) श्री पण्डित जीवन्धरजी न्यायाचार्य, इन्दौर; (4) श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना; (5) पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर।

(2) द्वितीय पक्ष से निम्नलिखित दो नाम प्रस्तुत किये गये, शेष नाम अगले दिन प्रस्तुत करने की बात तय हुई —

(1) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, (2) श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, आगरा।

चर्चणीय विषय प्रस्तुत करने पर विचार

निश्चित हुआ कि दोनों पक्षों के चर्चणीय विषय कल तारीख 24-10-63 तक प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

तदनन्तर श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री ने कल दिये गये 6 प्रश्नों का उत्तर मध्यस्थ महोदय को सौंपा और मध्यस्थ महोदय की आज्ञानुसार उपस्थित जनता की जानकारी के लिये श्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने उसे पढ़कर सुनाया।

प्रथम पक्ष की ओर से निम्नलिखित तीन प्रश्न प्रस्तुत किये गये, जिन्हें मध्यस्थ महोदय ने उत्तर देने के लिये श्री पण्डित फूलचन्द्रजी को सौंपा। पण्डितजी इनका उत्तर कल एक बजे उपस्थित करेंगे।

(1) केवली भगवान की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से? यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

(2) दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान की आत्मा के सम्बन्ध से?

(3) सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ? और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धन से छूटने का उपाय क्या है ?

श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री 23-10-63

आपकी सेवा में निम्नाङ्कित तीन प्रश्न प्रस्तुत हैं। इनका उत्तर आप कल एक बजे तक उपस्थित करने का कष्ट करेंगे।

(1) केवली भगवान की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से। यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

(2) दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान की आत्मा के सम्बन्ध से ?

(3) सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ? और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनों से छूटने का उपाय क्या है ?

चौथी बैठक दिनांक 24-10-63

आज दिनांक 24-10-63 को मध्याह्न के उपरान्त एक बजे से श्री 108 पूज्यवर आचार्य शिवसागरजी महाराज के सन्निधान और श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर की मध्यस्थता में बैठक प्रारम्भ हुई। जिसमें उपस्थिति निम्न प्रकार हुई—

(1) श्री सेठ ब्रह्मचारी पन्नालाल उम्मेदभाई, अहमदाबाद; (2) श्री बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर; (3) श्री पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य; (4) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री (5) श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, आगरा; (6) श्री पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री, दिल्ली; (7) श्री पण्डित मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं; (8) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना; (9) श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना; (10) श्री पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर; (11) श्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर; (12) रामचन्द्रजी कोटयारी, जयपुर; (13) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई; (14) श्री

सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजानगढ़; (15) श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना; (16) श्री कपूरचन्द्रजी वरैया, लश्कर; (17) श्री पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा; (18) श्री ब्रह्मचारी सूरजमलजी, खानिया; (19) श्री सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई; (20) श्री सेठ कोदरलालजी, तलोद; (21) श्री ब्रह्मचारी रत्नचन्द्रजी मुख्त्यार, सहारनपुर; (22) श्री नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर; (23) श्री ब्रह्मचारी चाँदमलजी चूड़ीवाल, नागौर; (24) श्री सेठ नेमिचन्द्रजी बड़जात्या, नागौर; (25) श्री इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर; (26) श्री पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्त्यार, (27) श्री पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी; (28) श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी; (29) श्री पण्डित परमानन्दजी शास्त्री, दिल्ली; (30) श्री पण्डित गोरेलालजी शास्त्री, माधवराजपुरा; (31) श्री पण्डित सीमंधरजी, जयपुर; (32) श्री पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर।

कार्य—

(1) श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री ने दो प्रतिशंकायें उपस्थित कीं, जिनका वाचन मध्यस्थ की आज्ञानुसार पण्डित पन्नालालजी ने किया।

(2) श्री पण्डित फूलचन्द्रजी की ओर से—श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी, पण्डित फूलचन्द्रजी वाराणसी और नेमिचन्द्रजी पाटनी - ये नाम प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित किये गये।

(3) श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी ने दिनांक 23-10-63 के तीन प्रश्नों का उत्तर मध्यस्थ महोदय को सौंपा, जिसे उनकी आज्ञानुसार पण्डित पन्नालालजी ने पढ़कर सुनाया। तदनन्तर दोनों से चर्चणीय प्रश्नों को उपस्थित करने के लिए कहा गया जिसके फलस्वरूप पण्डित मक्खनलालजी की ओर से निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित किये गये—

(1) जीव तथा पुद्गल का एवं द्व्ययुणक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान उसे जानते हैं या नहीं?

(2) परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है?

(3) 'कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की श्रद्धा के समान सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु की श्रद्धा भी मिथ्याभाव है, क्या ऐसा मानना व कहना शास्त्रोक्त है?

(4) पुण्य का फल जब अरहन्त होना तक कहा है (पुण्यफला अरहंता प्र.सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है, उसे 'सर्वातिशायी पुण्य' बतलाया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

(5) पुण्य अपनी चरमसीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणमन होने पर स्वत: छूट जाता है, या उसके छुड़ाने के लिये किसी उपदेश और प्रयत्न की जरूरत है ?

(6) भावलिंगी मुनि आजकल है या नहीं ? तथा भावलिंग की प्रकट में पहिचान क्या है ?

(7) बकरे को काटकर उसका मांस फकीर को धर्म मानकर धर्मबुद्धि से खिलानेवाले तथा अरहन्तदेव की पूजा करनेवाले में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

(8) जब अभाव चतुष्टय वस्तुस्वरूप है (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्म:) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

(9) निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ? व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

(10) उपचार का लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारनय में यदि क्रमश: कारण और नयत्व का उपचार है तो उनमें उपचार का लक्षण घटित कीजिये।

उक्त प्रश्न पण्डित फूलचन्द्रजी को सौंपे जाने पर उनकी ओर से 6वाँ और 7वाँ प्रश्न का उत्तर देने में आपत्ति प्रकट की गई जिससे प्रश्नकर्ताओं ने उन्हें वापिस ले लिया। पण्डितजी ने शेष 8 प्रश्नों का उत्तर देना स्वीकृत किया।

तदनन्तर 4.00 बजे कार्यवाही समाप्त हुई।

पाँचवीं बैठक दिनांक 25-10-63

आज पूज्यवर आचार्यश्री 108 शिवसागरजी एवं उनके संघस्थ अन्य महाराजों के

संनिधान और श्री पण्डित ब्रह्मचारी बंशीधरजी की मध्यस्थता में गोष्ठी की पाँचवीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

कल की उपस्थिति से पण्डित राजेन्द्रकुमारजी मथुरा की उपस्थिति अधिक रही, श्री पण्डित सूरजमलजी ने मंगलाचरण किया। तदनन्तर दोनों ओर से अपने-अपने उत्तर मध्यस्थ महोदय को सौंपे गये। उनकी आज्ञानुसार पण्डित फूलचन्द्रजी की ओर से उत्तर श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी ने और पण्डित मक्खनलालजी आदि की ओर से उत्तर पण्डित पन्नालालजी ने पढ़कर सुनाए। तदनन्तर बैठक समाप्त हुई।

छठवीं बैठक दिनांक 26-10-63

आज दिनांक 26-10-63 शनिवार को पूज्यवर आचार्य श्री 108 शिवसागरजी महाराज तथा अन्य संघस्थ महाराजों के संनिधान और श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार की अध्यक्षता में गोष्ठी की छठवीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही —

(1) श्री पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार; (2) श्री रायबहादुर सेठ भागचन्द्रजी सोनी; (3) ब्रह्मचारी चांदमलजी चूड़ीवाल; (4) पण्डित कैलाशचन्द्रजी; (5) पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य; (6) पण्डित जीवन्धरजी नयायतीर्थ; (7) पण्डित मक्खनलालजी; (8) ब्रह्मचारी रतनचन्द्रजी; (9) पण्डित अजितकुमारजी; (10) पण्डित हेमचनद्रजी कौन्देय, अजमेर; (11) पण्डित राजेन्द्रकुमारजी; (12) सेठ बद्रीप्रसादजी; (13) नेमिचन्द्रजी वकील; (14) पण्डित सीमन्धरजी; (15) पण्डित पन्नालालजी; (16) पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य; (17) पण्डित जगन्मोहनलालजी; (18) पण्डित फूलचन्द्रजी; (19) नेमिचन्द्रजी पाटनी; (20) पण्डित नरेन्द्रकुमारजी बड़जात्या; (21) पण्डित इन्द्रलालजी; (22) सेठ रामचन्द्रजी कोटयारी; (23) कपूरचन्द्रजी वरैया, लश्कर; (24) कोदरलालजी, तलोद; (25) इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर; (26) ब्रह्मचारी लाभानन्दजी; (27) पण्डित मिश्रीलालजी, लाडनूं; (28) चिमनभाई, मुम्बई; (29) श्री सेठ चंदूलालजी; (30) ब्रह्मचारी श्रीलालजी; (31) ब्रह्मचारी सूरजमलजी; (32) ब्रह्मचारी लाडमलजी; (33) ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी; (34) पण्डित पन्नालालजी सोनी, व्यावर।

मंगलाचरण श्री पण्डित मक्खनलालजी ने किया।

कार्य —

दोनों ओर से उत्तर प्रत्युत्तर के कागजात मध्यस्थ महोदय को सौंपे गये। उनकी

आज्ञानुसार उन्हें श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी और पण्डित पन्नालालजी ने क्रमशः पढ़कर सुनायें।

कार्यवाही 2.00 बजे समाप्त हुई।

सातवीं बैठक दिनांक 27-10-63

आज श्री 108 पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अनय महाराजों के संनिधान और श्री पण्डित बंशीधरजी की मध्यस्थता में गोष्ठी की सातवीं बैठक हुई। दोनों ओर के कागजात मध्यस्थ महोदय को सौंपे गये। तदनन्तर उनकी आज्ञानुसार श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी और श्री पण्डित पन्नालालजी ने पढ़कर सुनाये। उपस्थिति में कल की उपस्थिति के अनुसार रा० ब्रह्मचारी सेठ भागचन्द्रजी तथा पण्डित हेमचन्द्रजी, अजमेर अनुपस्थित रहे। 4.00 बजे कार्य समाप्त हुआ।

आठवीं बैठक दिनांक 28-10-63

आज 28-10-63 को श्री 108 पूज्य आचार्य शिवसागरजी तथा संघस्थ अन्य महाराजों के संनिधान और श्री पण्डित वंशीधरजी न्यायालंकार की मध्यस्थता में गोष्ठी की आठवीं बैठक हुई। उपस्थिति पूर्ववत रही -

(1) श्री पण्डित बंशीधरजी (मध्यस्थ), (2) पण्डित माणिकचन्द्रजी, (3) पण्डित जगन्मोहनलालजी, (4) पण्डित राजेन्द्रकुमारजी, (5) नेमिचन्द्रजी पाटनी, (6) पण्डित नरेन्द्रकुमारजी, (7) चिमनभाई, (8) इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, (9) कोदरलालजी, (10) इन्द्रलालजी, (11) कपूरचन्द्रजी वरैया, (12) चन्दूलालजी, बम्बई, (13) संघपति मोतीलालजी, बम्बई (14) पण्डित पन्नालालजी, (15) पण्डित सीमन्धरजी, जयपुर, (16) नेमिचन्द्रजी वकील, (17) पण्डित वंशीधरजी, बीना (18) सेठ बद्रीप्रसादजी, (19) पण्डित जीवन्धरजी, (20) पण्डित मक्खनलालजी, (21) पण्डित वृन्दावनदासजी, (22) ब्रह्मचारी लाडमलजी, (23) सेठ रामचन्द्रजी कोटयारी, (24) पण्डित पन्नालालजी सोनी, (25) ब्रह्मचारी रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, (26) प्यारेलालजी बड़जात्या, (27) पण्डित अजितकुमारजी दिल्ली, (28) ब्रह्मचारी सूरजमलजी, (29) ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी निवाई, (30) श्री मनोहरलालजी एम०ए०, अजमेर, (31) छगनलालजी पाटनी, अजमेर।

कार्य - दोनों ओर से कागजात पेश किये जाने पर मध्यस्थ के आदेशानुसार पण्डित जगन्मोहनलालजी और पण्डित पन्नालालजी ने पढ़कर सुनाये।

अनन्तर 4 बजे कार्यवाही समाप्त हुई।

नौवीं बैठक दिनांक 29-10-63

आज दिनांक 29-10-63, मंगलवार को श्री 108 पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अन्य महाराजों के संनिधान और श्री पण्डित वंशीधरजी न्यायालंकार की मध्यस्थता में तत्त्वगोष्ठी की नवीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही —

(1) सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, (2) पण्डित वंशीधरजी, न्यायालंकार, (3) पण्डित माणिकचन्द्रजी, (4) पण्डित जगन्मोहनलालजी, (5) पण्डित फूलचन्द्रजी, (6) श्री नेमिचन्द्रजी, पाटनी (7) पण्डित नरेन्द्रकुमारजी, भिसीकर (8) कपूरचन्द्रजी एम०ए०, लश्कर (9) पण्डित वृन्दावनजी (10) चिमनभाई (11) मास्टर मनोहरलालजी, एम०ए० (12) इन्द्रलालजी, (13) छगनलालजी पाटनी, अजमेर (14) सेठ बद्रीप्रसादजी, सरावगी (15) सेठ मोतीलालजी संघपति, बम्बई, (16) पण्डित पन्नालालजी, (17) पण्डित राजेन्द्रकुमारजी, (18) पण्डित हेमचन्द्रजी, अजमेर (19) पण्डित जीवन्धरजी, (20) पण्डित कैलाशचन्द्रजी, (21) पण्डित अजितकुमारजी, (22) पण्डित पन्नालालजी सोनी (23) पण्डित मक्खनलालजी, (24) नेमिचन्द्रजी, वकील (25) ब्रह्मचारी रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, (26) ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी, निवाई (27) इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर, (28) प्यारेलालजी बड़जात्या (29) रघुवरदयाल जैन, दिल्ली, (30) महेशचन्द्र, मेरठ (31) ब्रह्मचारी लाडमलजी, खानिया।

मध्यस्थ महोदय ने दोनों पक्षों के कागजात पेश किये और उनकी आज्ञानुसार पण्डित जगन्मोहनलालजी तथा पण्डित पन्नालालजी ने पढ़कर सुनाये।

तदनन्तर 4.00 बजे सभा समाप्त हुई।

दसवीं बैठक, दिनांक 30-10-63

आज दिनांक 30-10-63, बुधवार को श्रीमान् पूज्यवर आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघस्थ अन्य महाराजों के संनिधान एवं पण्डित वंशीधरजी न्यायालंकार की मध्यस्थता में गोष्ठी की दसवीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही —

(1) श्री पण्डित वंशीधरजी, न्यायालंकार (2) पण्डित कैलाशचन्द्रजी (3) पण्डित फूलचन्द्रजी (4) नेमिचन्द्रजी पाटनी (5) चिमनभाई, बम्बई (6) कपूरचन्द्रजी वरैया, एम०ए० (7) सेठ कोदरलालजी, तलोद (8) सेठ बद्रीप्रसादजी, पटना (9) पण्डित

हेमचन्द्रजी एम०ए०, अजमेर (10) पण्डित पन्नालालजी, सा०आ० (11) पण्डित बंशीधरजी, बीना (12) पण्डित सीमन्धरजी, जयपुर (13) पण्डित राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा (14) पण्डित जीवंधरजी, इन्दौर (15) ब्रह्मचारी रत्नचन्द्रजी मुख्त्यार (16) पण्डित पन्नालालजी सोनी, व्यावर (17) पण्डित मक्खनलालजी, मोरेना (18) पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य (19) पण्डित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा (20) इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर (21) सेठ मोतीलालजी संघपति, बम्बई (22) सेठ ब्रह्मचारी हीरालालजी पाटनी, निवाई (23) ब्रह्मचारी सूरजमलजी, खानियां (24) पण्डित वृन्दावन प्रसादजी वरैया (25) नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर (26) पण्डित जगन्मोहनलालजी, कटनी (27) ब्रह्मचारी लाडमलजी, खानियां।

कार्य — पण्डित जगन्मोहनलालजी ने अपने द्वारा समर्पित सामग्री मध्यस्थ महोदय को सौंपी और उनकी आज्ञानुसार उन्होंने उनका वाचन किया। तदनन्तर पण्डित वंशीधरजी ने उभयपक्ष की संमति से घोषित किया कि 1-11-63 को गोष्ठी का समारोप हो जायेगा। चर्चा का तीसरा दौर स्थगित किया जायेगा, फिर अन्य किसी समय अवशिष्ट चर्चा का आयोजन किया जायगा। आगामी दिन 31-10-62 को मुनिदीक्षा का समारोह होने से चर्चा बन्द रहेगी।

ग्यारहवीं बैठक, दिनांक 1-11-63

आज दिनांक 1-11-63, शुक्रवार को 2.00 बजे से श्रीमान् पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अन्य मुनियों के संनिधान और श्री पण्डित वंशीधरजी न्यायालंकार की मध्यस्थता में गोष्ठी की ग्यारहवीं बैठक सम्पन्न हुई। जिसमें उपस्थिति निम्न प्रकार रही —

(1) श्रीमान पण्डित पन्नालालजी सोनी (2) रायबहादुर सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी (3) पण्डित कैलाशचन्द्रजी (4) पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार (5) पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य (6) पण्डित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य (7) पण्डित जगन्मोहनलालजी, (8) पण्डित फूलचन्द्रजी (9) नेमिचन्द्रजी पाटनी (10) कपूरचन्द्रजी वरैया एम०ए० (11) कोदरलालजी तलोद (12) पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री, (13) पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ (14) पण्डित सीमन्धरजी (15) संघपति मोतीलालजी, बम्बई (16) सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना (17) रामचन्द्रजी कोटयारी (18) ब्रह्मचारी नेमिचन्द्रजी, वकील (19) ब्रह्मचारी रतनचन्द्रजी मुख्त्यार (20) पण्डित राजेन्द्रकुमार (21) पण्डित अजितकुमारजी, दिल्ली (22) पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना (23) इन्द्रचन्द्रजी

छाबड़ा, लश्कर (24) पण्डित श्री लालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी (25) चौधरी सुमेरमलजी महामंत्री महासभा, अजमेर (26) प्यारेलालजी बड़जात्या (27) ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी (28) पण्डित वृन्दावनजी (29) चिमनभाई, बम्बई (30) श्री सेठ चन्दूलालजी, बम्बई।

8-17 तक प्रतिशंकाओं के उत्तर समर्पित किये जाने पर मध्यस्थ महोदय की आज्ञा से पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने पढ़कर सुनाये। तदनन्तर आगे के लिये निम्न व्यवस्था निश्चित की गई —

(1) समय अधिक हो जाने के कारण तत्त्वचर्चा के दौर समाप्त करके आगे के लिये स्थगित की जाती है।

(2) तीसरे दौर के लिये निम्नलिखित व्यवस्था बनाई जाती है।

(क) प्रथम पक्ष समस्त प्रत्युत्तरों पर अपनी प्रतिशंकाएँ आज तारीख 1-11-63 से 2 माह के अन्दर रजिस्ट्री द्वारा पण्डित फूलचन्द्रजी, वाराणसी के पास भेज देगा। और जिस तारीख को यह सामग्री पण्डित फूलचन्द्रजी को प्राप्त होगी, उससे ढाई माह होने पर यदि रविवार न हुआ न अगली तारीख को और रविवार हुआ तो दूसरी तारीख को पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्यजी वीना के पास रजिस्ट्री द्वारा भेज देंगे।

(ख) दोनों ओर के वक्तव्य कुल मिलाकर अद्धा पुलिसकेप के 150-150 पृष्ठ से अधिक न हों।

(3) तीसरा दौर समाप्त होने पर पुस्तक का प्रकाशन दोनों पक्षों की सम्मति से उनके निर्णयानुसार होगा, उसके पहले नहीं।

(4) समाचार-पत्रों में प्रश्नोत्तरों का प्रकाशन तथा उनकी आलोचना प्रत्यालोचना बन्द रहेगी।

अधिकार-पत्र

हम नीचे लिखे प्रतिनिधि तत्त्वचर्चा के अन्तिम (तृतीय) दौर में सभी प्रतिशंकाओं व दीगर कागजात पर हस्ताक्षर करने का अधिकार श्री पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री, दिल्ली को या प्रतिनिधियों में से जो भी समय पर उपस्थित रहेगा, उसे यह अधिकार देते हैं

कि वह हस्ताक्षर कर कागजात का आदान-प्रदान करें। इनमें से किसी के भी हस्ताक्षर हमलोगों को मान्य होंगे। कोई भी पत्रव्यवहार निम्नांकित पतों पर किया जा सकता है —

(1) पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री, अभय-प्रिंटिंग प्रेस, अहाता केदारा, पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

(2) पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, वीना (सागर), मध्यप्रदेश।

आवश्यक विवरण

यह विद्वत्सम्मेलन की प्रत्येक दिन की अधिकृत कार्यवाही का विवरण है। इसे प्रतिदिन श्रीयुत् पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर तैयार करते थे। बाद में मध्यस्थ के हस्ताक्षर होकर उसकी एक-एक प्रति दोनों पक्षों को सौंप दी जाती थी और एक प्रति मध्यस्थ के पास रहती थी। उसे यहाँ उसी रूप में दे दिया गया है।

सम्मेलन की कार्यवाही तारीख 21-10-63 से 1-11-63 तक चली थी। इन दिनों में तत्त्वचर्चा के दो दौर सम्पन्न हो गये थे। तीसरा दौर होना शेष था। किन्तु सभी विद्वान् अपने-अपने घर जाने के लिए उत्सुक थे। इसलिए तीसरे दौर को सम्पन्न करने के लिए अलग से नियम बनाये गये। किन्तु उन नियमों में से पृष्ठ संख्या और समय की मर्यादा निश्चित करनेवाले नियमों का दोनों ओर से समुचित पालन न हो सका परन्तु इससे तीसरे दौर को सम्पन्न करने में कोई बाधा नहीं आई।

आगे के लिए भी व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक सामग्री एक पक्ष दूसरे के पास मध्यस्थ के माध्यम से ही भेजेगा। परस्पर के पत्र-व्यवहार में तो इसका पूरी तरह से पालन होना सम्भव नहीं था। हाँ, तत्त्वचर्चासम्बन्धी पत्रकों पर व्यवस्थानुसार मध्यस्थ के हस्ताक्षर होना आवश्यक था। हमारी ओर से तो इस व्यवस्था को बराबर ध्यान में रखा गया परन्तु अपर पक्ष ने इसे विशेष महत्त्व न देकर पूरी सामग्री मेरे पास सीधी भेज दी। इतना संकेतमात्र इसलिए किया है कि अपर पक्ष की तीसरे दौर की सामग्री पर मध्यस्थ के हस्ताक्षर नहीं हैं।

अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंकाओं को जितने काल में तैयार करके मेरे पास भेज दिया, मुझे उनके उत्तर तैयार करके अपर पक्ष के सुपुर्द करने में उससे बहुत अधिक समय लग गया। इसका कारण एक तो मेरी कौटुम्बिक अड़चनें रहीं, दूसरे मैं महीनों बीमार पड़ा रहा। फिर भी अपर पक्ष ने पूरा धैर्य रखा, इसकी मुझे प्रसन्नता है। अपर पक्ष की इस उदारता और

सहिष्णुता के लिए मैं अपने पक्ष की ओर से उसका जितना आभार मानूँ थोड़ा है। इसमें पण्डित श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्य का विवेक विशेष सराहनीय है।

अपर पक्ष ने तृतीय दौर की पूरी सामग्री मेरे पास तारीख 28-3-64 को भेज दी थी, जो मुझे अहमदाबाद में 15-4-64 के लगभग प्राप्त हुई। हमारी ओर से तृतीय दौर की पूरी सामग्री 9-6-65 को मध्यस्थजी के पास रवाना कर दी गई थी जो अपर पक्ष के अन्यतम प्रतिनिधि श्री पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य को 23-6-65 को प्राप्त हो गई।

कटनी में तृतीय दौर के उत्तरपत्रों का वाचन और संशोधन

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि तृतीय दौर के उत्तर पत्रों की पूरी सामग्री तैयार तो कर ली गई, पर अभी उसका संशोधन और सम्मिलित वाचन शेष था। इसके लिए कटनी और जयपुर दोनों जगह लिखा पढ़ी की गई। बहुत कुछ ऊहापोह के बाद कटनी नगर ही इसके लिए उपयुक्त समझा गया, क्योंकि कटनी श्रीयुत् पण्डित जगन्मोहनलालजी का निवासस्थान है और पूरे वाचन में उनकी उपस्थिति अपना विशेष महत्त्व रखती थी। परिश्रमपूर्वक जो भी सामग्री तैयार की गई है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न रह जाये, इस ओर ध्यान देना अति आवश्यक था। मैं लगभग 17 मई सन् 66 को कटनी गया। वाचन की पूरी व्यवस्था जैन छात्रावास भवन में की गई थी, अतएव मुझे वहाँ ठहरा दिया गया। साथ ही उसी दिन से वाचन और संशोधन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। इसमें श्रीयुत् पण्डित जगन्मोहनलाल साहब तो नियमितरूप से भाग लेते ही थे, क्योंकि एकमात्र उन्हीं के कारण तो कटनी में यह व्यवस्था की गई थी। साथ ही सवाई सिंघई धन्यकुमारजी भी नियमितरूप से भाग लेते थे। बैठक लगभग 21-22 दिन चली थी। इसलिए इतने दिनों के लिए सवाई सिंघई धन्यकुमारजी ने अपने व्यापार आदि के सब कार्यों को गौण कर दिया था। भोजनादि सम्बन्धी अन्य सब व्यवस्था भी उन्होंने अपने यहाँ ही रखी थी। आमन्त्रण नहीं स्वीकार किया जाता था, क्योंकि इसमें फालतू समय जाने का भय था। बीच में जयपुर से श्रीयुत् नेमिचन्द्रजी पाटनी भी आ गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि कटनी में इस वाचन से बड़ा लाभ हुआ। पण्डितजी की पैनी दृष्टि स्खलित भाग पर बराबर चली जाती थी। इससे पूरे भाग के संशोधन में बड़ी सहायता मिली। बैठक प्रातः, मध्याह्न और रात्रि में इस प्रकार तीन समय नियमितरूप से होती रही। श्रीयुत् पाटनीजी की पकड़ भी अच्छी है, उससे भी संशोधन में सहायता मिली है। स्वाध्याय और वाचन द्वारा उन्होंने अपने ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि की है। इस

सम्मिलित वाचन और तत्त्वमंथन के समय मेरा ध्यान सर्वार्थसिद्धि की ओर चला जाता था। इसी प्रकार वहाँ के देव भी निरन्तर तत्त्वमन्थन द्वारा अपना समय यापन करते होंगे, यह अनुभूति पद-पद पर होती थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस पक्ष की ओर से जो भी सामग्री प्रस्तुत की गई, वह सभी विषयों में एक मत होकर प्रस्तुत की गई।

सम्पादन, संशोधन और प्रकाशन

सामग्री कितनी व्यवस्थित क्यों न हो, मुद्रण के लिए देते समय उस पर पर्याप्त ध्यान देना पड़ता है। दोनों ओर की तीनों दौर की सामग्री में आगम प्रमाणों की अत्यधिक प्रचुरता है। साथ ही यह पूरी सामग्री कुछ तो बालपेन से लिखी गई है और कुछ टाईप की हुई है। सो भी जो सामग्री हमें प्रेसमैटर के रूप में प्राप्त थी, उसमें तीसरे नम्बर की कापी की बहुलता थी, जिससे वह बहुत अस्पष्ट थी। इसमें विभक्ति, मात्रा और अक्षरों का भी पर्याप्त व्यत्यय था। प्राय: पैरा का ध्यान बहुत कम रखा गया था। गाथा और श्लोक में जो उद्धृत वाक्य थे वे भी कहीं-कहीं रनिंग के रूप में लिखे गये थे। कहीं-कहीं तो उन्हें वचनिका में ही सम्मिलित कर दिया गया था। जो पत्रक टाईप किये हुए थे, उनमें उद्धृत वाक्यों का अशुद्ध होना स्वाभाविक था। अनेक स्थलों पर वाक्यों में स्खलन भी हो गया था। सम्पादन के समय ये सब कठिनाईयाँ मेरे सामने रही है। मेरे पास ऐसा व्यवस्थित आदमी भी नहीं था, जिसकी सहायता से मैं अपने भार को हलका करने में समर्थ होता। एकमात्र कतिपय छात्र ही मेरे सहायक थे। किन्तु उनके अध्ययन में किसी प्रकार का व्यत्यय न हो जाये, इसका मुझे पूरा ध्यान रखना पड़ता था। ऐसी विकट परिस्थिति में रहते हुए तत्त्वचर्चा के इतने बड़े कलेवर का मुझे सम्पादन करना पड़ा है। मुद्रण के समय प्रूफ करेक्शन का काम भी मुझे ही करना पड़ा है। थोड़ी-बहुत जो छात्रों की सहायता मिल गई, उसी में सन्तोष करना पड़ा है । किन्तु इन सब अड़चनों के बावजूद मुझे इस बात का सन्तोष है कि किसी तरह यह पार पड़ गया है। आशा है शीघ्र ही वह पाठकों के वाचन-मनन के लिए सुलभ हो जायेगा।

सम्पादन के समय जब मैंने अपर पक्ष के तृतीय दौर पर दृष्टि डाली तो मालूम हुआ कि कुछ स्थलों पर प्रतिशंका के स्थान में लिखते समय प्रत्युत्तर या उत्तर शब्द का प्रयोग हो गया है। नियमानुसार इसका संकेत मैंने श्रीयुत् पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य को किया। उन्होंने तत्काल लिखा कि लिखने के ओघ में ऐसे शब्दों का प्रयोग जहाँ भी हो गया हो उसे सन्दर्भ को ध्यान में रखकर आप सुधारते जायें। सन्दर्भ में व्यत्यय न हो, इसका ध्यान रखें।

अतएव मैं यहाँ यह संकेत कर देना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ कि तृतीय दौर की अपर पक्ष की सामग्री में जहाँ भी ऐसा व्यत्यय मुझे मालूम पड़ा वहाँ एक-दो शब्दों में परिवर्तन किया गया है, परन्तु वहाँ प्रतिपादित किये गये विषय के आशय में किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं आने दिया है।

जैसा कि मैं पहले ही सूचित कर आया हूँ, हमारी ओर से पूरी सामग्री सन् 65 के जून में ही अपर पक्ष को प्राप्त हो गई थी। अब नियमानुसार उसके मुद्रण और प्रकाशन की संयुक्त व्यवस्था करनी थी। इसके लिए मैंने उसके बाद व्याकरणाचार्यजी को कुछ दिन बाद संकेत किया। व्याकरणाचार्यजी ने 24-7-65 के पत्र द्वारा जो उत्तर दिया उसका आशय यह है कि मैं इस सम्बन्ध में अपने पक्ष के विद्वानों को तत्काल लिख चुका है परन्तु कार्यव्यस्तता अथवा स्वास्थ्य की गड़बड़ी के कारण विद्वान् एकत्रित न हो सके। फिलहाल दो-तीन माह रुकना पड़ेगा। मैंने अपने पत्र द्वारा लिख दिया कि दो-तीन माह ठहरने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार धीरे-धीरे बहुत काल निकल गया। कुछ अवरोध-सा मालूम हुआ। अन्त में तय हुआ कि जब आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला इसका प्रकाशन करने के लिए उद्यत है तो सबके स्वाध्याय लाभ की दृष्टि से उसके सुपुर्द कर देना चाहिए। स्पष्ट है कि उसी व्यवस्था के अनुसार इसका उक्त संस्था द्वारा प्रकाशन हो रहा है।

आपस में पत्राचार द्वारा ऐसी एक चर्चा चल पड़ी थी कि इस तत्त्वचर्चा के पत्रकों में जो आक्षेपात्मक या प्रचारात्मक वाक्या या शब्द हों, उन्हें दूर कर देना चाहिए। हमारे पक्ष को यह विचार उचित प्रतीत हुआ, इसलिए मुद्रण के पूर्व और मुद्रण के समय हमने ऐसे शब्दों को जो किसी न किसी रूप में वैसे प्रतीत हुए उन्हें अलग कर दिया है और जिन शब्दों को अलग किया गया, उनकी सूची श्री युक्त पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य के पास भेज दी है। पर ऐसा करते हुए न तो विषय के विवेचन को स्पर्श किया गया है और न ही सन्दर्भ में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने दी गई है। अप्रयोजनीय जानकर उस सूची को यहाँ हम नहीं दे रहे हैं। इसकी चर्चा हमने श्रीयुक्त पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य से भी प्रत्यक्ष भेंट के समय कर दी है।

आभार प्रदर्शन

यह स्पष्ट है कि श्री 108 आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघस्थ अन्य मुनिराजों की भावना इस तत्त्वचर्चा के अनुकूल रही है और यह भी स्पष्ट है कि उनके

सानिध्य में होने के कारण ही तत्त्व-चर्चा के समय पूरी शान्ति बनी रही है। यद्यपि अभी तक मैं आचार्य महाराज की सन्निकटता तो नहीं प्राप्त कर सका, पर तत्त्वचर्चा के समय मैं जितना समझ सका हूँ, उसके आधार से, मैं यह सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि वे सरल तो हैं ही, विवेकी भी हैं। मेरा विश्वास है कि उनके चित्त में आने भर की देर है, इस समय समाज में जो द्वन्द्व चल रहा है, उसके शान्त होने में देर नहीं लगेगी। यह तत्त्वचर्चा उनके सानिध्य में सम्पन्न हुई और इसी उद्देश्य से इसका आयोजन भी किया गया था। अतएव मेरा तो यही विश्वास है कि कभी न कभी आचार्य महाराज का इस ओर अवश्य ही ध्यान जायेगा।

श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी (निवाई) और ब्रह्मचारी लाडमलजी का जितना भी आभार माना जाय थोड़ा है। ये दोनों महानुभाव इस ऐतिहासिक सम्मेलन के आयोजक थे। ये दोनों महानुभाव नहीं चाहते कि समाज में कलह का वातावरण बना रहे। इनके द्वारा किया गया आतिथ्य सत्कार भी सराहनीय था। यह इस युगल जोड़ी का जीवनव्रत मालूम देता है। जिस उत्साह और निष्पक्षता से इन्होंने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया, उसका शब्दों में वर्णन करना कठिन है।

इस सम्मेलन में जितने विद्वानों ने भाग लिया, उनमें से कोई किसी के लिए नया नहीं था। मेरे लिए तो उनमें से कई विद्वान गुरुजन थे। कई गुरुतुल्य थे। कई समान पीढ़ी के थे। ये सब तो मेरे लिए मान्य हैं ही जो मुझसे पीछे की पीढ़ी में आते हैं, उनके प्रति भी मेरे हृदय में सदा से स्नेह का भाव रहा है। मेरा विश्वास है कि इन सब विद्वानों में अखण्डभाव से उत्तरदायित्व की भावना जागृत होने पर वर्तमान द्वन्द्व की स्थिति समाप्त होने में देर नहीं लगेगी। **सामाजिक क्षेत्र में मतभेद होना कोई बुरी बात नहीं, द्वन्द्व का भाव नहीं होना चाहिए।**

यहाँ विशेष रूप से मुझे श्रीयुक्त पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री का स्मरण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। उन जैसा सहिष्णु और विवेकशील विद्वान विरला ही होगा। मुझे तो उनका सदा से पृष्ठबल प्राप्त है। इस तत्त्वचर्चा को इतने सुन्दर ढंग से सम्पादित करने में उनकी सहायता एक सहयोगी के नाते विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तत्त्वचर्चा को वर्तमानरूप देने में उनके बुद्धि कौशल की जितनी भी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है।

श्रीयुत नेमिचन्द्रजी पाटनी जयपुर में थे मात्र इसीलिए इसका श्रीगणेश सुन्दर ढंग से हो सका। जयपुर में तत्त्वचर्चा के समय मैं और श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री

उनके घर पर अपने ही घर में जैसे रह रहे हों इतने अपनत्व के साथ रहे। उनका पूरा परिवार हम लोगों के आतिथ्य में जुटा रहता था। तत्त्वचर्चा में वे मेरे एक सहयोगी रहे हैं, यह विशेष उल्लेखनीय है।

श्रीयुत ब्रह्मचारी चन्दूलालजी (सोनगढ़) स्वामीजी की छाया के ही समान हैं किन्तु जब उन्हें यह अनुभव हुआ कि जयपुर में मेरी आवश्यकता है, वे तत्काल यहाँ आ गये और प्रमाणों के संग्रह करने में मेरी सहायता करने लगे। वे अत्यन्त भद्रपरिणामी पुरुष हैं।

श्रीयुत चिमनभाई बम्बई एक कर्मठ व्यक्ति हैं। ये जिस कार्य में जुट जाते हैं, थकने का नाम नहीं लेते। यही कारण है कि ये बम्बई मुमुक्षुमण्डल के मंत्री तो हैं ही, साथ ही दिगम्बर जैन महामुमुक्षु मण्डल के भी मंत्री हैं। जब आवश्यक कागज पत्र लेकर 20 तारीख के मध्याह्न तक जयपुर पहुँचा देने के लिए सोनगढ़ मेरा तार पहुँचा, तब ये वहीं थे। किसे भेजा जाये, यह प्रश्न उठने पर ये आ गये और बोले, जैसे बनेगा मैं इस कार्य को सम्पादित करूँगा। 19 तारीख की सायंकाल की बात है, 20 तारीख को जयपुर पहुँचना है, फिर भी चिमनभाई हामी भर रहे हैं। इन्हें काम सौंपा गया। रात्रि की गाड़ी से ये अहमदाबाद आये और सीधे हवाई अड्डे पर पहुँचकर किसी तरह जयपुर का हवाई टिकट प्राप्त करने में ये सफल हो गये। इन्होंने जो संकल्प किया था, उसे पूरा किया। इसी से इनकी कर्मठता जानी जा सकती है। जयपुर में रहते समय आवश्यक कागज-पत्रों का संकलन यही करते रहे। मैं बिल्कुल निश्चिन्त था।

इस प्रकार मैं देखता हूँ कि यह जो इतने सुन्दर ढंग से पूरा कार्य सम्पन्न हुआ, वह सब श्री ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटनी और श्री ब्रह्मचारी लाडमलजी प्रभृति सब महानुभावों के सहयोग का सुपरिणाम है। अत: मैं इन सबका पुन: आभारी हूँ।

यह तो सभी भुक्तभोगी जानते हैं कि प्रूफ करेक्शन के समय सावधानी रखते हुए भी स्खलन हो जाता है। अनेक अशुद्धियाँ भी रह जाती हैं, कहीं-कहीं शब्द में उलट-फेर भी हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि कभी-कभी प्रेसकापी सामने नहीं रहती और हड़बड़ी में प्रूफ करेक्शन करना ही पड़ता है। ऐसे समय में एक शब्द का स्थान कोई नया शब्द भी ले लेता है। दृष्टि की मन्दता और साधनों की अल्पता रहते हुए भी यद्यपि मैं पर्याप्त सतर्क रहा हूँ, फिर भी यदि कहीं कोई स्खलन आदि दिखलाई दे तो सर्व प्रथम उसकी सूचना मुझे

दी जाये। मुझे मेरी असावधानी मालूम पड़ने पर मैं उसे सहर्ष स्वीकार कर लूँगा, यही निवेदन है। ऐसी छोटी-छोटी बातों के लिए तूल न दिया जाये।

मेरी इच्छा तो यह रही है कि यदि दूसरा पक्ष स्वीकार कर ले तो इसके कतिपय उपयोगी परिशिष्ट बना दिये जायें। साथ ही इसमें जो मोटी अशुद्धियाँ और स्खलन प्रतीत हों, उनका भी एक शुद्धिपत्र लगा दिया जाये। किन्तु समयाभाव के कारण मैं ऐसा नहीं कर सका, इसके लिए मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूँ, इसके सम्पादन और मुद्रण में मुझे जो श्रम करना पड़ा, उसको मैं ही जानता हूँ। उसकी व्यापक चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है।

अन्त में इतना लिखकर कि इसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, जो कुछ भी है, वह सब भगवद्वाणी का प्रसाद है, इस वक्तव्य को पूरा करता हूँ।

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलब्धिम्॥

श्री सन्मती जैन निकेतन
नरिया-वाराणसी
10-2-67

विनीत
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

श्री वीतरागाय नमः

प्रथम दौर

(1)

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 1

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान

द्रव्यकर्मों के उदय और संसारी आत्मा के विकार भाव तथा चतुर्गति भ्रमण में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। भगवान कुन्दकुन्द इसी विषय को स्पष्ट करते हुए समयप्राभृत में लिखते हैं —

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥ 80॥

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥ 81॥

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥ 82॥

अर्थ—पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है। जीव कर्म में विशेषता को (पर्याय को) उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार कर्म जीव में विशेषता को (पर्याय) को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु परस्पर के निमित्त से दोनों का परिणाम जानो। इस कारण से आत्मा अपने ही भाव से कर्ता है, परन्तु पुद्गल कर्म के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्ता नहीं है॥ 80-82॥

दो द्रव्यों की विविक्षित पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनय से है इसका स्पष्टीकरण पञ्चास्तिकाय की गाथा 89 को श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका से हो जाता है। टीका इस प्रकार है—

.....तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहार-व्यवस्थापितौ उदासीनौ।

इस कारण एक के ही गति और स्थिति देखने में आती है, इसलिए अनुमान होता है कि वे गतिस्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं। किन्तु व्यवहारनय द्वारा स्थापित उदासीन हेतु हैं।

इस प्रकार परमागम के इस उद्धरण से यह फलित होता है कि दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं।

दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्ता-कर्मसम्बन्ध क्यों नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसार में कहा है—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥ 2-77॥169॥

अर्थ—कर्मत्व के योग्य स्कन्ध जीव की परिणति को प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं है॥ 2-77॥169॥

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य उक्त गाथा की टीका में लिखते हैं—

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाहजीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गल-पिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति॥ 169॥

अर्थ—कर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कंध तुल्यक्षेत्रावगाह से युक्त जीव के परिणाममात्र का - जो कि बहिरंग साधन है, उसका आश्रय लेकर जीव उनको परिणमानेवाला नहीं होने पर भी स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों के कर्मपने का कर्ता आत्मा नहीं है॥ 169॥

इसी प्रकार इस उल्लेख से यह भी फलित होता है कि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड जीव के भावों का कर्ता नहीं है।

इस प्रकार दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आगम में जहाँ भी दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्ता-कर्म सम्बन्ध कहा है, सो वह वहाँ पर उपचारमात्र से कहा है।

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥105॥ *(समयसार)*

अर्थ—जीव निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध का परिणाम होता हुआ देखकर जीव ने कर्म किया यह उपचारमात्र से कहा जाता है ॥105॥

इसकी टीका में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः॥ 105॥

अर्थ—इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञान के कारण उसके निमित्तभूत अज्ञान भावरूप परिणमन करने से पुद्गल कर्म का निमित्तरूप होने पर पुद्गल कर्म की उत्पत्ति होती है, इसलिए आत्मा ने कर्म को किया ऐसा विकल्प उन जीवों के होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघन से भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं, परन्तु आत्मा ने कर्म को किया यह उपचार ही है, परमार्थ नहीं॥ 105॥

द्वितीय दौर

(2)

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥

शंका 1

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 2

इस प्रश्न का उत्तर जो आपने यह दिया है कि 'व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है' सो यह उत्तर हमारे प्रश्न का नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्मसम्बन्ध नहीं पूछा है।

इस विषय में आपने जो समयसार की गाथा 80, 81, 82 का प्रमाण दिया है, वह प्रमाण आपके उत्तर के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इन गाथाओं का स्पष्ट अर्थ यह है कि —

'पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन जीव के भावों के निमित्त से होता है और जीव के भावों का परिणमन पुद्गल कर्म के निमित्त से होता है।' ऐसा ही अर्थ आपने भी किया है। किन्तु 81 वीं गाथा का अर्थ करते हुए आपने जो उसमें विशेषता (पर्याय) शब्द का प्रयोग किया है, वह मूल गाथा से विपरीत है, क्योंकि विशेषता (पर्याय) परिणाम को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। इसके सिवाय आपने इन गाथाओं का जो निष्कर्ष निकाला है, वह भी बाधित है। साथ ही इस सम्बन्ध में जो कर्तृ-कर्म सम्बन्ध का निषेध किया है, वह भ्रम उत्पादक है क्योंकि हमारा प्रश्न निमित्त-कर्ता के उद्देश्य से ही है, उपादान कर्ता के उद्देश्य से नहीं है। जैसा कि पञ्चास्तिकाय की 88 वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने स्पष्टरूप से ध्वजा के फहराने में वायु की हेतुकर्तृता बतलायी है।

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते।

इसी टीका में —

यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणतस्तुरङ्गो अश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते।

वाक्य द्वारा घुड़सवार के रुकने में रुके हुए घोड़े को हेतुकर्ता माना है।

पञ्चास्तिकाय की निम्नलिखित 55 और 58 वीं गाथाओं में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि कर्म प्रकृतियाँ जीव के नर-नारकादि पर्यायरूप भावों के सत् का नाश और असत् का उत्पाद करती हैं।

णेरइय-तिरिय-मणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं॥ 55॥

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं दु कम्मकदं॥ 58॥

प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव की मनुष्य आदि पर्यायों का कर्म को कर्ता माना है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि॥ 117॥

इसकी टीका में श्री अमृचन्द्रसूरि ने भी इसकी पुष्टि की है। समयसार की निम्नलिखित गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने निमित्तकर्ता स्वीकृत किया है। यथा—

अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ।

द्रव्यसंग्रह में लिखा है—

पुद्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥ 8॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्नलिखित गाथा में लिखा है कि पुद्गल में ऐसी शक्ति है कि वह आत्मा के केवलज्ञान का विनाश कर देती है—

कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स॥ 21॥

देवागम की —

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ 4॥

कारिका सम्बन्धी अष्टशती में श्री अकलंकदेव ने लिखा है कि —

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः।

इसकी व्याख्या में श्री विद्यानन्दस्वामी ने अष्टसहस्री में अज्ञान मोह आदि दोष तथा ज्ञानावरण मोहनीय आदि पौद्गलिक कर्मों में परस्पर कार्य-कारणभाव विस्तार से बतलाया है।

समयसार की गाथा 13 की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है—

तत्र विकार्य-विकारकोभयं पुण्यं तथा पापं, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्य-संवारकोभयं संवरः..... स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्ध-मोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार कलश 174 में आत्मा के रागादि विकारभाव केवल आत्मामात्र (उपादान) में नहीं होता है। उसके लिये पर (कर्म) सम्बन्ध आवश्यक कारण बतलाया है।

न जातु रागादिविकारभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ 175॥

समयसार की निम्नलिखित गाथा में व्यवहार से जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता बतलाया है—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं॥ 84॥

श्री विद्यानन्दस्वामी ने कर्म का लक्षण करते हुए आप्तपरीक्षा के पृष्ठ 246 पर लिखा है—

जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि।

अर्थात् जो आत्मा को परतन्त्र करते हैं, वे कर्म हैं।

समयसार की निम्नलिखित गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पौद्गलिक कर्म का फल आत्मा को दुःख होना बतलाया है—

अट्ठविहं पि य कम्मं सठवं पोग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स॥ 45॥

धवला पुस्तक 6 पृष्ठ 6 पर लिखा है—

तं आवरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं।

अर्थात् आत्मा के ज्ञानगुण का जो आवरण करता है, वह ज्ञानावरण कर्म है।

धवला पुस्तक 5, पृष्ठ 185 तथा 223 तथा पुस्तक 16, पृष्ठ 512 पर रागादि विभावभावों को कर्मजनित कहा है—

तत्थ ओधभवो णाम अट्ठकम्माणि अट्ठकम्मजणिदजीवपरिणामो वा।

इनके अतिरिक्त समस्त धवल, जयधवल, महाधवल, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में आत्मा तथा द्रव्यकर्मों का परस्पर विकार्य-विकारभाव स्पष्ट बतलाया है।

इसके आगे आपने जो पञ्चास्तिकाय की गाथा 89 का उद्धरण दिया है, वह भी हमारे प्रश्न से संगत नहीं है, क्योंकि यह उद्धरण उदासीन निमित्त कारण से सम्बन्धित है। साथ ही स्वयं अमृतचन्द्रसूरि ने उसी पञ्चास्तिकाय की 87 और 94 वीं गाथा की टीका में उदासीन को भी अनिवार्य निमित्त कारण बतलाया है।

गाथा 87 की टीका—

तत्र जीव-पुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेतां तदा तयोर्निरर्गलगति -स्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत ?

अर्थ—वहाँ जीव और पुद्गल स्वभाव से ही गति और स्थिति परिणाम को प्राप्त है। सो उनके इस परिणमन को स्वयं अनुभव करते हुए यदि धर्म और अधर्म द्रव्य बहिरंग कारण न हों तो उनका यह परिणमन निरर्गल-निर्बाध हो जायेगा और इस दशा में उनका सद्भाव अलोक में भी कौन रोक सकेगा ?

गाथा 94 की टीका—

यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत् तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते।

अर्थ—यदि आकाश ही गति और स्थिति का कारण माना जाये तो उसका सर्वत्र सद्भाव होने से जीव और पुद्गल की गति तथा स्थिति सीमा रहित हो जायेगी अर्थात् वह अलोक में भी होने लगेगी और ऐसा होने से अलोक का परिमाण प्रति समय कम होता जायेगा।

सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5 सूत्र 22 में काल द्रव्य की अनिवार्य उदासीन कारणता बतलायी है—

धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृतिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः।

अर्थ—धर्मादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय की उत्पत्ति के प्रति यद्यपि स्वयं ही प्रवृत्ति करते हैं तथापि बाह्य सहायक के बिना उनकी वह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उन्हें प्रवर्तानेवाला काल द्रव्य है।

आपने जो प्रवचनसार की गाथा 169 तथा उसकी भी अमृतचन्द्र सूरिकृत टीका का उद्धरण दिया है, उसमें स्वयं शब्द का अर्थ 'स्वयमेव' (अपने आप) न होकर 'अपने रूप' है। इसके अतिरिक्त उनसे जो यह फलितार्थ निकाला है कि दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है, उसका आशय केवल उपादान कारण की दृष्टि से है, निमित्त कारण की दृष्टि से नहीं।

समयसार की गाथा 105 में जो **उपचार** शब्द आया है, वह इस अर्थ का द्योतक है कि पुद्गल का कर्म रूप परिणमन पुद्गल में ही होता है, जीव रूप नहीं होता। किन्तु जीव के परिणामों का निमित्त पाकर होता है अर्थात् जीव पुद्गल कर्मों का उपादान कर्ता नहीं, निमित्त कर्ता है।

आशा है आप हमारे मूल प्रश्न का उत्तर देने की कृपा करेंगे।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 1

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकारी भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 2 का - समाधान

प्रतिशंका नं० 2 में शंकारूप में उपस्थित किये गये विषयों का वर्गीकरण—

(1) पंचास्ति० गा० 88 तथा 55-58;प्र०सार० गा० 117; स०सार गा० 100 की टीका, द्रव्य सं० गा० ८, स्वा० कार्तिके० गाथा० 211; दे० स्तो० श्लो० 4; स-सार गा० 13 टीका; स-सार कलश 175; स-सार गा० 84; आप्तप० पृ० 246; स-सार गा० 45, धवला पु० 6-पृ० 6; और धवला पु० 5 पृ० 185-223 तथा पुस्तक 16 पृष्ठ 512; इस प्रकार विविध ग्रन्थों के लगभग 17 प्रमाणों के आधार से निमित्त में हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए संसारी जीव और कर्मोदय में जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे गौण दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

(2) पंचास्तिकाय, गा० 89 का उद्धरण किसी भी प्रकार के निमित्त को व्यवहार हेतु बताने के लिए उद्धृत किया गया है, पर उसे प्रकृत में असंगत बतलाया गया है।

(3) पंचास्तिकाय, गाथा 87-94 तथा सर्वार्थसिद्धि० अध्याय 5 सूत्र 22 के उद्धरणों द्वारा उदासीन निमित्तों की कार्य के प्रति अनिवार्य निमित्तता सिद्ध की गई है।

(4) प्रवचनसार गाथा 169 में स्वयमेव पद का अर्थ प्रतिशंका में अपने आप का निषेधकर 'अपने रूप' किया गया है।

(5) समयसार, गाथा 105 में आये हुए उपचार शब्द के अर्थ को बदलने का प्रयत्न किया गया है।

समाधान इस प्रकार है —

(1) प्रतिशंका 1 में विविध प्रमाण देकर जो संसारी जीव और कर्मोदय में हेतुकर्तृता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, सो ऐसा करने में क्या उद्देश्य रहा है, यह समझ में नहीं आया। यदि हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए निमित्तों में उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसा भेद करने का अभिप्राय रहा हो तो वह इष्ट है, क्योंकि पंचास्तिकाय गाथा 88 में यह भेद स्पष्ट

शब्दों में दिखलाया गया है। परन्तु वहाँ ऐसे भेद को दिखलाते हुए भी उक्त वचन के आधार से यदि यह सिद्ध करने का अभिप्राय हो कि प्रेरक कारण के बल से किसी द्रव्य में कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा, क्योंकि हेतुकर्तृ पद का व्यपदेश निमित्तमात्र में देखा जाता है, ऐसा आगम प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है—

यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्यो अधीते, उपाध्यायोऽध्या-पयतीति ? नैष दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।

अर्थ - शंका—यदि ऐसा है तो काल को क्रियावत्त्व प्राप्त होता है। यथा - शिष्य पढ़ता है, अध्यापक पढ़ाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्तृ व्यपदेश देखा गया है। यथा - कण्डे की अग्नि पढ़ाती है। इस प्रकार काल की हेतुकर्तृता है।

यह आगमवचन है। इससे यह ज्ञात तो होता है कि निमित्तकारण दो प्रकार के हैं— एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हों; परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यों के समान अन्य द्रव्यों के कार्य में निमित्त होते हैं। आचार्य पूज्यपाद सब निमित्तों को समान मानते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके द्वारा रचित इष्टोपदेश के इस वचन से भी होती है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥ 35॥

अर्थ—अज्ञ विज्ञपने को प्राप्त नहीं होता और विज्ञ अज्ञपने को प्राप्त नहीं होता। किन्तु अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय के द्वारा उस प्रकार निमित्त हैं, जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गति का निमित्त है॥ 35॥

इसका स्पष्टीकरण करते हुए इसी श्लोक की टीका में लिखा है—

भद्र! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वं तत्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेश-सहस्त्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते वकः॥

तथा विज्ञस्तत्वज्ञानपरिणतोऽज्ञत्वं तत्वज्ञानात्परिभ्रंशमुपायसहस्त्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्त्म—

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलीके मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु॥

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह - अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थ-समुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्, तत्र योग्यताया एव साक्षात् साधकत्वात्।

कस्या को यथा—इत्यत्राह—गतेरित्यादि। अयमर्थो यथा युगपद्भाविगति-परिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका। तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात्। धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारि-कारणमात्रं स्यात्। एवं प्रकृतेऽपि। अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः सुश्रूषा प्रतिपत्तव्याः।

हे भद्र! अज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य अभव्य आदि विज्ञपने को अर्थात् तत्त्वज्ञपने को धर्माचार्य आदि के हजारों उपदेशों से भी नहीं प्राप्त होता। कहा भी है—

कार्य की उत्पत्ति में स्वाभाविक क्रिया गुण अपेक्षित हैं, क्योंकि सैकड़ों व्यापार करने पर भी बक तोते के समान नहीं पढ़ाया जा सकता।

उसी प्रकार विज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञानरूप से परिणत हुआ जीव अज्ञपने को अर्थात् तत्त्वज्ञान से भ्रंस को हजारों उपायों के द्वारा भी नहीं प्राप्त होता। उसी प्रकार कहा है—

भय से भागते हुए समस्त लोक पर वज्र के गिरने पर भी मोक्षमार्ग में उपशम को प्राप्त हुए जीव योग से चलायमान नहीं होते। तो फिर बोधरूपी प्रदीप से जिनका मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव शेष परीषहों से चलायमान कैसे हो सकते हैं ?

किस योग्यता का कौन निमित्त है। यथा—इसलिए यहाँ कहा है—गतेरित्यादि।

जिस प्रकार एक साथ होनेवाली गति परिणाम के सम्मुख हुए पदार्थों की अपनी गति शक्ति ही गति की साक्षात् जनिका है। उसके विरुद्ध योग्यता के होने पर, उसे कोई भी करने में समर्थ नहीं है। धर्मास्तिकाय द्रव्य तो गति का उपग्राहक द्रव्य विशेष होकर उस (योग्यता) का सहकारी कारणमात्र है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिए। इसलिए व्यवहार से ही गुरु आदि की सुश्रूषा जाननी चाहिए।

इस प्रकार इष्टोपदेश के उक्त आगम वचन और उसकी टीका से स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्त कारणों में पूर्वोक्त प्रकार से दो भेद होने पर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्य के कार्य के प्रति समान है। कार्य का साक्षात् उत्पादक कार्यकाल की योग्यता ही है, निमित्त नहीं।

यह ठीक है कि प्रश्न 1 का उत्तर देते हुए समयसार की 81 से 83 तक की जिन तीन गाथाओं का उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है, वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्ध का निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रम में न पड़ जाय कि यदि आगम में निमित्त में कर्तृपने का व्यवहार से व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थ में कर्ता बनकर कार्य को उत्पन्न करता होगा। वस्तुतः जैनागम में कर्ता तो उपादान को ही स्वीकार किया है और यही कारण है कि जिनागम में कर्ता का लक्षण 'जो परिणमन करता है, वह कर्ता होता है' यह किया गया है। समयसार कलश में कहा भी है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तुतत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ 51॥

जो परिणमन करता है, वह कर्ता है; जो परिणाम होता है, वह कर्म है और जो परिणति होती है, वह क्रिया है। वास्तव में ये तीनों अलग नहीं हैं।

अतएव निमित्तकर्ता को व्यवहार (उपचार) से ही कर्ता मानना युक्ति-संगत है, क्योंकि एक द्रव्य का कर्तृधर्म दूसरे द्रव्य में नहीं उपलब्ध होता। मात्र कार्य में कौन द्रव्य उस समय निमित्त हेतु है, यह दिखलाने के लिए ही कर्ता आदि रूप से निमित्त का उपचार से उल्लेख किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रथम प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है, वह यथार्थ है।

(2) पञ्चास्तिकाय, गाथा 89 में निःसन्देहरूप से उदासीन निमित्त की व्यवहारहेतुता सिद्ध की गई है। पर इतने मात्र से क्रिया के द्वारा निमित्त होनेवाले निमित्तों को व्यवहार हेतु मानने में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अभी पूर्व में इष्टोपदेश टीका का जो उद्धरण दे आये हैं, उसमें स्पष्टरूप से ऐसे निमित्तों को व्यवहार हेतु बतलाकर इस दृष्टि से दोनों में समानता सिद्ध की गई है।

(3) ऐसा नियत है कि प्रत्येक द्रव्य के किसी भी कार्य का पृथक् उपादान कारण के समान उसके स्वतन्त्र एक या एक से अधिक निमित्त कारण भी होते हैं। इसी का नाम कारक-साकल्य है और इसीलिए जिनागम में सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय

निमित्त से कार्य की उत्पत्ति होती है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने इसे द्रव्यगत स्वभाव इसी अभिप्राय से कहा है। वे लिखते हैं—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेऽयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानां॥ स्वयंभू-स्तोत्र॥ 60॥

कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा अर्थात् ऐसा स्वीकार नहीं करने पर पुरुषों की मोक्ष-विधि नहीं बन सकती। यही कारण है कि ऋषि स्वरूप आप बुधजनों के द्वारा वन्दनीय हैं।

यह तो है कि कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है, क्योंकि ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है कि जब निश्चय उपादान अपना कार्य करता है, तब अन्य द्रव्य पर्याय द्वारा उसका व्यवहार हेतु होता है। पर नियम यह है कि प्रत्येक समय में निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार होती है। तभी जीवों की मोक्षविधि भी बन सकती है। जैसा कि भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता है, इस नियम से भी सिद्ध होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंग के प्राप्त होने के पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंग की प्राप्ति द्रव्यलिंग को स्वीकार करते समय ही हो जाती हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादान के अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है, तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुष को दोनों की एक साथ प्राप्ति होती हो यह बात अलग है, इसलिए प्रत्येक कार्य में निमित्त अनिवार्य है, ऐसा मानना यद्यपि आगमविरुद्ध नहीं है, पर इस पर से यदि कोई यह फलितार्थ निकालना चाहे कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है, आगम-संगत नहीं है। उपचार से ऐसा कथन करना अन्य बात है और उसे यथार्थ मानना अन्य बात है।

(4) प्रवचनसार, गाथा 169 में 'स्वयमेव' पद का अर्थ स्वयं ही है, अपने रूप नहीं। इसके लिए समयसार, गाथा 116 आदि तथा 168 संख्या की गाथाओं का अवलोकन करना प्रकृत में उपयोगी होगा। आगम में सर्वत्र 'स्वयमेव' पद 'स्वयं ही' इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यदि कहीं 'अपने रूप' अर्थ किया गया हो तो वह प्रमाण सामने आना चाहिये।

(5) समयसार, गाथा 105 में उपचार का जो अर्थ प्रथम प्रश्न के उत्तर में किया गया है, वह अर्थ संगत है। इसकी पुष्टि धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 59 से होती है। प्रमाण इस प्रकार है—

मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं,

जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो।

जिसके द्वारा मोहित किया जाता है, वह मोहनीय कर्म है।

शंका—ऐसा होने पर जीव को मोहनीय कर्मपना प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीव से अभिन्न (विशेष संयोगरूप, परस्पर विशिष्ट एक क्षेत्रावगाही) कर्मसंज्ञक पुद्गल-द्रव्य में उपचार से कर्तापने का आरोप कर वैसा कहा है।

इस आगम वचन में 'उवयारेण' और 'आरोविय' पद ध्यान देने योग्य है। स्पष्ट है कि कार्य का निष्पादक वस्तुतः उपादान कर्ता ही होता है। निमित्त में तो उपचार से कर्तापने का आरोप किया जाता है।

●

तृतीय दौर

शंका

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकार भाव और चतुर्गति प्रमाण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न का आशय यह था कि जीव में जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, क्या वे द्रव्य कर्मोदय के बिना होते हैं या द्रव्य कर्मोदय के अनुरूप होते हैं। संसारी जीव का जो जन्म-मरणरूप चतुर्गति भ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, क्या यह भी कर्मोदय के अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गति भ्रमण कर रहा है ?

आपके द्वारा इस प्रश्न का उत्तर न तो प्रथम वक्तव्य में दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्य में दिया गया है — यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्य के ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्य निमित्त कर्ता-कर्म की अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्न के उत्तर को टालने का प्रयत्न किया है।

यह तो सर्व सम्मत है कि जीव अनादि काल से विकारी हो रहा है। विकार का कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थों के परस्पर बन्ध बिना लोक में विकार नहीं होता। कहा भी है—

द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्। *—पद्मनन्दि पंचविंशति 23-7।*

यदि क्रोध आदि विकारी भावों को कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोग के समान ये भी जीव के स्वभाव भाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावों का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि—

सदकारणवन्नित्यम। *—आप्तपरीक्षा कारिका 2 टीका*

जो सत् (मौजूद) है और अकारण है, वह नित्य होता है।

अथवा मुक्त जीव के भी विकारी भावों का प्रसंग आ जायेगा। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसी में ज्ञान अधिक है और किसी में ज्ञान हीन है। एक ही पुरुष में ज्ञान की हीनाधिकता देखी जाती है। यह तरतमभाव निष्कारण नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान में जो तर-तमभाव का कारण है, वह ज्ञानावरण कर्म है। कहा भी है—

एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण ताव णिक्कारणो, वड्ढिहाणीहि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणितर-तमभाव-कारणं तमावरणमिदि सिद्धं। *—जयधवल 1-56*

इसका तात्पर्य भाव ऊपर दिया जा चुका है।

इन कर्मोदय से जीव की नाना अवस्था तथा विचित्र विकारी भाव हो रहे हैं, जिनका समयसार आदि ग्रन्थों में विवेचन किया है और वह इस प्रकार है—

समयसार की बत्तीसवीं गाथा में आत्मा को 'भाव्य' और फल देने की सामर्थ्यसहित उदय होनेवाले मोहनीय कर्म को 'भावक' बतलाया है। एकसौ-अठानवीं गाथा में कर्मोदय विपाक से उत्पन्न होनेवाले विविध भावों को आत्मस्वभाव नहीं बतलाया है। गाथा 199 में—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।

और इसकी टीका में—

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः।

ये वाक्य दिये हैं, जिनमें बतलाया है कि राग पुद्गलकर्म है और पुद्गल कर्म के

विपाककर उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है और गाथा 281 की टीका में लिखा है कि रागादिक भाव कर्मविपाक उदय से उत्पन्न हुए हैं।

पंचास्तिकाय की गाथा 131 की टीका में—

इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः, विचित्रचारित्रमोहनीयविपाक-प्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ।

इन वाक्यों में बतलाया है कि निश्चय से इस जीव के जब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है, तब उसके रस विपाक से समुत्पन्न अश्रद्धानरूप भाव का नाम मोह है।

गाथा 148 की टीका में बताया है कि जीव के राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम मोहनीय कर्म के विपाक से उत्पन्न हुए विकार हैं—

जीवभावः पुना रतिरागद्वेषमोहयुतः मोहनीयविपाकसंपादितविकार इत्यर्थः।

150 वीं गाथा की टीका में बतलाया है कि वास्तव में संसारी जीव अनादि मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति से अशुद्ध है। और गाथा 156 में बतलाया है कि वास्तव में मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति के वश से रंजित उपयोगवाला वर्तता हुआ जीव, पर द्रव्य में शुभ या अशुभ भाव को करता है।

अप्पा पगुंह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ॥ 1-66॥ —*परमात्मप्रकाश*

अर्थ—हे जीव! यह आत्मा पंगु के समान है। आप न कहीं जाता है, न आता है। तीन लोक में इस जीव को कर्म ही ले जाता है, कर्म ही ले आता है॥ 1-66॥

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गव्वइँ वज्जसमाइँ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ॥ 1-78॥ —*परमात्मप्रकाश*

अर्थ—वे ज्ञानावरण आदि कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना अशक्य है; इसलिए चिकने हैं, भारी हैं और वज्र के समान अभेद्य हैं, इस ज्ञानादि गुण से चतुर जीव को खोटे मार्ग में पटकते हैं।

कम्माइं बलियाइं वलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे।
सव्व बलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणि वणं॥ 1621॥ —*मूलाराधना*

अर्थ—जगत में कर्म ही अतिशय बलवान है, उससे दूसरा कोई भी बलवान नहीं है। जैसे हाथी कमलवन का नाश करता है, वैसे ही यह बलवान कर्म भी सर्व बन्धु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादि का नाश करता है॥ 1621॥

का वि अउत्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावे विणासिदो जाइ जीवस्स॥ 211॥ —*स्वा०का०अ०*

अर्थ—पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जो जीव के केवलज्ञानस्वभाव को भी नष्ट कर देती है॥

प्रश्न नं० 5 के द्वितीय उत्तर में स्वा० का० अ० गाथा 319 उद्धृत करते हुए आपने स्वयं स्वीकार किया है कि जीव का उपकार या अपकार शुभाशुभ कर्म करते हैं। तथा प्रश्न नं० 16 के प्रथम उत्तर में भी आपने यह स्वीकार किया है कि जीव में बहुत से धर्म ऐसे हैं जो आगन्तुक हैं और जो संसार की विवक्षित भूमिका तक आत्मा में दृष्टिगोचर होते हैं, उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते।

इन आगम प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वास्तव में विकारी भाव द्रव्यकर्मोदय के अनुरूप होते हैं। समयसार, गाथा 89 व 278-279 में स्फटिक मणि का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि जीव का परिणमन स्वभाव है, तथापि उसके भाव कर्मोदय के द्वारा किये जाते हैं, इसीलिये 50 से 56 तक की गाथाओं में यह बतलाया है कि ये रागादिक भाव पौद्गलिक हैं और व्यवहार नय से जीव के हैं। समयसार गाथा 68 की टीका में यह कहा गया है कि जिस प्रकार जौ से जौ उत्पन्न होता है; उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मों से रागादि उत्पन्न होते हैं, इसी कारण निश्चयनय से रागादिक (भाव) पौद्गलिक हैं। समयसार गाथा 113-116 में कहा है कि जिस प्रकार उपयोग जीव से अनन्य है, उस प्रकार क्रोध जीव से अनन्य नहीं हैं।

अन्य कारणों और कर्मोदयरूप कारणों में मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंग की योग्यता मिलने पर कार्य होता है किन्तु घातिया कर्मोदय के साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यता का सूचक है। जैसा कि स्वयं श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी ने कर्मग्रन्थ पुस्तक 6 की प्रस्तावना पृष्ठ 44 पर लिखा है—

अन्तरंग में वैसी योग्यता के अभाव में बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है।

जिस योगी के राग भाव नष्ट हो गये हैं, उसके सामने प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग योग्यता के बिना बाह्य सामग्री का मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्म के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है, पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यता सूचक है, पर बाह्य सामग्री का वैसी योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यता के सद्भाव में भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभाव में भी बाह्य सामग्री का संयोग देखा जाता है, किन्तु कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा में रहता है, जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। अतः कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है, और जीव में ऐसी योग्यता आती है।

इसी बात को इष्टोपदेश पद्य 7 की टीका में कहा है—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

अर्थ—जिस तरह मल के सम्बन्ध से मणि के अनेक रूप दीखने लगते हैं; उसी तरह कर्म के सम्बन्ध से आत्मा की भी अनेक अवस्थाऐं दीखने लगती हैं॥

इसी प्रकार पद्य 7 की टीका में भी मदिरा का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि जीव मोहनीय कर्मोदय के कारण पदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। इष्टोपदेश का वह पद्य इस प्रकार है—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥ 7॥

अर्थ—जिस तरह मादक कोदों के खाने से उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकता॥7॥

कर्म बलवान् है, उदय में आकर नवीन कर्मों का बन्ध जीव के साथ कर देता है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—

किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्म बंधाय तत्॥110॥ —*कलश*

अर्थ—किन्तु आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह बंध का कारण है ॥110॥

श्री पण्डित फूलचन्द्रजी भी कर्म की वलवत्ता को इन शब्दों में स्वीकार करते हैं—

कर्म तो आत्मा की विविध अवस्थाओं के होने में निमित्त है और उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करता है, जिससे वह अवस्थानुसार शरीर-वचन-मन और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को योग द्वारा ग्रहण करके तद्रूप परिणमाता है।

- पंचाध्यायी, पृष्ठ 159 विशेषार्थ (वर्णी ग्रन्थमाला)

कर्मों की सदा एक सी दशा नहीं रहती। कभी कर्म बलवान् होता है और कभी जीव बलवान हो जाता है। जब जीव बलवान होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है। कहा भी है—

कत्थ वि बलिओ जीवो कत्थ वि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ॥

—इष्टोपदेश, गाथा 31 की टीका

अर्थ—कभी यह जीव बलवान् हो जाता है और कभी कर्म बलवान् होता है। इस तरह जीव और कर्मों का अनादि काल से परस्पर विरुद्ध वैर है॥

इस कर्म की बलवत्ता के कारण यह जीव अनादि काल से चतुर्गति भ्रमण कर रहा है, इस बात को श्री अकलंकदेव राजवार्तिक पृष्ठ 2 में कहते हैं —

यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्तिं घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्द-परिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिं च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतो दृष्टानुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्तिं शरीरमानसविविधवेदना-घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति।

अर्थात् — जैसे घटीयन्त्र (रेंहट) का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर। यदि बैल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयन्त्र का घूमना बन्द हो जाता है। उसी तरह कर्मोदयरूपी बैल के चलने पर ही चार गतिरूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनारूपी घटी-यन्त्र को घुमाता रहता

है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है।

इसी सम्बन्ध में निम्न प्रमाण भी दृष्टव्य हैं—

प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रैर्यत कर्मणा।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः॥ 106॥ *—उपासकाध्ययन, पृष्ठ 29*

अर्थ—जीव कर्म को प्रेरित करता है और कर्म जीव को प्रेरित करता है। इन दोनों का सम्बन्ध नौका और नाविक के समान है, कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं है॥ 106॥

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम्॥ 247॥

—उपासकाध्ययन, पृष्ठ 120

अर्थ—आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है। जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता, आग के सम्बन्ध से उसमें गर्मी आ जाती है॥ 247॥

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव विश्वं वेधाः स्वयं गतघृणष्टकवद्यथेष्टम्।
संसारभीकरमहागहनान्तराले हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः॥ 77॥

—आत्मानुशासन

अर्थ—कर्मरूपी ब्रह्मा समस्त विश्व को ही मोहरूपी मदिरा में मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठग के समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसाररूपी भयानक महावन के मध्य में उसका घात करता है। उससे रक्षा करने के लिए भला दूसरा कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं॥ 77॥

आपने स्वयं भी प्रश्न नं० 5 के उत्तर में कर्म की बलवत्ता स्वीकार करते हुए माना है कि सुख-दुःख मरण आदि सब कर्मोदय के अनुसार होता है। किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में आप उसको स्वीकार नहीं कर रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

यह हमारे प्रश्न का आगम सम्मत उत्तर है। प्रश्न का उत्तर न देकर आपने जो अप्रासंगिक विवेचन एकान्त नियतिवाद तथा नोकर्म आदि निमित्तों के विषय में कर दिया है, अब उस पर भी विचार किया जाता है —

आपने लिखा है कि — 'प्रेरक कारण से किसी द्रव्य में कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है, सो यह सिद्ध करना संगत न होगा।' आपका ऐसा लिखना उचित नहीं है।

(अ) सर्व कार्यों का सर्वथा कोई नियत काल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि प्रवचनसार में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन नयों की अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, और किसी ने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है। अत: आगे-पीछे करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(आ) कर्मस्थितिबंध के समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्म वर्गणा अमुक समय उदय में आवेगी, किन्तु बन्धावलि के पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकांडकघात, उदीरणा, अविपाकनिर्जरा आदि के द्वारा कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदय में आती है, जिनको कर्मशास्त्र के विशेषज्ञ भलीभाँति जानते हैं। किन्तु इतना नियत है कि कोई भी कर्म स्वमुख या परमुखरूप से अपना फल दिये बिना अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता। (जयधवल पुस्तक 3, पृष्ठ 245)। इस विषय का विशेष विवेचन प्रश्न नं० 5 के पत्रक में किया जावेगा तथा आगे भी यथा अवसर कुछ लिखा जावेगा।

आपने लिखा है कि — 'दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं।' सर्वत्र स्थान 2 पर इसी पर जोर दिया गया है। 'व्यवहारनय' के पूर्व 'मात्र' शब्द लगाकर या उसका अर्थ 'उपचार' करके यह भी दर्शाया गया है कि व्यवहार से जो कथन है, वह वस्तुत: वास्तविक नहीं है।

यदि नयों के स्वरूप तथा विषय पर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन निश्चयनय से होने का प्रसंग ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। जो विषय जिस नय का है, उसका कथन उस ही नय से किया जा सकता है, अन्य नय से नहीं। यदि उस ही विषय को अन्य नय का विषय बना दिया जायेगा तो सर्व विप्लव हो जायेगा और नय विभाजन अर्थात् नय व्यवस्था भी समीचीन नहीं रह सकेगी। जैसे प्रत्येक द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा से अनित्य है। यदि निश्चयनय की अपेक्षा से भी द्रव्य को अनित्य कहा जायेगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनय में कोई अन्तर ही न रहेगा। दोनों एक ही हो जायेंगे। द्रव्य को नित्य बतलानेवाला कोई नय ही न रहेगा। इस प्रकार द्रव्य के दूसरे धर्म का कथन नहीं हो सकने के कारण वस्तु स्वरूप का ज्ञान एकांगी (सर्वथा एकान्तरूप) एवं मिथ्या हो जायेगा। अर्थात् द्रव्य एकान्तत: (सर्वथा) अनित्य हो जायेगा और इस प्रकार पूर्ण क्षणिकवाद आ जायेगा। अत: अनित्यता का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से नहीं हो सकता है। निश्चयनय तो व्यवहारनय के विषय को ग्रहण करने में अंध-पुरुष के समान

है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारनय का विषय होने से अनित्यता प्रामाणिक, वास्तविक या सत्य नहीं है। अनित्यता भी उतनी ही प्रामाणिक, वास्तविक व सत्य है जितनी नित्यता।

यदि व्यवहारनय के विषय को प्रामाणिक नहीं माना जायेगा तो व्यवहारनय मिथ्या हो जायेगा, किन्तु आगम में प्रत्येक नय प्रामाणिक माना गया है। जो परनिरपेक्ष कुनय होता है, उसी को मिथ्या माना गया है, सम्यक्नय को मिथ्या नहीं माना गया है।

एक द्रव्य के खण्ड या दो द्रव्यों का सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है। अतः दो द्रव्यों का सम्बन्ध होने के कारण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से नहीं। जैसे पर द्रव्यों के साथ जो ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है, उसका कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से नहीं। चूँकि यहाँ भी दो द्रव्यों का सम्बन्ध है। जैसे वर्ण को आँख ही बतला सकती है, नाक आदि अन्य इन्द्रियाँ नहीं। अतः नाकादि अन्य इन्द्रियों से वर्ण नहीं है—यह कहने का प्रसंग ही नहीं आता है। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध निश्चयनय से नहीं, यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दो द्रव्यों का सम्बन्ध निश्चयनय का विषय ही नहीं है।

पुनश्च—आपने लिखा है कि 'संसारी आत्मा के विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमण में द्रव्य कर्मों के उदय का व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं है।' आगे आपने अपने उत्तर में एक स्थान पर यह भी लिखा है कि 'द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं है, फिर भी आगम में जहाँ भी दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्तृकर्मसम्बन्ध कहा है, वहाँ वह उपचारमात्र से कहा है।' इससे यह तो फलित हो ही जाता है कि आगम में द्रव्य कर्मों के उदय का आत्मा के विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण के साथ कर्तृकर्मसम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है और आगम का यह प्रतिपादन आपको भी स्वीकार है। केवल आप उस कर्तृकर्मसम्बन्ध को उपचारमात्र स्वीकार करके कार्य के प्रति निमित्त की अकिंचित्कर्ता सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्य की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्तकारण या निमित्तकर्ता को सहकारी कारण या सहकारीकर्ता के रूप में सार्थक (उपयोगी) मानता है, वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कहकर उक्त कार्य में अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता

है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादान की अपनी सामर्थ्य से स्वत: ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्ति में निमित्त की कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान में हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादान की उस कार्यरूप परिणति में निमित्त की अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादान की जो परिणति आगम में स्वपरप्रत्यय स्वीकार की गयी है, वह परिणति उपादान की अपनी परिणति होकर भी निमित्त की सहायता से ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूँकि आत्मा के रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमण को उसका (आत्मा का) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अत: वह परिणमन आत्मा का अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मों के उदय की सहायता से ही हुआ करता है। जैसे —

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त:।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ 175॥

—समयसार-आत्मख्याति टीका कलश

इसमें अमृतचन्द्र सूरि ने स्पष्ट कर दिया है।

कलश का भाव यह है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का आत्मा स्वयं निमित्त नहीं है, किन्तु परवस्तु के संसर्ग से ही आत्मा में रागादिभाव उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार कि सूर्यकान्त मणि पर के संसर्ग से ही तदनुरूप विविध रंगों के रूप परिणत होता है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि परवस्तु के संयोग से वह तदनुरूप परिणमन करती रहती है।

इसी बात को '**जीवपरिणाम हेदुं**' .....इत्यादि समयसार की 80 वीं गाथा भी पुष्ट कर रही है, जिसको आपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिये अपने उत्तर में उपस्थित किया है, लेकिन जिसके विषय में हम अपनी द्वितीय प्रतिशंका में लिख चुके हैं, कि यह गाथा आपके मन्तव्य के विरुद्ध ही अभिप्राय प्रगट करती है। याने जीव के परिणमन की सहायता से ही पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं और पुद्गल कर्म की सहायता से ही जीव रागादि विभावरूप परिणमन करता है।

समयसार की 82 वीं गाथा भी ऐसी बात को बतला रही है कि 80 और 81 वीं गाथाओं के अनुसार चूँकि पुद्गलों का ही कर्मरूप परिणमन होता है। पुद्गलों में होनेवाला

कर्मरूप वह परिणमन आत्मा का परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमन में केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्तकर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है। इसी प्रकार आत्मा का ही रागादिरूप परिणमन होता है। आत्मा में होनेवाला रागादिरूप वह परिणमन पुद्गल का परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमन में केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्तकर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है, इसलिए आत्मा में जो भी परिणमन होता है उसके होने में यद्यपि पुद्गल कर्म का सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमन का उपादान कारण या कर्ता आत्मा ही होता है, पुद्गल कर्म नहीं। इसी तरह पुद्गल में जो भी (कर्म नोकर्मरूप) परिणमन होता है, यद्यपि उसके होने में आत्मा के रागादि भावों का सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमन का उपादान कारण या कर्ता पुद्गल ही होता है, आत्मा के रागादिभाव नहीं।

समयसार की 80, 81 और 82 वीं गाथाओं के उक्त अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही समयसार की निम्नलिखित गाथा का अर्थ करना चाहिए—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उपयारमत्तेण॥ 105॥

वह अर्थ इस प्रकार है कि चूँकि जीव का सहयोग मिलने पर ही पुद्गल कर्म का बन्धरूप परिणमन देखा जाता है, इसलिये जीव ने पुद्गल का कर्मरूप परिणमन कर दिया— ऐसा उपचारमात्र से अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यहाँ पर 'उपचारमात्र से' इस पद का अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभाव से ही उल्लिखित 80, 81 और 82 वीं गाथाओं के आधार पर करना सुसंगत है। तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहार में जिस प्रकार उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा शिष्य का अध्ययन करना और निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा उपाध्याय का शिष्य को पढ़ाना दोनों ही वास्तविक हैं, उसी प्रकार उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा पुद्गल का कर्मरूप परिणत होना और आत्मा का रागादिरूप परिणत होना तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा जीव द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना और पुद्गल द्वारा आत्मा का रागादिरूप किया जाना, दोनों ही वास्तविक हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय प्रथम सूत्र 7 की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने भी पृष्ठ 151 पर उपादानोपादेयभाव के समान निमित्त-नैमित्तिक भाव को वास्तविक ही कहा है। वह कथन निम्न प्रकार है—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तद् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। न चेदं सहकारित्वं क्वचिद् भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा, नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात्, संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ। यदि पुनर्यावत्क्षेत्रं यद्यस्योत्पत्तौ सहकारि दृष्टं यथाभावं च तत्तावत् क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्रभावप्रत्यासतिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते, तदा न दोषो, विरोधाभावात्। तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

अर्थ—सहकारी कारण के साथ कार्य का कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होता है? क्योंकि सहकारी कारण और कार्य में एक द्रव्यता का अभाव है, यदि ऐसा कहा जाये तो इसका उत्तर यह है कि सहकारिकारण के साथ कार्य का कार्यकारणभाव कालप्रत्यासत्ति के रूप में माना गया है, क्योंकि जिसके अनन्तर जो अवश्य होता है, वह सहकारी कारण कहा जाता है और दूसरा कार्य कहलाता है – ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसा सहकारित्व कहीं पर भी भावप्रत्यासत्ति अथवा क्षेत्रप्रत्यासत्तिरूप नहीं होता है, क्योंकि इनका नियम बनता नहीं है। देखने में आता है कि निकट देश में स्थित चक्षु को भी रूपज्ञान की उत्पत्ति में सहकारिता होती है, इसी प्रकार सुवर्णभाव से रहित अर्थात् लोह धातु से निर्मित संदंशक (संडासी) आदि को भी सुवर्णनिर्मित कटक आदि की उत्पत्ति में सहकारिता होती है। यदि जितने क्षेत्र में जो जिस कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण होता है, इसी प्रकार जो जिस भावरूप से सहकारी कारण होता है, वह उतने क्षेत्र में और उस भावरूप में सहकारी होता है—ऐसी क्षेत्र और भावरूप प्रत्यासत्ति को कार्य में सहकारित्व कह दिया जाये तो फिर काल प्रत्यासत्ति की तरह क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्तिरूप भी सहकारित्व को माना जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रय लेने पर दो पदार्थों में रहनेवाला कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध भी संयोग और समवाय आदि के समान प्रतीतिसिद्ध होने के सबब पारमार्थिक ही है, कल्पना द्वारा आरोपित नहीं है; कारण कि यह सर्वथा निर्दोष है।

इसी प्रकार अष्टशती में श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने भी सहकारी कारण को कार्य के प्रति उपादान के लिये सहयोगदाता के रूप में प्रतिपादित किया है। वह वचन निम्न प्रकार है—

तदसामथ्र्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

—अष्टसहस्त्री, पृष्ठ 105

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादान की असामर्थ्य का खण्डन नहीं करते हुए सहकारिकारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उस हालत में वह सहकारी कारण कहला सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहला सकता है।

ये सब आगम के प्रमाण सहकारी कारण को और निमित्तनैमित्तिकभाव को वास्तविक तथा कार्य के प्रति सार्थक और उपयोगी ही सिद्ध करते हैं, केवल कल्पनारोपित या उपचरित नहीं। इसलिये समयसार की '**जीवम्हि हेदुभूदे**'—गाथा में पठित उपचार शब्द का अर्थ कल्पना या आरोप न करके निमित्तनैमित्तिकभावरूप जो अर्थ हमने किया है, वही सुसंगत है।

इसी प्रकार उक्त गाथा की '**इह खलु पौद्गलिककर्मण.....**' इत्यादि रूप जो टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने की है, उसमें भी उपचार शब्द का अर्थ निमित्तनैमित्तिकभावरूप ही किया गया है। संपूर्ण टीका निम्न प्रकार है—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानान्निमित्त-भूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभृष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥ 105 ॥

अर्थ—यद्यपि आत्मा (शुद्ध) स्वभावरूप से पौद्गलिक कर्म का (पुद्गल के कर्मरूप परिणमन का) निमित्तभूत नहीं है, तथापि अनादि काल से उसकी विभावस्थिति रहने के कारण पौद्गलिक कर्म में निमित्तभूत अज्ञान के रूप में परिणमन होने से उसके (आत्मा के) निमित्त बन जाने पर ही पुद्गल का कर्मरूप परिणमन होता है, इसलिये आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप परिणमन किया गया — ऐसा विकल्प उन लोगों का होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघन से भ्रष्ट अर्थात् विकारी परिणति में वर्तमान अतएव विकल्प परायण हैं। लेकिन 'आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना' यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपेक्षा से ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा से नहीं है ॥105 ॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो यह समयसार कलश रचा है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ 51॥

इसमें 'जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है, वह कर्ता है।' कर्ता का यह लक्षण उपादानोपादेयभाव को लक्ष्य में रखकर ही माना गया है, परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षण को सामान्यरूप से कर्ता का लक्षण मानकर निमित्तनैमित्तिक-भाव की अपेक्षा आगम में प्रतिपादित कर्तृकर्मभाव को उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्ता की अकिंचित्कर (कार्य के प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है, क्योंकि निमित्तकर्ता को समयसार, गाथा 100 में आचार्य कुन्दकुन्द ने तथा इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने सार्थकरूप में ही स्वीकार किया है, जो निम्न प्रकार है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता॥ 100॥

गाथा का अर्थ—जीव घट, पट और शेष सभी द्रव्यों को नहीं करता है, किन्तु जीव के योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं तथा उनका कर्ता आत्मा है॥100॥

टीका—यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषंगात् निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ, योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्प -व्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्॥ 100॥

अर्थ—जो घटादि अथवा क्रोधादिरूप परद्रव्यात्मक कर्म हैं, उसको यह आत्मा नाम का द्रव्य व्याप्य-व्यापकभाव से अर्थात् उपादानोपादेयभाव से तो करता नहीं है, क्योंकि इस तरह से उसमें तन्मयत्व (परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्ममयत्व) का प्रसंग उपस्थित होता है तथा वह आत्मा नाम का द्रव्य परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्म को निमित्तनैमित्तिकभावरूप से भी नहीं करता है, क्योंकि निमित्तनैमित्तिकभावरूप से कर्ता मानने पर उसका (आत्मा का) शाश्वत होने के कारण परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्म के करने में नित्यकर्तृत्व प्रसक्त हो जायेगा; अतः आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता न होकर उसकी अनित्यभूत योग और उपयोगरूप पर्याय ही परद्रव्यात्मक घटादि अथवा क्रोधादिरूप कर्म की निमित्तरूप से कर्ता होती है। यद्यपि आत्मा स्व के विकल्प और व्यापाररूप योग तथा उपयोग

को कदाचित् अपनी विभावपरिणति के कारण करता है, अतः आत्मा भी कर्ता होता है तो भी वह (आत्मा) परद्रव्यात्मक कर्म का कर्ता नहीं होता है। अर्थात् आत्मा के अनित्यभूत योग और उपयोग ही परद्रव्यात्मक कर्म के निमित्तरूप से कर्ता होते हैं॥ 100॥

इस प्रकार '**यः परिणमति स कर्ता**' कर्ता के इस लक्षण के आधार पर आपके द्वारा निमित्तकर्तृत्व को उपचार से (कल्पनारोपितरूप से) कर्तृत्व बताना असंगत ही है।

आपने अपने उत्तर में निमित्तकर्ता को उपचार से (कल्पनारोपितरूप से) कर्ता मानने में यद्यपि यह युक्ति दी है कि 'एक द्रव्य का कर्तृधर्म दूसरे द्रव्य में नहीं उपलब्ध होता' लेकिन इससे भी निमित्तकर्ता का उपचार से (कल्पनारोपितरूप से) कर्तृत्व समर्थित नहीं होता है, क्योंकि इस युक्ति से केवल इस बात का ही समर्थन होता है कि निमित्त का कोई भी धर्म कार्य में प्रवेश नहीं पाता है, निमित्तरूप कोई कर्ता ही नहीं होता - यह बात इससे समर्थित नहीं होती है और चूँकि ऊपर लिखे अनुसार निमित्तरूप कर्ता आगम प्रतिपादित है, इसलिए निमित्तरूप कर्ता को वास्तविक स्वीकार करना गलत नहीं है, बल्कि उसे आपके द्वारा उपचार से अर्थात् केवल कल्पितरूप से स्वीकार करना ही गलत है।

आगम में सर्वत्र कार्यकारणभाव को अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही माना गया है अर्थात् जिस वस्तु का जिस कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, वह वस्तु उस कार्य के प्रति कारण होती है - ऐसा कथन आगम का है यथा —

अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारण - व्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।

— प्रमेयरत्नमाला तृतीय समुद्देश सूत्र 63 की व्याख्या।

कार्यकारणभाव सर्वत्र अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही मानना चाहिये। वे अन्वय और व्यतिरेक कार्य के प्रति कारणव्यापारसापेक्ष ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि कलश के प्रति कुम्हार के अन्वय और व्यतिरेक उत्पन्न होते हैं।

इसमें उपादान कारण के समान निमित्तकारण में भी कार्य के प्रति अन्वय और व्यतिरेक माने गये हैं, अतः जिस प्रकार कार्य के प्रति उपादानभूत वस्तु अपने ढंग से अर्थात् आश्रयरूप से वास्तविक कारण होती है; उसी प्रकार कार्य के प्रति निमित्तभूत वस्तु भी अपने ढंग से अर्थात् उपादान के सहकारीरूप से वास्तविक कारण होती है। उसकी (निमित्तभूत वस्तु की) यह उपादान सहकारितारूप कारणता काल्पनिक नहीं है।

वास्तविक बात यह भी है कि आगम में स्वपरप्रत्यय परिणामरूप कार्य को समानरूप से उभयशक्तिजन्य माना गया है। यथा—

एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कायव्वा, जहा (मट्टिआ) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारा-दीणं घडुप्पायणाणुभागो। *—धवल 13, पृष्ठ 349*

अर्थ—इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूप से अनुभाग का कथन करना चाहिये। जैसे—मिट्टी, पिंड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदि का घटोत्पादनरूप अनुभाग।

धवला का यह वचन स्वपरप्रत्यय परिणमन की उभयशक्तिजन्यता का स्पष्ट उपदेश दे रहा है।

आगम में उपचार की व्याख्या इस प्रकार की गई है —

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते। *—आलापपद्धति*

अर्थ—मुख्य का अभाव रहते हुए यदि प्रयोजन और निमित्त उपस्थित हों तो उपचार की प्रवृत्ति होती है।

उपचार की यह व्याख्या स्पष्ट बतला रही है कि जहाँ उपचार की प्रवृत्ति के लिए प्रयोजन तथा निमित्त हों, वहीं पर वह उपचार प्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे अन्न में प्राणों का या बालक में सिंह का उपचार लोक में किया जाता है। इन दोनों स्थलों में चूँकि उपचारप्रवृत्ति के लिए प्रयोजन तथा निमित्त दोनों का सद्भाव पाया जाता है, अतः अन्न में प्राणों का और बालक में सिंह का उपचार संगत हैं। अन्न में प्राणों का उपचार करने के लिये अन्न में पायी जानेवाली प्राणसंरक्षकता ही निमित्त है और लोक में इस तरह प्राणसंरक्षकता के रूप में अन्न का महत्त्व प्रस्थापित करना ही प्रयोजन है। इसी प्रकार बालक में सिंह का उपचार करने के लिये बालक में पाया जानेवाला सिंह सदृश शौर्य ही निमित्त है और इस तरह सिंह के सदृश शौर्य गुण सम्पन्नता के रूप में बालक की प्रसिद्धि करना ही प्रयोजन है। इस तरह निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव रहते हुए ही अन्न में प्राणों का तथा बालक में सिंह का उपचार किया गया है। इसी प्रकार आगम में भी उपचार प्रवृत्ति के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। जैसे परार्थानुमान यद्यपि ज्ञानात्मक ही है, परन्तु उसका उपचार वचन में किया गया है, क्योंकि वचन ज्ञानरूप परार्थानुमान का कारण होता है।

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वादिति। *—परीक्षामुख, सूत्र 56*

यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है। इसमें भी उपचार प्रवृत्ति के लिये निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव है। इन सब दृष्टान्तों के आधार पर प्रकृत में हमारा आपसे यह कहना है कि निमित्त नाम की वस्तु में कारणत्व या कर्तृत्व का जब आपको उपचार करना है तो इस उपचार प्रवृत्ति के लिये यहाँ पर **निमित्त तथा प्रयोजन के सद्भाव की भी आपको खोज करनी होगी, जिसका (निमित्त तथा प्रयोजन के सद्भाव का) यहाँ पर** सर्वथा अभाव है। यदि आपकी दृष्टि में निमित्त में कारणता या कर्तृत्व का उपचार करने के लिये यहाँ पर निमित्त तथा प्रयोजन का सद्भाव हो, तो बतलाना चाहिये। यदि आप कहें कि कार्य के प्रति निमित्त नाम की वस्तु का जो उपादान के लिये सहयोग अपेक्षित रहता है, यही यहाँ पर उपचार प्रवृत्ति में निमित्त है और इस तरह कार्य के प्रति निमित्त नाम की वस्तु की उपयोगिता को लोक में प्रस्थापित कर देना ही प्रयोजन है तो इस विषय में हम आपसे केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि निमित्त का कार्य के प्रति उपादान को सहयोग देना यदि आपको मान्य हो जाता है तो इससे फिर निमित्त की वास्तविकता ही सिद्ध हो जाती है। ऐसी हालत में उसे उपचरित कैसे कहा जा सकता है?

'उपादीयते अनेन' इस विग्रह के आधार पर 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से कर्ता के अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमन को स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो, उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्य का आश्रय ठहरता है। इसी प्रकार 'निमेद्यति' इस विग्रह के आधार पर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु के कर्ता के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी 'मिद्' धातु से 'क्र' प्रत्यय होकर बना है। इस प्रकार जो मित्र के समान उपादान का स्नेह न करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणति में जो मित्र के समान सहयोगी हो, वह निमित्त कहलाता है। इस विवेचन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कार्य के प्रति निमित्त उपचरित (काल्पनिक) नहीं है, बल्कि उपादान के सहयोगी के रूप में वह वास्तविक ही है।

इस प्रकार आगम में जहाँ भी निमित्तनैमित्तिकभाव को लेकर उपचार हेतु या उपचारकर्ता, व्यवहारहेतु या व्यवहारकर्ता, बाह्य हेतु या बाह्य कर्ता, गौण हेतु या गौण कर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं, उन सबका अर्थ निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्तकर्ता (सहकारी कर्ता) ही करना चाहिए। उनका आरोपित हेतु (काल्पनिक हेतु) या आरोपित

कर्ता (काल्पनिक कर्ता) अर्थ करना असंगत ही जानना चाहिए। इसी प्रकार आगम में जहाँ भी उपादानोपादेयभाव को लेकर परमार्थ हेतु या परमार्थ कर्ता, निश्चय हेतु या निश्चयकर्ता, अन्तरंग हेतु या अन्तरंग कर्ता, मुख्य हेतु या मुख्य कर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं, उन सबका अर्थ उपादानकारण या उपादानकर्ता ही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि कार्यकरणत्व की दृष्टि से जब विचार किया जाता है तो निमित्त और उपादान दोनों ही कारण स्वपरप्रत्ययरूप कार्य में समानरूप से ही अपने-अपने स्वभावानुसार अपने-अपने ढंग से सार्थक या उपयोगी हुआ करते हैं। ऐसा नहीं है कि उक्त स्वपरप्रत्ययरूप कार्य को केवल उपादान ही सम्पन्न कर लेता है और निमित्त बैठा-बैठा केवल हाजिरी ही दिया करता है। इस विषय में आचार्य विद्यानन्दि के निम्नलिखित वचनों पर ध्यान देना जरूरी है —

सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव, केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति तथा परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः, सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते। *—अष्टसहस्री, पृष्ठ 150*

अर्थ—सुवर्णत्वादि द्रव्यांशरूप में सत् और केयूरादि के आकारभूत पर्यायांशरूप में असत् सुवर्ण द्रव्य ही केयूरादि के आकारों से परिणत होने की शक्तिरूप अन्तरंग सामग्री और स्वर्णकार के व्यापार आदिरूप बहिरंग सामग्री का सन्निपात हो जाने पर केयूरादि के आकाररूप से उत्पन्न होता है।

इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि उपादान कारण की समानता रहते हुए भी निमित्तकारणों की विचित्रता के अवलम्बन से कार्यों में भी विचित्रता देखी जाती है। स्वामी समन्तभद्र ने कहा भी है—

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ॥199॥ —देवागमस्तोत्र

—अष्टसहस्री, पृष्ठ 267

अर्थ—पौद्गलिक कर्मों के बन्ध के अनुसार ही जीवों में कामादि की विविधरूपता हुआ करती है।

इस विषय में प्रवचनसार गाथा 255 की टीका की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—

यथैकेषामपि बीजानां, भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तराग-

लक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यं-भावित्वात्।

अर्थ—जिस प्रकार भूमि की विपरीतता से एक ही प्रकार के बीजों में कार्योत्पत्ति की विपरीतता देखी जाती है; उसी प्रकार एक ही तरह का शुभोपयोग भी पात्रों की विपरीतता के कारण फल में विपरीतता ला देता है, क्योंकि कारणविशेष से कार्य में विशेषता का होना अवश्यंभावी है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि निमित्तकारण उपादान की कार्यपरिणति में केवल हाजिरी ही नहीं दिया करता है, बल्कि अपने ढंग से उपादान का अनुरंजन किया करता है।

हमने अपनी द्वितीय प्रतिशंका में भी ऐसे बहुत से आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि निमित्तों का कार्य उपादान को कार्य के प्रति सहायता पहुँचाना ही रहा करता है। इसलिये जिस प्रकार उपादानकारण अपनेरूप में याने कार्य के आश्रयरूप में वास्तविक है, यथार्थ है और सद्भूत है; उसी प्रकार निमित्तकारण भी अपने रूप में याने कार्य के प्रति उपादान सहकारीरूप में वास्तविक है, यथार्थ और सद्भूत है।

आपने अपने उत्तर में उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार कर लिए, यह तो प्रसन्नता की बात है, परन्तु आप इन दोनों के कार्यभेद को अभी तक मानने के लिए तैयार नहीं हैं, ऐसी स्थिति में आपकी इस भेदद्वय की मान्यता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। आप लिखते हैं कि 'पंचास्तिकाय गाथा 88 में निमित्तों के उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार किये गये हैं। मालूम पड़ता है कि केवल इसीलिए ही आप निमित्तों के प्रेरक और उदासीन ये दो भेद मानने के लिए बाध्य हुए हैं, परन्तु इनमें पाया जानेवाला अन्तर आपको मान्य नहीं है। यही कारण है कि इस प्रसंग में आपने 'शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति' इस प्रेरक निमित्त के उदाहरण के साथ 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' इस उदासीन निमित्त को समकक्ष रख दिया है और अपने इस अभिप्राय को सर्वार्थसिद्धि के वचन द्वारा समर्थित करने का भी प्रयत्न किया है। लेकिन इस प्रयत्न में आप इसलिए सफल नहीं हो सकते हैं कि सर्वार्थसिद्धि का वह वचन केवल इतनी ही बात बतलाता है कि हेतुकर्तृ शब्द का प्रयोग उदासीन और प्रेरक दोनों प्रकार के निमित्तों के विषय में आगम में किया गया है, जिसके मानने में हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु उनमें पाये जानेवाले अन्तर का निषेध उससे समर्थित नहीं होता है। इस विषय में आपने अपने उत्तर में सर्वार्थसिद्धि के उन वचन को उद्धृत किया है और उसका

अर्थ भी किया है, परन्तु उसका अभिप्राय ही आपने गलत लिया है; अतः आप इस पर पुनः ध्यान दें।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्त कारण दो प्रकार के हैं — एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान् हों और चाहे अक्रियावान् हों, परन्तु जो क्रिया के माध्यम से निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्यों के समान ही अन्य द्रव्यों के कार्यों से निमित्त होते हैं।' इस विषय में हमारा कहना यह है कि यदि सभी प्रकार के निमित्त उपादान के कार्य करते समय केवल हाजिरी ही दिया करते हैं तो क्रिया के माध्यम से निमित्त होना तथा क्रिया करते हुए या न करते हुए भी क्रिया के माध्यम के बिना ही निमित्त होना, इन दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। कारण कि आपके मतानुसार सभी निमित्तों का कार्य उपादान के कार्य करते समय उसकी केवल हाजिरी बजाना ही है, इसलिये जब आगम में प्रेरक और उदासीन दो प्रकार के पृथक्-पृथक् निमित्त बतलाये गये हैं और उन्हें आपने भी निश्छलभाव से स्वीकार कर लिया है तो इन दोनों के अन्तर को भी आपको स्वीकार कर लेना चाहिये। वह अन्तर यह है कि जिस अन्य वस्तु के **व्यापार के अनुसार उपादान के कार्य में वैशिष्ट्य आता है, वह वस्तु** प्रेरक निमित्त कहलाती है। जैसे द्वितीय प्रतिशंका में ऐसे आगम प्रमाणों का हम उल्लेख कर आये हैं जिनमें प्रेरक निमित्तों के उदाहरण दिये गये हैं। उनमें से एक यह है कि गतिरूप से परिणत वायु पताका की गति में कारण होती है। इसमें प्रेरकता यह है कि हवा का रुख जिस ओर होगा, ध्वजा उसी ओर अवश्य फहरायगी।

आगे आपने लिखा है कि 'प्रेरक कारण के बल से किसी द्रव्य के कार्य को आगे पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है', सो इस विषय में हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्मबन्ध की नानारूपता से कामादि में भी नानारूपता आ जाती है तथा भूमि की विपरीतता से बीज की उत्पत्ति में भी विपरीतता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रेरक निमित्त के बल से कार्य कभी भी किया जा सकता है। आपने भी प्रश्न नं० 5 के द्वितीय उत्तर में कर्मानुसार कार्य होना स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

थोड़ा विचार कीजिये, कि एक व्यक्ति ने शीत ऋतु के आ जाने पर गर्म (ऊनी) कपड़ा का कोट बनवाना आवश्यक समझकर बाजार से कपड़ा खरीदा, परन्तु जब वह उसे दर्जी के पास ले गया तो दर्जी ने समयाभाव के कारण उसकी आकांक्षा के अनुसार शीघ्र कोट

बनाने में अपनी असमर्थता बतलायी, इस तरह कोट का बनना तब तक रुका रहा, जब तक कि दर्जी के पास कोट के बनाने का अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्त में विचारना यह है कि कोट पहिनने की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़े में, जबकि उसे दर्जी की मर्जी पर छोड़ दिया गया है, कौन सी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यता का अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूप से परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोट के सीने का व्यापार करने लगता है तो उस कपड़े में कौन सी उपादाननिष्ठ योग्यता का अपने आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाये तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्री का ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिये तभी से तैयार बैठा है, जब वह दर्जी के पास पहुँचा था। यहाँ पर हम उस कपड़े की एक-एक क्षण में होनेवाली पर्यायों की बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्याय के निर्माण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि पहले से ही एक निश्चित आकारवाले कपड़े का वह टुकड़ा कोट के आकार को क्यों तो दर्जी के व्यापार करने पर प्राप्त हो गया और जब तक दर्जी ने कोट बनानेरूप अपना व्यापार चालू नहीं किया, तब तक वह क्यों जैसा का तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय व्यतिरेकगम्य कार्यकारणभाव की सिद्धि आगम प्रमाण से हम पहले कर आये हैं, उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्तकारणभूत दर्जी की बदौलत ही उस कपड़े की कोटरूप पर्याय आगे को पिछड़ गयी। कोट के निर्माण कार्य को उस कपड़े की सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायों के साथ जोड़ना कहाँ तक बुद्धिगम्य हो सकता है ? यह आप ही जानें, क्योंकि एक तो प्रत्येक वस्तु में अगुरुलघुगुणों के आधार पर क्षणिक पर्यायों का होना सम्भव प्रतीत होता है, दूसरे कालिक सम्बन्ध से समयादि की अपेक्षा नवीन से पुराने रूप परिवर्तन के रूप में पर्यायों का क्षणिकत्व सम्भव है। इसमें विचारने की बात यह है कि क्या इन पर्यायों की क्रमोत्पत्ति के आधार पर कपड़े में कोटरूप स्थूल पर्याय का निर्माण सम्भव है ? यदि नहीं, तो फिर और कौन सी ऐसी क्षणिक पर्यायों का ताँता उस कपड़े में विद्यमान है, जिनकी क्रमिकता के आधार पर कपड़े की अन्तिम पर्याय दर्जी आदि बाह्य सामग्री के व्यापार की अपेक्षा के बिना ही कोट का रूप धारण करने में समर्थ हो सकी। यह बात अनुभवगम्य है कि दर्जी के द्वारा कपड़े की कोट पर्याय के निर्माण के अनुरूप व्यापार करने से पहले उस कपड़े में जो भी पर्यायें क्रम या अक्रम रूप से होती आ रही हों, उन पर्यायों के साथ कोट पर्याय का कोई भी क्रमिक सम्बन्ध नहीं जुड़ता

है, क्योंकि कोट पर्याय के निर्माण से पहले जहाँ तक सम्भव है, वहाँ तक कपड़े का स्वामी कोट को छोड़कर यदि अन्य कोई वस्तु का निर्माण दर्जी से कराने का निर्णय कर लेता है तो दर्जी उस कपड़े के विषय में अपना व्यापार कोट पर्याय के अनुरूप न करके, उस वस्तु के अनुरूप करने लगता है, जिसको कपड़े का स्वामी उससे बनवाना चाहता है। इतनी बात अवश्य है कि दर्जी जब कोट पर्याय के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करता है तो कोट के जितने अंग उसे काटने हैं और उनकी सिलाई करना है, उन सब अंगों के काटने व सीने का कोई क्रम न होते हुए भी उनमें से जिस अंग को जब वह काटना व सीना प्रारम्भ करता है, तब उस कपड़े की उस अंगरूप कटाई और सिलाई में क्रमिकता विद्यमान रहेगी ही याने उस अंग के जितने सिलसिलेवार प्रदेश हैं, उन्हें क्रम से ही काटेगा और क्रम से ही उनकी सिलाई होगी, फिर भी इसमें भी यह सम्भव है कि कटाई व सिलाई के व्यापार के विषय में स्वतन्त्र होने के कारण वह दर्जी कपड़े की कटाई व सिलाई को बीच में अधूरी छोड़कर भी दूसरा व्यापार कर सकता है और बाद में कटाई व सिलाई के व्यापार को पुनः चालू कर सकता है या दूसरा अन्य व्यक्ति भी उस कटाई व सिलाई रूप व्यापार को चालू कर सकता है। हमें आश्चर्य होता है कि यह सब व्यवस्था अनुभवगम्य और आपके पक्ष द्वारा जीवन व्यवहारों में अनिवार्य रूप से अपनाई जाने पर भी इस वस्तु तत्त्व व्यवस्था में आप इसकी उपेक्षा कर रहे हैं।

आगे आपने आचार्य पूज्यपाद के इष्टोपदेश का '**नाज्ञो विज्ञत्वमायाति**' इत्यादि श्लोक उपस्थित करके यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि 'जो कुछ होता है, वह केवल उपादान की अपनी योग्यता के बल पर ही होता है' परन्तु इसके विषय में हम आपको बतला देना चाहते हैं कि इससे भी आप अपने मत की पुष्टि करने में असमर्थ ही रहेंगे। कारण कि उक्त श्लोक एक तो द्रव्यकर्म के विषय में नहीं है। दूसरे वह हमें इतना ही बतलाता है कि जिसमें जिस कार्य के निष्पन्न होने की योग्यता विद्यमान नहीं है, उसमें निमित्त अपने बल से उस कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है और यह बात हम भी मानते ही हैं कि मिट्टी में जब पटरूप से परिणत होने की योग्यता नहीं पायी जाती है तो जुलाहा आदि निमित्तों का सहयोग मिल जाने पर भी मिट्टी से पट का निर्माण असम्भव ही रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उपादान में अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमन की योग्यता न हो, लेकिन निमित्त सामग्री विद्यमान हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। इसी तरह उपादान में अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमन की योग्यता हो, लेकिन निमित्त सामग्री प्राप्त न हो तो कार्य नहीं होगा, यदि उपादान में उक्त प्रकार की

योग्यता हो और निमित्त सामग्री विद्यमान हो, लेकिन प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी कार्य नहीं होगा। इस भौतिक विकास के युग में व्यक्ति या राष्ट्र जितनी अभूतपूर्व एवं आश्चर्य में डालनेवाली वैज्ञानिक खोजें कर रहे हैं, ये सब हमें निमित्तों के असीम शक्तिविस्तार की सूचना दे रही हैं।

पूज्यपाद आचार्य के उक्त श्लोक में '**निमित्तमात्रमन्यस्तु**' पद पड़ा हुआ है, उसका आशय यह नहीं है कि निमित्त उपादान की कार्य परिणति में अकिंचित्कर ही बना रहता है, जैसा कि आप मान रहे हैं, किन्तु उसका आशय यह है कि उपादान में यदि कार्योत्पादन की क्षमता विद्यमान हो तो निमित्त उसे केवल अपना सहयोग प्रदान कर सकता है। ऐसा नहीं, कि उपादान में अविद्यमान योग्यता की निष्पत्ति भी निमित्त द्वारा की जा सकती है। इससे यह तथ्य फलित होता है कि जिस प्रकार जैन संस्कृति वस्तु में स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनों को स्वीकार करती है; उसी प्रकार वह मात्र परप्रत्यय परिणमन का दृढ़ता के साथ निषेध भी करती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् निमित्त दोनों के संयुक्त व्यापार से निष्पन्न होनेवाले स्वपरप्रत्यय परिणमनों के साथ-साथ जैन संस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तों की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहाँ स्वप्रत्यय नाम दिया गया है, परन्तु किसी भी वस्तु में ऐसा एक भी परिणमन किसी क्षेत्र और किसी काल में उत्पन्न नहीं हो सकता है जो स्व अर्थात् उपादान की उपेक्षा करके केवल पर अर्थात् निमित्त के बल पर निष्पन्न हो सकता हो। इस तरह जैन संस्कृति में मात्र पर प्रत्यय परिणमन को दृढ़ता के साथ अस्वीकृत कर दिया गया है।

इस प्रकार आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्त कारणों में पूर्वोक्त दो भेद होने पर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्य के कार्य के प्रति समान है। कार्य का साक्षात् उत्पादक कार्यकाल की योग्यता ही है, निमित्त नहीं।' क्योंकि इस तरह की मान्यता की संगति हमारे ऊपर लिखे कथन के अनुसार जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध बैठती है।

आगे आपने स्वामी समन्तभद्र की '**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं**' इस कारिका का उल्लेख करके बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की अर्थात् उपादान और निमित्तकारणों की समग्रता को कार्योत्पत्ति में साधक मान लिया है यह तो ठीक है, परन्तु कारिका में पठित '**द्रव्यगतस्वभावः**' पद का अर्थ समझने में आपने भूल कर दी है और उस भूल के कारण ही आप निमित्त को

उपादान से कार्योत्पत्ति होने में उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित कारण मानकर केवल उपादान से ही कार्योत्पत्ति मान बैठे हैं। इसके साथ अपना एक कल्पित सिद्धान्त भी आपने बिना आगमप्रमाण के अनुभव और तर्क के विपरीत प्रस्थापित कर लिया है कि प्रत्येक समय में निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार ही होती है; जिसका आशय सम्भवतः आपने यह लिया है कि उपादान स्वयं कार्योत्पत्ति के समय अपने अनुकूल निमित्तों को एकत्रित कर लेता है। और इस संभावना की सत्यता इस आधार पर भी मानी जा सकती है कि आपने—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

इस पद्य को अपने अभिप्राय के अनुसार अर्थ कर प्रश्न के उत्तर में प्रमाणरूप से उपस्थित किया है।

इस पद्य की प्रमाणता और अप्रमाणता तथा आपके द्वारा स्वीकृत इसके अर्थ की समालोचना तो हम उसी प्रश्न के प्रकरण में ही करेंगे, यहाँ तो सिर्फ हमें इतना ही कहना है कि स्वामी समन्तभद्र की '**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं**' इस कारिका में पठित '**द्रव्यगतस्वभावः**' पद का अर्थ जो आपने समझा है वह ठीक नहीं है। उनका अर्थ तो यह है कि प्रत्येक द्रव्य में परिणमन करने के विषय में दो प्रकार के स्वभाव विद्यमान हैं। उनमें से एक स्वभाव तो यह है कि वह कितने ही परिणमनों (षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनों) की केवल अपने ही बल पर क्षण-क्षण में उत्पत्ति होने की योग्यता रखता है और उसका दूसरा स्वभाव यह है कि कितने ही परिणमनों की अनुकूल निमित्तों के सहयोगपूर्वक यथायोग्य प्रत्येक क्षण में अथवा नाना क्षणों के एक समूह में उत्पत्ति होने की योग्यता उसमें पायी जाती है। ये दोनों वस्तु के स्वभाव ही हैं अर्थात् निमित्त की अपेक्षा के बिना केवल उपादान के अपने ही बल पर परिणमन का होना और निमित्तों का सहयोग लेकर उपादान के परिणमन का होना, ये दोनों ही स्वभाव द्रव्यगत हैं।

आगे आपने लिखा है कि 'यदि प्रत्येक क्षण में निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार न मानी जाये तो मोक्षविधि नहीं बन सकती है।' इस विषय में हमारा कहना यह है कि जीव की मोक्षपर्याय स्वप्रत्यय पर्याय न होकर स्वपरप्रत्यय पर्याय ही है। कारण कि मुक्ति का स्वरूप आगमग्रन्थों में द्रव्यकर्म, नो-कर्म और भाव-कर्मों के क्षपण के आधार पर ही निश्चित किया गया है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —तत्त्वा० अ० 10, सूत्र 2।

अर्थ—संवर और निर्जरापूर्वक सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष का स्वरूप है। इस तरह आगामी कर्मों के आस्रव का निरोध और विद्यमान कर्मों की निर्जरा को आत्मा की पूर्ण स्वातंत्र्यदशा के विकसित होने में निमित्तरूप से जैन संस्कृति में स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार चरणानुयोग पर आधारित पंच महाव्रतादि बाह्य अर्थात् व्यवहार चारित्र और करणानुयोग पर आधारित आत्मविशुद्धि स्वरूप अन्तरंग अर्थात् निश्चय चारित्र के समन्वय को ही मुक्ति का साधन जैन संस्कृति में स्वीकार किया गया है। इस तरह जब जीव चरणानुयोग और करणानुयोग के अनुसार पुरुषार्थ करता हुआ अपने भाव शुद्ध करता है, तब इन शुद्धभावों के निमित्त से नवीन कर्मों का संवर तथा बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है और इस प्रकार घातियाकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा अन्त में शेष सभी प्रकार के कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अतः आगम सम्मत सिद्धान्तानुसार तो मोक्ष की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती, किन्तु आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार जीव पुरुषार्थ करने के लिये स्वतन्त्र नहीं रहता है, वह तो नियति के अधीन रहता है, अतः मोक्ष की विधि नहीं बन सकती है।

आगे आपने लिखा है कि 'यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंग के प्राप्त होने के पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंग की प्राप्ति द्रव्यलिंग को स्वीकार करते समय ही हो जाती हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादान के अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है, तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुष को दोनों की एक साथ प्राप्ति होती हो, यह बात अलग है।'

इसके विषय में हमारा कहना है कि आगम में व्यवहार चारित्र को, निश्चय चारित्र में कारण स्वीकार किया गया है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरन्स्त्वम्, आध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्॥

— स्वयंभूस्तोत्र कुन्थजिन स्तुति, पद्य 83

अर्थ—हे भगवन्! आपने अन्तरंग तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त दुर्धर बाह्य तप का आचरण किया था।

इस विषय के अन्य अनेकों प्रमाण प्रश्न नं० 3, 4, व 13 के उत्तरों में देखने को मिलेंगे।

उपरोक्त आपके कथन में भी प्रकारान्तर से यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि भावलिंग की प्राप्ति के लिए द्रव्यलिंग अनिवार्य कारण है अर्थात् द्रव्यलिंग ग्रहण किये बिना भावलिंग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जहाँ इन दोनों की एक साथ प्राप्ति बतलाई गई है, वहाँ भी वास्तव में द्रव्यलिंग पूर्व में ही ग्रहण किया जाता है और कुछ क्षण पश्चात् ही भावलिंग हो जाने से, वह अन्तर ज्ञान में नहीं आता है, इस कारण एक साथ प्राप्ति कहलाती है। यदि बिल्कुल एक साथ भी प्राप्ति मानी जाती है, तब भी द्रव्यलिंग कारण है और भावलिंग कार्य है। जैसे—

युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तैं होई। *—छहढाला, चौथी ढाल, छन्द-2*

भावलिंग की प्राप्ति के लिये जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनिवार्य कारणरूप से द्रव्यलिंग को ग्रहण करता है। भावलिंग की प्राप्ति के समय द्रव्यलिंग स्वयमेव, बिना जीव के पुरुषार्थ के आकर उपस्थित नहीं हो जाता है। अत: यह कहना ठीक नहीं है कि 'भावलिंग होने पर द्रव्यलिंग होता है।' प्रत्युत भावलिंग होने से पूर्व द्रव्यलिंग को तो उसकी उत्पत्ति के लिये कारणरूप से मिलाया जाता है। द्रव्यलिंग के ग्रहण करने पर ही भावलिंग की उत्पत्ति हो सकती है, इसके ग्रहण किये बगैर उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे धूम्र अग्नि के होने पर ही हो सकता है, अग्नि के बिना नहीं हो सकता है; अपितु अग्नि के होने पर हो भी या न भी हो। किन्तु भावलिंग की उत्पत्ति के लिए मात्र द्रव्यलिंग ही कारण नहीं है। उसके साथ अन्य कारणों की भी आवश्यकता है—जैसे चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम, क्षेत्र की अपेक्षा कर्मभूमि का आर्य खण्ड, काल की अपेक्षा दुषमा-सुषमा या दुषमा काल तथा स्वयं जीव का पुरुषार्थ आदि। यदि अन्य यह सब या इनमें से कोई कारण नहीं मिलेगा तो भावलिंग की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति समस्त कारणों के मिलने पर ही होती है। किन्तु अन्य कारण न मिलने पर कार्य न होने का यह अर्थ नहीं कि जो कारण मिले हैं, उनमें कारणत्व भाव (धर्म) नहीं है। यदि इनमें कारणत्व न हो तो इनके बगैर भी, अन्य कारणों के मिल जाने मात्र से ही कार्य हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अत: इनमें स्वभावत: वास्तविकरूप कारणत्व शक्ति सिद्ध हो जाती है और इसी प्रकार अन्य कारणों में भी सिद्ध हो जाती है। कारण का लक्षण भी मात्र इतना ही है कि - **'जिसके बिना कार्य न हो।'**

जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं। —श्री धवल, 14-90

अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है, वह उसका कारण है।

यह बात दूसरी है कि कार्य के हो जाने पर, उस कार्य को देखकर यह अनुमान लगा लिया जाये कि इस कार्य के लिए जो-जो कारण आवश्यक थे, वह सब मिले हैं, क्योंकि सर्व कारण मिले बिना उस कार्य का होना असम्भव था। यह भी अनुमान हो जाता है कि जो कारण साथ में रहनेवाले हैं, वे साथ में हैं और जो पूर्व में हो जानेवाले हैं, वे हो चुके हैं। जैसे प्रकाश को देखकर दीपक का या धूम को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार कार्य अपने कारणों का मात्र ज्ञायक ही हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जब प्रकाश या धूम अपने उपादान के अनुसार उत्पन्न हुआ तो दीपक या अग्नि को स्वयमेव ही उसके निमित्तरूप से उपस्थित होना पड़ा। जिसको प्रकाश या धूम की आवश्यकता होती है, उसको उसके कारणभूत दीपक या अग्नि को अपने पुरुषार्थ द्वारा जुटाना पड़ता है। अत: आपका उपर्युक्त सिद्धान्त प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है।

यदि आपका उपर्युक्त सिद्धान्त माना जायेगा तो कार्य-कारणभाव बिल्कुल उल्टा हो जायेगा, क्योंकि जब स्वयमेव उपादान से होनेवाले कार्य के अनुसार कारणों को उपस्थित होना पड़ा तो वह कार्य उन कारणों की उपस्थिति में कारण हो गया अर्थात् कार्य कारण बन गया और कारण कार्य बन गये। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उपरोक्त दृष्टान्तों में भावलिंग, प्रकाश या धूम (जो कार्य है) द्रव्यलिंग, दीपक या अग्नि के होने में कारण बन गये, क्योंकि जब भावलिंग आदि अपने उपादान से हुए तो अनिवार्यरूप से द्रव्यलिंग आदि को होना पड़ा। यह बात आगम तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

'उपादान के अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है।' केवल यह मान्यता भी ठीक नहीं है। भावलिंग क्षायोपशमिक भाव है। इसकी प्राप्ति चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशमरूप निमित्त के अनुसार ही उपादान में होती है।

तत्र....क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। *—श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 56 की टीका*

अर्थ—कर्मों के क्षयोपशमसहित जो भाव है, वह क्षायोपशमिक भाव है।

इस भाव को, पौद्गलिक कर्म के क्षयोपशम द्वारा जन्य होने के कारण ही कथंचित् मूर्तिक तथा अवधिज्ञान का विषय माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही भावलिंग आत्मा में उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अत: आपका फलितार्थ निकालना कि 'निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार होती है' आगम विरुद्ध है।

आपके उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार जब उपादान अपने अनुसार कार्य कर ही होता है, तब निमित्त की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। चूँकि आगम में सर्वत्र यह प्ररूपण किया गया है कि निमित्त तथा उपादानरूप उभय कारणों से ही कार्य होता है और निमित्त हेतु कर्ता भी होता है, अत: शब्दों में तो आपने उसे (निमित्त को) इन्कार नहीं किया, किन्तु मात्र शब्दों में स्वीकार करते हुए भी, आप निमित्तभूत वस्तु में कारणत्वभाव स्वीकार नहीं करते हैं, तथा निमित्त को अकिंचित्कर बतलाते हुए, मात्र उपादान के अनुसार ही अर्थात् एकान्तत: मात्र उपादान से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। आगम के शब्दों को केवल निबाहने के लिये यह कह दिया गया है कि निमित्त की प्राप्ति उपादान के अनुसार हुआ करती है। ताकि यह न समझा जाये कि आगम माननीय नहीं है। इस एकान्त सिद्धान्त की मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त कारण मात्र शब्दों में ही माना जा रहा है, वास्तव में उसको कारणरूप से नहीं माना जा रहा है।

हमने अपनी दूसरी प्रतिशंका में यह स्पष्ट किया था कि प्रवचनसार की गाथा 169 तथा उसकी श्री अमृतचन्द्रकृत टीका में जो 'स्वयं' शब्द आया है, उसका अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही है। इसके अनन्तर पुन: आपने अपने प्रत्युत्तर में यह कहा है कि 'स्वयमेव' पद का अर्थ 'स्वयं ही' है अपने रूप नहीं।

इस विषय में हमारा कहना यह है कि 'स्वयमेव' पद कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में जहाँ भी कार्य-कारणभाव के प्रकरण में आया है, वहाँ सर्वत्र उसका अर्थ 'अपने रूप' अर्थात् 'स्वयं की वह परिणति है' 'या स्वयं में ही वह परिणति होती है' ऐसा ही करना चाहिये। 'बिना सहकारी कारण के अपने आप वह परिणति होती है' - ऐसा अर्थ कदापि संगत नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि समयसार गाथा 80 व 81 में तथा गाथा 105 में और इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से स्थानों में भी आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा इसी प्रकार समस्त आचार्य परम्परा के आगमसाहित्य में उपादान की स्व-परप्रत्ययरूप प्रत्येक परिणति, निमित्तसापेक्ष ही स्वीकार की गयी है और यह हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि निमित्त भी उपादान की तरह कार्योत्पत्ति में सहकारी कारण के रूप में वास्तविक तथा अनिवार्य ही है, कल्पित नहीं; अत: उपादान की स्वपरप्रत्यय परिणति निमित्तकारण के सहयोग के बिना अपने आप ही हो जाया करती है — यह मान्यता आगम विरुद्ध है। इसलिये यही मानना श्रेयस्कर है कि कार्यकारणभाव के प्रकरण में जहाँ भी आगम साहित्य

में 'स्वयमेव' पद आया है, वहाँ पर उसका अर्थ वही करना चाहिये जो हमने ऊपर लिखा है।

आपने लिखा है कि प्रवचनसार गाथा 169 में 'स्वयमेव' पद का अर्थ 'स्वयं ही' है, 'अपने रूप' नहीं। और आगे लिखा है कि 'इसके लिये समयसार गाथा 116 आदि तथा 168 संख्यांक गाथाओं का अवलोकन करना प्रकृत में उपयोगी होगा।'

इस पर हमारा कहना यह है कि किसी भी शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार निश्चित किया जाता है। जैसे प्रवचनसार गाथा 168 की श्री अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका में पठित 'स्वयमेव' शब्द का अर्थ प्रकरणानुसार 'अपने आप' ही आपने ठीक माना है और हम भी वहाँ इसी अर्थ को ठीक समझते हैं। कारण कि वहाँ प्रकरण के अनुसार यह दिखलाया गया है कि लोक पुद्गलकायों से स्वतः ही व्याप्त हो रहा है, उसका कारण अन्य नहीं है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आगम में जहाँ भी 'स्वयमेव' पद का पाठ किया गया है, वहाँ सर्वत्र उक्त 168 वीं गाथा की टीका के 'स्वयमेव' पद के समान 'अपने आप' अर्थ करना ही उचित होगा। जैसे भोजन के समय 'सैन्धव' शब्द का नमक अर्थ लोक में लिया जाता है और युद्धादि कार्यों के अवसर पर 'सैन्धव' शब्द का 'घोड़ा' ही अर्थ लिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

समयसार गाथा 116 आदि में जो 'स्वयं' शब्द आया है, उसका भी अर्थ 'अपने आप' नहीं माना जा सकता है। कारण कि उन गाथाओं में पठित 'स्वयं' शब्द का इतना ही प्रयोजन ग्राह्य है कि पुद्गल कर्मवर्गणाएँ ही कर्मरूप से परिणत होती हैं, जीव पुद्गल में कर्मरूप से परिणमन नहीं होता। वे गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥116॥

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसाररस अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥117॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा॥118॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥119॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥120॥ (पंचकम्)

इन गाथाओं द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने पुद्गलद्रव्य के परिणामी स्वभाव की सिद्धि की है। जैसे—

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामिस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति।

—उल्लिखित गाथाओं की अवतरणिका

अर्थ—उक्त गाथाओं के द्वारा सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामी स्वभाव सिद्ध करते हैं।

यहाँ पर पहली बात तो यह है कि सांख्यमतानुयायी पुद्गल द्रव्य के परिणामी स्वभाव को नहीं मानता है, इसलिये आचार्य को इसके सिद्ध करने की आवश्यकता की अनुभूति हुई है। दूसरी बात यह है कि इस अवतरणिका में 'स्वयं' शब्द का पाठ नहीं होने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तु के परिणामी स्वभाव की सिद्धि करना ही आचार्य को अभीष्ट रही है, अपने आप परिणामी स्वभाव की नहीं। अब विचारना यह है कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द को उक्त गाथाओं के द्वारा अपने आप अर्थात् अन्य (आत्मा) की सहायता की अपेक्षारहित पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप से परिणामी स्वभाव सिद्ध करना अभीष्ट होता तो आचार्य अमृतचन्द्र इनकी उक्त अवतरणिका में 'स्वयमेव' शब्द का पाठ अवश्य करते। दूसरी बात यह है कि गाथा 117 के उत्तरार्ध में जो संसार के अभाव की अथवा सांख्यमत की प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है, वह पुद्गल को परिणामी स्वभाव न मानने पर ही उपस्थित हो सकती है, 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभाव में नहीं। कारण कि परिणामी स्वभाव के अभाव में तो उक्त दोनों आपत्तियों की प्रसक्ति सम्भव है, परन्तु 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभाव में वे आपत्तियाँ इसलिए सम्भव नहीं मालूम देतीं कि पुद्गल द्रव्य में 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभाव में परसापेक्ष परिणामी स्वभाव का सद्भाव सिद्ध हो जायेगा। ऐसी हालत में संसार का अभाव अथवा सांख्य समय कैसे प्रसक्त हो सकेगा ? यह बात विचारणीय है। एक बात और विचारणीय है कि यदि इन गाथाओं में 'स्वयं' शब्द का अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायेगा तो गाथा 117 के पूर्वार्द्ध में भी 'स्वयं' शब्द के पाठ की आवश्यकता अनिवार्य हो जायेगी, ऐसी हालत में उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्द के पाठ करने की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इन सब कारणों

से स्पष्ट है कि 116 आदि गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द को 'स्वयं' शब्द का अर्थ 'अपने आप' अभीष्ट नहीं था, बल्कि 'अपने रूप' ही अभीष्ट था। इस निष्कर्ष के साथ जो इन गाथाओं का अर्थ होना चाहिये वह निम्न प्रकार है—

अर्थ—यदि पुद्गलद्रव्य जीव में अपने रूप से बद्ध नहीं होता और उसकी अपने रूप से कर्मरूप परिणति नहीं होती तो ऐसी हालत में वह अपरिणामी ही ठहरता है। इस तरह जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप से परिणत न हों तो एक तो संसार का अभाव हो जायेगा, दूसरे शब्दों में परिणामी स्वभाव का निषेध करनेवाले सांख्यमत की प्रसक्ति हो जायेगी। यदि कहा जाये कि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणत करा देगा, इसलिए न तो संसार का अभाव होगा और न सांख्यमत की प्रसक्ति ही प्राप्त होगी, तो जीवद्रव्य, कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता रखनेवाले पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणत करायेगा अथवा ऐसे पुद्गल को कर्मरूप से परिणत करायेगा जिसमें कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता विद्यमान नहीं है। यदि जीव उन पुद्गलों को कर्मरूप से परिणत करावेगा, जिनमें कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता विद्यमान नहीं है तो जिन पुद्गलों में कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता का अभाव है याने जो भी कभी कर्मरूप से परिणत हो ही नहीं सकते हैं, उन्हें जीव द्रव्य कैसे कर्मरूप बना सकेगा, इसलिए यदि यह माना जाये कि ऐसे पुद्गलों को जीव द्रव्य कर्मरूप से परिणत करेगा जिनमें कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता विद्यमान है तो फिर 'जीव अपरिणमनशील अर्थात् परिणमन की योग्यता से रहित पुद्गल को कर्मरूप से परिणमन कराता है' यह ऊपर गाथा 118 के पूर्वार्द्ध में प्रतिज्ञात सिद्धान्त मिथ्या हो जाता है। इस तरह गाथा 116 से संसूचित यह सिद्धान्त ही ठीक है कि जीव के साथ पुद्गल की अपनी बद्धता होती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव के साथ संयोग होने पर भी पुद्गल स्वयं अबद्ध ही बना रहता है। इसी तरह 'जीव के साथ संयुक्त होने पर पुद्गल में स्वयं की कर्मरूप परिणति हो जाया करती है।' ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव के साथ संयुक्त होकर भी पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणति से अलग ही बना रहता है। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि कर्मरूप परिणति को प्राप्त पुद्गलद्रव्य की ही कर्मरूप अवस्था है और इस तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप जितनी भी अवस्थाएँ बनती हैं, वे सब पुद्गल की ही अवस्थाएँ हैं।

इस विवेचन से बिल्कुल स्पष्ट है कि 116 आदि गाथाओं में पठित 'स्वयं' शब्द का अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही करना चाहिये।

हम अब आगम के एक दो और भी ऐसे प्रमाण यहाँ दे रहे हैं जिनमें 'स्वयमेव' या 'स्वयं' शब्द का 'अपने आप' अर्थ न होकर 'आप ही' अर्थ होता है। इसके लिये समयसार की 306 व 307 गाथाओं की आत्मख्याति टीका को देखिये। इन गाथाओं की टीका में पठित '**स्वयमेवापराधत्वात्**' तथा '**स्वयममृतकुम्भो भवति**' इन वाक्यों में 'स्वयं' शब्द का 'आप ही' यह अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार समयसार गाथा 13 की आत्मख्याति टीका में पठित '**स्वयमेकस्य पुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः**' इस वाक्य में भी 'स्वयं' शब्द का 'आप रूप' अर्थ ही अभीष्ट है।

आगे आपने लिखा है कि 'समयसार गाथा 105 में उपचार का जो अर्थ प्रथम प्रश्न के उत्तर में किया गया है, वह अर्थ संगत है।' इस विषय में हमने द्वितीय प्रतिशंका में जो आशय व्यक्त किया था, उसके ऊपर आपने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। अब इस प्रतिशंका में भी पूर्व में उपचार के अर्थ के विषय में हम विस्तारपूर्वक लिख आये हैं, जिस पर आप अवश्य ही गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

आपने उपचार शब्द के अपने द्वारा किये अर्थ की संगति के लिये जो धवल पुस्तक 6 पृष्ठ 11 का प्रमाण उपस्थित किया है, उसके विषय में हमारा कहना यह है कि उक्त प्रकरण में आत्मा में विद्यमान कर्तृत्व का उपचार उससे (आत्मा से) अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) पुद्गलद्रव्य में किया गया है, इसलिये '**मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते**' उपचार की यह व्याख्या यहाँ घटित हो जाती है, परन्तु ऐसा उपचार प्रकृत में सम्भव नहीं है। कारण कि आत्मा के कर्तृत्व का उपचार यदि द्रव्यकर्म में आप करेंगे तो इस उपचार के लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन को देखना होगा, जिनका कि यहाँ पर सर्वथा अभाव है। इस विषय का विवेचन हम इस लेख में पहले कर ही चुके हैं।

नोट — इस विषय में प्रश्न 5, 6, 11 और 17 पर भी दृष्टि डालिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका-1

द्रव्यकर्म के उदय से संसारी आत्मा का विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

इस प्रश्न का समाधान करते हुए प्रथम उत्तर में ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्मा के विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमण में द्रव्यकर्म का उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमण का मुख्यकर्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्य की पुष्टि में हमने समयसार, पंचास्तिकाय टीका, प्रवचनसार और उसकी टीका के अनेक प्रमाण दिये हैं। किन्तु अपर पक्ष इस उत्तर को अपने प्रश्न का समाधान मानने के लिये तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्म के उदय को निमित्तरूप से स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्य कर्मोदय और संसारी आत्मा के विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमण में व्यवहारनय से बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को अपने मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रश्न उत्तर को लक्ष्य कर अपर पक्ष की ओर से उपस्थित की गई प्रतिशंका 2 के उत्तर में भी हमारी ओर से अपने प्रथम उत्तर में निहित अभिप्राय की ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने हमारे द्वितीय उत्तर के आधार से लिखी गई प्रतिशंका 3 विचार के लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओर से अपर पक्ष के मूल प्रश्न का उत्तर न तो प्रथम वक्तव्य में ही दिया गया है और न ही दूसरे वक्तव्य में दिया गया है। 'संसारी जीव के विकारभाव और चतुर्गति परिभ्रमण में कर्मोदय व्यवहारनय से निमित्तमात्र है, मुख्य कर्ता नहीं' इस उत्तर को अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से जो उत्तर हमारी ओर से दिया गया है, वह अप्रासंगिक है या अपर पक्ष का वह कथन अप्रासंगिक ही नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है, जिसमें उसकी ओर से विकार का कारण बाह्य सामग्री है, इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्ष ने पद्मनन्दि पंचविंशतिका 23, 7 का '**द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्**' इस वचन को उद्धृत कर जो विकार को दो का कार्य बतलाया है, सो यहाँ देखना यह है कि जो

विकाररूप कार्य होता है, वह किसी एक द्रव्य की विभाव परिणति है या दो द्रव्यों की मिलकर एक विभाव परिणति है ? वह दो द्रव्यों की मिलकर एक विभाव परिणति है, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्य को त्रिकाल में नहीं कर सकते। इसी बात को समयसार आत्मख्याति टीका में स्पष्ट करते हुए बतलाया है—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥53॥

इसकी टीका करते हुए पं० श्री जयचन्दजी लिखते हैं—

दो द्रव्य एक होके नहीं परिणमते और दो द्रव्य का एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्य की एक परिणति क्रिया भी नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं; एक नहीं होते॥ 53॥

इसके भावार्थ में वे लिखते हैं—

दो वस्तु हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमतीं, एक परिणाम को भी नहीं उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती - ऐसा नियम है। जो दो द्रव्य एकरूप हो परिणमैं तो सब द्रव्यों का लोप हो जाये।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में '**द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्।**' इस वचन का वास्तविक यही अर्थ फलित होता है कि संयोगरूप भूमिका में एक द्रव्य के विकार परिणति के करने पर, अन्य द्रव्य विवक्षित पर्याय के द्वारा उसमें निमित्त होता है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि निश्चय व्यवहार दोनों नयवचनों को स्वीकार कर 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' यह वचन लिखा गया है। स्पष्ट है कि मूल प्रश्न का उत्तर लिखते समय जो हम यह सिद्ध कर आये हैं कि 'संसारी आत्मा के विकार भाव और चतुर्गति परिभ्रमण में द्रव्यकर्म का उदय निमित्तमात्र है। उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं आत्मा ही है।' यह यथार्थ लिख आये हैं। पद्मनन्दिपंचविंशतिका के उक्त वचन से भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'यदि क्रोध आदि विकारी भावों को कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोग के समान ये भी जीव के स्वभाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावों का नाश न होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।' आदि,

समाधान यह है कि क्रोध आदि विकारी भावों को जीव स्वयं करता है, इसलिए

निश्चयनय से वे परनिरपेक्ष ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कारण कि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय में अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय का अत्यन्ता अभाव है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर श्री जयधवला पुस्तक 7 पृष्ठ 117 में कहा है—

वज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तु का परिणाम बाह्य कारण निरपेक्ष होता है।

किन्तु जिस-जिस समय जीव क्रोधादि भावरूप से परिणमता है, उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्म के उदय की नियम से काल प्रत्यासत्ति होती है, इसलिए व्यवहारनय से, क्रोधादि कषाय के उदय को निमित्तकर क्रोधादिभाव हुए यह कहा जाता है। कारण दो प्रकार के हैं — बाह्य कारण और आभ्यन्तर कारण। बाह्य कारण को उपचरित कारण कहा है और आभ्यन्तर कारण को अनुपचरित कारण संज्ञा है। इन दोनों की समग्रता में कार्य की उत्पत्ति होने का नियम है। अतएव न तो संसार का ही अभाव होता है और न ही मोक्ष में क्रोधादि भावों की उत्पत्ति का प्रसंग ही उपस्थित होता है।

क्रोधादि कर्मों को निमित्त किये बिना क्रोधादि भाव होते हैं, ऐसा हमारा कहना नहीं है और न ऐसा आगम ही है। हमारा कहना यह है कि क्रोधादि विकारी भावों को स्वयं स्वतन्त्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं। आगम का भी यही अभिप्राय है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो न तो क्रोधादि भावों का कभी अभाव होकर इस जीव को मुक्ति की ही प्राप्ति हो सकेगी और न ही दो द्रव्यों में भिन्नता सिद्ध हो सकेगी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तत्त्वानुशासन में यह वचन उपलब्ध होता है—

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः॥ 29॥

जिस द्रव्य के उसी द्रव्य में कर्ता और कर्म आदि को विषय करनेवाला निश्चयनय है तथा विविध द्रव्यों में एक-दूसरे के कर्ता और कर्म आदि को विषय करनेवाला व्यवहारनय है॥ 29॥

यहाँ विविध द्रव्यों में एक-दूसरे के कर्ता आदि धर्मों को व्यवहारनय से स्वीकार किया गया है, सो यह कथन तभी बन सकता है, जब एक के धर्म को दूसरे में आरोपित किया जाये। इसी को असद्भूत व्यवहार कहते हैं। इस तथ्य को विशदरूप से समझने के लिए

आलापपद्धति के '**अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः**—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है' इत्यादि वचन पर दृष्टिपात कीजिए।

अपर पक्ष ने आप्तपरीक्षा कारिका 2 से '**सदकारणवन्नित्यम्**' वचन को क्यों उद्धृत किया, इसका विशेष प्रयोजन हम नहीं समझ सके। क्या ऐसा एकान्त नियम है कि जो-जो जीव का स्वभाव होता है, वह सर्वथा नित्य होता है। अपर पक्ष इस बात को भूल जाता है कि जैन दर्शन के अनुसार आप्तपरीक्षा का उक्त वचन द्रव्यार्थिकनय का ही वक्तव्य हो सकता है, पर्यायार्थिकनय का वक्तव्य नहीं, क्योंकि जैन-दर्शन में कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य नहीं स्वीकार की गई है। और स्वभाव पर्याय सर्वथा कारण के अभाव में होती हो, यह भी नहीं है। वहाँ भी प्रत्येक कार्य के प्रति बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता को जैनदर्शन स्वीकार करता है। जहाँ भी आगम में स्वभाव कार्य को परनिरपेक्ष बतलाया है, वहाँ उसका आशय इतना ही है कि जिस प्रकार क्रोधादि भाव कर्मोदय आदि को निमित्तकर होते हैं, उस प्रकार स्वभाव कार्य कर्मोदय आदि को निमित्तकर नहीं होते। स्पष्ट है कि आप्तपरीक्षा का उक्त वचन प्रकृत में उपयोगी नहीं है।

अपर पक्ष ने जयधवला 1-56 के वचन को उद्धृतकर जो प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होता है, सो इसका हमने कहाँ निशेध किया है। रागादिभाव की उत्पत्ति में कर्म की निमित्तता को जैसे अपर पक्ष स्वीकार करता है, उसी प्रकार हम भी स्वीकार करते हैं। विवाद इसमें नहीं है। किन्तु विवाद इसमें है कि पर द्रव्य की विवक्षित पर्याय को निमित्तकर दूसरे द्रव्य में जो कार्य होता है, उसका यथार्थ कर्ता कौन है? अपर पक्ष ने परमात्मप्रकाश गाथा 66 और 78 को उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीव को सुख-दुःख व नरक-निगोद आदि दुर्गति देनेवाला कर्म ही है। आत्मा तो पंगु के समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है। तीन लोक में इस जीव को कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है। शायद अपर पक्ष निमित्त कर्ता का यही अर्थ करता है और इसी को वह अपने प्रश्न का समुचित उत्तर मानता है। किन्तु यह व्यवहारनय का वक्तव्य है, इसे अपर पक्ष भूल जाता है। पर का सम्पर्क करने से जीव की कैसी गति होती है, यह इन वचनों द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। **यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात है कि पर का सम्पर्क करना और न करना इसमें जीव की स्वतन्त्रता है। इसमें उसकी स्वतन्त्रता है कि जैसे कोई पुरुष या स्त्री अपने ऊपर किरासिन तेल डालकर और अग्नि लगाकर जल मरे। जो**

ऐसा करता है, वह नियम से मरकर दुर्गति का पात्र होता है और जो ऐसा नहीं करता, वह मरकर दुर्गति का पात्र नहीं होता। ऐसा ही इनमें निमित्तनैमित्तिक योग है। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। परमात्मप्रकाश के कर्ता इस संसारी जीव को पर के सम्पर्क करने का क्या फल है, यह दिखलाकर उससे विरत करना चाहते हैं। यह तो है कि यह जीव पर का सम्पर्क करके नरक-निगोद का पात्र होता है और अपना पुरुषार्थ भूलकर पंगु के समान बना रहता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह जीव पर का सम्पर्क तो करे नहीं, फिर भी पर द्रव्य इसे सुखी-दुखी या नरक-निगोद आदि का पात्र बना देवे। पर का सम्पर्क करने से जीव का सुखी-दुखी होना और बात है और पर से यह जीव सुखी-दुखी होता है, ऐसा मानना और बात है। परमात्मप्रकाश के कर्ता ने इनमें से प्रथम वचन को ध्यान में रखकर ही '**अप्पा पंगुह**' तथा '**कम्मइँ दिढघणचिक्कणइँ**' इत्यादि वचन कहे हैं। यद्यपि संसारी जीव पर का सम्पर्क करने के फलस्वरूप स्वयं सुखी-दुखी तथा नरक-निगोद आदि गतियों का पात्र होता है। पर यह कार्य जिनके सम्पर्क में होता है, उनकी निमित्तता दिखलाने के लिए ही यह कहा गया है कि आत्मा पंगु के समान है। वह न आता है और न जाता है। विधि ही तीन लोक में इस जीव को ले जाता है, और ले आता है। इत्यादि।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि परमात्मप्रकाश दोहा 66 में आया हुआ विधि शब्द जहाँ द्रव्य-कर्म का सूचक है, वहाँ वह परमात्मा की प्राप्ति के प्रतिपक्षभूत भावकर्म को भी सूचित करता है। जब इस जीव की द्रव्य-पर्यायस्वरूप जिस प्रकार की योग्यता होती है, तब उसकी उसके अनुसार ही परिणति होती है और उसमें निमित्त होने योग्य बाह्य सामग्री भी उसी के अनुरूप मिलती है, ऐसा ही त्रिकालाबाधित नियम है, इसमें कहीं अपवाद नहीं, तथा यदि पर को लक्ष्य कर परिणमन होता है तो नियम से विभाव परिणति की उत्पत्ति होती है और स्वभाव को लक्ष्यकर परिणमन होता है तो नियम से स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होती है। जीव के संसारी बने रहने और मुक्ति प्राप्त करने की यह चाबी है। इसमें भी कहीं कोई अपवाद नहीं। यहाँ पर के सम्पर्क करने का अभिप्राय ही पर को लक्ष्य कर परिणमन करना लिया है। पर वस्तु विभाव परिणति में तभी निमित्त होती है, जब यह जीव उसको लक्ष्यकर परिणमन करता है; अन्यथा संसारी जीव कभी भी मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि जब विवक्षित द्रव्य अपना कार्य करता है, तब बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य निमित्त होती है। परमात्मप्रकाश के उक्त कथन का

यही अभिप्राय है। समयसार गाथा 278 व 279 से भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथाओं में यद्यपि यह कहा गया है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि आप शुद्ध है, वह लालिमा आदिरूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा लालिमारूप परिणमाया जाता है; उसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है, वह राग आदिरूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह रागादिरूप दोषों द्वारा रागी किया जाता है। परन्तु इस कथन का ठीक आशय क्या है, इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्र ने **'न जातु रागादि'** इत्यादि कलश द्वारा किया है। इसमें पर पदार्थ को निमित्त न बतलाकर, पर के संग में निमित्तता सूचित की गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि आगम में जहाँ-जहाँ इस प्रकार का कथन आता है कि जीव को कर्म सुख-दुख देते हैं, कर्म बड़े बलवान हैं, वे ही इसे नरकादि दुर्गतियों में और देवादि सुगतियों में ले जाते हैं; वहाँ-वहाँ उक्त कथन का यही अर्थ करना चाहिए कि जब तक यह जीव कर्मोदय की संगति करता रहता है, तब तक इसे संसार परिभ्रमण का पात्र होना पड़ता है। कर्मोदय जीव के सुख-दु:खादि में निमित्त है, इसका आशय इतना ही है। परमात्मप्रकाश में इसी आशय को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि यह जीव पंगु के समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है, कर्म ही इसे तीन लोक में ले जाता है और ले आता है आदि।

आगम में दोनों प्रकार का कथन उपलब्ध होता है। कहीं उपादान की मुख्यता से कथन किया गया है और कहीं निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री की मुख्यता से कथन किया गया है। जहाँ उपादान की मुख्यता से कथन किया गया है, वहाँ उसे निश्चय (यथार्थ) कथन जानना चाहिए और जहाँ निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री की मुख्यता से कथन किया गया है, वहाँ उसे असद्भूतव्यवहार (उपचरित) कथन जानना चाहिए।

श्री समयसार गाथा 32 की टीका में निमित्त व्यवहार के योग्य मोहोदय को भावक और आत्मा को भाव्य कहा गया है, सो उसका आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव मोहोदय के सम्पर्क में एकत्वबुद्धि करता रहता है, तभी तक मोहोदय में भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है। यदि ऐसा न माना जाये तो सतत मोहोदय के विद्यमान रहने के कारण, यह आत्मा भेदविज्ञान के बल से कभी भी भाव्य-भावक संकर दोष का परिहार नहीं कर सकता। इस प्रकार उक्त कथन द्वारा आत्मा की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्रपने मोहोदय से अनुरंजित हो तो ही मोहोदय रंजक है, अन्यथा नहीं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

समयसार गाथा 198 में भी इसी तथ्य को सूचित किया गया है। जितने अंश में जीव पुरुषार्थ हीन होकर कर्मोदयरूप विपाक से युक्त होता है, उतने अंश में जीव में विभाव भाव होते हैं। अत: ये पर के सम्पर्क में हुए हैं, इसलिए इन्हें परभाव भी कहते हैं और ये आत्मा के विभावरूप भाव होने से स्वभावरूप भावों से बहिर्भूत हैं, इसलिए हेय हैं। यदि इनमें इस जीव की हेय बुद्धि हो जाये तो पर के सम्पर्क में भी हेय बुद्धि हो जाये, यह तथ्य इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ भी आत्मा की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। कर्मोदय बलपूर्वक इसे विभावरूप परिणमाता है, यह इसका आशय नहीं है। किन्तु जब वह जीव स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मोदय से युक्त होता है, तब नियम से विभावरूप परिणमाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। समयसार गाथा 199 का भी यही आशय है। समयसार गाथा 281 में उक्त कथन से भिन्न कोई दूसरी बात कही गई हो, ऐसा नहीं समझना चाहिए। जिसको निमित्त कर जो भाव होता है, वह उससे जायमान हुआ है – ऐसा कहना आगम परिपाटी है जो मात्र किस कार्य में कौन निमित्त है, इसे सूचित करने के अभिप्राय से ही आगम में निर्दिष्ट की गई है। विशेष खुलासा हम पूर्व में ही कर आये हैं। उपादान में होनेवाले व्यापार को पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकाल में नहीं कर सकती, इस तथ्य को तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा। अतएव आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहना व्यवहार कथन ही तो ठहरेगा। इसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन तो किसी भी अवस्था में नहीं माना जा सकता। समयसार की उक्त गाथाओं में इसी सरणि को लक्ष्य में रखकर उक्त कथन किया गया है। तथा यही आशय उनकी टीका द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री में यथार्थ कर्तृत्व की बुद्धि का त्याग कर दे तो पूरे जिनागम की संगति बैठ जाये। विज्ञेषु किमधिकम्।

पञ्चास्तिकाय गाथा 131 की टीका पर हमने दृष्टिपात किया है। इसमें मोह तथा पुण्य-पाप के योग्य शुभाशुभ भावों का निर्देश किया गया है और साथ ही वे किसको निमित्त कर होते हैं, यह भी बतलाया गया है। पञ्चास्तिकाय गाथा 148 का भी यही आशय है। इस तथ्य को स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र '**बहिरङ्गान्तरङ्गबन्धकारणाख्यानमेतत्**—यह बन्ध के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारण का कथन है'—इन शब्दों द्वारा स्वीकार करते हैं। गाथा 150-151 में तो द्रव्यकर्ममोक्ष के हेतुभूत परम संवररूप से भावमोक्ष के स्वरूप का विधान है। गाथा 156 की टीका का '**मोहनीयोदयानुवृत्तिवशात्**' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है

कि जब यह जीव मोहनीय के उदय का अनुवर्तन करता है, तभी यह उससे रञ्जित उपयोगवाला होता है और तभी यह परद्रव्य में शुभ या अशुभ भाव को धारण करता है।

इस प्रकार समयसार और पञ्चास्तिकाय के उक्त उल्लेखों से उसी तथ्य की पुष्टि होती है, जिसका हम पूर्व में निर्देश कर आये हैं। बाह्य सामग्री दूसरे को बलात् अन्यथा परिणमाती है, यह उक्त वचनों का आशय नहीं है, जैसा कि अपर पक्ष उन वचनों द्वारा फलित करना चाहता है।

परमात्मप्रकाश के उल्लेखों का आशय क्या है, इसकी चर्चा हम पूर्व में ही विस्तार के साथ कर आये हैं। मूलाराधना गाथा 1621 तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 211 का भी आशय पूर्वोक्त कथन से भिन्न नहीं है। मूलाराधना में '**कम्माइं बलियाइं**' यह गाथा उस प्रसंग में आई है, जब निर्यापकाचार्य क्षपक को अपनी समाधि में दृढ़ करने के अभिप्राय से कर्म की बलवत्ता बतला रहे हैं और साथ ही उसमें अनुरञ्जायमान न होकर समताभाव धारण करने की प्रेरणा दे रहे हैं। यह तो है कि जिस समय जिस कर्म का उदय-उदीरणा होती है, उस समय आत्मा स्वयं उसके अनुरूप परिणाम का कर्ता बनता है, क्योंकि अपने उपादान के साथ उस परिणाम की जिस प्रकार अन्तर्व्याप्ति है, उसी प्रकार उस कर्म के उदय के साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है। फिर भी आचार्य ने यहाँ पर कर्मोदय की बलवत्ता बतलाकर, उसमें अनुरंजायमान न होने की प्रेरणा इसलिए दी है कि जिससे यह आत्मा अपनी स्वतन्त्रता के भावपूर्वक कर्मोदय को निमित्तकर होनेवाले भावों में अपने को आबद्ध न किये रहे।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 211 द्वारा पुद्गल द्रव्य की जिस शक्ति का निर्देश किया है, उसका आशय इतना ही है कि जब यह जीव केवलज्ञान के अभावरूप से परिणमता है, तब केवलज्ञानावरण द्रव्यकर्म का उदय उसमें निमित्त होता है। यदि ऐसा न माना जाये और पुद्गल द्रव्य की सर्वकाल यह शक्ति मानी जाये कि वह केवलज्ञान स्वभाव का सर्वदा विनाश करने की सामर्थ्य रखता है तो कोई भी जीव केवलज्ञानी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि उक्त वचन द्वारा आचार्य ने पुद्गल द्रव्य की केवलज्ञानावरणरूप उस पर्याय की उदयशक्ति का निर्देश किया है, जिसको निमित्तकर जीव केवलज्ञान स्वभावरूप से स्वयं नहीं परिणमता। ऐसा ही इनमें निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब यह जीव केवलज्ञानरूप से नहीं परिणमता, तब उसमें केवलज्ञानावरण का उदय सहज निमित्त होता है। इसी को व्यवहारनय से यों कहा जाता है कि केवलज्ञानावरण के उदय के कारण इस जीव के केवलज्ञान का घात होता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा का यह उपकार प्रकरण है। उसी प्रसंग से उक्त गाथा आई है, अतएव प्रकरण को ध्यान में रखकर उसके हार्द को ग्रहण करना चाहिए।

शंका 5 के द्वितीय उत्तर में स्वा० का० अ० गाथा 319 के आधार से जो हमने यह लिखा है कि शुभाशुभ कर्म जीव का उपकार या अपकार करते हैं सो यह कथन शुभाशुभ कर्म के उदय के साथ जीव के उपकार या अपकार की बाह्य व्याप्ति को ध्यान में रखकर ही किया गया है। इस जीव को कोई लक्ष्मी देता है या कोई उपकार करता है, यह प्रश्न है। इसी प्रश्न का समाधान गाथा 319 में करते हुए बतलाया है कि लोक में इस जीव को न तो कोई लक्ष्मी देता है और न अन्य कोई उपकार ही करता है। किन्तु उपकार या अपकार जो भी कुछ होता है, वह सब शुभाशुभ कर्म को निमित्त कर होता है।

यह आचार्य वचन है। इस द्वारा दो बातें स्पष्ट की गई हैं। पूर्वार्ध द्वारा तो जो मनुष्य यह मानते हैं कि 'अमुक देवी-देवता आदि से मुझे लक्ष्मी प्राप्त होगी या मेरी अमुक आपत्ति टल जायेगी' उसका निषेध यह कह कर किया गया है कि लोक में जो कुछ भी होता है, वह शुभाशुभ कर्म के उदय को निमित्त कर ही होता है। तू बाह्य सामग्री के मिलाने की चिन्ता में आत्मवंचना क्यों करता है ? अनुकूल बाह्य सामग्री हो और अशुभ कर्म का उदय हो तो बाह्य सामग्री से क्या लाभ ? उसका होना और न होना बराबर है। तथा उत्तरार्ध द्वारा यह सूचित किया गया है कि शुभाशुभ कर्म तेरी करणी का फल है, इसलिए जैसी तू करणी करेगा, उसी के अनुरूप कर्मबन्ध होगा और उत्तर काल में उसका फल भी उसी के अनुरूप मिलेगा। अतएव तूं अपनी करणी की ओर ध्यान दे। शुभाशुभ कर्म तो उपकार-अपकार में निमित्तमात्र हैं, वस्तुतः उनका कर्ता तो तूं स्वयं है। यह नय वचन है; इसे समझकर यथार्थ को ग्रहण करना प्रत्येक सत्पुरुष का कर्तव्य है। अन्यथा शुभाशुभ कर्म का सद्भाव सदा रहने से कभी भी यह जीव उससे मुक्त न हो सकेगा।

जिसे उपकार कहते हैं, वह भी मान्यता का फल है और जिसे अपकार कहते हैं, वह भी मान्यता का फल है। यह संयागी अवस्था है। अतएव जिसके संयोग में इसके होने का नियम है, उनका ज्ञान इस वचन द्वारा कराया गया है। इतना ही आशय इस गाथा का लेना चाहिए। हमने शंका 5 के अपने दूसरे उत्तर में जो कुछ भी लिखा है, इसी आशय को ध्यान में रखकर लिखा है। अतएव इस पर से अन्य आशय फलित करना उचित नहीं है।

प्रश्न 16 के प्रथम उत्तर में हमने मोह, राग, द्वेष आदि जिन आगन्तुक भावों का निर्देश

किया है, उसका आशय यह नहीं कि वे जीव के स्वयंकृत भाव नहीं हैं। जीव ही स्वयं बाह्य सामग्री में इष्टानिष्ट या एकत्व बुद्धि कर उन भावोंरूप परिणमता है, इसलिए वे जीव के ही परिणाम हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में यह वचन कहा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ 9॥

ऐसा इस जीव का परिणामस्वभाव है कि जब यह शुभ या अशुभरूप से परिणमता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूप से परिणमता है, तब शुद्ध होता है॥ 9॥

फिर भी मोह, राग, द्वेष आदि भावों को आगम में जो आगन्तुक कहा गया है, उसका कारण इतना ही है कि वे भाव स्वभाव के लक्ष्य से न होकर, पर के लक्ष्य से होते हैं। हैं वे जीव के ही भाव और जीव ही स्वयं स्वतन्त्र कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, पर वे पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आगन्तुक कहा गया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में यहाँ तक जितने भी आगम प्रमाण दिये हैं, उनसे यह तो त्रिकाल में सिद्ध नहीं होता कि अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य का वास्तविक कर्ता होता है। किन्तु उनसे यही सिद्ध होता है कि **प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान होकर अपना कार्य करता है और उसके योग्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है।** समयसार गाथा 278-279 का क्या आशय है, इसका विशेष खुलासा हम पूर्व में ही कर आये हैं। एक जीव ही क्या प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है, अतएव जिस भावरूप वह परिणमता, उसका कर्ता वह स्वयं होता है। परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया—ये तीनों वस्तुपने की अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं, इसलिये जब जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसरूप वह स्वयं परिणम जाता है, इसमें अन्य का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं। राग, द्वेष आदि भाव कर्मोदय के द्वारा किये जाते हैं, यह व्यवहार कथन है। कर्म का उदय कर्म में होता है और जीव का परिणाम जीव में होता है, ऐसी दो क्रियाऐं और दो परिणाम दोनों द्रव्यों में एक काल में होते हैं, इसलिए कर्मोदय में निमित्त व्यवहार किया जाता है और इसी निमित्त व्यवहार को लक्ष्य में रखकर यह कहा जाता है कि इसने इसे किया। यह उसी प्रकार का उपचार वचन है; जैसे, मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना उपचार वचन है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 107 में ऐसे कथन को व्यवहारनय का वक्तव्य कहा है।

1. अध्यात्म में रागादि को पौद्गलिक बतलाने का कारण

समयसार 50 से 56 तक की गाथाओं में रागादिक को जो पौद्गलिक बतलाया है, उसका आशय यह नहीं कि उनका वास्तविक कर्ता पुद्गल है, जीव नहीं; या वे जीव के भाव न होकर, पुद्गल की पर्याय हैं। है तो वे जीव के ही भाव और स्वयं जीव ही उन्हें उत्पन्न करता है। उनकी उत्पत्ति में पुद्गल अणुमात्र भी व्यापार नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्य की परिणाम क्रिया को दूसरा द्रव्य त्रिकाल में नहीं कर सकता; अन्यथा तन्मयपने का प्रसंग होने से दोनों द्रव्यों में एकता प्राप्त होती है (समयसार गाथा 99) या दो क्रियाओं का कर्ता एक द्रव्य को स्वीकार करना पड़ता है (समयसार गाथा 85)। किन्तु ऐसा मानना जिनाज्ञा के विरुद्ध है। जिनाज्ञा यह है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥ 103॥

जो वस्तु जिस द्रव्य और गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य और गुण में संक्रमण को नहीं प्राप्त होती, अन्यरूप से संक्रमण को नहीं प्राप्त होती हुई वह, अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है, अर्थात् नहीं परिणमा सकती॥ 103॥

ऐसी अवस्था में जीव में होनेवाले मोह, राग और द्वेष आदि भाव अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर जीव ही हैं। यह कथन यथार्थ है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उक्त गाथाओं की (50-56) टीका में आचार्य जयसेन ने अशुद्ध पर्यायार्थिक निश्चयनय की अपेक्षा, उन्हें जीव स्वरूप ही स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, कर्ता-कर्म अधिकार गाथा 88 में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द उन्हें जीव भावरूप से स्वीकार करते हैं। इसी तथ्य को आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथा की टीका में इन शब्दों में स्वीकार किया है—

यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्य-परिणामस्य विकारः॥ 88॥

और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं, वे मूर्तीक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्य परिणाम के विकार हैं॥ 88॥

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि मोह, राग, द्वेष

आदि भाव जीव के ही हैं। **'स्वतन्त्रः कर्ता'** इस नियम के अनुसार स्वयं जीव ही आप कर्ता होकर उनरूप परिणमता है। फिर भी समयसार में उन्हें पौद्गलिक इसलिए नहीं कहा कि वे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शस्वरूप हैं या पुद्गल आप कर्ता बनकर उनरूप परिणमिता है। उन्हें पौद्गलिक कहने का कारण अन्य है। बात यह है कि परम पारिणामिक भाव को ग्रहण करनेवाले शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायकस्वरूप आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न हुई आत्मानुभूति में उनका भान नहीं होता, इसलिए वे रागादि भाव जीव के नहीं - ऐसा समयसार 50 से 56 तक की गाथाओं में कहा गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओं की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

जो प्रीतिरूप राग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणामरूप होने से वह आत्मानुभूति से भिन्न है। जो अप्रीतिरूप द्वेष है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप होने से वह आत्मानुभूति से भिन्न है। जो तत्त्वों की अप्रतिपत्तिरूप मोह है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप होने से वह आत्मानुभूति से भिन्न है।

आगम में द्रव्यार्थिकनय के जितने भेद निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें एक परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय भी है। इसके विषय का निर्देश करते हुए आलापपद्धति में लिखा है—

परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा-ज्ञानस्वरूप आत्मा।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसे स्वीकार करनेवाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है।

इसी तथ्य को नयचक्रादिसंग्रह में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

गेह्णइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण॥ 199॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावों से रहित द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है, उसे सिद्धि (मुक्ति) के इच्छुक भव्य जीवों ने परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानना चाहिए॥ 199॥

तात्पर्य यह है कि **मोक्षमार्ग में अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावों को गौणकर, एक त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्मा ही आश्रय करने योग्य बतलाया गया है। जो आसन्न भव्य जीव ऐसे अभेद स्वरूप आत्मा को लक्ष्य कर (ध्येय बनाकर) तन्मय होकर परिणमता है, उसे जो आत्मानुभूति होती है, उसे उस काल में रागानुभूति त्रिकाल में नहीं होती।** यही कारण है कि समयसार की उक्त गाथाओं द्वारा ये रागादि भाव जीव के नहीं हैं, यह कहा गया है।

इस प्रकार ये रागादि भाव जीव के नहीं है, इस तथ्य का सकारण ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें पौद्गलिक कहने का कारण क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। यह तो सभी मुमुक्षु जानते हैं कि जिसे जिनागम में मिथ्यादर्शन या मोह कहा गया है, उसका फल स्व-पर में एकत्वबुद्धि के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है और जिसे राग-द्वेष कहा गया है, उसका फल भी पर में इष्टानिष्ट बुद्धि के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यतः पर के संयोग में एकत्वबुद्धि तथा इष्टानिष्ट बुद्धि इस जीव के अनादि-काल से होती आ रही है। इसका कर्ता यह जीव स्वयं है। पर पदार्थ इसका कर्ता नहीं। पर का संयोग बना रहे फिर भी यह जीव उसके आश्रय से एकत्व बुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि न करे, यह तो है। किन्तु पर पदार्थ स्वयं कर्ता बनकर इस (जीव) में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कर दे, यह त्रिकाल में सम्भव नहीं है। यतः उक्त प्रकार की एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि पुद्गल की विविध प्रकार की रचना का आलम्बन करने से होती है, अन्यथा नहीं होती, यही कारण है कि अध्यात्म में मोह, राग और द्वेष आदि भावों को पौद्गलिक कहा गया है।

यह वस्तुस्थिति है। **मोक्षमार्ग में आलम्बन या ध्येय की दृष्टि से मोह, राग और द्वेष में निजत्व बुद्धि करने का तो निषेध है ही। ज्ञेय के कारण मैं जानता हूँ इस प्रकार के विकल्प का भी निषेध है।** इतना ही क्यों ? सम्यग्दर्शनादि स्वभाव भाव मेरा स्वरूप है, इन्हें आलम्बन बनाने से मुझमें मोक्षमार्ग का प्रकाश होकर मुक्ति की प्राप्ति होगी, ऐसे विकल्प का भी निषेध है, क्योंकि **जहाँ तक विकल्प-बुद्धि है, वहाँ तक राग की चरितार्थता है।** ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अवलम्बन से तन्मय परिणमन द्वारा जो सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धि उत्पन्न होती है। तन्मय आत्मा की अनुभूति अन्य वस्तु है, और भेद-बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुई विकल्पानुभूति अन्य वस्तु है। यह रागानुभूति ही है, आत्मानुभूति नहीं। आचार्य कहते हैं कि जब तक अवलम्बन (ध्येय) निर्विकल्प नहीं होगा, तब तक निर्विकल्प अनुभूति का होना असम्भव है। यही कारण है कि मोक्षमार्ग की दृष्टि से सभी प्रकार के व्यवहार को गौणकर एकमात्र

निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्मा के अवलम्बन करने का उपदेश दिया गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में कहा भी है—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एक निखिलोऽप्यन्याश्रितस्त्याजितः।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥ 173॥

सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सब जिनेन्द्रदेव ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि जिनेन्द्रदेव ने अन्य के आश्रय से होनेवाला समस्त व्यवहार छुड़ाया है। तब फिर, ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति मुख्यतया पुद्गल का आलम्बन करने से ही होती है, स्वभाव का आलम्बन करने से नहीं होती, इसलिए तो उन्हें अध्यात्म में पौद्गलिक कहा गया है। पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है या वे पुद्गल की पर्याय हैं, इसलिए उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा गया है। इस अपेक्षा से विचार करने पर तो जीव आप अपराधी होकर उन्हें उत्पन्न करता है और आप तन्मय होकर मोह, राग, द्वेष आदिरूप परिणमता है, इसलिए वे चिद्विकार ही हैं। फिर भी ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अवलम्बन द्वारा उत्पन्न हुई आत्मानुभूति में उनका प्रकाश नहीं होता, इसलिए उससे भिन्न होने के कारण व्यवहारनय से उन्हें जीव का कहा गया है। इस प्रकार समयसार की उक्त गाथाओं में वर्णादि के समान रागादि को क्यों तो पौद्गलिक कहा गया है और क्यों वे व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं, इसका संक्षेप में विचार किया।

2. समयसार गाथा 68 की टीका का आशय

अब समयसार गाथा 68 की टीका पर विचार करते हैं। इसमें 'कारण के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौपूर्वक उत्पन्न हुए जौ, जौ ही हैं।' इस न्याय के अनुसार गुणस्थान या रागादि भावों को पौद्गलिक सिद्ध किया गया है। इस पर से अपर पक्ष निश्चयनय से उन्हें पौद्गलिक स्वीकार करता है। किन्तु अपर पक्ष यदि पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, इसलिए वे निश्चयनय से पौद्गलिक हैं या पुद्गल के समान रूप, रस, गन्ध और

स्पर्शवाले होने के कारण निश्चयनय से वे पौद्गलिक हैं, ऐसा मानता हो तो उसका दोनों प्रकार का मानना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि पर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए वे जीव के ही चिद्विकार हैं और जीव ने आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न किया है। अतएव अशुद्ध पर्यायार्थिकनय से वे जीव ही हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन उक्त गाथा की टीका में लिखते हैं—

यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

गुणस्थान यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से चेतन हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनय से नित्य-सर्वकाल अचेतन हैं। द्रव्यकर्म की अपेक्षा आभ्यन्तर रागादिक चेतन हैं, ऐसा मानकर यद्यपि अशुद्ध निश्चय वास्तव में निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है, तथापि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा वह व्यवहार ही है।

इस प्रकार उक्त कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म के उदय को आलम्बन (निमित्त) कर जो गुणस्थान या रागादि होते हैं, वे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीव ही हैं। यहाँ जो उन्हें जीव होने का निषेध कर अचेतन कहा है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा ही कहा है। तात्पर्य यह है कि (1) त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न हुई आत्मानुभूति में गुणस्थानभाव या रागादिभाव का प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। (2) वे पुद्गलादि पर द्रव्य का अवलम्बन करने से उत्पन्न होने के कारण शुद्ध चैतन्यप्रकाश स्वरूप न होकर चिद्विकार स्वरूप हैं, अतएव अचेतन हैं तथा (3) उनकी जीव के साथ त्रैकालिक व्याप्ति नहीं पाई जाती, इसलिए शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वे जीव नहीं हैं, अतएव पौद्गलिक हैं। ऐसा अध्यात्म परमागम में कहा गया है। यह जीव अनादि-काल से स्व को भूलकर पर का अवलम्बन करता आ रहा है और पर के अवलम्बन से उत्पन्न चिद्विकारों में उपादेय बुद्धि करता आ रहा है, इनमें हेय बुद्धि कर उनसे विरत करना, उक्त कथन का प्रयोजन है। यही कारण है कि कर्ता-कर्म अधिकार में रागादि भावों का कर्ता स्वतन्त्रपने स्वयं जीव ही है, यह बतलाकर भी जीवाजीवाधिकार में पर का अवलम्बन करने से होने के कारण, उनमें परबुद्धि कराई गई है। आशा है अपर पक्ष समयसार गाथा 68 की टीका से यही तात्पर्य ग्रहण करेगा, न कि यह कि पुद्गल स्वयं स्वतन्त्रतया आप

कर्ता होकर उन गुणस्थान या रागादि को करता है, इसलिए यहाँ उन्हें पौद्गलिक कहा गया है। समयसार गाथा 113-116 में भी यही आशय व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त-नैमित्तिकभाव और कर्ता-कर्मभाव में निहित अभिप्राय को हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करे तो उसे वस्तुस्थिति को समझने में देर न लगे।

3. कर्मोदय जीव की अन्तरंग योग्यता का सूचक है, जीवभाव का कर्ता नहीं

आगे अपर पक्ष ने 'अन्य कारणों और कर्मोदयरूप कारणों में मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंग की योग्यता मिलने पर कार्य होता है। किन्तु घातिया कर्मोदय के साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यता का सूचक है।' यह वचन लिखकर अपने इस वक्तव्य की पुष्टि में हमारी (पं० फूलचन्द्र शास्त्री की) कर्मग्रन्थ पु० 6 की प्रस्तावना पृ० 44 का कुछ अंश उद्धृत किया है।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने अपने उक्त कथन द्वारा घातिया कर्मोदय को जीव की अन्तरंग योग्यता का सूचक स्वीकार कर लिया है। इससे यह सुतरां फलित हो जाता है कि संसारी जीव कर्म और जीव के अन्योन्यावगाहरूप संयोग काल में स्वयं कर्ता होकर अपने अज्ञानादिरूप कार्य को करता है और कर्मोदय कर्ता न होकर, मात्र उसका सूचक होता है। इसी को जीव के अज्ञानादि भावों में कर्मोदय की निमित्तता कही गई है। हमारे जिस वचन को यहाँ प्रमाणरूप में उपस्थित किया गया है, उसका भी यही आशय है।

किन्तु अपर पक्ष ने हमारे उक्त वचनों को उद्धृत करते हुए '**अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती।**' इसके बाद उक्त उल्लेख के इस वचन को तो छोड़ दिया है—

'फिर भी अन्तरंग में योग्यता के रहते हुए बाह्य सामग्री के मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाण में कार्य तो होता ही है, इसलिए निमित्तों की परिगणना में बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है, इसलिए इसकी परिगणना नोकर्म के स्थान में की गई है।'

और इसके स्थान में हमारे वक्तव्य के रूप में अपने इस वचन को सम्मिलित कर दिया है—

'अतः कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है और जीव में ऐसी योग्यता आती है।'

अब हमारे और अपर पक्ष के उक्त उल्लेख के आधार पर जब अकालमरण का

विचार करते हैं तो विदित होता है कि जब जब आत्मा में मनुष्यादि एक पर्याय के व्यय की और देवादिरूप दूसरी पर्याय के उत्पाद की अन्तरंग योग्यता होती है, तब तब विषभक्षण, गिरिपात आदि बाह्य सामग्री तथा मनुष्यादि आयु का व्यय और देवादि आयु का उदय उसकी सूचक होती है और ऐसी अवस्था में आत्मा स्वयं अपनी मनुष्यादि पर्याय का व्यय कर, देवादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि एक पर्याय के व्यय और दूसरी पर्याय के उत्पादरूप उपादान योग्यता के काल की अपेक्षा विचार करने पर मरण की कालमरण संज्ञा है और इसको गौणकर अन्य कर्म तथा नोकर्मरूप सूचक सामग्री की अपेक्षा विचार करने पर, उसी मरण की अकालमरण संज्ञा है।

यह वस्तुस्थिति है जो अपर पक्ष के उक्त वक्तव्य से भी फलित होती है। हमें आशा है कि अपर पक्ष अपने वक्तव्य के 'किन्तु घातिया कर्मोदय के साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यता का सूचक है।' इस वचन को ध्यान में रखकर सर्वत्र कार्य-कारणभाव का निर्णय करेगा।

4. प्रस्तुत प्रतिशंका में उल्लिखित अन्य उद्धरणों का स्पष्टीकरण

अब प्रस्तुत प्रतिशंका में उद्धृत उन उल्लेखों पर विचार करते हैं, जिन्हें अपर पक्ष अपने पक्ष के समर्थन में समझता है। उनमें से प्रथम उल्लेख इष्टोपदेश का श्लोक 7 है। इसमें मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन से सम्पृक्त हुआ ज्ञान, अपने स्वभाव को नहीं प्राप्त करता है, यह कहा गया है और उसकी पुष्टि में 'मदनकोद्रवको निमित्त कर मत्त हुआ पुरुष पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर पाता।' यह दृष्टान्त दिया गया है।

दूसरा उल्लेख समयसार कलश 110 का तीसरा चरण है। इसमें बतलाया है कि आत्मा में अपनी पुरुषार्थहीनता के कारण जो कर्म (भावकर्म) प्रगट होता है, वह नये कर्मबन्ध का हेतु (निमित्त) है।

तीसरा उल्लेख पंचाध्यायी पृ० 159 के विशेषार्थ का है। इसमें कर्म की निमित्तता को स्वीकार कर व्यवहार कर्तारूप से उसका उल्लेख करके, मन-वाणी और श्वासोच्छ्वास के प्रति जीव का भी व्यवहार कर्ता रूप से उल्लेख किया गया है।

चौथा उल्लेख इष्टोपदेश श्लोक 31 की संस्कृत टीका से उद्धृत किया गया है। इसमें कहीं (अपने परिणाम विशेष में) कर्म की और कहीं (अपने परिणाम विशेष में) जीव की बलवत्ता स्वीकार की गई है।

पाँचवाँ उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक का है। इसमें जीव के चतुर्गतिपरिभ्रमण में कर्मोदय की हेतुता और उसकी विश्रान्ति में कर्म के उदयाभाव को हेतुरूप से स्वीकार किया गया है।

छठा उल्लेख उपासकाध्ययन का है। इसमें व्यवहारनय से जीव और कर्म को परस्पर प्रेरक बतलाया गया है। इसकी पुष्टि नौ और नाविक के दृष्टान्त द्वारा की गई है। सातवाँ उद्धरण भी उपासकाध्ययन का ही है। इसमें अग्नि के संयोग को निमित्त कर गरम हुए जल के दृष्टान्त द्वारा कर्म को निमित्त कर जीव में संक्लेश भाव को स्वीकार किया गया है।

आठवाँ उदाहरण आत्मानुशासन का है। इसमें व्यवहारनय से कर्म को ब्रह्मा बतलाकर संसार परिपाटी उसका फल बतलाया गया है।

अपने पक्ष के समर्थन में अपर पक्ष ने ये आठ प्रमाण उपस्थित किये हैं। इन सब द्वारा किस कार्य में कौन किस रूप में निमित्त है, इसका व्यवहारनय से निर्देश किया गया है। इसको स्पष्टरूप से समझने के लिये समयसार का यह वचन पर्याप्त है—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो॥ 108॥

जिस प्रकार राजा व्यवहार से प्रजा के दोष-गुण का उत्पादक कहा गया है, उसी प्रकार जीव व्यवहार से पुद्गल द्रव्य के गुणों का उत्पादक कहा गया है॥ 108॥

आशय यह है कि यथार्थ में प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है और अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। फिर भी लोक में निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री की अपेक्षा यह कहा जाता है कि—'इसने यह कार्य किया।' पूर्व में अपर पक्ष ने जो आठ आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सब व्यवहारनय के वचन हैं, अतः उन द्वारा यही सूचित किया गया है कि किस कार्य में कौन निमित्त है। प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री की युति नियम से होती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उपादान जैसे अपने कार्य में स्वयं व्यापारवान् होता है, वैसे बाह्य सामग्री उसके कार्य में व्यापारवान् नहीं होती, यह सिद्धान्त है। इसे हृदयंगम करके यथार्थ का निर्णय करना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ 12॥

जीव के द्वारा किये गये परिणाम को निमित्तमात्र करके, उससे भिन्न पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाते हैं॥ 12॥

यहाँ 'जीवकृतं' और 'स्वयमेव' ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों की उत्पत्ति में यद्यपि कर्मोदय निमित्त है, फिर भी उन्हें जीवकृत कहा गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस द्रव्य में जो कार्य होता है, उसका मुख्य (निश्चय-यथार्थ) कर्ता वही द्रव्य होता है, निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री नहीं। उसे कर्ता कहना उपचार कथन है। जिस द्रव्य में जो कार्य होता है, उसका मुख्य कर्ता वह द्रव्य तो है ही, साथ ही यह परनिरपेक्ष होकर ही उसे करता है, यह 'स्वयमेव' पद से सूचित होता है। प्रस्तुत प्रतिशंका में अपर पक्ष ने कर्मोदय को जीव की आन्तरिक योग्यता का सूचक स्वीकार कर लिया है, अत: इससे भी उक्त कथन की ही पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि उक्त आठों आगम प्रमाण अपर पक्ष के विचारों के समर्थक न होकर, समयसार के उक्त कथन का ही समर्थन करते हैं। अतएव उनसे हमारे विचारों की ही पुष्टि होती है।

अपर पक्ष ने इन प्रमाणों में एक प्रमाण '**कत्थ वि बलिओ जीवो**' यह वचन भी उपस्थित किया है और इसकी उत्थानिका में लिखा है कि — 'जब जीव बलवान् होता है, तो वह अपना कल्याण कर सकता है।'

यहाँ विचार यह करना है कि ऐसी अवस्था में जीव स्वयं अपना कल्याण करता है या बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है। यदि बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है, यह माना जाये तो 'जीव अपना कल्याण कर सकता है' ऐसा लिखना निरर्थक है और यदि वह स्वयं अपना कल्याण कर लेता है, यह माना जाये तो प्रत्येक कार्य अन्य के द्वारा होता है, यह लिखना निरर्थक हो जाता है। प्रकृत में इन दो विकल्पों के सिवाय तीसरा विकल्प तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसके स्वीकार करने पर बाह्य सामग्री अकिंचित्कर माननी पड़ती है। अतएव '**कत्थ वि बलिओ**' इत्यादि वचन को व्यवहारनय का कथन ही जानना चाहिए जो कर्म की बलवत्ता में जीव की पुरुषार्थ हीनता को और कर्म की हीनता में जीव की उत्कृष्ट पुरुषार्थता को सूचित करता है। स्पष्ट है कि उक्त कथन से यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जब जीव पुरुषार्थहीन होता है, तब स्वयं अपने कारण वह अपना कल्याण करने में असमर्थ रहता है और जब उत्कट पुरुषार्थी होकर आत्मोन्मुख होता है, तब वह अपना कल्याण कर लेता है।

इस प्रकार उक्त आठों आगम प्रमाण किस प्रयोजन से लिपिबद्ध किये गये हैं और उनका क्या आशय लेना चाहिए, इसका खुलासा किया।

5. सम्यक् नियति का स्वरूप निर्देश

अब हम अपर पक्ष की प्रतिशंका 3 को ध्यान में रखकर नियतिवाद के सम्यक् स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। इसका विशेष विचार यद्यपि पाँचवीं शंका के तीसरे दौर के उत्तर में करेंगे, फिर भी जब प्रस्तुत प्रतिशंका में इसकी चर्चा की है तो यहाँ भी उसका विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अपर पक्ष में सभी कार्यों का सर्वथा कोई काल नियत नहीं है, इसके समर्थन में तीन हेतु दिये हैं—

(1) आचार्य अमृतचन्द्र ने कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनय इन नयों की अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है, इसलिए सभी कार्यों का सर्वथा कोई काल नियत नहीं है।

(2) सभी कार्यों का काल सर्वथा नियत नहीं है, ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, और किसी ने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अत: आगे-पीछे करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(3) कर्म स्थितिबन्ध के समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्मवर्गणा अमुक समय उदय में आवेगी, किन्तु बन्धावलि के पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकाण्डकघात, उदीरणा, अविपाक निर्जरा आदि से कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदय आती है। इससे भी ज्ञात होता है कि सभी कार्य सर्वथा नियत काल में ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

ये तीन हेतु हैं। इनके आधार से अपर पक्ष सभी कार्यों के सर्वथा नियत काल का निषेध करता है। अब आगे इनके आधार से क्रम से विचार किया जाता है—

1. प्रथम तो प्रवचनसार में निर्दिष्ट कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनय के आधार से विचार करते हैं। यहाँ प्रथमत: यह समझने योग्य बात है कि वे दोनों सप्रतिपक्ष नययुगल हैं, अत: अस्तिनय-नास्तिनय इस सप्रतिपक्ष नययुगल के समान ये दोनों नययुगल भी एक ही काल में, एक ही अर्थ में विवक्षाभेद से लागू पड़ते हैं, अन्यथा वे नय नहीं माने जा सकते। अपर पक्ष इन नययुगलों को नयरूप से तो स्वीकार करता है, परन्तु कालभेद

आदि की अपेक्षा उनके विषय को अलग-अलग मानना चाहता है, इसका हमें आश्चर्य है। वस्तुतः कालनय और अकालनय—ये दोनों नय एक काल में, एक ही अर्थ को विषय करते हैं। **यदि इन दोनों में अन्तर है तो इतना ही कालनय काल की मुख्यता से उसी अर्थ को विषय करता है और अकालनय काल को गौणकर अन्य हेतुओं की मुख्यता से उसी अर्थ को विषय करता है। यहाँ अकाल का अर्थ है, काल के सिवाय अन्य हेतु।** इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर तत्त्वार्थसूत्र में '**अर्पितानर्पितसिद्धेः**' (5-32) यह सूत्र निबद्ध हुआ है। स्पष्ट है कि जो पर्याय, काल विशेष की मुख्यता से कालनय का विषय है; वही पर्याय काल को गौण कर अन्य हेतुओं की मुख्यता से अकालनय का विषय है। प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका में इन दोनों नयों का यही अभिप्राय लिया गया है।

इन नयों का प्रारम्भ करने के पूर्व यह प्रश्न उठा कि आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह आत्मा चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों को ग्रहण करनेवाले अनन्त नय हैं और उनमें व्याप्त होकर रहनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से वह जाना जाता है (प्रवचनसार परिशिष्ट)। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ जिन 47 नयों का निर्देश किया गया है, उनके विषयभूत 47 धर्म एक साथ एक आत्मा में उपलब्ध होते हैं, अन्यथा उन नयों में एक साथ श्रुतज्ञान प्रमाण की व्याप्ति नहीं बन सकती। अतएव प्रकृत में कालनय और अकालनय के आधार से तो यह सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि सब कर्मों का सर्वथा कोई नियत काल नहीं है। प्रत्युत इनके आधार से यही सिद्ध होता है कि कालनय की विषयभूत वस्तु ही, उसी समय विवक्षाभेद से अकालनय की भी विषय है। अतएव सभी कार्य अपने-अपने काल में नियतक्रम से ही होते हैं, ऐसा निर्णय करना ही सम्यक् अनेकान्त है।

यह तो कालनय और अकालनय की अपेक्षा विचार है। नियतिनय और अनियतिनय की अपेक्षा विचार करने पर भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृत में द्रव्यों की कुछ पर्यायें क्रमनियत हों और कुछ पर्यायें अनियतक्रम से होती हों, यह अर्थ इन नयों का नहीं है। यदि यह अर्थ इन नयों का लिया जाता है तो ये दोनों सप्रतिपक्ष नय नहीं बन सकते। अतएव विवक्षाभेद से ये दोनों नय एक ही काल में, एक ही अर्थ को विषय करते हैं, यह अर्थ ही प्रकृत में इन नयों का लेना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार में इन नयों का

जो स्पष्टीकरण किया है, उससे भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। उनके उक्त कथन के अनुसार **नियति पद का अर्थ है, द्रव्य की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहनेवाला त्रिकाली अन्वयरूप द्रव्यस्वभाव और अनियति पद का अर्थ है, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील पर्याय स्वभाव।** '**उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्**' (त०सू० 5-30) तथा '**सद्द्रव्यलक्षणम्**' (त०सू० 5-29) इन आगम वचनों के अनुसार भी प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक समय में जहाँ उक्त दोनों प्रकार के स्वभावों को लिये हुए हैं, वहाँ विवक्षा भेद से उसे (द्रव्य को) ग्रहण करनेवाले, ये दोनों नय हैं। नियतिनय प्रत्येक द्रव्य के द्रव्यस्वभाव को विषय करता है और अनियतिनय प्रत्येक द्रव्य के पर्याय स्वभाव को विषय करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अतएव उक्त दोनों नयों के आधार से भी यह सिद्ध नहीं होता कि द्रव्यों की कुछ पर्यायें क्रमनियत होती हैं और कुछ पर्यायें अनियत क्रम से होती हैं, प्रत्युत इन नयों के स्वरूप और विषय पर दृष्टिपात करने से यही सिद्ध होता है कि धर्मादि द्रव्यों के समान जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की भी सभी पर्यायें अपने-अपने काल में नियतक्रम से ही होती हैं। **सत् का अर्थ ही यह है कि जिस काल में जो जिसरूप में सत् है, उस काल में वह उस रूप में स्वरूप से स्वतःसिद्ध स्वयं सत् है। उसकी पर से प्रसिद्धि करना, यह तो मात्र व्यवहार है,** जो मात्र इस तथ्य को सूचित करता है कि विवक्षित समय में विवक्षित द्रव्य जिस रूप में सत् है, उससे अगले समय में सद्रूप में वह किस प्रकार का होगा। कारण-कार्यभाव की चरितार्थता भी इसी व्यवहार को प्रसिद्ध करने में है। उससे अन्य प्रयोजन फलित करना, यह तो सत् के स्वरूप में हस्तक्षेप करने के समान है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्य पर दृष्टिपात कर हृदय से इस बात को स्वीकार कर लेगा कि जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में जिस देश में जिस विधि से होना निश्चित है, उस द्रव्य की वह पर्याय उस काल में उस देश में उस विधि से नियम से होती है।

2. अपर पक्ष का अपने पक्ष के समर्थन में दूसरा तर्क है कि सभी कार्यों का काल सर्वथा नियत है ऐसा प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होता। इसके साथ उस पक्ष का यह भी कहना है कि उनका किसी ने कोई क्रम भी नियत नहीं किया है, अतः कौन कार्य पहले होनेवाला, बाद में हुआ और बाद में होनेवाला, पहले हो गया - यह प्रश्न ही नहीं उठता।

यह अपर पक्ष का अपने कथन के समर्थन में वक्तव्य का सार है। इस द्वारा अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में दो तर्क उपस्थित किये हैं। प्रथम तर्क को उपस्थित कर वह अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष (जो परोक्ष है) द्वारा यह दावा करता है कि वह अपने उक्त

ज्ञान द्वारा द्रव्य में अवस्थित कार्यकरणक्षम उस योग्यता का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है, जिसे सभी आचार्यों ने अतीन्द्रिय कहा है। किन्तु उस पक्ष का ऐसा दावा करना उचित नहीं है, क्योंकि सभी आचार्यों ने एक स्वर से कार्य को हेतु मानकर उस द्वारा विवक्षित कार्य करने में समर्थ अन्तरंग योग्यता के ज्ञान करने का निर्देश किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 237 में लिखते हैं—

तत्रापि हि कारणं कार्येऽनुपक्रियमाणं यावत्प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्य से उपक्रियमाण न होता हुआ कारण, जब तक प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है, तब तक सबको क्यों उत्पन्न नहीं करता – ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इस उल्लेख में योग्यता को परोक्ष मानकर ही यह प्रश्न किया गया है कि कार्य कारण का तो उपकार करता नहीं, फिर भी वह प्रतिनियत कार्य को ही क्यों उत्पन्न करता है, सब कार्यों को क्यों उत्पन्न नहीं करता? स्पष्ट है कि इस उल्लेख में प्रतिनियत कार्य द्वारा कारण में निहित प्रतिनियत कार्यकरणक्षम योग्यता का ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार प्रकृत में कार्यहेतु को ही मान्यता दी गई है, हमारे या अपर पक्ष के प्रत्यक्ष प्रमाण को नहीं।

स्वामी समन्तभद्र तो इसी तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दों में सूचित करते हुए स्वयंभूस्तोत्र में सुपार्श्व जिनकी स्तुति के प्रसंग से कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥ 3॥

हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। किन्तु मैं इसे कर सकता हूँ, ऐसे विकल्प से पीड़ित हुआ प्राणी बाह्य सामग्री को मिलाकर भी कार्यों के करने में समर्थ नहीं होता। हे जिन! आपने यह ठीक ही कहा है॥ 3॥

इसमें भी यही बतलाया गया है कि कार्य को देखकर ही यह अनुमान किया जाता है कि इस कारण में इस काल में इस कार्य को उत्पन्न करने की योग्यता रही है, तभी यह कार्य हुआ है।

यद्यपि कहीं-कहीं कारण को देखकर भी कार्य का अनुमान किया जाता है, यह सच है, परन्तु इस पद्धति से कार्य का ज्ञान वहीं पर सम्भव है, जहाँ पर विवक्षित कार्य के अविकल कारणों की उपस्थिति की सम्यक् जानकारी हो और साथ ही उससे भिन्न कार्य के कारण उपस्थित न हों। इतने पर भी इस कारण में इस कार्य के करने की आन्तरिक योग्यता है, ऐसा ज्ञान तो अनुमान प्रमाण से ही होता है। अत: सभी कार्यों का काल सर्वथा नियत नहीं है, ऐसा दावा अपर पक्ष अपने प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर तो त्रिकाल में कर नहीं सकता।

अब रह गया यह तर्क 'कि किसी ने कार्यों का कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अत: आगे-पीछे करने का प्रश्न ही नहीं उठता।' सो यह तर्क पढ़ने में जितना सुहावना लगता है, उतना यथार्थता को लिये हुए नहीं है, क्योंकि हमारे समान सभी श्रुतज्ञानी '**जं जस्स जम्मि देसे**' इत्यादि तथा '**पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं**' इत्यादि श्रुति के बल से यह अच्छी तरह से जानते हैं कि जो कार्य जिस काल में और जिस देश में जिस विधि से होता है, वह कार्य उस काल में और उस देश में उस विधि से नियम से होता है, इसमें इन्द्र, चक्रवर्ती और स्वयं तीर्थंकर भी परिवर्तन नहीं कर सकते। अतएव श्रुति के बल पर हमारा ऐसा जानना प्रमाण है। और वह श्रुति दिव्यध्वनि के आधार से लिपिबद्ध हुई है, इसलिए दिव्यध्वनि के बल पर वह श्रुति भी प्रमाण है। और वह दिव्यध्वनि केवलज्ञान के आधार पर प्रवृत हुई है, इसलिए केवलज्ञान के बल पर दिव्यध्वनि भी प्रमाण है और केवलज्ञान की ऐसी महिमा है कि वह तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को वर्तमान के समान जानता है। इसलिए केवलज्ञान प्रमाण है। यहाँ यह तो है कि प्रत्येक पदार्थ का जिस काल में और जिस देश में जिस विधि से परिणमन होने का नियम है, वह स्वयं होता है; कुछ केवलज्ञान के कारण नहीं होता। परन्तु साथ में यह भी नियम है कि प्रत्येक पदार्थ का जब जैसे परिणमन होने का नियम है, उसे केवलज्ञान उसी प्रकार जानता है। ऐसा ही इनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। अत: कार्यों का किसी ने कोई क्रम नियत नहीं किया, यह लिखकर सम्यक् नियति का निषेध करना उचित नहीं है। एक ओर तो अपर पक्ष 'कार्यों का किसी ने कोई क्रम नियत भी नहीं किया' यह लिखकर कार्यों का आगे-पीछे होना मानना नहीं चाहता और दूसरी ओर उत्कर्षण आदि के द्वारा कर्मवर्गणाओं का आगे-पीछे उदय में आना भी स्वीकार करता है। यह क्या है ? इसे उस पक्ष की मान्यता की विडम्बना ही कहनी चाहिए। स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने 'सभी कार्यों का काल सर्वथा नियत नहीं है' इत्यादि लिखकर जो सभी कार्यों के क्रम

नियमितपने का निषेध किया है, वह उक्त प्रमाणों के बल से तर्क की कसौटी पर कसने पर यथार्थ प्रतीत नहीं होता।

3. अपर पक्ष ने अपने तीसरे हेतु में कर्मस्थिति आदि के आधार से विचार कर यह निष्कर्ष फलित करने की चेष्टा की है कि बन्ध के समय जो स्थितिबन्ध होता है, उसमें बन्धावलि के बाद उत्कर्षणादि देखे जाते हैं, अतः जो कार्य जिस समय होना है, उसे आगे-पीछे किया जा सकता है। यद्यपि इस विषय पर विशेष विचार शंका पाँच के अन्तिम उत्तर में करनेवाले हैं। यहाँ तो मात्र इतना ही सूचित करना पर्याप्त है कि सत्ता में स्थित जिस कर्म का जिस काल में जिसको निमित्तकर उत्कर्षण आदि होना नियत है, उस कर्म का उस काल में उसको निमित्तकर ही वह होता है, अन्य का नहीं, ऐसी बन्ध के समय ही उसमें योग्यता स्थापित हो जाती है। कर्मशास्त्र में कर्म की बन्ध, उदय और उत्कर्षणादि जो दस अवस्थाएँ बतलाई हैं, वे इसी आधार पर बतलाई गई हैं। हाँ, जिस व्यवस्था को कर्मशास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया है, कर्म में ऐसे किसी कार्य का केवल बाह्य सामग्री के बल पर अपर पक्ष होना सिद्ध कर सके तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि यह कार्य बिना उपादानशक्ति के केवल बाह्य सामग्री के बल पर कर्म में हो गया। व्यवस्था, व्यवस्था है। व्यवस्था के अनुसार कार्य का होना अनियम में नहीं आता। कर्मशास्त्र के प्रगाढ़ अभ्यास का हम दावा तो नहीं करते। परन्तु कर्मशास्त्र के थोड़े-बहुत अभ्यास के बल पर इतना अवश्य ही निर्देश कर देना चाहते हैं कि कर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार जिस कर्म में जिस समय जो कार्य होता है, वह नियमित क्रम से ही होता है। अतः कर्मशास्त्र के अनुसार किसी भी कार्य को आगे-पीछे होने का दावा करना, किसी भी अवस्था में उचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जिन तीन हेतुओं के आधार से अपर पक्ष ने सम्यक् नियति का विरोध किया है, वे तीनों हेतु यथार्थ कैसे नहीं हैं, इसका आगम के आधार से यहाँ विचार किया। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि सम्यक् नियति आगमसिद्ध है, अन्यथा न तो पदार्थव्यवस्था ही बन सकती है और न ही कार्य-कारणव्यवस्था ही बन सकती है।

6. प्रसंग से प्रकृतोपयोगी नयों का खुलासा

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने नयों की चर्चा करते हुए व्यवहारनय को असद्भूत मानने से अस्वीकार किया है। उस पक्ष का ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि जितने प्रकार के

व्यवहारनय आगम में बतलाये गये हैं, वे सब सद्भूत ही हैं। यह प्रश्न अनेक प्रसंगों पर अनेक प्रश्नों में उठाया गया है। यदि अपर पक्ष आगम पर दृष्टिपात करता तो उसे स्वयं ज्ञात हो जाता कि आगम में व्यवहारनय के जो चार भेद किये हैं, उनमें से दो सद्भूत व्यवहारनय के भेद हैं और दो असद्भूत व्यवहारनय के भेद हैं। जहाँ प्रत्येक द्रव्य को व्यवहारनय से अनित्य कहा है, वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनय से ही कहा गया है, जिसे आगम पद्धति में पर्यायार्थिक निश्चयनयरूप से स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ किसी एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार किया गया है, वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनय का विषय न होकर असद्भूत व्यवहारनय का ही विषय है। कारण कि एक द्रव्य के कार्य का कारण धर्म दूसरे द्रव्य में रहता हो, यह त्रिकाल में सम्भव नहीं है। अतः एक द्रव्य के कार्य का दूसरे द्रव्य को निमित्त अर्थात् कारण कहना उपचरित ही ठहरता है। यही कारण है कि आलापपद्धति में असद्भूत व्यवहार का लक्षण करते हुए लिखा है—

अन्यत्र प्रसद्धिस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः। उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्म का अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार का नाम ही उपचार है। उपचार के बाद भी जो उपचार करता है, वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है। (देखो, समयसार गाथा 56 की टीका, आलापपद्धति तथा नयचक्रादिसंग्रह, पृष्ठ 79, गाथा 223)

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि प्रत्येक द्रव्य के गुण-धर्म उसके उसी में रहते हैं। विचार कीजिए कि कुम्भकार भिन्न वस्तु है और मिट्टी भिन्न वस्तु है। यदि मिट्टी के किसी धर्म को कुम्भकार में या कुम्भकार के किसी धर्म को मिट्टी में परमार्थ से स्वीकार किया जाता है तो इन दोनों में एकता प्राप्त होती है। किन्तु मिट्टी अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें कुम्भकार के स्वचतुष्टय का अत्यन्त अभाव है। उसी प्रकार कुम्भकार अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें मिट्टी के स्वचतुष्टय का अत्यन्त अभाव है। ऐसी अवस्था में यदि घट का कर्ता कुम्भकार को कहा जाता है तो घट का कर्ता धर्म कुम्भकार में आरोपित ही तो मानना पड़ेगा और इसी प्रकार कुम्भकार का कर्म यदि घट को कहा जाता है तो कुम्भकार का कर्मधर्म घट में आरोपित ही तो मानना पड़ेगा। यही कारण है कि हमने सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को असद्भूतव्यवहारनय का विषय बतलाकर उसे उपचरित ही

प्रसिद्ध किया है। नय एक विकल्प है। वह सद्भूत को तो विषय करता ही है। काल प्रत्यासत्ति आदि की अपेक्षा जिसमें निमित्त व्यवहार या नैमित्तिक व्यवहार किया गया है या निक्षेप व्यवस्था के अनुसार जो नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप का विषय है, उसे भी विषय करता है।

अथवा नैगमनय के स्वरूप द्वारा असद्भूत व्यवहारनय को समझा जा सकता है। जिस पर्याय का संकल्प है, वह वर्तमान में अनिष्पन्न है, फिर भी उसके आलम्बन से संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाले नय को नैगमनय कहा है। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय इष्टार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ है, इसीलिए उसे सम्यक् नयों में परिगणित किया है।

भेद द्वारा वस्तु को ग्रहण करना जहाँ सद्भूत व्यवहारनय कहा गया है, वहाँ उसकी विवक्षाभेद से निश्चयनय संज्ञा भी आगम में प्रतिपादित की गई है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को (दो द्रव्यों में) बतलानेवाला व्यवहारनय असद्भूत व्यवहारनय ही है, वह किसी भी अवस्था में निश्चय संज्ञा को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं, अतएव व्यवहार कहकर भेदव्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार, इन दोनों को एक कोटि में रखकर प्रतिपादन करना उचित नहीं है।

ज्ञेय स्वरूप से ज्ञेय है और ज्ञायक स्वरूप से ज्ञायक है। ये आरोपित धर्म नहीं है, अतः इनका सम्बन्ध कहना भले ही व्यवहार (उपचार) होओ, इसमें बाधा नहीं, परन्तु हैं ये दोनों धर्म अपने-अपने में सद्भूत ही, असद्भूत नहीं। किन्तु ऐसी बात निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के विषय में नहीं है। कुम्भकार स्वरूप से घट का निमित्त नहीं है और न ही घट (मिट्टी) स्वरूप से कुम्भकार का कर्म (नैमित्तिक) ही है। फिर भी अन्य के धर्म का अन्य में आरोप करके अर्थात् मिट्टी के कर्ता धर्म का कुम्भकार में और कुम्भकार के कर्म धर्म का घट में आरोप करके कुम्भकार को घट का कर्ता और घट को कुम्भकार का कर्म कहना असद्भूत व्यवहार ही है। यदि यह सद्भूत व्यवहार होता तो विवक्षाभेद से निश्चय संज्ञा को भी प्राप्त होता। किन्तु यह व्यवहार असद्भूत ही है, अतएव यह विवक्षाभेद से निश्चय संज्ञा को प्राप्त करने का भी अधिकारी नहीं और इस अपेक्षा से अपर पक्ष द्वारा दिया गया नेत्र का उदाहरण प्रकृत में अक्षरशः लागू पड़ता है। नेत्र रूप को ही जानता है, रस को नहीं। फिर भी उसे रस को जाननेवाला कहा जायेगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा। उसी प्रकार कुम्भकार अपने योग और विकल्प का ही कर्ता है, घट का नहीं, फिर भी उसे घट का कर्ता कहा जायेगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा, क्योंकि निश्चय से जैसे नेत्र, रस को जानने में असमर्थ

है; उसी प्रकार कुम्भकार भी निश्चय से घट की क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ है।

इस प्रकार नयों का प्रसंग उपस्थित कर अपर पक्ष ने जो हमारे 'दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं।' इस कथन पर टीका की है, वह कैसे आगम विरुद्ध है, इसका विचार किया।

7. कर्ता-कर्म आदि का विचार

आगे अपर पक्ष ने कर्ता-कर्म भाव और निमित्त-नैमित्तिक भाव की चर्चा उपस्थित कर अपने उन विचारों को यहाँ भी दुहरा दिया है, जिनकी विशेष चर्चा शंका 5 के तीसरे दौर में की है। इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने लिखा है —

'इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्य की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त कारण या निमित्त कर्ता को सहकारी कारण या सहकारी कर्ता के रूप में सार्थक (उपयोगी) मानता है, वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कहकर उक्त कार्य में अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादान की अपनी सामर्थ्य से स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्ति में निमित्त की कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्य की निष्पत्ति उपादान में ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, फिर भी उपादान की उस कार्यरूप परिणति में निमित्त की अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादान की जो परिणति आगम में स्व-परप्रत्यय स्वीकार की गई है, वह परिणति उपादान की अपनी परिणति होकर भी निमित्त की सहायता से ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूँकि आत्मा के रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमण को उसका (आत्मा का) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्मा का अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मों के उदय की सहायता से ही हुआ करता है।' आदि।

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का अंश है। इसमें उन सब बातों का उल्लेख हो गया है, जिन्हें अपर पक्ष सिद्ध करने के प्रयत्न में है। आगे इसे ध्यान में रखकर पूरे वक्तव्य पर विचार किया जाता है—

यह तो अपर पक्ष ही स्वीकार करेगा कि एक अखण्ड सत् को भेद विवक्षा में तीन भागों में विभक्त किया गया है — द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत्। अपर पक्ष द्रव्यसत् और गुणसत् के स्वरूप को तो स्वतः सिद्ध मानने के लिए तैयार है, किन्तु पर्यायसत् के विषय में उसका कहना है कि वह पर की सहायता से अर्थात् पर के द्वारा उत्पन्न होता है। उपादान तो स्व है, और अभेद विवक्षा में जो उपादान है, वही उपादेय है, इसलिए वह अपने से, अपने में, अपने द्वारा, आप कर्ता होकर कर्मरूप से उत्पन्न हुआ, यह कथन यथार्थ बन जाता है। किन्तु जिस बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार किया गया है, वह (वह स्वयं पर के कार्य का स्वरूप से निमित्तकारण नहीं है, यह बात यहाँ ध्यान में रखना चाहिए।) पर है, अतः उसमें यह कार्य हुआ, इसे तो यथार्थ न माना जाये और उसके द्वारा आप कर्ता होकर पर के इस कार्य को उसने उत्पन्न किया, इसे यथार्थ कैसे माना जा सकता है, अर्थात् त्रिकाल में यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों में सर्वथा सत्ताभेद है, प्रदेशभेद है, कर्ता आदि का सर्वथा भेद तो है ही। पर के द्वारा कार्य हुआ या पर की सहायता से कार्य हुआ, इसे आगम प्रमाण से यदि हम असद्भूत व्यवहार कथन या उपचरित कथन बतलाते हैं तो अपर पक्ष उसे निरर्थक या निरुपयोगी लिखने में ही अपनी चरितार्थता समझता है, इसका हमें आश्चर्य है। जहाँ उपादान और उपादेय में भेद विवक्षा करके उपादान से उपादेय की उत्पत्ति हुई, यह कथन ही व्यवहार कथन ठहरता है, वहाँ पर के द्वारा उससे सर्वथा भिन्न पर के कार्य की उत्पत्ति होती है, इसे असद्भूत व्यवहार कथन न मानकर सद्भूत व्यवहार या निश्चय कथन कैसे माना जा सकता है, इसका स्वमत के समर्थन का पक्ष छोड़कर अपर पक्ष ही विचार करे। क्या यह अपर पक्ष आगम से बतला सकता है कि एक द्रव्य के कार्य के कर्ता आदि कारण धर्म, दूसरे द्रव्य में वास्तव में पाये जाते हैं? यदि नहीं तो वह पक्ष कुम्भकार घट का कर्ता है, इस कथन को असद्भूतव्यवहारनय (उपचरितोपचारनय) का कथन मानने में क्यों हिचकिचाता है? पहले तो उसे इस तथ्य को निःसंकोचरूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और फिर इसके बाद इसकी सार्थकता या उपयोगिता क्या है, इस पर विचार करना चाहिये। हमें आशा है कि यदि वह इस पद्धति से विचार करेगा तो उसे इस कथन की सार्थकता और उपयोगिता भी समझ में आ जायेगी। **यह कथन इष्टार्थ अर्थात् निश्चय का ज्ञान कराने में समर्थ है, इससे इसकी सार्थकता या उपयोगिता सिद्ध होती है, इससे नहीं कि वह स्वयं अपने में यथार्थ कथन है। इसे यथार्थ कथन मानना अन्य बात है और सार्थक अर्थात् उपयोगी मानना अन्य बात है। यह कथन उपयोगी तो है, पर यथार्थ नहीं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।**

आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 151 में सहकारी कारण का और कार्य का लक्षण करते हुए लिखा है—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति।

जो जिसके अनन्तर नियम से होता है, वह उसका सहकारी कारण है और इतर कार्य है।

इसका तात्पर्य ही यह है कि जब जो कार्य होता है, तब उसका जो सहकारी कारण कहा गया है, वह नियम से रहता है – ऐसी इन दोनों में कालप्रत्यासत्ति है। यह यथार्थ है। अर्थात् उस समय विवक्षित कार्य का होना भी यथार्थ है और जिसमें सहकारी कारणता स्थापित की गई है, उसका होना भी यथार्थ है। यह इन दोनों की कालप्रत्यासत्ति है।

किन्तु इसके स्थान में उक्त कथन का यदि यह अर्थ किया जाये कि जिसे सहकारी कारण कहा गया है, वह अपने व्यापार द्वारा अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न करता है तो उक्त कथन का ऐसा अर्थ करना यथार्थ न होकर, उपचरित ही होगा। आचार्य ने सहकारी कारण का लक्षण करते हुए जो वाक्य रचना निबद्ध की है, थोड़ा उस पर दृष्टिपात कीजिए। वे सहकारी कारण का यह लक्षण नहीं लिख रहे हैं कि जिसका व्यापार जिसे उत्पन्न करता है, वह सहकारी कारण है। किन्तु इसके स्थान में यह लिख रहे हैं कि जिसके अनन्तर जो नियम से होता है, वह सहकारी कारण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य सामग्री का व्यापार अन्य द्रव्य में कार्य को त्रिकाल में उत्पन्न नहीं करता। यदि उसे अन्य द्रव्य के कार्य का सहकारी कारण कहा भी गया है तो केवल इसलिए कि उसके अनन्तर अन्य द्रव्य का वह कार्य नियम से होता है।

इससे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त कथन का क्या तात्पर्य है, यह आसानी से समझ में आ जाता है। समयसार कलश में जो '**न जातु**' इत्यादि कलश निबद्ध किया गया है, वह भी इसी अभिप्राय से निबद्ध किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमाता नहीं। इसमें आया हुआ '**परसंग**' पद ध्यान देने योग्य है। अपने रागरूप परिणाम के कारण आत्मा पर की संगति अर्थात् पर में रागबुद्धि करता है और इसलिए वह पर के संयोग में सुख-दुःखादिरूप फल का भोक्ता होता है। यदि वह पर में रागबुद्धि करना छोड़ दे तो पर के संयोग में जो उसे सुख-दुःखादि फल का भागी होना पड़ता है, उससे बच जाये। स्पष्ट है कि यहाँ पर को सुख-दुःखादि रूप परिणमानेवाला नहीं कहा गया है, किन्तु पर की संगति करनेरूप अपने अपराध को ही सुख-दुःखादि का मूल हेतु कहा गया है।

समयसार की '**जीवपरिणामहेदुं**' इत्यादि 80 वीं गाथा भी यही प्रगट करती है कि किसकी संगति करने के फलस्वरूप किसकी कैसी परिणति होती है। वह पर का दोष नहीं है, अपना ही दोष है, इस तथ्य को सूचित करने के लिए '**ण वि कुव्वइ**' इत्यादि 81वीं गाथा लिखी है। और अन्त में '**एएण कारणेण**' इत्यादि 82 वीं गाथा द्वारा उपसंहार करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सब द्रव्य अपने-अपने परिणाम के ही वास्तव में कर्ता हैं, कोई किसी दूसरे के परिणाम का वास्तविक कर्ता नहीं है। फिर भी यदि अपर पक्ष सहकारी कारण का यह अर्थ करता है कि वह दूसरे द्रव्य की क्रिया को सहायक रूप में करता है तो उसे अपने इस सदोष विचार के संशोधन के लिए समयसार गाथा 85-86 पर दृष्टिपात करना चाहिए और यदि वह उसका काल प्रत्यासत्तिवश '**यदनन्तरं यद्भवति**' इतना ही अर्थ करता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा अर्थ करना आगमसम्मत है। '**जीवम्हि हेदुभूदे**' इत्यादि गाथा में आया हुआ '**उवयारमत्तेण**' पद 'असद्भूतव्यवहार' इस अर्थ का सूचक है, जैसा कि हम आलापपद्धति का उद्धरण उपस्थित कर पूर्व में ही सूचित कर आये हैं। पर द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य का वास्तविक निमित्त नहीं और न वह कार्य उसका नैमित्तिक है। यह व्यवहार है, जो असद्भूत है, यही बात '**उवयारमत्तेण**' इस पद द्वारा सूचित की गई है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 151 के उद्धरण का जो अभिप्राय है, इसका खुलासा हमने पूर्व में ही किया है। उससे अधिक उसका दूसरा आशय नहीं है।

मीमांसादर्शन शब्द को सर्वथा नित्य मानकर, सहकारी कारण से ध्वनि की प्रसिद्धि मानता है और फिर भी वह कहता है कि इससे शब्द अविकृतरूप से नित्य ही बना रहता है। अष्टशती (अष्टसहस्री, पृष्ठ 105) का '**तदसामर्थ्यमखण्डयत्**' इत्यादि वचन इसी प्रसंग में आया है। इस द्वारा भट्टाकलंकदेव ने मीमांसादर्शन पर दोष का आपादन किया है। इस द्वारा जैनदर्शन के सिद्धान्त का उद्घाटन किया गया है, ऐसा यदि अपर पक्ष समझता है तो उसे हम उस पक्ष की भ्रमपूर्ण स्थिति ही मानेंगे। हमें इसका दुःख है कि उसकी ओर से अपने पक्ष के समर्थन में ऐसे वचनों का भी उपयोग किया गया है। सर्वथा नित्यवादी मीमांसक यदि शब्द को सर्वथा नित्य मानता रहे, फिर भी वह उसमें ध्वनि आदि कार्य की प्रसिद्धि सहकारी कारणों से माने और ऐसा होने पर भी वह शब्दों में विकृति को स्वीकार न करे तो उसके लिए यही दोष तो दिया जायेगा कि सहकारी कारणों ने उसकी सामर्थ्य का यदि खण्डन नहीं किया है तो उन्होंने ध्वनि कार्य किया, यह कैसे कहा जा सकता है, वे तो अकिंचित्कर ही बने रहे। स्पष्ट है कि इस वचन से अपर पक्ष के अभिप्राय की अणुमात्र भी पुष्टि नहीं होती।

अपर पक्ष ने अष्टशती के उक्त वचन में आये हुए '**तत्**' पद का अर्थ उपादान जानबूझ कर किया है। जब कि उसका अर्थ 'सर्वथा नित्य शब्द' है। यह सूचना हमने बुद्धिपूर्वक की है और इस अभिप्राय से की है कि जैनदर्शन में उपादान का अर्थ नित्यानित्य वस्तु लिया गया है। किन्तु मीमांसादर्शन शब्द को ऐसा स्वीकार नहीं करता।

अपर पक्ष ने समयसार गाथा 105 की आत्मख्याति टीका को उपस्थित कर जो अपने विचार की पुष्टि करनी चाही है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त टीका के अन्त में आये हुए '**स तूपचार एव न तु परमार्थः**' इस पद का अर्थ है—'वह विकल्प तो उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थ को विषय करनेवाला ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् यथार्थ अर्थ को विषय करनेवाला नहीं है।' किन्तु इसे बदलकर अपने पक्ष ने इस वाक्य का यह अर्थ किया है — 'आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना, यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा से ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेय भाव की अपेक्षा से नहीं है।' हमें आश्चर्य है कि अपर पक्ष ने उक्त वाक्य के प्रारम्भ में आये हुए '**सः**' पद का अर्थ 'विकल्प' न करके 'आत्मा द्वारा पुद्गल का कर्मरूप किया जाना' यह अर्थ कैसे कर लिया। अपर पक्ष को यह स्मरण रखना चाहिए कि निमित्त व्यवहार और नैमित्तिक व्यवहार उपचरित होता है और यह तब बनता है, जब पर ने पर के कार्य को किया - ऐसे विकल्प की उत्पत्ति होती है। यही तथ्य उक्त गाथा और उसकी टीका द्वारा प्रगट किया गया है।

अपर पक्ष ने '**यः परिणमति स कर्ता**' इत्यादि कलश को उद्धृत कर '**यः परिणमति**' पद का अर्थ किया है—'जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है।' जब कि इस पद का वास्तविक अर्थ है—'जो परिणमता है या परिणमन करता है।' उक्त पद में '**यः परिणमति**' पद है '**यत्परिणमनं भवति**' पद नहीं है, फिर नहीं मालूम, अपर पक्ष ने उक्त पद के यथार्थ अर्थ को न करके, स्वमति से अन्यथा अर्थ क्यों किया। स्पष्ट है कि वह पक्ष उपादान को यथार्थ कर्ता बनाये रखने में अपने पक्ष की हानि समझता है, तभी तो उस पक्ष के द्वारा इस प्रकार से अर्थ में परिवर्तन किया गया।

आगम में निमित्त व्यवहार या निमित्तकर्ता आदि व्यवहार को सूचित करनेवाले वचन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर उसी आगम में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये सब वचन असद्भूतव्यवहारनय को लक्ष्य में रखकर आगम में निबद्ध किये

गये हैं। (इसके लिये देखो समयसार गाथा 105 से 108 तथा उनकी आत्मख्याति टीका, बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 8 की टीका आदि।)

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आगम में उपादानकर्ता और उपादान कारण के लक्षण उपलब्ध होते हैं और साथ ही उन्हें यथार्थ कहा गया है; उस प्रकार आगम में निमित्तकर्ता या निमित्त कारण के न तो कहीं लक्षण ही उपलब्ध होते हैं और न ही कहीं उन्हें यथार्थ ही कहा गया है। प्रत्युत ऐसे अर्थात् निमित्तकर्ता या निमित्तकारणपरक व्यवहार को अनेक स्थलों पर अज्ञानियों का अनादि रूढ़ लोकव्यवहार ही बतलाया गया है। (देखो, समयसार गाथा 84 व उसकी दोनों संस्कृत टीकाएँ आदि)।

अपर पक्ष ने हमारे कथन को लक्ष्य कर जो यह लिखा है कि 'परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षण को सामान्यरूप से कर्ता का लक्षण मानकर निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा आगम में प्रतिपादित कर्तृकर्मभाव को उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए, आपके द्वारा निमित्तकर्ता को अकिंचित्कर (कार्य के प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है।'

किन्तु अपर पक्ष की हमारे कथन पर टिप्पणी करना इसलिए अनुचित है, क्योंकि परमागम में एक कार्य के दो कर्ता वास्तव में स्वीकार ही नहीं किये गये हैं। समयसार कलश में कहा भी है—

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्॥ 54॥

एक द्रव्य (कार्य) के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता॥ 54॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब एक कार्य के परमार्थरूप दो कर्ता ही नहीं हैं, ऐसी अवस्था में परमागम में दो कर्ताओं के दो लक्षण निबद्ध किया जाना, किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है, इसलिए प्रकृत में यही समझना चाहिए कि '**यः परिणमति स कर्ता**' इस रूप में कर्ता का जो लक्षण निबद्ध किया गया है, वह सामान्यरूप से भी कर्ता का लक्षण है और विशेषरूप से भी, क्योंकि जहाँ पर दो या दो से अधिक एक जाति की वस्तुएँ हों, वहाँ पर ही सामान्य और विशेष ऐसा भेद करना सम्भव है। यहाँ जब एक कार्य का कर्ता ही एक है तो एक कर्ता के दो लक्षण हो ही कैसे सकते हैं ? यही कारण है कि एक कार्य का एक कर्ता

होने से परमागम में कर्ता का एक ही लक्षण लिपिबद्ध किया गया है। निमित्तकर्ता वास्तव में कर्ता नहीं, इसलिए परमागम में उसका लक्षण भी उपलब्ध नहीं होता। वह तो व्यवहारमात्र है। अतएव इस सम्बन्ध में हमारा जो कुछ भी कथन है, वह यथार्थ है–ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में समयसार, गाथा 100 को उपस्थित किया है, किन्तु यह गाथा किस अभिप्राय से निबद्ध की गई है, इसके लिए समयसार, 107 गाथा अवलोकनीय है। उसके प्रकाश में इस गाथा को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा 100 में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो कुम्भकार के योग और विकल्प को घट का उत्पादक कहा है और आचार्य अमृतचन्द्र ने कुम्भकार के योग और विकल्प को जो निमित्त कर्ता कहा है, वह किस अभिप्राय से कहा है। गाथा 107 में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि आत्मा पुद्गल कर्म को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है, यह सब कथन व्यवहारनय का वक्तव्य है। गाथा 100 में तो मात्र निमित्त कर्ता के अर्थ में किस प्रकार का प्रयोग किया जाता है, यह बतलाया गया है। किन्तु गाथा 107 में ऐसा प्रयोग किस नय का विषय है, इसे स्पष्ट किया गया है। इस पर से भी अपर पक्ष के अभिप्राय की पुष्टि न होकर, हमारे ही अभिप्राय की पुष्टि होती है।

अपर पक्ष यह तो बतलाये कि जब जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है उसका कोई भी धर्म, जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है उसमें प्रविष्ट नहीं होता तो फिर वह उसका यथार्थ में निमित्त कर्ता–कारणरूप से कर्ता कैसे बन जाता है ? आगम में जबकि ऐसे कथन को उपचरित या उपचरितोपचरित स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया है तो अपर पक्ष को ऐसे आगम को मान लेने में आपत्ति ही क्या है। हमारी राय में तो उसे ऐसे कथन को बिना हिचकिचाहट के प्रमाण मान लेना चाहिए।

अपर पक्ष ने प्रमेयरत्नमाला समुद्देश 3 सू० 63 से '**अन्वय-व्यतिरेक**' इत्यादि वचन उद्धृत कर अपने पक्ष का समर्थन करना चाहा है, किन्तु इस वचन से भी इतना ही ज्ञात होता है कि जिसके अनन्तर जो होता है, वह उसका कारण है और इतर कार्य है। यही बात इसी सूत्र की व्याख्या में इन शब्दों में कही गई है—

तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वम्।

उसके अर्थात् कारण के होने पर कार्य का होना, यह तद्भावभावित्व है।

किन्तु यह सामान्य निर्देश है। इससे बाह्य सामग्री को उपचरित कारण क्यों कहा और आभ्यन्तर सामग्री को अनुपचरित कारण क्यों कहा, यह ज्ञान नहीं होता। इसका विचार तो उन्हीं प्रमाणों के आधार पर करना पड़ेगा, जिनका हम पूर्व में निर्देश कर आये हैं।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्य में एक काल में एक ही कारण धर्म होता है और उस धर्म के अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुम्भकार में जब अपनी क्रिया और विकल्प करने का कारण धर्म है, तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है; मिट्टी की घट निष्पत्तिरूप क्रिया नहीं करता। ऐसी अवस्था में कुम्भकार को घट का कर्ता उपचार से ही तो कहा जायेगा। और उस उपचार का कारण यह है कि जब कुम्भकार की विवक्षित क्रिया और विकल्प होता है, तब मिट्टी भी उपादान होकर घटरूप से परिणमती है। इस प्रकार कुम्भकार की विवक्षित क्रिया के साथ घट कार्य का अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है। यही कारण है कि कुम्भकार को घट का कर्ता उपचार से कहा गया है। किन्तु ऐसा उपचार करना तभी सार्थक है, जब वह यथार्थ का ज्ञान करावे; अन्यथा वह व्यवहाराभास ही होगा। यह वस्तुस्थिति का स्वरूप निर्देश है। इससे बाह्य सामग्री में अन्य द्रव्य के कार्य की कारणता काल्पनिक ही है, यह ज्ञान हो जाता है। फिर भी आगम में इस कारणता को काल्पनिक न कहकर जो उपचरित कहा है, वह सप्रयोजन कहा है। खुलासा पूर्व में ही किया है और आगे भी करेंगे।

धवला पु० 13 पृ० 349 का उद्धरण (जिसे अपर पक्ष ने प्रस्तुत किया है) संयोग की भूमिका में उपचरित अनुभाग का ही निरूपण करता है। प्रत्येक द्रव्य का वास्तविक अनुभाग क्या है, यह '**तत्थ असेसदव्वावगमो जीवाणुभागो**' इत्यादि वचन से ही जाना जाता है।

अपर पक्ष ने '**मुख्याभावे सति**' इत्यादि वचन को उपचार की व्याख्या माना है, जो अयुक्त है। इस वचन द्वारा तो मात्र उसकी प्रवृत्ति कहाँ होती है, यह बतलाया गया है। उपचार की व्याख्या उसी आलापपद्धति में इस प्रकार दी है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्म का अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

अपर पक्ष ने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है, इसके समर्थन में तीन उदाहरण दिये हैं, किन्तु उनका आशय क्या है, इसे समझना है। एक उदाहरण बालक का है। बालक में यथार्थ में सिंहपना तो नहीं है। हाँ जिस प्रकार सिंह में क्रौर्य-शौर्य गुण होता है, उसके समान जिस बालक में यह गुण उपलब्ध होता है, उस बालक में सिंह का उपचार किया जाता है। यहाँ तत्सदृश गुण उपचार का कारण है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिंह में जो गुण है, वही गुण बालक में तो नहीं है। फिर भी बालक को जो सिंह कहा गया है, वह केवल तत्सदृश गुण को देखकर ही कहा गया है। अतएव यह उपचार कथन ही है, वास्तविक नहीं। यह दृष्टान्त है; अब इसे दाष्टान्त पर लागू कीजिए।

प्रकृत में कार्य-कारणभाव का विचार प्रस्तुत है। कार्य एक है और कारण दो — एक बाह्य सामग्री, जो अपने स्वचतुष्टय द्वारा कार्य के स्वचतुष्टय को स्पर्श करने में सर्वथा असमर्थ है और दूसरी अन्त:सामग्री, जो कार्य के अव्यवहित प्राक् रूपस्वरूप है। ऐसी अवस्था में इन दोनों कारणों में कार्य का वास्तविक कारण कौन ? दोनों या एक ? इसे यथार्थरूप में समझने के लिए कारकों के स्वरूप पर दृष्टिपात करना होगा। कारक दो प्रकार के हैं — एक निश्चय कारक और दूसरे व्यवहार कारक। निश्चय कारक, जिस द्रव्य में कार्य होता है उससे अभिन्न होते हैं और व्यवहार कारक, जिस द्रव्य में कार्य होता है उससे भिन्न माने गये हैं। प्रत्येक द्रव्य में अपना कार्य करने में समर्थ उससे अभिन्न छह कारक नियम से होते हैं, इसको समझने के लिए पंचास्तिकाय गाथा 62 और उसकी टीका देखने योग्य है। इसकी उत्थानिका का निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम्।

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने-अपने स्वरूप के) कर्ता हैं, ऐसा यहाँ कहा है।

आगम में जहाँ स्वरूप प्राप्ति का निर्देश किया गया है, वहाँ यही कहा गया है।

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥1-113॥ *- अनगारधर्मामृत।*

स्वसंवेदन से सुव्यक्त हुआ यह आत्मा, स्वसंवेदनरूप अपने द्वारा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपनी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय ज्ञान और अन्त:करण ज्ञानरूप अपने से भिन्न होकर,

निर्विकल्पस्वरूप अपने में शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपने को ध्याता हुआ, उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होता है॥ 1-113॥

इसी तथ्य को परमात्मप्रकाश अध्याय एक में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ॥ 32॥

संसार, शरीर और भोगों में विरक्त मन हुआ जो जीव आत्मा को ध्याता है, उसकी बड़ी भारी संसाररूपी बेल छिन्न-भिन्न हो जाती है॥ 32॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक समय में निश्चय षट्कारकरूप से परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य, स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है। इसको विशदरूप से समझने के लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 410 का **'ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता'** यह वक्तव्य दृष्टिपथ में लेने योग्य है। इसमें स्पष्ट बतलाया है कि निश्चयनय से (यथार्थरूप से) विचार करने पर प्रत्येक द्रव्य में स्थितिरूप, गमनरूप और परिणमन आदि रूप जो भी कार्य होता है, उसे वह द्रव्य स्वयं अपने द्वारा अपने में आप कर्ता होकर करने में समर्थ है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप जो भी स्वरूप है, वह विस्रसा है। अभेद विवक्षा में ये तीनों एक हैं, भेदविवक्षा में ही ये तीन कहे जाते हैं।

इस पर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों जब कि द्रव्यस्वरूप हैं तो कालभेद से प्रत्येक द्रव्य अन्य-अन्य क्यों प्रतीत होता है, उसे जो प्रथम समय में है, वही दूसरे समय में रहना चाहिए? इसी प्रश्न का समाधान व्यवहारनय से करते हुए यह वचन लिखा है—

व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

व्यवहारनय से ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि व्यवहारनय के दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत व्यवहारनय में भेदविवक्षा मुख्य है और असद्भूतव्यवहारनय में उपचार विवक्षा मुख्य है। इससे दो तथ्य फलित होते हैं कि सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर, किस पर्याययुक्त द्रव्य के बाद अगले समय में किस पर्याययुक्त द्रव्य रहेगा, यह ज्ञात होता है कि असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर, बाह्य किस प्रकार के संयोग में किस प्रकार की पर्याययुक्त द्रव्य रहेगा, यह ज्ञात होता

है। यहाँ आचार्य विद्यानन्दि ने जो उत्पादादिक को व्यवहारनय से सहेतुक कहा है, उसका आशय भी यही है। इसी तथ्य को उन्होंने अष्टसहस्री पृष्ठ 112 में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसंगात्। एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तम्, विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादा-दित्रयव्यवस्थानात्। तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

स्वयं उत्पादशील है फिर भी उसमें यदि स्वभावान्तर की अपेक्षा मानी जाये तो जो स्वयं विनाशशील है, उसमें भी स्वभावान्तर की अपेक्षा मानने का प्रसंग आता है। इससे स्वयं स्थितिशील में स्वभावान्तर की अपेक्षा नहीं होती, यह कहा गया है, क्योंकि विस्रसा परिणमनशील पदार्थ में कारणान्तर की अपेक्षा किये बिना उत्पादादित्रय की व्यवस्था है; तद्विशेष में ही हेतु का व्यापार स्वीकार किया है।

यहाँ '**तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्**' इस वचन के तात्पर्य को समझने के लिए अष्टसहस्री पृष्ठ 150 के '**परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तः सामग्र्याः सुवर्णकारक -व्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते**' पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा कैसी अन्तः सामग्री और कैसी बाह्य सामग्री का सन्निपात होने पर कैसा उत्पाद होता है, यह बतलाया गया है। इससे यही ज्ञात होता है कि स्वभाव से द्रव्य उत्पादादि त्रय-स्वरूप होने के कारण अपने परिणामस्वभाव के आलम्बन द्वारा यद्यपि इन तीन रूप स्वयं परिणमता है, अन्य कोई उसे इनरूप परिणमाता नहीं है। फिर भी अन्तः-बाह्य सामग्री के किस रूप होने पर, किस रूप परिणमता है, इसकी प्रसिद्धि उससे होती है, अतः सद्भूत व्यवहारनय से अन्तः सामग्री को और असद्भूत व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को उसका उत्पादक कहा गया है। एक को दूसरे का उत्पादक कहना, यह व्यवहार है और स्वयं उत्पन्न होता है, कहना निश्चय है। अर्थात् निश्चयनय का विषय है।

यहाँ सद्भूत व्यवहारनय का खुलासा यह है कि उपादान और उपादेय का स्वरूप स्वतः सिद्ध होने पर भी यह नय उपादेय को उपादान सापेक्ष स्वीकार करता है।

असद्भूत व्यवहारनय का खुलासा यह है कि बाह्य सामग्री स्वरूप से अन्य के कार्य का निमित्त नहीं है, फिर भी यह नय उसे अन्य बाह्य सामग्री सापेक्ष स्वीकार करता है।

यहाँ इन दोनों व्यवहारनय में हमने उपचरितोपचार की विवक्षा नहीं की है। उसकी

विवक्षा में उपादान उपादेय का उत्पादक है, यह कथन उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय होगा और कुम्भकार घट का कर्ता है, यह कथन उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय ठहरेगा। **अन्यत्र जहाँ कहीं हमने उपादान से उपादेय की उत्पत्ति को यदि निश्चयनय का वक्तव्य कहा भी है, तो वहाँ अभेद विवक्षा में ही वैसा प्रतिपादन किया गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।**

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में जब हम बाह्य सामग्री की अपेक्षा विचार करते हैं तो विदित होता है कि कुम्भकार में जो षट् कारक धर्म हैं, वे अपने हैं; मिट्टी के नहीं। तथा मिट्टी में जो षट् कारक धर्म हैं, वे मिट्टी के हैं; कुम्भकार के नहीं। अतएव कुम्भकार को अपने कर्तादि धर्मों के कारण योग और विकल्प का कर्ता कहना तथा मिट्टी को अपने कर्तादि धर्मों के कारण घट का कर्ता कहना तो परमार्थभूत है। फिर भी जिस समय मिट्टी अपना घटरूप व्यापार करती है, उस समय कुम्भकार भी अपना योग और विकल्परूप ऐसा व्यापार करता है जो घट परिणाम के अनुकूल कहा जाता है। वस्तुतः यही कुम्भकार में घट के कर्तापने के उपचार का हेतु है। इसी तथ्य को समयसार गाथा 84 की आत्मख्याति टीका **'कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः'**—'कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार को करता हुआ' इन शब्दों में व्यक्त करती है। जैसे बालक सिंह का कार्य तो नहीं करता। फिर भी वह अपने क्रौर्य-शौर्य गुण के कारण सिंह कहने में आता है। यही उपचार है। वैसे ही कुम्भकार, मिट्टी में घटक्रिया तो नहीं करता। फिर भी वह मिट्टी द्वारा की जानेवाली घटक्रिया के समय अपनी योग और विकल्परूप ऐसी क्रिया करता है, जिससे उसे मिट्टी में घट क्रिया का कर्ता कहा जाता है। यही उपचार है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा आगम प्रमाणों के प्रकाश में इस तथ्य को ग्रहण करेगा।

अपर पक्ष ने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है, यह दिखलाने के लिए जो अन्य दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनका आशय भी यही है। अन्न अपने परिणाम लक्षण क्रिया का कर्ता है और प्राण अपने परिणाम लक्षण क्रिया के कर्ता हैं। ये परस्पर एक-दूसरे की क्रिया नहीं करते। फिर भी काल प्रत्यासत्ति वश यहाँ अन्न में प्राणों की निमित्तता उपचरित की गई है। अतएव अन्न जैसे प्राणों को उपचरित हेतु है, उसी प्रकार प्रकृत में जान लेना चाहिए। वचन में परार्थानुमान का उपचार क्यों किया जाता है, इसका खुलासा भी इससे हो जाता है और इस उदाहरण से भी यही ज्ञात होता है कि कुम्भकार वास्तव में घटोत्पत्ति का हेतु नहीं है।

अपर पक्ष ने अपने प्रकृत विवेचन में सबसे बड़ी भूल तो यह की है कि उसने बाह्य सामग्री को स्वरूप से अन्य के कार्य का निमित्त स्वीकार करके, अपना पक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उस पक्ष की ओर से ऐसा लिखा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त कथन को वास्तविक मानने पर अन्य द्रव्य के कार्य का कारण धर्म दूसरे द्रव्य में वास्तव में रहता है, यह स्वीकार करना पड़ता है और ऐसा स्वीकार करने पर दो द्रव्यों में एकता का प्रसंग उपस्थित होता है। अतएव अपर पक्ष को प्रकृत में यह स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य सामग्री को अन्य के कार्य का हेतु कहना, यह प्रथम उपचार है और उस आधार से उसे वही कहना या उसका कर्ता कहना, यह दूसरा उपचार है। '**अन्नं वै प्राणाः**' यह वास्तव में उपचरितोपचार का उदाहरण है। सर्व प्रथम तो यहाँ व्यवहार (उपचार) नय से अन्न में प्राणों की निमित्तता स्वीकार की गई है और उसके बाद पुनः व्यवहार (उपचार) नय का आश्रय कर अन्न प्राण ही है, ऐसा कहा गया है। यहाँ व्यवहार पद उपचार का पर्यायवाची है। अतएव आगम में जहाँ भी एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्य का व्यवहारनय से निमित्त कहा गया है, वहाँ उसे उस कार्य का उपचारनय से निमित्त कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

उपचार और व्यवहार, ये एकार्थवाची हैं, इसके लिए देखो समयसार गाथा 108 तथा उसकी आत्मख्याति टीका। समयसार की उक्त गाथा में '**ववहारा**' पद आया है और उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने उसके स्थान में '**उपचार**' पद का प्रयोग किया है। समयसार गाथा 106 और 107 तथा उनकी आत्मख्याति टीका में भी यही बात कही गई है। इतना ही क्यों, इसी अर्थ को बतलाने के लिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा 105 में '**उपचारमात्र**' पद का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि आगम में जहाँ-जहाँ व्यवहार से निमित्त है, हेतु है या कारण है ऐसा कहा गया है, वहाँ वह कथन उपचार से किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० 5 सूत्र 12 से भी यही तथ्य फलित होता है। यहाँ भट्टाकलंकदेव ने जब 'सब द्रव्य परमार्थ से स्वप्रतिष्ठ हैं' — इस वचन की स्वीकृति दी, तब यह प्रश्न उठा कि ऐसा मानने पर तो अन्योन्य आधार के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होता है। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक को दूसरे का आधार बतलाना, यह व्यवहारनय का वक्तव्य है, परमार्थ से तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। यदि कोई शंका करे कि यहाँ परमार्थ का अर्थ द्रव्यार्थिक है तो यह बात भी नहीं है। किन्तु यहाँ परमार्थ पद का अर्थ

पर्यायार्थिक निश्चयरूप एवम्भूतनय ही लिया गया है। इस प्रकार इस विवेचन से भी यही ज्ञात होता है कि समयसार में जिस प्रकार व्यवहार पद उपचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी इस (व्यवहार) पद का उपचार के अर्थ में ही प्रयोग किया है।

यह तथ्य है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आलाप पद्धति के '**मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।**' इस पद का असद्भूत व्यवहारनय से यह अर्थ फलित होता है कि यदि मुख्य (यथार्थ) प्रयोजन और निमित्त (कारण) का अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा असद्भूत व्यवहार प्रयोजन और असद्भूत व्यवहार निमित्त की विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

तथा अखण्ड द्रव्य में भेदविवक्षा वश इसका यह अर्थ होगा कि मुख्य अर्थात् द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत यथार्थ प्रयोजन और यथार्थ निमित्त का अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा सद्भूत व्यवहाररूप प्रयोजन और सद्भूत व्यवहाररूप निमित्त की विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

यही कारण है कि '**मुख्याभावे**' इत्यादि वचन के बाद उस उपचार को कहीं अविनाभाव सम्बन्धरूप, कहीं संश्लेषसम्बन्धरूप और कहीं परिणामपरिणामिसम्बन्ध आदि रूप बतलाया गया है।

इसलिए आलापपद्धति के उक्त वाक्य को ध्यान में रखकर अपर पक्ष ने उसके आधार से यहाँ जो कुछ भी लिखा है, वह ठीक नहीं; यह तात्पर्य हमारे उक्त विवेचन से सुतरां फलित हो जाता है।

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में उपादान पद की निरुक्ति तथा व्याकरण से सिद्धि करते हुए लिखा है कि 'जो परिणमन को स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो, उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्य का आश्रय ठहरता है।' तथा निमित्त पद की निरुक्ति और व्याकरण से सिद्धि करते हुए उसके विषय में लिखा है कि 'जो मित्र के समान उपादान का स्नेह न करे अर्थात् उसकी कार्य परिणति में जो मित्र के समान सहयोगी हो, वह निमित्त कहलाता है।'

उपादान और निमित्त के विषय में यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। इससे विदित होता है कि अपर पक्ष उपादान को मात्र आश्रय कारण मानता है और निमित्त को सहयोगी। अतएव

प्रश्न होता है कि कार्य का कर्ता कौन होता है ? अपर पक्ष अपने उक्त कथन द्वारा कार्य को उपादान का तो स्वीकार कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं, अन्यथा वह उपादान के लिए 'उसकी कार्यपरिणति में' ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करता। परन्तु वह उपादान को कार्य का मुख्य (वास्तविक) कर्ता नहीं मानना चाहता, इसका हमें आश्चर्य है। समयसार कलश में यदि जीव पुद्गल कर्म को नहीं करता है तो कौन करता है, ऐसा प्रश्न उठा कर उसका समाधान करते हुए लिखा है कि यदि तुम अपना तीव्र मोह (अज्ञान) दूर करना चाहते हो तो कान खोलकर सुनो कि वास्तव में पुद्गल ही अपने कार्य का कर्ता है, जीव नहीं। समयसार कलश का वह वचन इस प्रकार है—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ॥ 63॥

अपर पक्ष जबकि कार्य के प्रति व्यवहार कर्ता या व्यवहार हेतु आदि शब्दों द्वारा प्रयुक्त हुए बाह्य पदार्थ को उपचार कर्ता या उपचार हेतु स्वीकार कर लेता है, ऐसी अवस्था में उसे आगम में किये गये 'उपचार' पद के अर्थ को ध्यान में रखकर इस कथन को अवास्तविक मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे उपादानकर्ता वास्तविक है, वह सुतरां फलित हो जाता है। बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार को लक्ष्य में रखकर उपचार कर्ता या उपचार हेतु का आगम में कथन क्यों किया गया है, इसका प्रयोजन है और इस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर यह कथन व्यर्थ न होकर सार्थक और उपयोगी भी है। किन्तु इस आधार पर अपर पक्ष द्वारा उस कथन को ही वास्तविक ठहराना किसी भी अवस्था में उचित या परमार्थभूत नहीं कहा जा सकता।

अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में आगम के जो तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं, उनमें से अष्टसहस्री पृष्ठ 150 का उदाहरण निश्चय उपादान के साथ बाह्य सामग्री की मात्र काल प्रत्यासत्ति को सूचित करता है। देवागम कारिका 199 से मात्र इतना ही सूचित होता है कि यह जीव अपने रागादि भावों को मुख्य कर जैसा कर्मबन्ध करता है, उसके अनुसार उसे फल का भागी होना पड़ता है। फलभोग में कर्म तो निमित्तमात्र है, उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं जीव ही है। अपर पक्ष ने इस कारिका के उत्तरार्ध को छोड़कर उसे आगम प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है। इससे कर्म और जीव के रागादि भावों में निमित्त-नैमित्तिक योग कैसे बनता है, इतना ही सिद्ध होता है; अतएव उससे अन्य अर्थ फलित करना उचित नहीं

है। तीसरा उदाहरण प्रवचनसार गाथा 255 की टीका का है। किन्तु इस वचन को प्रवचनसार गाथा 254 और उसकी टीका के प्रकाश में पढ़ने पर विदित होता है कि इससे उपादान के कार्यकारीपने का ही समर्थन होता है। रसपाक काल में बीज के समान भूमि फल का स्वयं उपादान भी है, इसे अपर पक्ष यदि ध्यान में ले ले तो उसे इस उदाहरण द्वारा आचार्य किस तथ्य को सूचित कर रहे हैं, इसका ज्ञान होने में देर न लगे। निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा विचार करने पर इस आगमप्रमाण से यह विदित होता है कि बीज का जिस रूप अपने काल में रसपाक होता है, तदनुकूल भूमि उसमें निमित्त होती है और उपादान-उपादेय भाव की अपेक्षा विचार करने पर इस आगम प्रमाण से यह विदित होता है कि भूमि बीज के साथ स्वयं उपादान होकर जैसे अपने काल में इष्टार्थ को फलित करती है, वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिए। स्पष्ट है कि इन तीन आगमप्रमाणों से अपर पक्ष के मत का समर्थन न होकर, हमारे अभिप्राय की ही पुष्टि होती है। बाह्य सामग्री उपादान के कार्यकाल में उपादान की क्रिया न करके स्वयं उपादान होकर अपनी ही क्रिया करती है, फिर भी बाह्य सामग्री के क्रियाकाल में उपादान का वह कार्य होने का योग है, इसलिए बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसे यदि अपर पक्ष निमित्त की हाजिरी समझता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री उपादान के कार्य का अनुरंजन करती है, उपकार करती है, सहायक होती है आदि यह सब कथन व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है; निश्चयनय का नहीं। **अपने प्रतिषेधक स्वभाव के कारण निश्चयनय की दृष्टि में यह प्रतिषेध्य ही है।** आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्य के प्रकाश में उपादान के कार्य काल में बाह्य सामग्री में किये गये निमित्त व्यवहार को वास्तविक (यथार्थ) मानने का आग्रह छोड़ देगा।

हमने पञ्चास्तिकाय गाथा 88 के प्रकाश में बाह्य सामग्री में किये गये निमित्तव्यवहार को जहाँ दो प्रकार का बतलाया है, वहाँ उसी टीका वचन से इन भेदों को स्वीकार करने के कारण का भी पता लग जाता है। जो मुख्यतः अपने क्रिया परिणाम द्वारा या राग और क्रिया परिणाम द्वारा उपादान के कार्य में निमित्त व्यवहार पदवी को धारण करता है, उसे आगम में निमित्तकर्ता या हेतुकर्ता कहा गया है। इसी को लोक में प्रेरक कारण भी कहते हैं और जो उक्त प्रकार के सिवाय अन्य प्रकार से व्यवहार हेतु होता है, उसे आगम में उदासीन निमित्त कहने में आया है। यही इन दोनों में प्रयोग भेद का मुख्य कारण है। पञ्चास्तिकाय के उक्त वचन से भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार हमने इन दोनों भेदों को क्यों स्वीकार किया है, इसका यह स्पष्टीकरण है।

अपर पक्ष इन दोनों को स्वीकार करने में उपादान के कार्य भेद को मुख्यता देता है सो उपादान में कार्य भेद तो दोनों के सद्भाव में होता है। प्रश्न यह नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि उस कार्य को वास्तव में कौन करता है ? जिसे आगम में हेतुकर्ता कहा गया है, वह कि उपादान ? यदि जिसे आगम में हेतुकर्ता कहा गया है, वह करता है तो उसे उपादान ही मानना होगा। किन्तु ऐसा मानना स्वयं अपर पक्ष को भी इष्ट नहीं होगा, इसे हम हृदय से स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में फलित तो यही तथ्य होता है कि उपादान ने स्वयं यथार्थ कर्ता होकर अपना कार्य किया और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहार से हेतु हुई। इस अपेक्षा से विचार करने पर बाह्य सामग्री की व्यवहारहेतुता एक ही प्रकार की है, दो प्रकार की नहीं, यह सिद्ध होता है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में **'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति'** इत्यादि वचन इसी अभिप्राय से लिखा है। इस वचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे हैं कि व्यवहारहेतुता किसी प्रकार से क्यों न मानी गई हो, अन्य के कार्य में वह वास्तविक न होने से इस अपेक्षा से समान है। अर्थात् अन्य का कार्य करने में धर्मद्रव्य के समान दोनों ही उदासीन हैं।

अब रही प्रेरक निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री के अनुरूप परिणमन की बात, सो यह हम अपर पक्ष से ही जानना चाहेंगे कि यह अनुरूप परिणमन क्या वस्तु है ? उदाहरणार्थ, कर्म को निमित्त कर जीव के भावसंसार की सृष्टि होती है और जीव के राग-द्वेष को निमित्त कर कर्म की सृष्टि होती है। यहाँ कर्म निमित्त है और राग-द्वेष परिणाम नैमित्तिक। इसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम निमित्त हैं और कर्म नैमित्तिक। तो क्या इसका यह अर्थ लिया जाये कि निमित्त में जो गुणधर्म होते हैं, वे नैमित्तिक में संक्रमित हो जाते हैं, या क्या इसका यह अर्थ लिया जाये कि जिसको उपादान निमित्त बनाता है, उस जैसा क्रिया परिणाम या भाव परिणाम अपनी उपादान शक्ति के बल से वह अपना स्वयं उत्पन्न कर लेता है ? प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि एक द्रव्य के गुण-धर्म का दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं होता। ऐसी अवस्था में दूसरा पक्ष ही स्वीकार करना पड़ता है। समयसार गाथा 80-82 की आत्मख्याति टीका में **'निमित्तीकृत्य'** पद का प्रयोग इसी अभिप्राय से किया गया है। अन्य द्रव्य दूसरे के कार्य में स्वयं निमित्त नहीं हैं। किन्तु अन्य द्रव्य को लक्ष्य कर आलम्बन कर अन्य जिस द्रव्य का परिणाम होता है, उसकी अपेक्षा उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। पुद्गल द्रव्य अपनी विशिष्ट स्पर्श पर्याय के कारण दूसरे का सम्पर्क करके अपनी उपादान शक्ति के बल से जिसका सम्पर्क किया है, उसके समान धर्मरूप

परिणम जाता है और जीव अपने कषाय के कारण दूसरे को लक्ष्य करके अपनी उपादान शक्ति के बल से जिसको लक्ष्य किया है, वैसा रागपरिणाम अपने में उत्पन्न कर लेता है। यही संसार और तदनुरूप कर्मबन्ध का बीज है। यही कारण है कि प्रत्येक मोक्षार्थी को आत्म-स्वभाव को लक्ष्य में लेने का उपदेश आगम में दिया गया है, इसलिए प्रकृत में यही समझना चाहिए कि प्रत्येक उपादान के कार्य में जो वैशिष्ट्य आता है, उसे अपनी आन्तरिक योग्यतावश स्वयं उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री नहीं। फिर भी काल प्रत्यासत्तिवश क्रिया की और परिणाम की सदृशता देखकर जिसके लक्ष्य से वह परिणाम होता है, उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। अन्य द्रव्य के कार्य में प्रेरक निमित्त व्यवहार करने की यह सार्थकता है। इसके सिवाय अपर पक्ष ने इसके सम्बन्ध में अन्य जो कुछ भी लिखा है, वह यथार्थ नहीं है।

हमने जो यह लिखा है कि प्रेरक कारण के बल से किसी द्रव्य के कार्य को आगे-पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है, वह यथार्थ लिखा है, क्योंकि उपादान के अभाव में जब कि बाह्य सामग्री में प्रेरक निमित्त व्यवहार भी नहीं किया जा सकता तो उसके द्वारा कार्य का आगे-पीछे किया जाना तो अत्यन्त ही असम्भव है। कर्म की नानारूपता भावसंसार के उपादान की नानारूपता को तथा भूमि की विपरीतता बीज की वैसी उपादानता को ही सूचित करती है। अतएव उपादान के अभाव में जबकि बाह्य सामग्री में प्रेरक निमित्त व्यवहार ही नहीं किया जा सकता, ऐसी अवस्था में अपर पक्ष द्वारा 'प्रेरक निमित्त के बल से कार्य कभी भी किया जा सकता है' ऐसा लिखा जाना, उसके एकान्त आग्रह को ही सूचित करता है।

अपर पक्ष ने यहाँ पर शीतऋतु, कपड़ा और दर्जी का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कपड़े से बननेवाले कोट आदि के समान जितने भी कार्य होते हैं, उनमें एकमात्र निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का ही बोलबाला है। इस सम्बन्ध में अपर पक्ष अपने एकान्त आग्रहवश क्या लिखता है, उस पर ध्यान दीजिए। उसका कहना है कि—

'इस तरह कोट का बनना तब तक रुका रहा, जब तक कि दर्जी के पास कोट के बनाने का अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्त में विचारना यह है कि कोट पहिनने की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़े में, जबकि उसे दर्जी की मर्जी पर छोड़ दिया गया है, कौन सी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यता का अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूप से परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोट के सीने का व्यापार

करने लगता है तो उस कपड़े में कौन सी उपादाननिष्ठ योग्यता का अपने-आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाये तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्री का ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिए तभी से तैयार बैठा है, जब वह दर्जी के पास पहुँचा था। यहाँ पर हम उस कपड़े की एक-एक क्षण में होनेवाली पर्यायों की बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्याय के निर्माण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि पहले से ही एक निश्चित आकारवाले कपड़े का वह टुकड़ा कोट के आकार को क्यों तो दर्जी के व्यापार करने पर प्राप्त हो गया और जब तक दर्जी ने कोट बनानेरूप अपना व्यापार चालू नहीं किया, तब तक वह क्यों जैसा का तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय-व्यतिरेकगम्य कार्य-कारणभाव की सिद्धि आगमप्रमाण से हम पहले कर आये हैं, उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्त कारणभूत दर्जी की बदौलत ही उस कपड़े की कोटरूप पर्याय आने को पिछड़ गई। कोट के निर्माण कार्य को उस कपड़े की सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायों के साथ जोड़ना कहाँ तक बुद्धिगम्य हो सकता है, यह आप ही जानें।' आदि।

यह प्रकृत में अपर पक्ष के वक्तव्य का कुछ अंश है। इस द्वारा अपर पक्ष यह बतलाना चाहता है कि अनन्त पुद्गल परमाणुओं का अपने-अपने स्पर्शविशेष के कारण संश्लेष सम्बन्ध होकर जो आहारवर्गणाओं की निष्पत्ति हुई और उनका कार्पास व्यञ्जन पर्यायरूप से परिणमन होकर जुलाहे के विकल्प और योग को निमित्त कर जो वस्त्र बना, उस वस्त्र की कोट आदिरूप पर्याय दर्जी के योग और विकल्प पर निर्भर है कि जब चाहे वह उसकी कोट पर्याय का निष्पादन करे। न करना चाहे न करे। जो व्यवहारनय से उस वस्त्र का स्वामी है, वह भी अपनी इच्छानुसार उस वस्त्र को नानारूप प्रदान कर सकता है। वस्त्र का अगला परिणाम क्या हो, यह वस्त्र पर निर्भर न होकर दर्जी और स्वामी आदि की इच्छा पर ही निर्भर है। ऐसे सब कार्यों में एक मात्र निमित्त का ही बोलबाला है, उपादान का नहीं। अपर पक्ष के कथन का आशय यह है कि विवक्षित कार्य परिणाम के योग्य उपादान में योग्यता हो, परन्तु सहकारी सामग्री का योग न हो या आगे-पीछे हो तो उसी के अनुसार कार्य होगा। किन्तु अपर पक्ष का यह सब कथन कार्य-कारणपरम्परा के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जिसे व्यवहारनय से सहकारी सामग्री कहते हैं, उसे यदि उपादान कारण के समान कार्य का यथार्थ कारण मान लिया जाता है तो कार्य को जैसे उपादान से उत्पन्न होने के कारण तत्स्वरूप माना

गया है, वैसे ही उसे सहकारी सामग्रीस्वरूप भी मानना पड़ता है, अन्यथा सहकारी सामग्री में यथार्थ कारणता नहीं बन सकती। दूसरे दर्शन में सन्निकर्ष को प्रमाण माना गया है। किन्तु जैनाचार्यों ने उस मान्यता का खण्डन यह कह कर ही किया है कि सन्निकर्ष दो में स्थित होने के कारण उसका फल अर्थाधिगम दोनों को प्राप्त होना चाहिए। (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-1, सूत्र-10) वैसे ही एक कार्य की कारणता यदि दो में यथार्थ मानी जाती है तो कार्य को भी उभयरूप मानने का प्रसंग आता है। यतः कार्य उभयरूप नहीं होता, अतः अपर पक्ष में सहकारी सामग्री को निर्विवादरूप से उपचरित कारण मान लेना चाहिए।

अपर पक्ष जानना चाहता है कि बाजार से कोट का कपड़ा खरीदने के बाद जब तक दर्जी उसका कोट नहीं बनाता, तब तक मध्य काल में कपड़े में कौन सी ऐसी उपादान योग्यता का अभाव बना हुआ है जिसके बिना कपड़ा कोट नहीं बनता। समाधान यह है कि जिस अव्यवहित पूर्व पर्याय के बाद कपड़ा कोट पर्याय को उत्पन्न करता है, वह पर्याय जब उस कपड़े में उत्पन्न हो जाती है, तब उसके बाद ही वह कपड़ा कोट पर्यायरूप से परिणत होता है। इसके पूर्व उस कपड़े को कोट का उपादान कहना द्रव्यार्थिकनय का वक्तव्य है।

अपर पक्ष कोट पहिनने की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति की इच्छा और दर्जी की इच्छा के आधार पर कोट का कपड़ा कब कोट बन सका, यह निर्णय करके कोट कार्य में बाह्य सामग्री के साम्राज्य की भले ही घोषणा करे। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अपर पक्ष के उक्त कथन को उलटकर हम यह भी कह सकते हैं कि कोट पहिनने की आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति ने बाजार से कोट का कपड़ा खरीदा और बड़ी उत्सुकतापूर्वक वह उसे दर्जी के पास ले भी गया। किन्तु अभी उस कपड़े के कोट पर्यायरूप से परिणत होने का स्वकाल नहीं आया था, इसलिए उसे देखते ही दर्जी की ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़े की कोट पर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्ति में निमित्त हो गये।

अपर पक्ष यदि इस तथ्य को समझ ले कि केवल द्रव्यशक्ति जैन दर्शन में कार्यकारी नहीं मानी गई है, क्योंकि वह अकेली पाई नहीं जाती और न केवल पर्याय शक्ति ही जैन दर्शन में कार्यकारी मानी गई है, क्योंकि वह भी अकेली पाई नहीं जाती। अतएव प्रतिविशिष्ट पर्याय शक्ति युक्त असाधारण द्रव्यशक्ति ही जैन दर्शन में कार्यकारी मानी गई है। तो कपड़ा कब कोट बने, यह भी उसे समझ में आ जाये और इस बात के समझ में आने पर उसके

विशिष्ट काल का भी निर्णय हो जाये। प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है। हरिवंशपुराण, सर्ग 52 में लिखा है —

चतुरंगबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम्।
कार्यकृत्तावदेवात्र यावद्दैवबलं परम्॥ 71॥

दैवे तु विकले काल-पौरुषादिर्निरर्थकः।
इति यत्कथ्यते विद्भिस्तत्तथ्यमिति नान्यथा॥ 72॥

जब तक उत्कृष्ट दैवबल है, तभी तक चतुरंग बल, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष कार्यकारी हैं। दैव के विकल होने पर काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं - ऐसा जो विद्वत्पुरुष कहते हैं, वह यथार्थ है; अन्यथा नहीं है॥ 71-72॥

यह आगम प्रमाण है। इससे जहाँ प्रत्येक कार्य के विशिष्ट काल का ज्ञान होता है, वहाँ उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दैव अर्थात् द्रव्य में कार्यकारी अन्तरंग योग्यता के सद्भाव में ही बाह्य सामग्री की उपयोगिता है, अन्यथा नहीं।

यहाँ पर हमने 'दैव' पद का अर्थ 'कार्यकारी अन्तरंग योग्यता' आप्तमीमांसा कारिका 88 की अष्टशती टीका के आधार पर ही किया है। भट्टाकलंकदेव 'दैव' पद का अर्थ करते हुए वहाँ पर लिखते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

योग्यता और पूर्व कर्म इनकी दैव संज्ञा है। ये दोनों अदृष्ट है। किन्तु इहचेष्टित का नाम पौरुष है, जो दृष्ट है।

आचार्य समन्तभद्र ने कार्य में इन दोनों के गौण-मुख्यभाव से ही अनेकान्त का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कपड़ा जब भी कोट बनता है, अपनी द्रव्य-पर्यायात्मक अन्तरंग योग्यता के बल से ही बनता है और तभी दर्जी का योग तथा विकल्प आदि अन्य सामग्री उसकी उस पर्याय की उत्पत्ति में निमित्त होती है।

अपर पक्ष यद्यपि केवल बाह्य सामग्री के आधार पर कार्य-कारणभाव का निर्णय करना चाहता है और उसे वह अनुभवगम्य बतलाता है। किन्तु उसकी यह मान्यता कार्यकारी अन्तरंग योग्यता को न स्वीकार करने का ही फल है जो आगमविरुद्ध होने से प्रकृत में स्वीकार करने योग्य नहीं है। लोक में हमें जितना हमारी इन्द्रियों से दिखलाई देता है और उस

आधार पर हम जितना निश्चय करते हैं, केवल उतने को ही अनुभव मान लेना तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। हमारी समझ से अपर पक्ष प्रकृत में कार्यकारी अन्तरंग योग्यता को स्वीकार किये बिना, इसी प्रकार की भूल कर रहा है, जो युक्त नहीं है। अतएव उसे प्रतिविशिष्ट बाह्य सामग्री की स्वीकृति के साथ यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस समय कोट पर्याय के अनुरूप प्रतिविशिष्ट द्रव्य-पर्याय योग्यता उस कपड़े में उत्पन्न हो जाती है, तभी वह कपड़ा कोट पर्याय का उपादान बनता है, अन्य काल में नहीं। बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है।

अपर पक्ष कालक्रम से होनेवाली क्षणिक पर्यायों के साथ कपड़े की कोटरूप पर्याय का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं मानता, किन्तु कोई भी व्यंजन पर्याय क्षण-क्षण में होनेवाली पर्यायों से सर्वथा भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपने सदृश परिणाम के कारण हम किसी भी व्यंजन पर्याय को घटी, घंटा आदि व्यवहार काल के अनुसार चिरस्थायी कहें, यह दूसरी बात है, पर होती हैं वे प्रत्येक समय में उत्पाद-व्ययशील ही। पर्यायदृष्टि से जबकि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अन्य-अन्य होता है, ऐसी अवस्था में उक्त कपड़े को भी प्रत्येक समय में अन्य-अन्य रूप से स्वीकार करना ही तर्क, आगम और अनुभवसम्मत माना जा सकता है। अतएव कपड़े की कोट पर्याय कालक्रम से होनेवाली नियत क्रमानुपाती ही है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अपर पक्ष ने बाह्य सामग्री को कारण मानकर जो कुछ भी लिखा है, वह सब व्यवहारनय का ही वक्तव्य है। निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर अनन्त पुद्गलों के परिणामस्वरूप कपड़े की जिस काल में अपने उपादान के अनुसार संघात या भेदरूप जिस पर्याय के होने का नियम है, उस काल में वही पर्याय होती है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उपादान कारण के सदृश होता है, ऐसा नियम है। इसी तथ्य को प्रगट करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा 372 की टीका में लिखते हैं—

उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात्।

दर्जी जब उसकी इच्छा में आता है, तब कपड़े का कोट बनाता है, यह पराश्रित अनुभव है और कपड़ा उपादान के अनुसार स्वकाल में कोट बनता है, यह स्वाश्रित अनुभव है। अनुभव दोनों हैं। प्रथम अनुभव पराधीनता का सूचक है और दूसरा अनुभव स्वाधीनता का सूचक है। यह अपर पक्ष ही निर्णय करे कि इनमें से किसे यथार्थ के आश्रय माना जाये।

अपर पक्ष इष्टोपदेश के '**नाज्ञो विज्ञत्वमायाति**' इत्यादि श्लोक को द्रव्यकर्म के विषय

में स्वीकार नहीं करता। क्यों स्वीकार नहीं करता, इसका उसकी ओर से कोई कारण नहीं दिया गया है। वस्तुतः इस द्वारा कर्म और नोकर्म सबका परिग्रह किया गया है। अपर पक्ष मिट्टी में पट बनने की योग्यता को स्वीकार नहीं करता। किन्तु मिट्टी पुद्गल द्रव्य है। घट और पट दोनों ही पुद्गल की व्यंजन पर्यायें हैं। ऐसी अवस्था में मिट्टी में पटरूप बनने की योग्यता नहीं है, यह तो कहा नहीं जा सकता। परस्पर में एक-दूसरे रूप परिणमने की योग्यता को ध्यान में रखकर ही इनमें आचार्यों ने इतरेतराभाव का निर्देश किया है। फिर क्या कारण है कि मिट्टी से जुलाहा पट पर्याय का निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। यदि अपर पक्ष कहे कि वर्तमान में मिट्टी में पटरूप बनने की पर्याय योग्यता न होने से ही जुलाहा मिट्टी से पट बनाने में असमर्थ है तो इससे सिद्ध हुआ कि जो द्रव्य जब जिस पर्याय के परिणमन के सन्मुख होता है, तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहार से निमित्त होती है और इस दृष्टि से विचार कर देखने पर यही निर्णय होता है कि बाह्य सामग्री मात्र अन्य के कार्य करने में वैसे ही उदासीन है, जैसे धर्मद्रव्य गति में उदासीन है। सब द्रव्य प्रत्येक समय में अपना-अपना कार्य करने में ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें तीनों कालों में एक क्षण का भी विश्राम नहीं मिलता कि वे अपना कार्य छोड़कर दूसरे द्रव्य का कार्य करने लगें। अतएव इष्टोपदेश के उक्त वचन के अनुसार प्रकृत में यही समझना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म द्रव्य अन्य का कार्य करने में उदासीन है, उसी प्रकार अन्य सभी द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य करने में उदासीन हैं। यह तो काल प्रत्यासत्ति का ही साम्राज्य समझिए कि कभी और कहीं वे अन्य के कार्य में प्रेरक निमित्त व्यवहार पदवी को प्राप्त हो जाते हैं और कभी तथा कहीं वे अन्य के कार्य में उदासीन निमित्त व्यवहार पदवी को प्राप्त हो जाते हैं।

बौद्ध दर्शन कारण को देखकर भी कार्य का अनुमान किया जा सकता है, इसे स्वीकार नहीं करता। इसी बात को ध्यान में रखकर कैसा कारणरूप लिंग कार्य का अनुमापक होता है, यह सिद्ध करने के लिये यह लिखा है कि जहाँ कारण सामग्री की अविकलता हो और उससे भिन्न कार्य की ज्ञापक सामग्री उपस्थित न हो, वहाँ कारण से कार्य का अनुमान करने में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु हमें खेद है कि अपर पक्ष इस कथन का ऐसा विपर्यास करता है, जिसका प्रकृत में कोई प्रयोजन ही नहीं। इसका विशेष विचार हम छठी शंका के तीसरे दौर के उत्तर में करनेवाले हैं, इसलिए इस आधार से यहाँ इसकी विशेष चर्चा करना हम इष्ट नहीं मानते। किन्तु यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि **जिस प्रकार विवक्षित**

कार्य की विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है; उसी प्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु हो सकेगी। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समय में प्रतिनियत आभ्यन्तर-बाह्य सामग्री को निमित्त कर ही उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिए। स्व-परप्रत्यय परिणमन का अभिप्राय भी यही है। इस पर से उपादान को अनेक योग्यतावाला कहकर बाह्य सामग्री के बल पर चाहे जिस कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना, मिथ्या है।

अपर पक्ष का कहना है कि बाह्य सामग्री उपादान के कार्य में सहयोग करती है, सो यह सहयोग क्या वस्तु है ? क्या दोनों मिलकर एक कार्य करते हैं, यह सहयोग का अर्थ है ? किन्तु यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते - ऐसा द्रव्यस्वभाव है (देखो, समयसार कलश-54)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया कर देता है, यह सहयोग का अर्थ है ? किन्तु यह कथन भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य की क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ है (देखो, प्रवचनसार, अध्याय-2, गाथा-95, जयसेनीय टीका)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में विशेषता उत्पन्न कर देता है, यह सहयोग का अर्थ है ? किन्तु जब कि एक द्रव्य का गुणधर्म दूसरे द्रव्य में संक्रमित ही नहीं हो सकता, ऐसी अवस्था में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय में विशेषता उत्पन्न कर देता है, यह कहना किसी भी अवस्था में परमार्थभूत नहीं माना जा सकता (देखो, समयसार, गाथा-103 और उसकी आत्मख्याति टीका)। उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करने में ही प्रवृत्त करती रहती है, क्या यह सहयोग का अर्थ है ? किन्तु अपर पक्ष की यह तर्कणा भी असंगत है, क्योंकि आगम में विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य को ही कार्यकारी माना गया है (देखो, अष्टसहस्री, पृष्ठ-150, स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-230, श्लोकवार्तिक, पृष्ठ-69, तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ-200 आदि)। क्या क्षेत्रप्रत्यासत्ति या भावप्रत्यासत्ति के होने पर उपादान में कार्य होता है, यह सहयोग का अर्थ है ? किन्तु सहयोग का यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति के होने पर अन्य द्रव्य नियम से अन्य के कार्य को उत्पन्न करता है - ऐसा कोई नियम नहीं है (देखो, श्लोकवार्तिक, पृष्ठ-151)। इस प्रकार सहयोग का अर्थ उक्त प्रकार से करना तो बनता नहीं। उक्त विकल्पों के आधार पर जितनी भी तर्कणाएँ की जाती हैं, वे सब असत् ठहरती हैं। अब रही कालप्रत्यासत्ति सो यदि अपर पक्ष बाह्य सामग्री उपादान के कार्य में सहयोग करती है, इसका अर्थ कालप्रत्यासत्तिरूप करता है

तो उसके द्वारा सहयोग का यह अर्थ किया जाना आगम, तर्क और अनुभवसम्मत है, क्योंकि प्रकृत में 'कालप्रत्यासत्ति' पद जहाँ काल की विवक्षित पर्याय को सूचित करता है, वहाँ वह विवक्षित पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्री को भी सूचित करता है। प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य को अपना कार्य करने के लिए ऐसा योग नियम से मिलता है और उसके मिलने पर प्रत्येक समय में प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति भी होती है, ऐसा ही द्रव्यस्वभाव है। उसमें किसी का हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृत में निमित्त के सहयोग की चर्चा करके अपर पक्ष ने स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमनों के विषय में जो कुछ भी लिखा है, वह आगम, तर्क और अनुभवपूर्ण न होने से तत्त्वमीमांसा में ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर हमारा यह लिखना सर्वथा युक्तियुक्त है कि 'निमित्त कारणों में पूर्वोक्त दो भेद होने पर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्य के कार्य के प्रति समान है।' यही जैनदर्शन का आशय है। अनादिकाल से जैन संस्कृति इसी आधार पर जीवित चली आ रही है और अनन्त काल तक एकमात्र इसी आधार पर जीवित रहेगी। इससे अपर पक्ष यह अच्छी तरह से जान सकता है कि जैन संस्कृति के विरुद्ध अपर पक्ष की ही मान्यता है, हमारी नहीं। विचारकर देखा जाये तो हरिवंशपुराण सर्ग-58 का यह कथन तो जैन संस्कृति का प्राण है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥ 12॥

यह आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसके फल को भोगता है, स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है॥ 12॥

मालूम नहीं अपर पक्ष पराश्रित जीवन का समर्थन कर किस उलझन में पड़ा हुआ है, इसे वह जाने। वैज्ञानिकों की भौतिक खोज से हम भलीभाँति परिचित हैं। उससे तो यही सिद्ध होता है कि किस विशिष्ट पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्री के सद्भाव में क्या कार्य होता है। हमें मालूम हुआ है कि जापान में दो नगरों पर अणुबम का विस्फोट होने पर जहाँ असंख्य प्राणी काल कवलित हुए, वहाँ बहुत से क्षुद्र जन्तु रेंगते हुए भी पाये गये। क्या इस उदाहरण से उपादान के स्वकार्यकर्तृत्व की प्रसिद्धि नहीं होती है, अपितु अवश्य होती है।

आगे अपर पक्ष ने हमारे द्वारा उल्लिखित स्वामी समन्तभद्र की '**बाह्येतरोपाधि**'

इत्यादि कारिका की चर्चा करते हुए हमारी मान्यता के रूप में लिखा है कि सम्भवत: हम यह मानते हैं कि 'उपादान स्वयं कार्योत्पत्ति के समय अपने अनुकूल निमित्तों को एकत्रित कर लेता है।' किन्तु अपर पक्ष ने हमारे किस कथन के आधार पर हमारा यह अर्थ फलित किया है, यह हम नहीं समझ सके। हमने भट्टाकलंकदेव की अष्टशती के '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इस वचन को प्रमाणरूप में अवश्य ही उद्धृत किया है और वह निर्विवादरूप से प्रमाण है। पर उससे भी उक्त आशय सूचित नहीं होता। निमित्तों को जुटाने की बात अपर पक्ष की ओर से ही यथार्थ मानी जाती है। उसकी ओर से इस आशय का कथन पाँचवीं शंका के तीसरे दौर में किया भी गया है। हम तो ऐसे कथन को केवल विकल्प का परिणाम ही मानते हैं। अतएव इस बात को लेकर अपर पक्ष ने यहाँ पर '**द्रव्यगतस्वभावः**' पद की जो भी विवेचना की है, वह युक्त नहीं है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि जिसे आगम में स्वप्रत्यय परिणाम (स्वभाव पर्याय) कहा है और जिसे आगम में स्व-परप्रत्यय (विभाव पर्याय) कहा है, वह सब बाह्य-आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में होता है - ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।

आगे अपर पक्ष ने हमारे कथन को उद्धृत कर मोक्ष को स्व-परप्रत्यय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु आगम में इसे किस रूप में स्वीकार किया गया है, इसके विस्तृत विवेचन में तत्काल न पड़कर उसकी पुष्टि में एक आगमप्रमाण दे देना उचित समझते हैं। पंचास्तिकाय गाथा-36 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका में लिखा है—

सिद्धो हि उभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादयन्नान्यत्किंचिदुत्पादयति।

उभय कर्म का क्षय होने पर सिद्ध स्वयं आत्मा (सिद्ध पर्याय) को उत्पन्न करते हुए, अन्य किसी को उत्पन्न नहीं करते।

इससे स्वप्रत्यय पर्याय और स्व-परप्रत्यय पर्याय के कथन में अन्तर्निहित रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, किन्तु अपर पक्ष इन दोनों को एक कोटि में रखकर उक्त रहस्य को दृष्टिपथ में नहीं ले रहा है, इतना ही हम यहाँ कहना चाहेंगे।

हमने पंचास्तिकाय का अनन्तर पूर्व ही वचन उद्धृत किया है। उसका जो आशय है, वही आशय तत्त्वार्थसूत्र के '**बन्धहेत्वभाव**' इत्यादि वचन का भी है।

यहाँ अपर पक्ष ने करणानुयोग और चरणानुयोग की चर्चा कर जो निश्चयचारित्र और

व्यवहार-चारित्र के एक साथ होने का संकेत किया है सो उसका हमारी ओर से कहाँ निषेध किया गया है। हमारा कहना तो इतना ही है कि निश्चयचारित्र के साथ होनेवाला पंच महाव्रतादिरूप परिणाम व्यवहारचारित्र संज्ञा को प्राप्त होता है। अन्यथा मोक्षमार्ग की दृष्टि से वह निष्फल है। साथ ही पंच महाव्रतादिरूप परिणाम उसी अवस्था में निश्चयचारित्र का कारण अर्थात् व्यवहारहेतु कहा जाता है, जबकि निश्चयचारित्र से वह अनुप्राणित होता रहे। स्वभाव के आलम्बन द्वारा अन्तर्मुख होने से आत्मा में जो निश्चयचारित्ररूप शुद्धि उत्पन्न होती है, उसका मूल हेतु तो आत्मा का आत्मस्वभाव के सन्मुख होना ही है। अबुद्धिपूर्वक या बुद्धिपूर्वक संज्वलन परिणाममात्र उसके अस्तित्व का विरोधी नहीं, इसलिए व्यवहारचारित्र संज्ञक वह व्यवहारनय से निश्चयचारित्र का साधक कहा गया है। एतद्विषयक आगम में जितने वचन मिलते हैं, उनका एकमात्र यही आशय है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में कहा भी है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥ 142॥

कोई जीव दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित) महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करें तो करो, किन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय का स्थान है और स्वयं संवेद्यमान है - ऐसे इस ज्ञान को, ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त नहीं कर सकते॥१४२॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि परम वीतराग चारित्र की प्राप्ति का साक्षात् मार्ग एकमात्र स्वभाव सन्मुख हो तन्मय होकर परिणमना ही है, इसके सिवाय अन्य सब निमित्तमात्र है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में गृहस्थ और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये द्रव्यलिंग के विकल्प को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को युक्त करने का उपदेश दिया है। समयसार का वह वचन इस प्रकार है—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं व गहिए।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे॥ 411॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शन-ज्ञान-चारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥ 411 ॥

यतः द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, अतः सभी द्रव्यलिंगों को छोड़कर मोक्षमार्ग होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही आत्मा को युक्त करना चाहिए, ऐसा परमागम का उपदेश है ॥ 411 ॥

अपर पक्ष का कहना है कि 'भावलिंग होने से पूर्व द्रव्यलिंग को तो उसकी उत्पत्ति के लिए कारणरूप से मिलाया जाता है।' किन्तु अपर पक्ष का यह कथन इसी से भ्रान्त ठहर जाता है कि एक द्रव्यलिंगी साधु आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि काल तक द्रव्यलिंग को धारण करके भी उस द्वारा एक क्षण के लिए भी भावलिंग को धारण नहीं कर पाता और आत्मा के सन्मुख हुआ एक गृहस्थ, परिणाम विशुद्धि की वृद्धि के साथ बाह्य में निर्ग्रन्थ होकर अन्तर्मुहूर्त में क्षपकश्रेणि का अधिकारी होता है। स्पष्ट है कि जो द्रव्यलिंग भावलिंग का सहचर होने से निमित्त संज्ञा को प्राप्त होता है, वह मिलाया नहीं जाता; किन्तु परिणाम विशुद्धि की वृद्धि के साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगम में द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग का उपचार से साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंग को कहा है। मिथ्या अहंकार से पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्ड के प्रतीकस्वरूप द्रव्यलिंग को नहीं। अपरपक्ष ने

युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होइ। – छहढाला, ढाल 4,1

वचन को उद्धृत कर यह स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय चारित्र का सहचर द्रव्यलिंग ही आगम में व्यवहारनय से उसका साधन कहा गया है। अतः पूर्व में धारण किया गया द्रव्यलिंग, भावलिंग का साधन है, अपर पक्ष के इस कथन का महत्त्व सुतरां कम हो जाता है। थाली भोजन का साधन कहा जाता है, पर जैसे थाली से भोजन नहीं किया जाता; उसी प्रकार अन्य जिन साधनों का उल्लेख यहाँ पर अपर पक्ष ने किया है, उनके विषय में जान लेना चाहिए। वे यथार्थ साधन नहीं हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। मुख्य साधन वह कहलाता है जो स्वयं अपनी क्रिया करके कार्यरूप परिणमता है। अन्य को यथार्थ साधन कहना कल्पनामात्र है। यह प्रत्यक्ष से ही दिखलाई देता है कि बाह्य सामग्री न तो स्वयं कार्यरूप ही परिणमती है और न कार्यद्रव्य की क्रिया ही करती है। ऐसी अवस्था में उन्हें यथार्थ साधन कहना, मार्ग में किसी को लुटता हुआ देखकर 'मार्ग लुटता है' इस कथन को यथार्थ मानने के समान ही है।

अपर पक्ष ने हमारे कथन को ध्यान में लिये बिना जो कार्य-कारणभाव का उल्टा चित्र उपस्थित किया है, वह इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि न तो उपादान के कारण निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री को उपस्थित होना पड़ता है और न ही निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री के कारण उपादान को ही उपस्थित होना पड़ता है। यह सहज योग है जो प्रत्येक कार्य में प्रत्येक समय में सहज ही मिलता रहता है। 'मैंने अमुक कार्य के निमित्त मिलाये' यह भी कथनमात्र है, जो पुरुष के योग और विकल्प को लक्ष्य में रखकर किया जाता है। वस्तुत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता त्रिकाल में नहीं हो सकता। अत: यहाँ हमारे कथन को लक्ष्य में रखकर अपर पक्ष ने कार्य-कारणभाव का जो उल्टा चित्र उपस्थित किया है, उसे कल्पनामात्र ही जानना चाहिए।

हमारा 'उपादान के अनुसार भावलिंग होता है।' यह कथन इसलिए परमार्थभूत है, क्योंकि कर्म के क्षयोपशम और भावलिंग के एक काल में होने का नियम होने से उपचार से यह कहा जाता है कि योग्य क्षयोपशम के अनुसार आत्मा में भावलिंग की प्राप्ति होती है। जिस पंचास्तिकाय का यहाँ अपर पक्ष ने हवाला दिया है, उसी पंचास्तिकाय गाथा 58 में पहले सब भावों को कर्मकृत बतलाकर गाथा 59 में उनका निषेध कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा के भावों को स्वयं आत्मा उत्पन्न करता है, कर्म नहीं। अत: चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार भावलिंग होता है, इसे यथार्थ कथन न समझकर अपने उपादान के अनुसार भावलिंग होता है, इसे ही आगमसम्मत यथार्थ कथन जानना चाहिए। इस पर से अपर पक्ष भी स्वयं निर्णय कर सकता है कि यथार्थ कथन अपर पक्ष का न होकर, हमारा ही है।

आगे अपर पक्ष ने निमित्त व्यवहार को यथार्थ सिद्ध करने के लिए उलाहने के रूप में जो कुछ भी वक्तव्य दिया है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अपर पक्ष किस नय की अपेक्षा क्या वक्तव्य आगम में किया गया है, इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यता को आगम बनाने के फेर में है; अन्यथा वह पक्ष असद्भूत व्यवहारनय के वक्तव्य को असद्भूत मानकर इस नय की अपेक्षा कथन आगम में किस प्रयोजन से किया गया है, उस पर दृष्टिपात करता। विशेष खुलासा हम पूर्व में ही कर आये हैं, इसलिए यहाँ उन सब तथ्यों का पुन: खुलासा नहीं करते।

प्रवचनसार गाथा 169 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका में '**स्वयं**' पद आया है। हमने इसका अर्थ प्रकृत शंका के प्रथम उत्तर में '**स्वयं**' ही किया है। किन्तु अपर पक्ष को यह

अर्थ मान्य नहीं। वह इसका अर्थ '**अपने रूप**' करता है। इसके समर्थन में उस पक्ष की मुख्य युक्ति यह है कि सहकारी कारण के बिना कोई भी परिणति नहीं होती, इसलिए कार्य-कारणभाव के प्रसंग में सर्वत्र इस पद का अर्थ 'अपने रूप' या 'अपने में' करना ही उचित है। इस प्रकार अपर पक्ष के इस कथन से मालूम पड़ता है कि वह पक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप प्रत्येक सत् की उत्पत्ति पर की सहायता से या पर से होती है, यह सिद्ध करना चाहता है। किन्तु उस पक्ष की यह मान्यता सर्वथा आगमविरुद्ध है, अतएव जहाँ भी निश्चयनय की अपेक्षा कथन किया गया है, वहाँ प्रत्येक कार्य यथार्थ में परनिरपेक्ष ही होता है - इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर '**स्वयमेव**' पद का '**स्वयं ही**' अर्थ करना उचित है। इतना अवश्य है कि यदि विस्तार से ही इस पद का अर्थ करना हो तो निश्चय षट्कारकरूप भी इस पद का अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निश्चय से आप कर्ता होकर, अपने में, अपने लिए, अपनी पिछली पर्याय का अपादान करके, अपने द्वारा, अपनी पर्यायरूप को, आप उत्पन्न करता है। इसमें पर का अणुमात्र भी योगदान नहीं होता। हाँ असद्भूत व्यवहारनय से परसापेक्ष कार्य होता है, यह कहना अन्य बात है। किन्तु इस कथन को परमार्थभूत नहीं जानना चाहिए। यही कारण है कि समयसार में सर्वत्र व्यवहार पक्ष को उपस्थित कर निश्चयनय के कथन द्वारा असत् कहकर उसका निषेध कर दिया गया है। कार्य-कारणभाव में भी इसी पद्धति को अपनाया गया है।

अपर पक्ष ने प्रवचनसार गाथा 169 की उक्त टीका के आधार से यह चर्चा चलाई है। उसमें '**पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति**' यह वाक्य आया है, जिसका अर्थ होगा — 'पुद्गलस्कन्ध स्वयं ही कर्मरूप से परिणमते हैं।' जैसा कि अपर पक्ष का कहना है, उसके अनुसार यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि — 'पुद्गलस्कन्ध अपनेरूप कर्मरूप से परिणमते हैं।' क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'अपने रूप' तथा 'कर्मरूप से' इन दोनों वचनों में एक वचन पुनरुक्त हो जाता है।

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में समयसार 116 से 120 तक की गाथाएँ उपस्थित कर इन गाथाओं की अवतरणिका में 'स्वयमेव' पद न होने के कारण सर्व प्रथम यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द इन गाथाओं द्वारा परिणामस्वभाव की सिद्धि कर रहे हैं, अपने आप (स्वतःसिद्ध) परिणाम-स्वभाव की सिद्धि नहीं कर रहे हैं। किन्तु अपर पक्ष इस बात को भूल जाता है कि जिसका जो स्वभाव होता है, वह उसका स्वरूप होने से स्वतः

सिद्ध होता है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथाओं की अवतरणिका में 'स्वयमेव' पद न देकर प्रत्येक द्रव्य की स्वत:सिद्ध स्वरूपस्थिति का ही निर्देश किया है। अतएव उक्त अवतरणिका के आधार से अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि 'उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तु के परिणामस्वभाव की सिद्धि करना ही आचार्य को अभीष्ट रही है, अपने आप परिणामस्वभाव की नहीं।' वह युक्त प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रसंग में दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है कि 'गाथा 117 के उत्तरार्ध में जो संसार के अभाव की अथवा सांख्यमत की प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है, वह पुद्गल को परिणामी स्वभाव न मानने पर ही उपस्थित हो सकती है, अपने आप (स्वत:सिद्ध) परिणामी स्वभाव के अभाव में नहीं।' आदि। किन्तु यह आपत्ति इसलिए ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य को परत: परिणामस्वभावी मान लेने पर एक तो वह द्रव्य का स्वभाव नहीं ठहरेगा और ऐसी अवस्था में द्रव्य का ही अभाव मानना पड़ेगा। दूसरे यह जीव पुद्गल कर्म से सदा ही बद्ध बना रहेगा, अतएव मुक्ति के लिए यह आत्मा स्वतन्त्ररूप से प्रयत्न भी न कर सकेगा। यदि अपर पक्ष इस आपत्ति को उपस्थित करते समय गाथा 116 के पूर्वार्ध पर दृष्टिपात कर लेता तो उसके द्वारा यह आपत्ति ही उपस्थित न की गई होती। पुद्गल अपने परिणाम स्वभाव के कारण आप स्वतन्त्र कर्ता होकर जीव के साथ बद्ध है और आप मुक्त होता है, इसी से बद्ध दशा में जीव का संसार बना हुआ है। यदि ऐसा न माना जाये और पुद्गल को स्वभाव से अपरिणामी माना जाये तो एक तो संसार का अभाव प्राप्त होता है, दूसरे सांख्यमत का प्रसंग आता है, यह उक्त गाथाओं का तात्पर्य है, न कि यह जिसे अपर पक्ष फलित कर रहा है। स्पष्ट है कि यह दूसरी आपत्ति भी प्रकृत में अपर पक्ष के इष्टार्थ की सिद्धि नहीं करती। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस विषय को विशदरूप से स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अथ जीव: पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभाव: इति तर्क: ? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीव: पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत। न हि स्वतोऽसती शक्ति: कर्तुमन्येन पार्येत। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तय: परमपेक्षन्ते। तत: पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्।

इसका अर्थ करते हुए पण्डित श्री जयचन्दजी लिखते हैं—

और जो ऐसा तर्क करे कि जीव, पुद्गल द्रव्य को कर्म भावकर परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं हो सकता ? उसका समाधान यह है कि पहले दो पक्ष लेकर पूछते हैं—जो जीव पुद्गल को परिणमाता है, वह स्वयं अपरिणमते को परिणमाता है या स्वयं परिणमते को परिणमाता है ? उनमें से पहला पक्ष लिया जाये तो स्वयं अपरिणमते को नहीं परिणमा सकता, क्योंकि आप न परिणमते को पर के (द्वारा) परिणमाने की सामर्थ्य नहीं होती, स्वत: शक्ति जिसमें नहीं होती, वह पर कर भी नहीं की जा सकती। और जो पुद्गलद्रव्य को स्वयं परिणमते को जीव कर्मभावकर परिणमाता है - ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाये तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने आप परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं करती। इसलिए पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे। ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणत हुई मिट्टी, अपने आप कलश ही है; उसी तरह जड़ स्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है। ऐसे पुद्गल द्रव्य को परिणामस्वभावता सिद्ध हुआ।

यह परमागम की स्पष्टोक्ति है जो निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्ष के कथन का आशय क्या है, इसे विशदरूप से स्पष्ट कर देती है। निश्चयनय से देखा जाये तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाववाला होने से अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को अपने में, अपने द्वारा, अपने लिए, आप ही करता है। उसे इसके लिये पर की सहायता की अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं होती। यह कथन वस्तुस्वरूप को उद्घाटन करनेवाला है, इसलिए वास्तविक है, कथनमात्र नहीं है। व्यवहारनय से देखा जाये तो कुम्भकार के विवक्षित क्रिया परिणाम के समय मिट्टी का विवक्षित क्रियापरिणाम दृष्टिपथ में आता है, यत: कुम्भकार का विवक्षित क्रिया परिणाम, मिट्टी के घटपरिणाम की प्रसिद्धि का निमित्त (हेतु) है, अत: इस नय से यह कहा जाता है कि कुम्भकार ने अपने क्रियापरिणाम द्वारा मिट्टी में घट किया। यत: यह कथन वस्तुस्वरूप को उद्घाटन करनेवाला न होकर, उसे आच्छादित करनेवाला है, अत: वास्तविक नहीं है, कथनमात्र है। परमागम में निश्चयनय को प्रतिषेधक और व्यवहारनय को प्रतिषेध्य क्यों बतलाया गया है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। स्वरूप का उपादान और पररूप का अपोहन करना, यह जबकि वस्तु का वस्तुत्व है, ऐसी अवस्था में उस द्वारा असत् पक्ष को कहनेवाले व्यवहारनय का अपोहन अपने आप हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृष्ठ 131 में लिखा है—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य।

अर्थ पूर्व में लिखा ही है।

व्यवहारनय असत् पक्ष को कहनेवाला है, यह इसी से स्पष्ट है कि वह अन्य के धर्म को अन्य का कहता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 56 की टीका में यह वचन लिखा है—

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादि-प्रसिद्धबन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से कुसुम्बी रंग से रंगे हुए तथा सफेद रुई से बने हुए वस्त्र के औपाधिक भाव की भाँति पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है—ऐसे जीव के औपाधिक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को दूसरे के कहता है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय 7 के अनेक स्थलों पर निश्चय-व्यवहार के विषय में इसी कारण यह लिखा है—

तहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। तिनविषै यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है। *(पृष्ठ-287)*

एक ही द्रव्य के भाव को तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है। उपचारकरि तिस द्रव्य के भावकौं अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है। *(पृष्ठ-369)*

इस प्रकार इतने विवेचन द्वारा यह सुगमता से समझ में आ जाता है कि समयसार की उक्त गाथाओं द्वारा पुद्गलद्रव्य के स्वतः सिद्ध परिणामस्वभाव का ही कथन किया गया है। जबकि पुद्गलद्रव्य पर की अपेक्षा किये बिना स्वरूप से स्वयं परिणामीस्वभाव है, ऐसी अवस्था में वह परसापेक्ष परिणामीस्वभाव है, इसका निषेध ही होता है, समर्थन नहीं। यह बात इतनी स्पष्ट है, जितना कि सूर्य का प्रकाश।

अपर पक्ष का कहना है कि ''यदि इन गाथाओं में 'स्वयं' शब्द का अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायेगा तो गाथा 117 के पूर्वार्ध में भी 'स्वयं' शब्द के पाठ की आवश्यकता

अनिवार्य हो जायेगी। ऐसी हालत में उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्द के पाठ करने की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।''

इसका समाधान यह है कि एक तो गाथा 116 और गाथा 118 में आये हुए 'स्वयं' पद की अनुवृत्ति हो जाने से गाथा 117 के अर्थ की संगति बैठ जाती है, इसलिए अपर पक्ष ने गाथा 117 के पूर्वार्ध में 'स्वयं' पद को न देखकर जो आपत्ति उपस्थित की है, वह ठीक नहीं। दूसरे समयसार की इस गाथा को गाथा 122 के प्रकाश में पढ़ने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस गाथा में आचार्य को 'स्वयं' पद इष्ट है। गाथा 122 में वही बात कही गयी है, जिसका निर्देश गाथा 117 में आचार्य ने किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि गाथा 122 में जीव को विवक्षित कर उक्त विषय का विवेचन किया गया है और गाथा 117 में पुद्गल को विवक्षित कर उक्त विषय का विवेचन किया गया है। अभिप्राय की दृष्टि से दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। अत: गाथा 117 के पूर्वार्ध में 'स्वयं' पद को न देखकर, अपर पक्ष ने जो उक्त सभी गाथाओं में 'स्वयं' पद के 'अपने आप' 'स्वयं ही' अर्थ करने में आपत्ति उपस्थित की है, वह ठीक नहीं।

इस प्रकार उक्त विवेचन से एकमात्र यही सिद्ध होता है कि पुद्गल स्वयं परिणामीस्वभाव है और साथ ही उक्त विवेचन से यह अभिप्राय सुतरां फलित हो जाता है कि अपर पक्ष ने अपने तर्कों के आधार पर उक्त गाथाओं का जो अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है। वैसे तो यहाँ पर उक्त गाथाओं का अर्थ देने की आवश्यकता नहीं थी किन्तु अपर पक्ष ने जब उनका अपनी मति से कल्पित अर्थ अपनी प्रस्तुत प्रतिशंका में दिया है, ऐसी अवस्था में यहाँ सही अर्थ दे देना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

यदि यह पुद्गल द्रव्य जीव में स्वयं नहीं बँधा और कर्मभाव से स्वयं नहीं परिणमता तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में कर्मवर्गणाओं के कर्मरूप से स्वयं नहीं परिणमने पर संसार का अभाव प्राप्त होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है। यदि यह माना जाये कि जीव पुद्गल द्रव्यों को कर्मरूप से परिणमाता है तो (प्रश्न होता है कि) स्वयं नहीं परिणमते हुए उन पुद्गल द्रव्यों को चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है। इसलिए यदि यह माना जाये कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूप से परिणमता है तो जीव कर्म अर्थात् पुद्गल द्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिए जैसे

नियम से कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्य कर्म ही है, वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि ही है - ऐसा जानो॥ 116-120॥

इस प्रकार इस अर्थ पर दृष्टिपात करने से ये दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—प्रथम तो यह कि अपर पक्ष ने उक्त गाथाओं का जो अर्थ किया है, वह उन गाथाओं की शब्दयोजना से फलित नहीं होता। दूसरे इन गाथाओं में आये हुए 'स्वयं' पद का जो मात्र 'अपने रूप' अर्थ किया है, वह ऐकान्तिक होने से ग्राह्य नहीं है। कर्ता के अर्थ में उसका अर्थ 'स्वयं ही' या 'आप ही' करना संगत है और यह बात आगमविरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य आप कर्ता होकर अपने परिणाम को उत्पन्न करता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार में कहा भी है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ 102॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ अपने भाव को करता है, उस भाव का वह वास्तव में कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा कर्मरूप उस भाव का भोक्ता होता है॥ 102॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग-58 में भी कहा है—

अविद्यारागसंश्लिष्टो बम्भ्रमीति भवार्णवे।
विद्यावैराग्यशुद्धः सन् सिद्धगत्यविकलस्थितिः॥ 13॥
इत्यध्यात्मविशेषस्य दीपिका दीपिकेव सा।
रूपादेः समयत्याशु तमिस्रं तत्र सन्ततम्॥ 14॥

अविद्याराग से संश्लिष्ट हुआ यह जीव संसाररूपी समुद्र में घूमता रहता है और विद्यावैराग्य से शुद्ध होकर सिद्धगति में अविकल स्थितिवाला होता है॥ 13॥ यह अध्यात्म विशेष को बतानेवाली दीपिका है। इसलिए जैसे दीपक रूपादि विषयक अन्धकार को शीघ्र नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यह भी अज्ञानान्धकार को शीघ्र नष्ट कर देता है॥ 14॥

इससे प्रकृत में स्वयं पद का क्या अर्थ होना चाहिए, यह स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ अपर पक्ष ने 'स्वयं' पद के 'अपने आप' अर्थ का विरोध दिखलाने के लिए जो प्रमाण दिये हैं, उनके विषय में तो हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। किन्तु यहाँ हम इतना

संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि एक तो प्रस्तुत प्रश्न के प्रथम व दूसरे उत्तर में हमने 'स्वयमेव' पद का अर्थ 'अपने आप' न करके 'स्वयं ही' किया है। इस पद का 'अपने आप' यह अर्थ अपर पक्ष ने हमारे कथन के रूप में प्रस्तुत प्रश्न की दूसरी प्रतिशंका में मानकर टीका करनी प्रारम्भ कर दी है, जो युक्त नहीं है। हमने इसका विरोध इसलिए नहीं किया कि निश्चयकर्ता के अर्थ में 'स्वयमेव' पद का यह अर्थ ग्रहण करने में भी कोई आपत्ति नहीं। ऐसी अवस्था में 'अपने आप' पद का अर्थ होगा 'पर की सहायता बिना आप कर्ता होकर।' आशय इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपने में हो, कार्य अपने में हो, वह दूसरे की सहायता लिये बिना अपने कार्य का आप ही कर्ता होता है, अन्य पदार्थ नहीं।

इस प्रकार प्रवचनसार गाथा 169 की टीका में 'स्वयमेव' पद का क्या अर्थ लेना चाहिए, इसका खुलासा किया। अन्यत्र जहाँ-जहाँ कार्य-कारणभाव के प्रसंग से यह पद आया है, वहाँ-वहाँ इस पद का अर्थ करने में यही स्पष्टीकरण जानना चाहिये। यदि और गहराई से विचार किया जाये तो यह पद निश्चयकर्ता के अर्थ में तो प्रयुक्त हुआ ही है, इसके सिवाय इस पद से अन्य निश्चयकारकों का भी ग्रहण हो जाता है।

आगे अपर पक्ष ने 'उपचार' पद के अर्थ के विषय में निर्देश करते हुए धवल पुस्तक 6, पृष्ठ 11 के आधार से जो उस पद के 'अन्य के धर्म को अन्य में आरोपित करना उपचार है।' इस अर्थ को स्वीकार कर लिया है, वह उचित ही किया है। उसी प्रकार वह पक्ष समयसार गाथा 105 में आये हुए 'उपचार' पद का भी उक्त अर्थ ग्रहण करेगा, ऐसी हमें आशा है, क्योंकि जिस प्रकार धवल पुस्तक 6 पृष्ठ 11 में जीव के कर्तृत्व धर्म का उपचार जीव से अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) मोहनीय द्रव्यकर्म में करके, जीव को मोहनीय कहा गया है; उसी प्रकार समयसार गाथा 105 में कर्मवर्गणाओं के कर्तृत्व धर्म का आरोप जीव में करके, जीव को पुद्गल कर्म का कर्ता कहा गया है। दोनों स्थलों पर न्याय समान है। यहाँ मोहनीय कर्मोदय जीव के अज्ञानभाव के होने में निमित्त है। समयसार गाथा 105 में जीव का अज्ञान परिणाम ज्ञानावरणादिरूप कर्म परिणाम में निमित्त है। इस प्रकार दोनों स्थलों पर बाह्य सामग्रीरूप से व्यवहार हेतु का सद्भाव है। अतएव समयसार गाथा 105 में '**मुख्याभावे सति प्रयोजने**' इत्यादि वचन की चरितार्थता बन जाती है।

समयसार गाथा 105 को लक्ष्य में रखकर अपर पक्ष का कहना है कि 'परन्तु ऐसा उपचार प्रकृत में सम्भव नहीं है, कारण कि आत्मा के कर्तृत्व का उपचार यदि द्रव्यकर्म में

आप करेंगे तो इस उपचार के लिए सर्व प्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन देखना होगा, जिसका कि सर्वथा अभाव है।' समाधान यह है कि यहाँ पर व्यवहारहेतु और व्यवहार प्रयोजन का न तो अभाव ही है और न ही आत्मा के कर्तृत्व का उपचार द्रव्यकर्म में कर रहे हैं। किन्तु प्रकृत में हम कर्मपरिणाम के सन्मुख हुई, कर्मवर्गणाओं के कर्तृत्व का आरोप, व्यवहारहेतु संज्ञा को प्राप्त अज्ञानभाव से परिणत आत्मा में कर रहे हैं। अतएव 'अत: यहाँ बाह्य हेतु और बाह्य प्रयोजन का सर्वथा अभाव है, इसलिए उपचार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती' अपर पक्ष का ऐसा अभिप्राय व्यक्त करना आगम विरुद्ध तो है ही, तर्क और अनुभव के भी विरुद्ध है। अपर पक्ष यदि उक्त गाथा की रचना पर दृष्टिपात करे तो उसे ज्ञात होगा कि स्वयं आचार्य ने गाथा के पूर्वार्ध में 'हेदुभूदे' पद का उल्लेख कर बाह्य निमित्त का निर्देश कर दिया है तथा 'बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं' वचन का उल्लेख कर मुख्यकर्ता और मुख्य कर्म की सूचना कर दी है। फिर भी बाह्य निमित्त के ज्ञान करानेरूप बाह्य प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर मुख्यकर्ता के स्थान में पुद्गलकर्मवर्गणाओं के कर्तृत्व का उनसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) अज्ञान परिणत जीव में उपचार करके उपचार से उक्त जीव को कर्म का कर्ता कहा गया है। स्पष्ट है कि समयसार गाथा 105 में उपचार पद का वही अर्थ लिया गया है, जिसका कि हम पिछले उत्तर में संकेत कर आये हैं और जिसे धवल पुस्तक 6 पृष्ठ 11 के **'मुह्यत इति मोहनीयम्'** वचन के अनुसार अपर पक्ष ने भी स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये मूल प्रश्न का अवान्तर विषयों के साथ सांगोपांग विचार किया।

●

प्रथम दौर

(1)

शंका 2

जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

समाधान

जीवित शरीर की क्रिया पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने के कारण उसका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीव का न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीर की क्रिया धर्म नहीं है, इसे स्पष्ट करते हुए नाटक समयसार में पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

जे व्यवहारी मूढ़ नर पर्यायबुद्धि जीव।
तिनके बाह्य क्रिया ही को है अवलंब सदीव॥ 121॥

कुमति बाहिज दृष्टि सो बाहिज क्रिया करंत।
माने मोक्ष परंपरा मन में हरष धरंत॥ 122॥

शुद्धातम अनुभव कथा कहे समकिती कोय।
सो सुनिके तासों कहें यह शिवपंथ न होय॥ 123॥

इस तथ्य का समर्थन आचार्यवर्य अमृतचन्द्र के इस कलश से होता है—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुष बोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम्॥ 242॥

इस कलश का अर्थ पूर्वोक्त दोहों से स्पष्ट है।

इस विषय पर विशेष प्रकाश डालते हुए परमात्मप्रकाश में भी कहा है—

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु।
परमसमाहिविवज्जियउ ण वि देक्खइ सिउ संतु॥ 2-191॥

अर्थ—जो घोर तपश्चरण करता है और सकल शास्त्र का भी मनन करता है, परन्तु परम समाधि से रहित है, वह राग, द्वेष और मोह आदि दोषों से रहित मोक्ष को प्राप्त नहीं होता॥ 2-191॥

फिर भी जीवित शरीर की क्रिया का धर्म-अधर्म के साथ नोकर्मरूप से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण जीव के शुभ, अशुभ और शुद्ध जो भी परिणाम होते हैं, उनको लक्ष्य में लेते हुए उपचार नय का आश्रय कर जीवित शरीर की क्रिया से धर्म अधर्म होता है, यह कहा जाता है।

●

द्वितीय दौर

(2)

शंका - 2

जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 2

हमारे उक्त प्रश्न के उत्तर में जो आपने यह लिखा है कि 'जीवित शरीर की क्रिया पुद्गल द्रव्य को पर्याय होने के कारण उसका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव होता है।' सो आपका यह लिखना आगम, अनुभव तथा प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योंकि जीवित शरीर को सर्वथा अजीव तत्त्व मान लेने पर जीवित तथा मृतक शरीर में कुछ अन्तर नहीं रहता। जीवित शरीर इष्ट स्थान पर जाता है, पर मृतक शरीर इष्ट स्थान पर नहीं जा-आ सकता। दाँतों से काटना, मारना, पीटना, तलवार बन्दूक लाठी चलाकर दूसरे का घात करना, पूजा-प्रक्षाल करना, सत्पात्रों को दान देना, लिखना, केशलोंच करना, देखना, सुनना, सूँघना, बोलना, प्रश्न-उत्तर करना, शराब पीना, मांस खाना आदि क्रियाएँ यदि अजीव तत्त्व की हैं, तो इन क्रियाओं-द्वारा आत्मा को सन्मान, अपमान, दण्ड, जेल आदि क्यों भोगना पड़ता है ? तथा स्वर्ग-नरक आदि क्यों जाना पड़ता है ?

अणुव्रत, महाव्रत, बहिरंग तप, समिति आदि जीवित शरीर से ही होते हैं, भगवान ऋषभदेव ने 1000 वर्ष तक तपस्या शरीर द्वारा की थी। अरहन्त भगवान का विहार तथा दिव्यध्वनि शरीर द्वारा ही होती है।

कायवाङ्मनःकर्म योगः (6-1 त०सू०) इस सूत्र के अनुसार कर्मास्रव में शरीर तथा तत्सम्बन्धी वचन एवं द्रव्यमन कारण हैं। अजीवाधिकरण आस्रव का कारण है। वह भी जीवित शरीर के अनुसार है। जीवित शरीर से ही उपदेश दिया जाता है, प्रवचन किया जाता है, शास्त्र लिखा जाता है, प्रवचन सुना जाता है।

आपने जो अपने कथन की पुष्टि में श्री पं० बनारसीदास जी के नाटक समयसार कलश तथा परमात्म-प्रकाश के पद्यों का अवतरण दिया है, उनका आशय तो केवल इतना है कि मिथ्यादृष्टि मात्र अपनी शारीरिक क्रिया से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी बहिरात्मा का शरीर द्वारा बालतप से स्वर्गगमन होता ही है। तथा असत् शारीरिक क्रियाओं द्वारा संसारभ्रमण होता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। (त० सू० 6-20)

वज्रवृषभनाराचसंहननवाले जीवित शरीर से शुक्लध्यान होकर मुक्ति होती है, उसी संहननवाले शरीर से तीव्रतम पापमयी क्रिया द्वारा सातवाँ नरक भी मिलता है।

पञ्चास्तिकाय की गाथा 171 की टीका में लिखा है—

संहननादिशक्त्यभावात् शुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यात्वात् वर्तमानभवे पुण्यबन्धं करोति।

अर्थ—शारीरिक संहननशक्ति के अभाव से शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर न हो सकने के कारण वर्तमानभव में पुण्यबन्ध करता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार में कहा है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा॥ 11॥

अर्थ—दान करना और पूजा करना श्रावक धर्म में मुख्य है, उनके बिना श्रावक नहीं होता॥11॥

कुन्दकुन्दाचार्य का बतलाया हुआ यह धर्म जीवित शरीर द्वारा ही होता है।

अन्त में आपने स्वयं अशुभ, शुभ और शुद्धभावों का नोकर्म शरीर को निमित्तकारण मान लिया है, किन्तु निराधार उपचार शब्द का प्रयोगकर अर्थान्तर करने का प्रयास किया है।

●

शंका -2

जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

प्रतिशंका नं० 2 को उपस्थित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र अ० 6, सू० 1, 6 व 7 तथा

पंचास्तिकाय गाथा 171 और रयणसार गाथा 11 को प्रमाणरूप में उपस्थित कर तथा कतिपय लौकिक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म होता है।

यह तो सुविदित सत्य है कि आगम में निश्चयरत्नत्रय को यथार्थ धर्म कहकर उसके साथ जो देवादि की श्रद्धा, संयमासंयम और संयम सम्बन्धी व्रतादि में प्रवृत्तिरूप परिणाम होता है, उसे व्यवहार धर्म कहा है। और सम्यग्दृष्टि के शरीर में एकत्वबुद्धि नहीं रहती। यदि कोई जीव शरीर में एकत्वबुद्धि कर शरीर की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानता है तो उसे अप्रतिबुद्ध कहा है। वहाँ (समयसार में) कहा है—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ 19॥

अर्थ—कर्म और नोकर्म (देहादि तथा शरीर की क्रिया) में मैं हूँ, तथा मैं कर्म-नोकर्म हूँ, जो ऐसी बुद्धि करता है, तब तक वह अप्रतिबुद्ध है॥19॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा 160 में भी कहा है—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण कारयिदा अणुभंता णेव कत्तीणं॥ 160॥

अर्थ—मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ॥ 160॥

इसकी टीका में कहा है—

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये। ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथाहि न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतन-द्रव्यमस्मि। तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीर-वाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। इत्यादि।

अर्थ—मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ, इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। यथा — वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मेरे स्वरूपाधार हुए बिना ही वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिए मैं शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

आगे पुनः लिखा है—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं॥ 161॥

अर्थ—देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक है, ऐसा जिनदेव ने कहा है और वे पुद्गलद्रव्य परमाणु द्रव्यों का पिण्ड है॥161॥

प्रवचनसार गाथा 162 तथा नियमसार में भी यही स्वीकार किया गया है, इसलिए इनका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव नहीं होता, यह तो कहा नहीं जा सकता।

प्रतिशंका 2 द्वारा श्री तत्त्वार्थसूत्र आदि के उद्धरण देकर जो जीवित शरीर से धर्म की प्राप्ति का समर्थन किया गया है, सो वह आस्रव का प्रकरण है। उस अध्याय में धर्म का निर्देश नहीं किया गया है। उसमें भी जहाँ कहीं निमित्त की अपेक्षा निर्देश भी हुआ है, सो निमित्त तो अनेक पदार्थ होते हैं तो क्या इतने मात्र से उन सबसे धर्म की प्राप्ति मानी जायेगी। शरीर आदि पदार्थों को जहाँ भी निमित्त लिखा है, सो वह विजातीय असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ही निमित्त कहा है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए सोलापुर से मुद्रित नयचक्र पृ० 45 में इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

शरीरमपि यो जीवं प्राणी प्राणिनो वदति स्फुटम्।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः॥ 1॥

अर्थ—जो प्राणियों के शरीर को भी जीव कहता है, उसे जिनदेव के उपदेशानुसार विजातीय असद्भूत व्यवहार जानना चाहिए॥1॥

स्वयंभूस्तोत्र में श्री वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते॥ 59॥

अर्थ—अभ्यन्तर अर्थात् उपादानकारण जिसका मूल हेतु है, ऐसी गुण और दोषों की उत्पत्ति का जो बाह्य वस्तु निमित्तमात्र है, मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुए जीव के लिए वह गौण है, क्योंकि हे भगवन्! आपके मत में उपादान हेतु कार्य करने के लिये पर्याप्त है॥ 59॥

तात्पर्य यह है कि जो अपने उपादान की सम्हाल करता है, उसके लिए उपादान के अनुसार कार्य काल में निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य

करने के सन्मुख हो और उस कार्य में अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें। इस जीव का अनादिकाल से पर द्रव्य के साथ संयोग बना चला आ रहा है, इसलिए वह संयोगकाल में होनेवाले कार्यों को जब जिस पदार्थ का संयोग होता है उससे मानता आ रहा है, यही इसकी मिथ्या मान्यता है। फिर भी यदि जीवित शरीर की क्रिया से धर्म माना जावे तो मुनि के ईर्यापथ से गमन करते समय कदाचित् किसी जीव के उसके पग का निमित्त पाकर मरने पर उस क्रिया से मुनि को भी पाप-बन्ध मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है। जिनागम में कहा भी है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते। — सर्वार्थसिद्धि 7-13

दूसरे को निमित्त कर दूसरे के प्राणों का वियोग हो जाता है, फिर भी वह हिंसा का भागी नहीं होता।

अतएव प्रत्येक प्राणी के अपने परिणामों के अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होता है, जीवित शरीर की क्रिया के अनुसार नहीं, यह यहाँ निर्णय करना चाहिए और ऐसा मानना ही जिनागम के अनुसार है।

●

तृतीय दौर

(3)

शंका-2

जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 3

इसके उत्तर में आपने यह लिखा कि 'जीवित शरीर की क्रिया पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने के कारण उसका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीव का न तो धर्म भाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीर की क्रिया धर्म नहीं।'

इस उत्तर में आपने जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म अधर्म होता है या नहीं,

इस मूल प्रश्न को तो छुआ ही नहीं, सिर्फ इतना लिख दिया कि शरीर की क्रिया धर्म-अधर्म नहीं है। जैसा कि हमने पूछा हो कि जीवित शरीर की क्रिया धर्म है या अधर्म ?

यह सर्व विदित है कि धर्म और अधर्म आत्मा की परिणतियाँ हैं और वे आत्मा में ही अभिव्यक्त होते हैं परन्तु उनके अभिव्यक्त होने में जीवित शरीर की क्रियाएँ निमित्त पड़ती हैं। यदि ऐसा न हो तो शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जावें। कार्य की सिद्धि में निमित्त और उपादान - दोनों कारण आवश्यक हैं, परन्तु केवल उपादान की मान्यता शास्त्र संमत कार्य-कारण व्यवस्था पर कुठाराघात कर रही है।

आपने नाटक समयसार के दोहे उद्धृत करते हुए मात्र जीवित शरीर की क्रिया को धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि का उल्लेख किया है, सो उससे प्रश्न का समाधान नहीं होता, क्योंकि शरीर की क्रिया की तो सर्वथा हम भी धर्म-अधर्म नहीं मानते। हमारा अभिप्राय तो यह है कि आत्मा की धर्म और अधर्म परिणति में जीवित शरीर की क्रिया निमित्त है, जिसे आप निमित्त या उपचार मात्र कहकर अवस्तुभूत-असत्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, पर क्या वास्तव में यह सब अवस्तुभूत है ? यदि अवस्तुभूत ही है तो मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मभूमिज मनुष्य का देह और ध्यान की सिद्धि के लिये उत्तम संहनन आदि की अनिवार्यता शास्त्र संमत नहीं रह जायेगी।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥ 60॥

—स्वयंभूस्तोत्र

समन्तभद्रस्वामी के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कार्य की उत्पत्ति में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों की पूर्णता आवश्यक है। द्रव्य का-पदार्थ का कार्योत्पत्ति के विषय में यही स्वभाव है। अन्यथा-मात्र बाह्य या आभ्यन्तर के ही कारण मानने पर पुरुष के मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वयंभूस्तोत्र के इससे पूर्ववर्ती श्लोक—'**यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते**'—का जो अर्थ आपने अपने प्रत्युत्तर में किया है, उससे बाह्येतरोपाधि—श्लोक के साथ पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है, इसलिए हमारी दृष्टि से यदि उसका निम्न प्रकार अर्थ किया जाये तो उससे पूर्वापर विरोध ही दूर नहीं होता, बल्कि संस्कृत टीकाकार के भाव की भी सुरक्षा होती है।

अर्थ—गुण-दोष की उत्पत्ति में जो बाह्य वस्तु निमित्त है, वह चूँकि अध्यात्मवृत्त—आत्मा में होनेवाले शुभाशुभ लक्षणरूप अन्तरंग मूल कारण का अंगभूत है-सहकारी कारण है, अत: केवल अन्तरंग भी कारण कहा जा सकता है।

फिर यह पात्र की विशेषता को लक्ष्य में रखकर कथन किया गया है, अत: इससे कार्यकारण की व्यवस्था को असंगत नहीं माना जा सकता। पात्र की विशेषता को दृष्टि में रखकर किसी कथन को विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है। परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मण:।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥ 22॥ —अष्टसहस्री

समन्तभद्रस्वामी ने अंग शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने—

शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्मणां तदगंता तद्गुणभाव:।

पंक्ति में गौण अर्थ किया है और गौण का अर्थ —

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते।

—*स्वयंभूस्तोत्र 53*

श्लोक द्वारा अविवक्षित बतलाया है, परन्तु अविवक्षित को निरात्मक-असद्भूत नहीं बतलाया।

तत्त्वार्थसूत्र के उद्धरणों के विषय में आपने लिखा सो उसका स्पष्टीकरण यह है कि मूल प्रश्न में धर्म-अधर्म दोनों की चर्चा है, न केवल धर्म की। वहाँ अभिप्राय मात्र इतना है कि कार्यसिद्धि में परपदार्थ कारण पड़ता है या नहीं। उसी ओर आपकी समन्वयात्मक दृष्टि नहीं गयी मालूम होती है।

आगे आप लिखते हैं कि 'जो उपादान की सम्हाल करता है, उसके लिये उपादान के अनुसार कार्य-काल में निमित्त अवश्य मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करने के सन्मुख हो और उस कार्य में अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें।' सो आपका ऐसा लिखना आगम विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि धवला पुस्तक 1 पृष्ठ 150 पर

निर्वाणपुरस्कृतो भव्य:, उक्तञ्च —

सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण उ मलविगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव॥

इस गाथा का अर्थ लिखते हुए लिखा है कि जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है, उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है — जो जीव सिद्धत्व के योग्य हैं, उन्हें भव्य कहते हैं, किन्तु उनके कनकोपल के समान मल का नाश होने का नियम नहीं है।

इसके विशेषार्थ में पण्डित फूलचन्द्रजी ने स्वयं लिखा है—

सिद्धत्व की योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है; उसी प्रकार सिद्ध अवस्था की योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्री के न मिलने से सिद्ध पदवी प्राप्त नहीं होती है।

इस प्रकार यह स्वीकार किया गया है कि भव्य जीव में योग्यता होते हुए भी उपदेश आदि सामग्रीरूप निमित्तों के न मिलने से सिद्धपद की प्राप्ति नहीं होती। इसी के लिये शीलवती विधवा स्त्री का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार शीलवती विधवा स्त्री के पुत्र उत्पन्न करने की योग्यता तो है, किन्तु पति का मरण हो जाने के कारण पतिरूप निमित्त का संयोग न मिलने से पुत्रोत्पत्ति नहीं होती।

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि उपादान में योग्यता है, परन्तु निमित्त न मिलने से कार्य नहीं होता। वर्णी ग्रन्थमाला से प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र के पृष्ठ 218 पर पण्डित फूलचन्द्र ने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणम जाता है, वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्तकारण इन दो के मेल से होता है, केवल एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। छात्र सुबोध है, पर अध्यापक या पुस्तक का निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ उपादान है, किन्तु निमित्त नहीं; इसलिए कार्य नहीं हुआ। छात्र को अध्यापक या पुस्तक का निमित्त मिल रहा है, पर वह मन्दबुद्धि है, इसलिए भी वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ निमित्त है, किन्तु उपादान नहीं; इसलिए कार्य नहीं हुआ। निमित्त के बिना केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार जब यह स्वीकार किया जा चुका है कि उपादान उपस्थित है, किन्तु

निमित्त नहीं है, इसलिए कार्य नहीं हुआ; इसके विरुद्ध आपकी 'ऐसा नहीं कि उपादान अपना कार्य करने के सन्मुख हो और उस कार्य में अनुकूल निमित्त न मिलें', इस बात को कौन ठीक मान लेगा?

प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि मनुष्य देखना चाहता है, किन्तु मोतियाबिन्द आ जाने से अथवा अन्य कोई चीज की आड़ आ जाने से नहीं देख सकता। चलना चाहता है, पर लकवा मार जाने से चल नहीं सकता। चित्त की स्थिरतारूप ध्यान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता और चित्त की स्थिरता शरीर बल के बिना नहीं हो सकती। कहा भी है—

विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावान्निरन्तरं तत्र स्थातुं न शक्नोति।

— पञ्चास्तिकाय, गाथा 170 की टीका

अर्थात् विशिष्ट शक्ति के अभाव के कारण निजस्वभाव में निरन्तर नहीं ठहर सकता।

इसी बात को पण्डित फूलचन्द्रजी ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका में लिखा है—

चित्त को स्थिर रखने के लिये आवश्यक शरीर बल अपेक्षित रहता है, जो उक्त तीन संहननवालों के सिवा अन्य के नहीं हो सकता।

अतः मोक्षमार्ग में शरीर बल अपेक्षित रहता है अर्थात् शरीर बलरूप निमित्त के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। पार्श्वपुराण में कहा भी है—

यह तन पाय महा तप कीजे, यामें सार यही है।

मात्र शरीर की क्रिया से धर्म-अधर्म नहीं होता, ऐसा एकान्त नियम भी नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं मात्र शरीर की क्रिया से भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीर की चेष्टा से संयम का छेद होना। प्रवचनसार की गाथा 211-212 की टीका देखिये—

द्विविधः किल संयमस्य छेदः—बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरंगः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरङ्गच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम्।

अर्थ—संयम का छेद दो प्रकार का है—बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा

सम्बन्धी बहिरंगच्छेद है और उपयोगसम्बन्धी अन्तरंग छेद है। उसमें यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा का कथंचित् बहिरंगच्छेद होता है तो वह सर्वथा अन्तरंग छेद से रहित है, इसलिए आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार होता है, किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधि में कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा प्रतिसंधान होता है।

इस प्रकार प्रवचनसार के उक्त उल्लेख से यह सिद्ध है कि मात्र कायचेष्टा से भी अधर्म होता है। यह ही बात श्री 108 मणिमाली की कथा से भी सिद्ध होती है कि मात्र शरीर की क्रिया से कायगुप्तिरूपी संयम का छेद हो गया। वह कथा इस प्रकार है—श्री 108 मणिमाली मुनिराज विहार करते हुए एक दिन उज्जयिनी पहुँचे और वहाँ की श्मशान भूमि में ध्यान की सिद्धि निमित्त निश्चलरूप से स्थिर हो गये। उसी समय एक कोरिया मन्त्रवादी महावेतालीय विद्या सिद्ध करने के लिये वहाँ आया। ध्यान में स्थित मुनि महाराज के शरीर को उसने मुर्दे का शरीर समझा। कहीं से वह दूसरा मस्तक उठा लाया और पीछे से मुनिराज के मस्तक के साथ जोड़ दिया। खीर पकाने के लिये उस कोरिया ने एक मस्तक का चूला बनाया और अग्नि जला दी। अग्नि के ताप से मुनि महाराज की नसें संकुचित हो गईं, जिससे उनके दोनों हाथ ऊपर को उठ गये। इससे उनकी कायगुप्ति भंग हो गई। (महारानी चेलनाचरित्र, पृष्ठ 112, सूरत से प्रकाशित वीर सं० 2486)

अब यह बात सिद्ध की जाती है कि मात्र शरीर की क्रिया से ऐसा धर्म होता है, जो सर्व कर्मक्षय का व संसार विच्छेद का कारण है—

यह तो सुनिश्चित है कि केवली जिनके मोह राग-द्वेष का अभाव है, इसीलिए उनके जो पुण्योदय से चलने-बैठने तथा उपदेश देनेरूप शारीरिक क्रिया होती है, वह बन्ध का कारण नहीं होती, अपितु कथंचित् क्षायिकी होने से मोक्ष का कारण होती है। प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा भी है—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइय त्ति मदा॥ 45॥

अर्थ—पुण्यफलवाले अरहन्त हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है। अरहन्त भगवान मोहादि से रहित हैं, इसलिए उनकी क्रिया क्षायिकी मानी गई है।

इसकी टीका में भी अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

मोह-राग-द्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत।

अर्थ—मोह-राग-द्वेषरूपी उपरञ्जकों (विकारी भावों) का अभाव होने से, अरहन्त भगवान की बिहार आदि क्रिया चैतन्य विकार का कारण नहीं होती, इसलिए कार्यभूत बन्ध की अकारणभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों नहीं माननी चाहिये, अर्थात् अवश्य माननी चाहिये।

केवली भगवान के वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति यदि आयुकर्म की स्थिति से अधिक होती है तो वेदनीय आदि तीन कर्मों की अधिक स्थिति का नाश करने के लिये, उस रूप प्रयत्न या उपयोग के बिना ही केवलीसमुद्घात होता है, क्योंकि इन तीन कर्मों की अधिक स्थिति का नाश हुए बिना संसार का विच्छेद नहीं हो सकता।

श्री धवलसिद्धान्त पुस्तक 2 पृष्ठ 302 में कहा भी है—

संसारविच्छित्तौ किं कारणम्? द्वादशांगावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्धातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च।

अर्थ—संसार विच्छेद का क्या कारण है? द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्रभक्ति, केवलिसमुद्धात और अनिवृत्तिरूप परिणाम—ये सब संसार विच्छेद के कारण हैं।

चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने से केवलि जिनका उपयोग स्थिर हो जाता है, किसी भी शारीरिक क्रिया के लिये उस रूप प्रयत्न या उपयोग की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अतः केवलिसमुद्धातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है, जो संसार-विच्छेद का कारण है। संसार-विच्छेद का जो भी कारण है, वह सब धर्म है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि धर्म-अधर्म में शरीर की क्रिया सहकारी कारण तो है ही, किन्तु किन्हीं अवस्थाओं में मात्र शरीर की क्रिया से संयम का छेदरूपी अधर्म तथा संसारविच्छेद का कारणरूप धर्म भी होता है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 2

जीवित शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

1. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरों का उपसंहार

इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में हमने सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दिया था कि जीवित शरीर की क्रिया पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, इसलिए उसका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव होता है। वह न तो जीव का धर्मभाव ही है और न अधर्मभाव ही। दूसरी यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इसकी नोकर्म में परिगणना की गई है। अतएव जीवभाव में यह निमित्तमात्र कही गई है। किन्तु निमित्तकथन असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से इस कथन को उपचरित ही जानना चाहिए।

किन्तु अपर पक्ष जीवित शरीर की क्रिया का अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव करने के लिए तैयार नहीं है। इसका खुलासा करते हुए प्रतिशंका 2 में उसका कहना है कि 'जीवित शरीर को सर्वथा अजीव तत्त्व में मान लेने पर, जीवित तथा मृतक शरीर में कुछ अन्तर नहीं रह जाता।' इस प्रतिशंका में अन्य जो भी कथन हुआ है, वह इसी आशय की पुष्टि करता है।

अतएव इसके उत्तर में निश्चय-व्यवहार धर्म का स्वरूप बतलाकर हमने लिखा है कि शरीर और शरीर की क्रिया में एकत्व बुद्धि यह अप्रतिबुद्ध का लक्षण है। अतएव सम्यग्दृष्टि उससे धर्म की प्राप्ति नहीं मानता। अधर्म की प्राप्ति भी उससे होती है, ऐसी भी मान्यता उसकी नहीं रहती। वह तो कार्यकाल में निमित्तमात्र है।

2. प्रतिशंका 3 के आधार से विचार

हमने प्रथम उत्तर में ही यह स्पष्टीकरण किया है कि जीवित शरीर की क्रिया जीव का न धर्म है और न अधर्म ही। इस पर अपर पक्ष का कहना है कि यह हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं है। समाधान यह है कि यदि जीवित शरीर की क्रिया से धर्म-अधर्म की प्राप्ति स्वीकार की जाये तो उसे आत्मा का धर्म-अधर्म मानना भी अनिवार्य हो जाता है। समयसार में बन्ध और मोक्ष के कारणों का निर्देश करते हुए लिखा है—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि॥ 167॥

जीवकृत रागादि युक्त भाव नये कर्म का बन्ध करानेवाला कहा गया है। किन्तु रागादि से रहित भाव बन्धक नहीं है, वह मात्र ज्ञायक ही है ॥167॥

इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर मुक्ति और संसार के कारणों का निर्देश करते हुए रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥ 3॥

तीर्थंकरादि गणधर देवों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है तथा इनसे विपरीत मिथ्यादर्शनादि तीनों संसार के कारण हैं॥ 3॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जो धर्म और अधर्म के कारण हैं, वे स्वयं धर्म और अधर्म भी हैं। यतः अपर पक्ष जीवित शरीर की क्रिया से धर्म और अधर्म की प्राप्ति मानता है, अतः उस पक्ष के इस कथन से जीवित शरीर की क्रिया भी स्वयं धर्म-अधर्म सिद्ध की जाती है। यही कारण है कि मूल प्रश्न के उत्तर के प्रारम्भ में ही हमने यह स्पष्टीकरण करना उचित समझा कि जीवित शरीर की क्रिया न तो स्वयं आत्मा का धर्म ही है और न अधर्म ही। अपर पक्ष ने अपनी इस प्रतिशंका 3 में विधिमुख से यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'धर्म और अधर्म आत्मा की परिणतियाँ हैं और वे आत्मा में ही अभिव्यक्त होते हैं।' किन्तु निषेध मुख से वह पक्ष यह और स्वीकार कर लेता कि जीवित शरीर की क्रिया न तो स्वयं धर्म है और न अधर्म ही, तो उस पक्ष के इस कथन से यह शंका दूर हो जाती कि वह पक्ष अपनी मूल शंका द्वारा कहीं जीवित शरीर की क्रिया को ही धर्म-अधर्म नहीं ठहराना चाह रहा है। यतः इस शंका का निर्मूलन हो जाये इसी भाव को ध्यान में रखकर हमने प्रथम उत्तर के प्रारम्भ में यह खुलासा किया है कि जीवित शरीर की क्रिया न तो स्वयं आत्मा का धर्म है और न अधर्म ही।

अपर पक्ष का कहना है कि आत्मा के धर्म-अधर्म के अभिव्यक्त होने में जीवित शरीर की क्रियाएँ निमित्त हैं, सो इसको हमारी ओर से अस्वीकार कहाँ किया गया है। अपने दोनों उत्तरों में हमने इसे स्पष्ट कर दिया है। किन्तु शरीर द्वारा होनेवालीं समीचीन और

असमीचीन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि आत्मा के शुभाशुभ परिणामों के आधार पर ही उन्हें समीचीन और असमीचीन कहा जाता है। वे स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं होतीं। यदि वे स्वयं समीचीन और असमीचीन होने लगें तो अपने परिणामों के सम्हाल की आवश्यकता ही न रह जाये। सागारधर्मामृत अध्याय 4 में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्षत।
भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥ 23॥

यदि बन्ध और मोक्ष के भाव ही एकमात्र कारण न हों तो जीवों से व्याप्त पूरे लोक में कहाँ विचरता हुआ कोई भी प्राणी मोक्ष को प्राप्त करे॥ 23॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करनेवाला सर्वार्थसिद्धि का यह वचन भी लक्ष्य में लेने योग्य है। उसके छठे अध्याय सूत्र तीन में कहा है—

कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाशुभः।

शंका—योग का शुभाशुभपना किस कारण से है?

समाधान—जो योग शुभ परिणामों को निमित्त कर होता है, वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामों को निमित्त कर होता है, वह अशुभ योग है।

इससे स्पष्ट है कि जीवित शरीर की क्रिया स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं हुआ करती, किन्तु जीव के शुभाशुभ परिणामों के आधार से उसमें समीचीन और असमीचीनपने का व्यवहार किया जाता है।

हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरण के आधार पर अपर पक्ष जीवित शरीर की क्रियाओं के स्वयं समीचीन और असमीचीन होने के विचार का त्यागकर अपने इस विचार को मुख्यता देगा कि प्रत्येक प्राणी को मोक्ष के साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामों की सम्हाल में लगना चाहिए। संसार के छेद का एकमात्र यही भाव मूल कारण है, अन्यथा संसार की ही वृद्धि होगी।

बाह्य क्रिया धर्म नहीं है, इस अभिप्राय की पुष्टि में ही हमने नाटक समयसार के वचन का उल्लेख किया था।

अपर पक्ष का कहना है कि क्रिया को तो सर्वथा धर्म-अधर्म हम भी नहीं मानते। तो क्या इस पर से यह आशय फलित किया जाये कि अपर पक्ष जीवित शरीर की क्रिया को कथंचित् धर्म-अधर्म मानता है ? यदि यही बात है तो अपर पक्ष के इस कथन की कि 'धर्म और अधर्म आत्मा की परिणतियाँ हैं और वे आत्मा में ही अभिव्यक्त होते हैं' क्या सार्थकता रही ? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यह बात नहीं है तो उस पक्ष को इस बात का स्पष्ट खुलासा करना था।

यह तो अपर पक्ष भी जानता है कि निमित्त और कारण पर्यायवाची संज्ञाऐं हैं। वह बाह्य भी होता है और आभ्यन्तर भी। उनमें-से आभ्यन्तर निमित्त कार्य का मुख्य-निश्चय हेतु है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र कारिका 59 में मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्त की गौणता बतलाकर आभ्यन्तर हेतु को पर्याप्त कहा है। इस कारिका में आया हुआ '**अंगभूतम्**' पद गौणपने का ही सूचक है और तभी '**अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते**' इस वचन की सार्थकता बन सकती है। 'अंगभूत' पद का अर्थ 'गौण' है, इसके लिए अष्टसहस्री पृष्ठ 153 '**तदंगता तद्गुणभावः**' इस वचन पर दृष्टिपात करना चाहिए।

अपर पक्ष ने जीवित शरीर की क्रिया को आत्मा के धर्म-अधर्म में निमित्त स्वीकार करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में दोनों कारणों की पूर्णता आवश्यक है और इसके समर्थन में स्वयंभूस्तोत्र का '**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम्**' वचन उद्धृत किया है। किन्तु प्रकृत में विचार यह करना है कि मोक्ष दिलाता कौन है ? क्या शरीर मोक्ष दिलाता है या वज्रवृषभनाराच संहनन या शरीर की क्रिया मोक्ष दिलाती है ? मोक्ष की प्राप्ति में विशिष्ट काल को भी हेतु कहा है। क्या वह मोक्ष दिलाता है ? यदि यही बात होती तो आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।**'1-1 इस सूत्र की रचना न कर, इसमें बाह्याभ्यन्तर सभी सामग्री का निर्देश अवश्य करते। क्या कारण है कि उन्होंने बाह्य सामग्री का निर्देश न कर मात्र आभ्यन्तर सामग्री का निर्देश किया है, अपर पक्ष को इस पर ध्यान देना चाहिए। किसी कार्य की उत्पत्ति के समय आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता के साथ बाह्य सामग्री की समग्रता का होना अन्य बात है और आभ्यन्तर सामग्री के समान ही बाह्य सामग्री को भी कार्य की उत्पादक मानना अन्य बात है। अन्तरं महदन्तरम्। इस महान् अन्तर को अपर पक्ष ध्यान में ले, यही हमारी भावना है। यदि वह इस अन्तर को ध्यान में ले ले तो उस पक्ष को यह हृदयंगम करने में सुगमता जाये कि हम बाह्य

सामग्री को उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्री को अनुपचरित कारण क्यों कहते हैं। **यह तो कोई भी साहसपूर्वक कह सकता है कि आत्मसन्मुख हुआ आत्मा रत्नत्रय को उत्पन्न करता है और रत्नत्रयपरिणत आत्मा मोक्ष को उत्पन्न करता है, परन्तु यह बात कोई साहसपूर्वक नहीं कह सकता कि जीवित शरीर की क्रिया रत्नत्रय या मोक्ष को उत्पन्न करती है।** सर्वार्थसिद्धि अध्याय 1 सूत्र 1 में सम्यक्चारित्र का लक्षण करते हुए लिखा है—

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्-चारित्रम्।

संसार के कारण की निवृत्ति के प्रति उद्यत हुए ज्ञानी पुरुष के कर्म के ग्रहण में निमित्तभूत क्रिया का उपरत होना सम्यक्चारित्र है।

यह आगम वचन है। इससे तो यही विदित होता है कि रागमूलक या योगमूलक जो भी क्रिया होती है, वह मात्र बन्ध का हेतु है। अब अपर पक्ष ही बतलावे कि उक्त क्रिया के सिवाय और ऐसी शरीर की कौन-सी क्रिया बचती है, जिसे मोक्ष का हेतु माना जाये। हमने भी जीवित शरीर की क्रिया को धर्म-अधर्म का निमित्त कहा है। किन्तु उसका इतना ही आशय है कि बाह्य विषय में इष्टानिष्ट बुद्धि होने पर उसके साथ जो भी शरीर की क्रिया होती है, उसे उपचार से अधर्म का निमित्त कहा जाता है और इसी प्रकार आत्म-सन्मुख हुए जीव के धर्मपरिणति के काल में शरीर की जो भी क्रिया होती है, उसे उपचार से धर्म का निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र को लक्ष्यकर शुभभाव के होने पर उसके साथ जो भी क्रिया होती है, उसे उपचार से उसी भाव का निमित्त कहा जाता है।

आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 65 में '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान**' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है। इस पर शंका हुई कि इस प्रकार अवधारण करने पर एकान्त की प्रसक्ति होती है। तब इसका समाधान करते हुए वे क्या लिखते हैं, इस पर ध्यान दीजिए—

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकान्तानुषंग इति चेत्? नायमनेकान्तवादिनामुपालम्भः, नयार्पणादेकान्तस्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकान्तस्य व्यवस्थितेः।

शंका—इस प्रकार भी अवधारण करने पर उस (मोक्षमार्ग) के एकान्त का अनुषंग होता है?

समाधान—नहीं, यह एकान्तवादियों का उपालम्भ ठीक नहीं, क्योंकि नय (निश्चयनय) की मुख्यता में ऐसा एकान्त हमें इष्ट है। प्रमाण की मुख्यता से ही अनेकान्त की व्यवस्था है।

कथंचित् सम्यग्दर्शन आदि एक-एक को और साथ ही कथंचित् सम्यग्दर्शनादि तीनों को मिलाकर युगपत् मोक्ष का कारण कहना, यह प्रमाणदृष्टि है। निश्चयनय दृष्टि तो यही है कि सम्यग्दर्शनादि तीन रूप परिणत आत्मा ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसी तथ्य को श्लोकवार्तिक के उक्त वचन द्वारा स्पष्ट किया गया है।

यह प्रमाणदृष्टि और निश्चयनयदृष्टि का निर्देशक वचन है। इससे हमें यह सुस्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि एक-एक को मोक्ष का कारण कहना यह सद्भूत होकर भी जबकि व्यवहारनय का सूचक वचन है। ऐसी अवस्था में विशिष्ट काल या शरीर की क्रिया को उसका हेतु कहना, यह तो असद्भूतव्यवहार वचन ही ठहरेगा। इसे यथार्थ कहना तो दो द्रव्यों को मिलाकर एक कहने के बराबर है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'मात्र बाह्य या आभ्यन्तर के ही कारण मानने पर पुरुष के मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती।' आदि।

समाधान यह है कि जिस समय जो कार्य होता है, उस समय उसके अनुकूल आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता के समान बाह्य सामग्री की समग्रता होती ही है। इसी का नाम द्रव्यगत स्वभाव है। किन्तु इन दोनों में से किसमें किस रूप से कारणता है, इसका विचार करने पर विदित होता है कि बाह्य सामग्री में कारणता असद्भूत व्यवहारनय से ही बन सकती है। आभ्यन्तर सामग्री में कारणता को जिस प्रकार सद्भूत माना गया है, उसी प्रकार यदि बाह्य सामग्री में भी कारणता को सद्भूत माना जाये तो पुरुष की मोक्षविधि नहीं बन सकती, यह उक्त कारिका का आशय है।

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में '**यद्वस्तु बाह्यं**' इत्यादि कारिका का उल्लेख कर अपनी दृष्टि से उसका अर्थ दिया है। किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि उसका अर्थ करते समय एक तो '**अभ्यन्तरमूलहेतोः**' पद को '**गुणदोषसूतेः**' का विशेषण नहीं बनाकर '**अध्यात्मवृत्तस्य अभ्यन्तरमूलहेतोः तत् अंगभूतम्**' ऐसा अन्वय कर उसका अर्थ किया है। दूसरे '**अंगभूतम्**' पद का अर्थ प्रकृत में 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर, उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पद को वैसा ही रख दिया है। तीसरे चौथे चरण में आये हुए '**अलम्**' पद की सर्वथा

उपेक्षा करके उसका ऐसा अर्थ किया है, जिससे पूरी कारिका से ध्वनित होनेवाला अभिप्राय ही मटियामेट हो गया है।

उसका सही अर्थ इस प्रकार है—अभ्यन्तर वस्तु मूल हेतु है, जिसका ऐसे गुण-दोष की उत्पत्ति में जो बाह्य वस्तु निमित्त है, वह अध्यात्मवृत्त अर्थात् मोक्ष-मार्गी के लिए गौण है, क्योंकि उसके लिए अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है।

इस कारिका में आया हुआ '**अपि**' पद '**एव**' अर्थ को सूचित करता है।

अपर पक्ष ने उक्त कारिका का अपने अभिप्राय से अर्थ करने के बाद जो यह लिखा है कि 'फिर यह पात्र की विशेषता को लक्ष्य में रखकर कथन किया गया है, अतः इससे कार्य-कारण की व्यवस्था को असंगत नहीं माना जा सकता। पात्र की विशेषता को दृष्टि में रखकर किसी कथन को विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है, परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।' उसका समाधान यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि पात्र विशेष को लक्ष्य में रखकर यह कारिका लिखी गई है, क्योंकि जो अध्यात्मवृत्त जीव होता है, उसकी दृष्टि में असद्भूत और सद्भूत दोनों प्रकार का व्यवहार गौण रहता है, क्योंकि परमभावग्राही निश्चय को दृष्टि में गौण कर तथा सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार को दृष्टि में मुख्य कर प्रवृत्ति करना, यह तो मिथ्यादृष्टि का लक्षण है; सम्यग्दृष्टि का नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 2 में स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) और परसमय (मिथ्यादृष्टि) का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, वह स्वसमय है और जो पुद्गल कर्मप्रदेशों में स्थित है, वह परसमय है। यह दृष्टि की अपेक्षा कथन है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पण्डितप्रवर दौलतरामजी एक भजन में कहते हैं—

हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।
परपद निजपद मान मगन ह्वै पर परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध चित्कन्द मनोहर चेतन भाव न भाये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।

अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि 'अतः इससे कार्य-कारण की व्यवस्था को असंगत

नहीं माना जा सकता।' हम इसे भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि उपचरित और अनुपचरित दोनों दृष्टियों को मिलाकर प्रमाण दृष्टि से आगम में कार्य-कारण की जो व्यवस्था की गई है, वह 'बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में प्रत्येक कार्य होता है, यह द्रव्यगत स्वभाव है' इस व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही की गई है। दोनों की समग्रता में प्रत्येक कार्य होता है, यह यथार्थ है; कल्पना नहीं। किन्तु इनमें से अभ्यन्तर कारण यथार्थ है और वह यथार्थ क्यों है तथा बाह्य कारण अयथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों है, यह विचार दूसरा है। इसे जो ठीक तरह से जानकर वैसी श्रद्धा करता है, वह कार्य-कारण भाव का यथार्थ ज्ञाता होता है — ऐसा यदि हम कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

विचार तो कीजिए कि यदि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की सामग्री यथार्थ होती तो आचार्य अध्यात्मवृत्त के लिए निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री को दृष्टि में गौण करने का उपदेश क्यों देते और क्यों मोक्ष की प्रसिद्धि में अभ्यन्तर कारण को ही पर्याप्त बतलाते। वस्तुतः इसमें संसारी बने रहने और मुक्त होने का बीज छिपा हुआ है। जो पुरुष बाह्य सामग्री को यथार्थ कारण जान, अपनी मिथ्या बुद्धि या रागबुद्धि के कारण उसमें लिपटा रहता है, वह सदाकाल संसारी बना रहता है और जो पुरुष अपने आत्मा को ही यथार्थ कारण जान तथा व्यवहार से कारण संज्ञा को प्राप्त बाह्य सामग्री में हेयबुद्धि कर अपने आत्मा की शरण जाता है, वह परमात्मपद का अधिकारी होता है।

अपर पक्ष ने अपने प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर और लौकिक दृष्टि से दो-तीन दृष्टान्त उपस्थित कर इस सिद्धान्त का खण्डन करने का प्रयत्न किया है कि 'उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर, निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।' किन्तु उस पक्ष का यह समग्र कथन कार्यकारण की विडम्बना करनेवाला ही है, उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं। हम पूछते हैं कि मन्दबुद्धि शिष्य के सामने अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापक के रहने पर शिष्य ने अपना कोई कार्य किया या नहीं ? यदि कहो कि उस समय शिष्य ने अपना कोई कार्य नहीं किया तो शिष्य को उस समय अपरिणामी मानना पड़ेगा। किन्तु इस दोष से बचने के लिये अपर पक्ष कहेगा कि शिष्य ने उस समय भी अध्ययन कार्य को छोड़कर, अपना अन्य कोई कार्य किया है। तो फिर अपर पक्ष को यह मान लेना चाहिए कि उस समय शिष्य का जैसा उपादान था, उसके अनुरूप उसने अपना कार्य किया और उसमें निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री निमित्त हुई, अध्यापक निमित्त नहीं हुआ। जिस कार्य को

लक्ष्य में रखकर अपर पक्ष ने यहाँ दोष दिया है, वस्तुतः उस कार्य का शिष्य उस समय उपादान ही नहीं था। यही कारण है कि अध्यापन क्रिया में रत अध्यापक के होने पर भी वह निमित्त व्यवहार के अयोग्य ही बना रहा। यह कार्यकारण व्यवस्था है, जो प्रत्येक द्रव्य के परिणाम स्वभाव के अनुरूप होने से इस तथ्य की पुष्टि करती है कि 'उपादान के कार्य के सन्मुख होने पर, निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।'

प्रकृत में अपर पक्ष की सबसे बड़ी भूल यह है कि विवक्षित कार्य तो हुआ नहीं, फिर भी वह, जिसमें उस समय उसने जिस कार्य की कल्पना कर रखी है, उसे उस समय उसका उपादान मानता है और इस आधार पर यह लिखने का साहस करता है कि सुबोध छात्र है, पर अध्यापक आदि नहीं मिले, इसलिए कार्य नहीं हुआ। अपर पक्ष को समझना चाहिए कि सुबोध छात्र का होना अन्य बात है और छात्र का उपादान होकर अध्ययन क्रिया से परिणत होना अन्य बात है। इसी प्रकार अपर पक्ष को यह भी समझना चाहिए कि अध्यापक का अध्यापनरूप क्रिया का करना अन्य बात है और उस क्रिया द्वारा अन्य के कार्य में व्यवहार से निमित्त बनना अन्य बात है।

अध्यापक, अध्यापन कला सीखने के लिए एकान्त में भी अध्यापन क्रिया कर सकता है और मन्दबुद्धि छात्र के सामने भी इस क्रिया को कर सकता है। पर इन दोनों स्थलों पर वह निमित्त व्यवहार पदवी का पात्र नहीं। उसमें अध्यापनरूप निमित्त व्यवहार तभी होता है, जब कोई छात्र उसे निमित्त कर स्वयं पढ़ रहा है। यह कार्य-कारण व्यवस्था है, जो सदाकाल प्रत्येक कार्य पर लागू होती है। अतः अपर पक्ष ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानकर जो कुछ भी यहाँ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है – ऐसा समझना चाहिए।

अपर पक्ष ने प्रकृत में पंचास्तिकाय गाथा 170 की टीका, पण्डित फूलचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र टीका और पार्श्वपुराण के प्रमाण देकर प्रत्येक कार्य में बाह्य सामग्री की आवश्यकता सिद्ध की है। समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार नियत बाह्य सामग्री नियत आभ्यन्तर सामग्री की सूचक होने से व्यवहारनय से आगम में ऐसा कथन किया गया है। किन्तु इतने मात्र से इसे यथार्थ कथन न समझकर, व्यवहार कथन ही समझना चाहिए। एक के गुण-धर्म को दूसरे का कहना, यह व्यवहार का लक्षण है। अतएव व्यवहारनय से ऐसा ही कथन किया जाता है, जो व्यवहार वचन होने से आगम में और लोक में स्वीकार किया गया है।

अपर पक्ष ने प्रवचनसार गाथा 211-212 की टीका का प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'कहीं-कहीं मात्र शरीर की क्रिया से भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीर की चेष्टा से संयम का छेद होना।' किन्तु अपर पक्ष का यह कथन एकान्त का सूचक होने से ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृत में यथामार्ग न की गई कायचेष्टा के अभाव को सूचित करने के लिए आचार्य ने कायचेष्टामात्राधिकृत संयम-छेद को बहिरंग संयमछेद कहा है और इसलिए आचार्य ने इसका अल्प प्रायश्चित्त कहा है। स्पष्ट है कि इस वचन से अपर पक्ष के अभिमत की सिद्धि नहीं होती। प्रत्युत इस वचन से तो यही सिद्ध होता है कि आत्मकार्य में सावधान व्यक्ति यदि बाह्य शरीर चेष्टा को प्रयत्नपूर्वक भी करता है तो भी शरीर क्रिया करने का भाव दोषाधायक माना गया है और यही कारण है कि परमागम में सूत्रोक्त विधिपूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया का प्रायश्चित्त कहा है।

यहाँ अपर पक्ष ने जो मणिमाली मुनि की कथा दी है, वह शयन समय की घटना से सम्बन्ध रखती है। उस समय मुनि की कायगुप्ति ऐसी होनी चाहिए थी कि उसको निमित्त कर शरीर चेष्टा नहीं होती। किन्तु मुनि अपनी कायगुप्ति न रख सके। यह दोष है। इसी दोष का उद्घाटन उस कथा द्वारा किया गया है। मालूम पड़ता है कि यहाँ अपर पक्ष ऐसे उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहता है कि आत्मकार्य में सावधान अन्तरंग परिणामों के अभाव में भी शरीर की क्रियामात्र से धर्म हो जाता है, जो युक्त नहीं है।

केवली जिन के पुण्य को निमित्तकर चलने आदि रूप क्रिया होती है, इसमें सन्देह नहीं, पर इतने मात्र से वह मुक्ति की साधन नहीं मानी जा सकती। अन्यथा योगनिरोध करके केवली जिन सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान को क्यों ध्याते। जिस जिनागम में क्षायिक-चारित्र के होने पर भी योग का सद्भाव होने से क्षायिक चारित्र को सम्पूर्ण चारित्ररूप से स्वीकार न किया गया हो उस जिनागम से यह फलित करना कि केवली जिनकी चलने आदि रूप क्रिया मोक्ष का कारण है, उचित नहीं है। प्रत्युत इससे यही मानना चाहिए कि केवली जिनके तबतक योग और तदनुसार बाह्य क्रिया है, तब तक ईर्यापथ आस्रव ही है।

केवली जिन समुद्घात अपने वीर्य विशेष से करते हैं और उसे निमित्त कर तीन कर्मों का स्थितिघात होता है। अन्तरंग में वीतराग परिणाम नहीं है और वीर्यविशेष भी नहीं है, फिर

भी यह क्रिया हो गई और उसे निमित्तकर उक्त प्रकार से कर्मों का स्थितिघात हो गया, ऐसा नहीं है।

अपर पक्ष ने धवल पुस्तक 1 पृष्ठ 302 का प्रमाण उपस्थित करने के बाद लिखा है कि 'चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने से केवलि जिन का उपयोग स्थिर हो जाता है। किसी भी शारीरिक क्रिया के लिए उसरूप प्रयत्न या उपयोग की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अत: केवलिसमुद्धातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है, जो संसार विच्छेद का कारण है। संसारविच्छेद का जो भी कारण है, वह सब धर्म है।'

समाधान यह है कि केवली जिनके जो भी शारीरिक क्रिया होती है, वह रागपूर्वक नहीं होती, इसी अर्थ में आचार्यों ने उसे स्वाभाविकी अतएव क्षायिकी कहा है। परन्तु केवलिसमुद्धातरूप क्रिया तो आत्मप्रदेशों की क्रिया है, शरीर की क्रिया नहीं और उसका हेतु योग तथा आत्मा का वीर्यविशेष है, अत: वह तीन अघातिया कर्मों की स्थितिघात का हेतु (निमित्त) रही, इसमें बाधा नहीं। किन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि शरीर की क्रिया से आत्मा में धर्म-अधर्म होता है, अर्थात् त्रिकाल में सिद्ध नहीं होता। अतएव पूर्वोक्त विवेचन के आधार से यही निर्णय करना समीचीन है कि शरीर की क्रिया पर द्रव्य (पुद्गल) की पर्याय होने से उसका अजीव तत्त्व में ही अन्तर्भाव होता है, अत: उसे आत्मा के धर्म-अधर्म में उपचार से निमित्त कहना अन्य बात है। वस्तुत: यह आत्मा अपने शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामों का कर्ता स्वयं है, अत: वही उनका मुख्य (निश्चय) हेतु है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही है।

●

प्रथम दौर

(1)

शंका 3

जीव दया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

समाधान 1

इस प्रश्न में यदि धर्म पद का अर्थ पुण्य भाव है, तो जीव दया को पुण्य भाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीव दया की परिगणना शुभ परिणामों में की गई है और शुभ परिणाम को आगम में पुण्य भाव माना है। परमात्मप्रकाश में कहा भी है—

सुहपरिणामे धम्मु पर असुहे होई अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु॥ 2-71॥

अर्थ—शुभ परिणाम से मुख्यतया धर्म-पुण्य भाव होता है और अशुभ परिणाम से अधर्म-पाप भाव होता है तथा इन दोनों ही प्रकार के भावों से रहित, शुद्ध परिणामवाला जीव कर्मबन्ध नहीं करता॥ 2-71॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'सुहपरिणामें धम्मु पर' शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्या। 'असुहँ होई अहम्मु' अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम्।

टीका का तात्पर्य गाथार्थ से स्पष्ट है।

यदि इस प्रश्न में 'धर्म' पद का अर्थ वीतराग परिणति लिया जाये तो जीव दया को धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होने के कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्व में अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरातत्त्व में अन्तर्भाव नहीं होता। जैसा कि श्री समयसारजी गाथा 264 से स्पष्ट है—

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं॥ 264॥

और इसी प्रकार सत्य में, अचौर्य में, ब्रह्मचर्य में और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य का बन्ध होता है ॥ 264 ॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

..... यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः तथा यश्च सत्य-दत्त-ब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः ।

.....और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी जो अध्यवसाय किया जाता है, वह सभी एकमात्र पुण्यबन्ध का ही कारण है ।

●

द्वितीय दौर

(२)

शंका 3

जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका 2

इस प्रश्न के उत्तर में आपने जीवदया को धर्म मानते हुए, उसकी शुभ परिणामों में परिगणना की है। यह एक अपेक्षा से ठीक होते हुए भी आपका यह कथन कि 'उसका आस्रव और बन्धतत्त्व में अन्तर्भाव होता है, 'संवर और निर्जरा में नहीं', यह आगम के अनुकूल नहीं है। आपने अपने कथन की पुष्टि में जो समयसार की गाथा 264 को उद्धृत किया है उसमें अहिंसा आदि को पुण्यबन्ध का कारण नहीं कहा है, किन्तु इसके विषय में होनेवाले अध्यवसान को ही पुण्यबन्ध का कारण कहा है। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने गाथा की टीका प्रारम्भ करते हुए जो '**एवमयमज्ञानात्**' पद का प्रयोग किया है, उससे भी सिद्ध होता है कि अध्यवसान ही कर्मबन्ध का कारण है। यह प्रकरण ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 247 वीं गाथा से प्रारम्भ किया है और इन गाथाओं में मूढ़, अज्ञानी आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए यह दर्शाया है कि मिथ्यादृष्टि का अज्ञानमय अध्यवसान भाव ही बन्ध का कारण है।

आपने अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये जो परमात्मप्रकाश की 71 वीं गाथा को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, उसमें भी '**सुहपरिणामे धम्मु**' पद द्वारा शुभ परिणाम को धर्म बतलाया गया है। टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने '**धर्मः पुण्यं भवति**' '**मुख्यवृत्त्या**' पद में '**मुख्यवृत्त्या**' शब्द से शुभपरिणाम द्वारा संवर निर्जरा होना भी द्योतित किया है। इसके समर्थन में अन्य आगम प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संवर भावना की गाथा 3 क्रमिक संख्या 97 निम्न प्रकार है—

गुत्ती जोगणिरोहो समिदी य पमादवज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिंता अणुप्पेहा॥ 96॥

अर्थ—योग निरोधरूप गुप्ति, प्रमाद त्यागरूप समिति, दया प्रधान धर्म और सुतत्त्व चिन्तनरूप अनुप्रेक्षा है।

संवर भावना में कही जाने के कारण इस गाथा में प्रोक्त चारों क्रियाएँ संवर की कारण हैं। उक्त गाथा में स्पष्ट रूप से धर्म को दया प्रधान बतलाया है। संस्कृत टीकाकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में लिखा है—

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्॥ 6-60॥

अर्थ—विशुद्ध आत्मा अन्तस्तत्त्व है और प्राणियों की दया बहिस्तत्त्व है। अन्तस्तत्त्व तथा बहिस्तत्त्व—इन दोनों के मिलने पर मोक्ष होता है, इसलिये इन दोनों का आश्रय करना चाहिये।

इसकी पुष्टि संस्कृत टीकाकार ने भी की है। बोधपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं॥ 25॥

अर्थ—दया से विशुद्ध धर्म, समस्त परिग्रह से रहित मुनिदीक्षा (प्रव्रज्या), वीतराग देव—ये तीनों भव्य जीवों का कल्याण करनेवाले हैं।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका में कहा है—

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिः श्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकै-
र्धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः॥ 1-8॥

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहले प्राणियों की सदा दया करनी चाहिये, क्योंकि वह समीचीन व्रतसमूह की आद्य-प्रमुख है, सुख एवं उत्कृष्ट संपदाओं की जननी है,

धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है तथा अविनश्वर पद (मोक्षमहल) पर चढ़ने के लिये अपूर्व नसैनी है। निर्दय पुरुष के नाम को भी धिक्कार है, उसके लिये समस्त दिशाएँ शून्यरूप हैं।

इसी ग्रन्थ में आगे कहा है —

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो,
धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्या।
तत् किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम्॥ 2-18॥

अर्थ—वह देव क्या? जिसमें कि विकार भाव हो; वह धर्म क्या? जहाँ कि प्राणियों में दया नहीं है; वह तप भी क्या है? जिसमें विशाल ज्ञान नहीं है और वह विभूति भी क्या है? जिसमें पात्रदान नहीं किया जाता।

दया को धर्म बतलाने का यही कथन इसी ग्रन्थ के छठे अधिकार के 37 से 40 तक के श्लोकों में भी स्पष्ट किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में लिखा है—

मोहमयगारवेहि य मुक्का करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण॥ 159॥

अर्थ—जो व्यक्ति मोह, मद, गारव से रहित और करुणाभाव से सहित है, वे अपने चारित्ररूपी खड्ग द्वारा समस्त पापरूपी स्तम्भ को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

श्री धवला में भी वीरसेनाचार्य ने दया को जीव का स्वभाव बतलाया है, जो निम्न प्रकार है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। —धवल पुस्तक 13 पृष्ठ 362

अर्थ—करुणा जीव का स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहने में विरोध आता है।

श्री राजवार्तिक अध्याय 1 सूत्र 2 में सम्यग्दृष्टि के जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये चार लक्षण श्री अकलंकदेव ने बतलाये हैं। उनमें अनुकम्पा (दया) भी सम्मिलित है। प्रमाण देखिए—

प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।

अर्थ—प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति हो जाना, सराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

इनमें से अनुकम्पा का अर्थ दया किया गया है। इस कारण दया सम्यग्दर्शन का अङ्ग होने से धर्मरूप है।

आपने दया को शुभभाव बतलाकर मात्र आस्रव और बन्ध का कारण बतलाया है, यह उचित नहीं है, क्योंकि शुभभाव संवर और निर्जरा के कारण हैं। प्रमाण निम्न प्रकार है। श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला के मंगलाचरण की व्याख्या में कहा है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

इसके आगे वीरसेनाचार्य जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 9 में लिखते हैं—

अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो।

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥ 3॥

अर्थ—अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, इसलिए सरागसंयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

जिणसाहुगुणुक्कित्तणपसंसणविणयदाणसंपण्णा।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणं मुणेवव्वा॥ 55॥

किं फलमेदं धम्मज्झाणं? अक्खवयेसु विउलामरसुहफलं गुणसेणीये कम्मणिज्जराफलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेढिकम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभाग-विहाणफलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धं। एत्थ गाहाओ—

होंति सुहासवसंवरणिज्जरासुहाइं विउलाइं।
ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीण धम्मस्स॥ 56॥

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति॥ 57॥

— धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 76-77

अर्थ—जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना, ये सब बातें धर्मध्यान में होती हैं—ऐसा जानना चाहिये।

शंका—इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवों को देव पर्यायसम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण-श्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्म-प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना, उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनपेत वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है। इस विषय में गाथाएँ—

उत्कृष्ट धर्मध्यान से शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख—ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं॥ 56॥

जैसे मेघपटल पवन से ताडित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ध्यानरूपी पवन से उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं॥ 57॥

देवसेनाचार्य कृत भावसंग्रह में भी कहा है—

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाण-पूजाइं।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ 610॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकों का पालन करता है, व्रत, नियम आदि का पालन करता है, वैयावृत्य करता है, पात्रदान देता है और भगवान् जिनेन्द्र की पूजन करता है, उस पुरुष का वह सब कार्य कर्मों की निर्जरा का कारण है।

श्री प्रवचनसार में गाथा 79 के बाद श्री जयसेनस्वामी की टीका में निम्न प्रकार गाथा है—

तं देवदेवं जदि गणवसहं गुरुतिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥ 2॥

अर्थ—उन देवाधिदेव जिनेन्द्र को, गणधरदेव को और साधुमहाराज को जो मनुष्य वन्दन करता है, वह अक्षय अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

श्री धवल पुस्तक 6 पृष्ठ 427 पर निम्नलिखित उल्लेख है—

कथं जिणविम्बदंसणं पढमसम्मत्तुपत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्ति-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

अर्थ—शंका—जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार है ?

समाधान—जिनबिम्ब दर्शन से निधत्ति और णिकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

जयधवल पुस्तक 1 पृष्ठ 369 पर उल्लेख है—

तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो।

अर्थ—रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है।

आपने दया को पुण्यरूप धर्म स्वीकृत किया है, सो पुण्य भी साधारण वस्तु नहीं है। उसे भी जिनसेन स्वामी ने

पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।

महापुराण के प्रथम भाग पृष्ठ 95 श्लोक 129 में मुक्तिलक्ष्मी का साधक बतलाया है।

श्री भावसंग्रह में भी कहा है—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥ 404॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण नियम से नहीं होता है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष द्वारा निदान न किया जाये तो वह पुण्य मोक्ष का ही कारण है।

यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्त्वा तत्साधकत्त्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं मोक्षसाधकं भवति। नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति। *—परमात्मप्रकाश अध्याय 2 गाथा 191 टीका*

अर्थ—यदि निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा मानकर उसके साधकपने से उसके अनुकूल तप करता है और शास्त्र पढ़ता है तो वह परम्परा से मोक्ष का ही कारण है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वह केवल पुण्यबंध का ही कारण है।

●

शंका 3

जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

उक्त शंका का जो उत्तर दिया गया था, उस पर प्रतिशंका करते हुए लगभग ऐसे २० शास्त्रों के प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें संवर के कारणों में दया का अन्तर्भाव हुआ है। जयधवला का एक ऐसा भी प्रमाण है जिसमें शुद्धभाव के साथ शुभभाव को भी कर्मक्षय का कारण कहा है। श्री धवलाजी के एक प्रमाण में यह भी बतलाया है कि जिनबिम्बदर्शन से निधत्ति-निकाचित बन्ध की व्युच्छित्ति होती है। इसी प्रकार भावसंग्रह में यह भी कहा है कि जिनपूजा से कर्मक्षय होता है। ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण संग्रह किये गये हैं, उनके विविध प्रयोजन बतलाकर उन द्वारा पर्यायान्तर से दया को पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया गया है। वे सब प्रमाण तो लगभग 20 ही हैं। यदि पूरे जिनागम में-से ऐसे प्रमाणों का संग्रह किया जाये तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाये। पर इन प्रमाणों के आधार से क्या पुण्यभावरूप दया को इतने मात्र से मोक्ष का कारण माना जा सकता है ? आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निर्जरा और पुण्य के कारणरूप सिद्धान्त का निर्देश करते हुए लिखा है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ 212॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ 213॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ 214॥

इस जीव के जिस अंश से सम्यग्दर्शन है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है परन्तु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्धन है। जिस अंश से इसके ज्ञान है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है परन्तु जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्धन है। जिस अंश से इसके चारित्र है, उस अंश से इसके बन्धन नहीं है परन्तु जिस अंश से इसके राग है, उस अंश से इसके बन्धन है॥ 212-214॥

आगे इसी आगम के 216 वें श्लोक में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए पुनः कहते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ 216॥

आत्मश्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं और आत्मा में स्थिति का नाम सम्यक्चारित्र है, इनसे बन्ध कैसे हो सकता है॥ 216॥

श्री समयसारजी में कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ 140॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य प्राप्त जीव कर्म से छूटता है, यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए हे भव्यजीव! तू कर्मों में प्रीति-राग मत कर।

इसकी टीका में लिखा है—

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति।

अर्थ—'रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है' ऐसा जो यह आगम वचन है, सो सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मों का निषेध करता है॥ 140॥

इस प्रकार इस कथन से स्पष्ट है कि शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो जिनबिम्ब दर्शन हो, व्रतों का पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है; उससे संवर, निर्जरा और मोक्ष की सिद्धि होना असम्भव है। जिस प्रकार कोई मनुष्य भोजन करने के बाद भी यदि यह मानता है कि मेरे उपवास है; उसी प्रकार परद्रव्य में प्रीति करनेवाला उससे यदि अपनी कर्मक्षपणा मानता है तो उसका ऐसा मानना आगम, अनुभव और युक्ति तीनों के विरुद्ध है।

श्री समयसारजी में सम्यग्दृष्टि को जो अबन्धक कहा है, इसका यह अर्थ नहीं कि

उसके बन्ध का सर्वथा प्रतिषेध किया है। उसका तो मात्र यही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टि के रागभाव का स्वामित्व न होने से उसे अबन्धक कहा है, **क्योंकि सम्यग्दृष्टि और रागदृष्टि में बड़ा अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह रागदृष्टि नहीं होता और जो रागदृष्टि होता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता।** इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर श्री समयसारजी में कहा भी है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को॥ 199॥

अर्थ—राग, पुद्गल कर्म है। उसका विपाकरूप उदय यह है। यह मेरा भाव नहीं है। मैं तो निश्चय से एक ज्ञायकभाव हूँ॥ 199॥

वहाँ पुनः कहा है—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदय कम्मविवागं य मुअदि तच्च वियाणंतो॥ 200॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, आत्मा को (अपने को) ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ, कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है॥ 200॥

चेतना तीन प्रकार की है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उनमें-से सम्यग्दृष्टि अपने को ज्ञानचेतना का स्वामी मानता है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का नहीं। किन्तु शुभरागरूप दया का अन्तर्भाव कर्मचेतना में होता है, इसलिए कर्म के विपाकस्वरूप उसके ऐसी दया अवश्य होती है, पर वह इसका स्वामी नहीं होता।

यदि प्रकृत में दया से वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है और इसके फलस्वरूप जिन उल्लेखों के आश्रय से प्रतिशंका 2 में दया को कर्मक्षपणा या मोक्ष का कारण कहा है तो उसे उसरूप स्वीकार करने में तत्त्व की कोई हानि नहीं होती, क्योंकि राग परिणाम एकमात्र बन्ध का ही कारण है, फिर भले ही वह दसवें गुणस्थान का सूक्ष्मसाम्परायरूप राग परिणाम ही क्यों न हो और वीतरागभाव एकमात्र कर्मक्षपणा का ही हेतु है, फिर भले ही वह अविरत सम्यग्दृष्टि का वीतराग परिणाम क्यों न हो। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर श्री समयसारजी के कलशों में कहा भी है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥ 106॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥ 107॥

अर्थ—ज्ञान एक द्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होने से, ज्ञान के स्वभाव से सदा ज्ञान का भवन बनता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है॥ 106॥

कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से, कर्म के स्वभाव से ज्ञान का भवन नहीं बनता; इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है॥ 107॥

●

तृतीय दौर

(3)

शंका 3

प्रश्न था कि —

जीव दया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न के उत्तर में आपने पहले पत्रक में जीवदया को धर्म न मानने के लिये तीन बातें लिखी थीं—

1. जीव दया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है, किन्तु धर्मरूप नहीं है।

2. परमात्मप्रकाश की 71 वीं गाथा का प्रमाण दिया, जिसमें शुभपरिणाम को धर्म बतलाया है, परन्तु टीकाकार के **'शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्या'** अर्थात् शुभपरिणाम से धर्म होता है जो कि मुख्यवृत्ति से पुण्यरूप हैं। इस वाक्य के आधार से आपने शुभ परिणाम को धर्मरूप होने की उपेक्षा कर, पुण्यरूप निश्चित कर दिया। ऐसा करते हुए आपने ग्रन्थकार तथा टीकाकार द्वारा शुभ परिणामों को धर्मरूप बतलाये जाने पर भी आपने उसे पुण्य का आधार लेकर, जीव दया को आस्रव-बन्ध तत्त्व में बलात् स्वेच्छा से अधर्म में डाल दिया। तथा च जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व भी बतला दिया।

3. समयसार की 264वीं गाथा का उद्धरण देकर जीवदया को अध्यवसान (कषाय प्रभावित गलत अभिप्राय-अभिमान आदि के कारण यों मान लेना कि मैंने उसे मरने से बचा लिया आदि) रूप बतलाया, तदनुसार जीवदया को धर्म न मानकर, मात्र पुण्यबन्धरूप बतलाया।

आपके इस उत्तर के निराकरण में हमने आपको दूसरा पत्रक दिया जिसमें श्री आचार्य कुन्दकुन्द, वीरसेन, अकलंक, देवसेन, स्वामी कार्तिकेय आदि ऋषियों के प्रणीत प्रामाणिक-

आर्षग्रन्थों — धवल, जयधवल, राजवार्तिक, बोधपाहुड, भावपाहुड, भावसंग्रह, स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि के लगभग 20 प्रमाण देकर दो बातें सिद्ध की थीं—

1. जीवदया करना धर्म है।

2. पुण्यभाव धर्मरूप है। पुण्यभाव या शुभभावों से संवर-निर्जरा तथा पुण्य-कर्मबन्ध होता है।

आर्षग्रन्थों के श्रद्धालु बन्धु इन ऋषियों तथा उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर अप्रामाणिकता की अंगुली नहीं उठा सकते, क्योंकि हमको सैद्धान्तिक एवं धार्मिक पथप्रदर्शन इन ऋषियों तथा इनके आर्षग्रन्थों से ही प्राप्त होता है और उसका कारण है कि उनमें निर्विवाद जिनवाणी निबद्ध है। यह तो हो सकता है कि इन आर्षग्रन्थों की कोई बात कदाचित् हमारी समझ में न आवे, किन्तु यह बात कदापि नहीं हो सकती कि उन ग्रन्थों की कोई भी बात अप्रामाणिक या अमान्य हो।

तदनुसार आशा थी कि इन ग्रन्थों के प्रमाण देखकर चरणानुयोग तथा जैनधर्म के मूलाधार दयाभाव को धर्मरूप स्वीकार कर लिया जाता, परन्तु आशा फलवती नहीं हुई।

आपके-दूसरे पत्रक में उन आर्ष प्रमाणों की प्रामाणिकता की उपेक्षा करते हुए, उनकी अवहेलना में निम्न पंक्तियाँ लिखी गई हैं — 'ये सब प्रमाण तो लगभग 20 ही हैं, यदि पूरे जिनागम में से ऐसे प्रमाणों का संग्रह किया जावे तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाये, पर इन प्रमाणों के आधार पर क्या पुण्यभावरूप दया को इतने मात्र से मोक्ष का कारण माना जा सकता है ?'.... फिर पुनः अप्रासंगिक उद्धरण देकर लिखा गया है 'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतों का पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है; उससे संवर, निर्जरा और मोक्ष की सिद्धि होना असंभव है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त महान् आचार्यों का यह कथन कि शुभभाव से संवर व निर्जरा भी होती है... असंभव होने के कारण मिथ्या है। आश्चर्य है कि कोई भी जिनवाणी का भक्त इन महान् आचार्यों एवं महान ग्रन्थों के स्पष्ट कथन को मिथ्यारूप कहने का साहस कैसे कर सकता है ?

इसके साथ ही मूल विषय को अछूता रखकर विषयान्तर में प्रवेश किया गया है। उसमें जो समयसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा समयसार कलश के 4-5 प्रमाण उद्धृत किये

गये हैं, उनमें से एक भी प्रमाण, एक भी वाक्य तथा एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जिसमें जीवदया को धर्म मानने पर मिथ्यात्व की सम्भावना सिद्ध होती है।

आपने अपने इस पत्रक में केवल रागभाव को बन्ध का कारण बतलाने की चेष्टा की है, उस विषय में हम असहमत नहीं हैं, अतः उक्त दोनों ग्रन्थों के उद्धरण हमें स्वीकार हैं। कितना अच्छा होता कि आप भी उन आर्ष ग्रन्थों को प्रमाण मानकर '**धम्मो दयापहाणो**' — धर्म दया प्रधान है।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं॥ 25॥ — *बोधपाहुड़*

अर्थ—दया से विशुद्ध धर्म, सर्व परिग्रहरहित दीक्षा—साधु मुद्रा और मोहरहित वीतराग देव—ये तीनों भव्य जीवों के अभ्युदय को करनेवाले हैं।

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीव का स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहने में विरोध आता है।

— धवल पुस्तक 13 पृष्ठ 362

तथा—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥ 404॥ — *भावसंग्रह*

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं है, नियम से मोक्ष का कारण है।

आदि निर्विवाद वाक्यों को श्रद्धाभाव से ही यदि स्वीकार कर लेते तो जैनधर्म के मूल तत्त्व पर हमारा और आपका मतभेद दूर हो जाता।

रागभाव की कर्मबन्ध की कारणता पर विचार करने से पहले हम एक महत्वपूर्ण आर्ष विधान की ओर पुनः आपका ध्यान आकर्षित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। आशा है आप उस शिरसा मान्य वाक्य पर एक बार पुनः गम्भीरता से विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्ध भावों द्वारा यदि कर्मों का क्षय न हो तो फिर कर्मों का क्षय किसी तरह हो ही नहीं सकता।

जयधवल पुस्तक 1 पृष्ठ 6 के इस मुद्रित अर्थ से भी स्पष्ट हो जाता है कि शुभ से भी कर्मों का क्षय होता है और शुद्ध से भी। अतः आपका 'शुद्ध के साथ शुभ' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं।

हम आशावादी हैं, अतः आशा रखते हैं कि ये पुष्ट प्रमाण दया और पुण्यविषयक आपकी धारणा को परिवर्तित करने में सहायक होंगे। आपने रागभाव को केन्द्र बनाकर पुण्यभावों या शुभभावों को केवल कर्म-बन्ध के साथ बाँधने का प्रयत्न किया है, यह शुभभावों की अवान्तर परिणतियों पर दृष्टि न जाने का फल जान पड़ता है। इतनी बात तो अवश्य है कि दशवें गुणस्थान तक रागभाव लघु, लघुत्तर, लघुतमरूप से पाया जाता है और यह भी सत्य है कि रागभाव से कर्मों का आस्रव तथा बन्ध हुआ करता है। तथा च अमृतचन्द्र सूरि ने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयत के मिश्रित भावों को अपनी प्रज्ञा छैनी से भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्म के बन्धन और अबन्धन की सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के तीन श्लोकों में की है, उनमें एक अखण्डित मिश्रित भाव का विश्लेषण समझाने के लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्डभाव ही शुभभाव है, अतः उससे आस्रव-बन्ध भी होता है तथा संवर निर्जरा भी होती है। यह मिश्रित शुभभाव की अखण्डता निम्न प्रकार से स्पष्ट होती है—

हम जिस प्रकार दाल, भात, रोटी, शाक, पानी आदि पदार्थों का मिश्रित भोजन करते रहते हैं, काली मिर्च, सौंठ, पीपल, हरड़, गिलोय आदि सम्मिलित पदार्थों को पानी में मिलाकर आग की गर्मी से जिस प्रकार काढ़ा बनाया जाता है, जिसका कि मिला हुआ रस होता है, उसमें वात पित्त कफ से उत्पन्न हुए विविध प्रकार के खाँसी ज्वर आदि रोगों को कम करने, दूर करने तथा शरीर में बल उत्पन्न करने आदि की सम्मिलित शक्ति होती है; उसी प्रकार मुख द्वारा पहुँचे हुए उस विविध प्रकार के खाये हुए भोजन से एक ही साथ अनेक तरह के सम्मिलित परिणाम हुआ करते हैं। पेट में काढ़े की तरह रस बनता है, उससे खून, मांस, हड्डी आदि धातु-उपधातुओं की रचना होती है। उसी भोजन से अनेक प्रकार के रोग भी दूर होते हैं तथा अनेक प्रकार के छोटे-मोटे नवीन रोग भी उत्पन्न हुआ करते हैं। ठीक ऐसी ही बात कर्मबन्ध और कर्मफल के विषय में प्रति समय हुआ करती है। इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, कषाय आदि की सम्मिलित क्रिया से प्रति समय सात कर्मों का बन्ध हुआ करता है और किसी एक समय आयु कर्मसहित ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का भी बन्ध हुआ करता

है। योगों और कषायों की तीव्र, मन्द आदि परिणति के अनुसार उन कर्म प्रकृतियों की स्थिति, अनुभाग आदि में विविध प्रकार का परिणमन होता है। किसी कर्मप्रकृति में तीव्रता आती है, किसी में मन्दता, किसी में कर्मप्रदेश कम और किसी में अधिक आते हैं।

इसी तरह की सम्मिलित विविधता आठों कर्मों के उदय काल में भी हुआ करती है। ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आत्मशक्ति आदि गुणों का हीनाधिक होना, आकुलता-व्याकुलता होना, चिन्ता, राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि कषायों की तरतमता होना आदि विविध प्रकार के फल प्रति समय मिला करते हैं। जिस तरह अनेक प्रकार के खाये हुए सम्मिलित भोजन में, उसके द्वारा होनेवाले सम्मिलित परिणमन में बुद्धि द्वारा विभाजन किया जाता है कि अमुक पदार्थ के कारण अमुक-अमुक शरीर के धातु उपधातु रोग आदि पर अमुक-अमुक तरह प्रभाव हुआ आदि। इसी तरह सम्मिलित कर्म बन्ध और कर्म उदय के विषय में भी आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा विभाजन किया जाता है। अतएव कर्मोदय के समय आत्मा में विविध प्रकार का मिश्रित परिणाम होता रहता है। उस सम्मिलित परिणाम के विभाजन को विचारा तो जा सकता है, किन्तु किया नहीं जा सकता। जब हम शुभोपयोग के विषय में विचार करते हैं, तब वहाँ भी ऐसा ही मिश्रित फल प्रगट होता हुआ प्रतीत होता है। राग और विराग अंशों का सम्मिलितरूप शुभोपयोग हुआ करता है, जिसको कि अंश विभाजन द्वारा विचारा तो जा सकता है कि इसमें इतना अंश राग परिणाम का है और इतना अंश विराग परिणाम का है, परन्तु उस मिश्रित परिणाम का क्रियात्मक विभाजन नहीं किया जा सकता।

तदनुसार चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थानों की शुभ परिणति में सम्मिलित सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, चारित्राचारित्रकृत विराग अंश भी होता है और कुछ कषाय नोकषायकृत रागांश भी होता है, तदनुसार उन गुणस्थानों में सम्मिलित एक विचित्र प्रकार का परिणाम होता है, जैसा कि मिश्र गुणस्थान में सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व भाव से पृथक् विचित्र प्रकार का मिश्र परिणाम होता है। उस मिश्र गुणस्थान के विचित्र मिश्रित परिणाम में श्रद्धा, अश्रद्धा का क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणति की मिश्रित अवस्था हुआ करती है, जिससे कि कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा—ये तीनों कार्य एक साथ हुआ करते हैं।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है, अन्य कोई शुद्धोपयोगांश आदि उन गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि एक समय में

एक ही उपयोग होता है और आत्मा उस समय अपने उपयोग से तन्मय होता है। एक समय में दो उपयोग साथ-साथ नहीं हो सकते हैं। इसके प्रमाण में श्री प्रवचनसार की गाथा 8 व 9 देखने की कृपा करें।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ 9॥

अर्थ—जब यह परिणाम स्वभाववाला जीव शुभ-अशुभ या शुद्धभावकरि परिणमता है, तब शुभ-अशुभ या शुद्धरूप ही होता है।

जिस तरह जलता हुआ दीपक अपने एक ही ज्वलित परिणाम से प्रकाश, अन्धकारनाश, उष्णता, तैलशोष (तेल सुखाना), बत्ती जलाना आदि अनेक कार्य करता है; उसी तरह एक समय में होनेवाले केवल एक शुभोपयोग परिणाम द्वारा कार्यकारणभाव से कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरारूप तीनों कार्य होते रहते हैं। यही शुभ उपयोगरूप पुण्य आत्मा को मुक्ति के निकट लाता है।

पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व के सम्मुख होता है, तब शुद्ध परिणामों के अभाव में भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है। तद्वत् शुभोपयोगरूप पुण्य का प्रत्येक भाव कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है, अतः जीव-दया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जरा के भी निर्विवाद कारण हैं। जिसके कुछ अन्य प्रमाण भी नीचे दिए जाते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्न गाथा ध्यान में देने के योग्य है—

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु होदि सद्दिट्ठी॥ 317॥

अर्थ—जो क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषों से रहित देव, सर्व जीवों पर दया करनेवाले धर्म और ग्रन्थ—परिग्रहरहित गुरु को मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

संस्कृत टीका का अंश भी द्रष्टव्य है—

च पुनः धर्मं वृषं श्रेयः मन्यते श्रद्दधाति। कथंभूतं धर्मम्? सर्वजीवानां दयापरं सर्वेषां जीवानां प्राणिनां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां शरीरिणां मनोवचनकायकृत-कारितानुमतप्रकारेण दयापरं कृपोत्कृष्टं धर्मं श्रद्दधाति यः। तथा च धम्मो वत्थुसहावो

खमादिभावो य दसविहो धम्मो। रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ इति धर्मं मनुते।

इस टीका से भी दया को धर्म मानना सिद्ध है।

नियमसार गाथा 6 की टीका में उद्धृत प्राचीन गाथा द्रष्टव्य है, जिसमें दया को धर्म कहा गया है—

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जस्स।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो॥

अर्थ—धर्म वही है, जिसमें दया है; तप वही है, जहाँ विषयों का निग्रह है और देव वही है, जिसमें अठारह दोष नहीं हैं।

दया-दम-त्याग-समाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवत्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥ 100॥

— आत्मानुशासन

अर्थ—हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रियदमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है, जो वचनों से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

एकजीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव॥ 361॥

—यशस्तिलक उपासकाध्ययन

अर्थ—अकेली जीवदया एक ओर है और शेष की सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। शेष क्रियाओं का फल खेती के समान है और जीवदया का फल चिन्तामणि के समान है।

उपसम दया य खंती वड्ढइ वेरागदा य जह जह से।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ॥ 62॥

— मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा

अर्थ—उपशम, दया, शान्ति और वैराग्य जैसे-जैसे जीव के बढ़ते हैं, वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

छज्जीवसडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं।
कुरु दया परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं॥133॥ *—भावपाहुड़*

अर्थ—हे मुनिवर! तू मन, वचन, काय से छह काय के जीवों की दया कर; छह अनायतन को छोड़ और अपूर्व महासत्त्व (चेतना भाव) को भाय।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणाभावसंजुता।
ते सव्वदूरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण॥157॥ —*भावपाहुड़*

अर्थ—जे मुनि मोह, मद, गारव इन करि रहित अर करुणाभाव कर सहित हैं, वे चारित्ररूपी खड्ग करि पापरूपी स्तम्भ को हणें हैं।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं वंभचेरसंतोसे।
सम्मदंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारा॥ 19॥ —*शीलपाहुड़*

अर्थ—जीवदया, इन्द्रियनिका दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शील के परिवार हैं।

आगे गाथा 20 में कहा है — **सीलं मोक्खस्स सोपाणं** — शील मोक्ष के लिये नसैनी के समान है।

जह-जह णिव्वेदसयं वेरागदया पवट्टंति।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स॥ 1864॥ —*मूलाराधना*

अर्थ—जैसे जैसे निर्वेद, प्रशम, दया और इन्द्रियों का दमन बढ़ता है, वैसे-वैसे ही पुरुष के पास मोक्ष आता जाता है॥ 1864॥

जीवदया संयम है और संयम केवल बंध का ही कारण नहीं, किन्तु संवर-निर्जरा का भी कारण है, क्योंकि संयम आत्मधर्म है। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों में संयम भी एक धर्म है। संयम धर्म के स्वरूप का कथन करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः॥ 1। 96॥

अर्थात्—जिसका मन जीवदया से भीग रहा है तथा जो ईर्या-भाषा आदि पाँच समितियों में प्रवर्तमान है, ऐसे साधु के द्वारा जो षट्काय जीवों की रक्षा और अपनी इन्द्रियों का दमन किया जाता है, उसे गणधर देवादि महामुनि संयम कहते हैं।

इसी बात को पण्डित फूलचन्द्रजी ने स्वयं इन शब्दों में लिखा है—

षट्काय के जीवों की भले प्रकार से रक्षा करना और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में नहीं प्रवृत्त होने देना, संयम है। *— तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ 417 वर्णी ग्रन्थमाला से प्रकाशित*

मिथ्यादृष्टि के जो दया आदिक शुभभाव सांसारिक सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे मात्र रागरूप होने से और इन्द्रिय सुख की इच्छा लिये हुए होने से केवल बन्ध के ही कारण हैं। ऐसे ही शुभभावों को श्री प्रवचनसार प्रथम-अध्याय आदिक ग्रन्थों में हेय बतलाया है। जो शुभभाव सम्यग्दृष्टि के वीतरागता एवं मोक्षप्राप्ति के लिये होते हैं, उनसे संवर निर्जरा भी होती है। उन्हीं से सम्बन्धित यह प्रश्न है। उनका कथन प्रवचनसार तृतीय अध्याय आदिक ग्रन्थों में है। इन्हीं को निरतिशय तथा सातिशय के नाम से भी कहा जा सकता है। सम्यग्दृष्टि का दया आदि शुभभाव, कर्मचेतना न मानकर ज्ञानचेतना माना गया है, इसलिए उसे मात्र बन्ध का कारण मानना आगमविरुद्ध है।

आपने अन्त में लिखा है — यदि 'प्रकृत में दया से वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है....' आदि। इसके विषय में हमारा कहना है कि जब आगम के आधार पर सैद्धान्तिक चर्चा होती है, तब किसी व्यक्ति विशेष की मान्यता का प्रश्न नहीं रह जाता। हमारी तो आगम पर ही पूर्ण श्रद्धा है और आगम के उल्लेखों की संगति बैठाने का ही प्रयत्न करते हैं, यही हमारी मान्यता है। किसी व्यक्ति विशेष की स्वेच्छानुसार मान्यता या प्रतिपादन के अनुसार अपना पूर्व का आगमानुकूल श्रद्धान बदला नहीं जा सकता है और न बदलना ही चाहिये। आगम में क्या माना गया है, यह सिद्ध करने के लिये आपके समक्ष आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित हैं, उन पर आप विचार करेंगे, ऐसी आशा है।

अन्त में आपने समयसार कलश 106-107 वें श्लोक उद्धृत कर मथितार्थ के रूप में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं — 'इसलिये ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।' इस पर हमारा इतना ही संकेत है कि आपने जैसा समझा है, वह ठीक नहीं है।

यदि ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण होता तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य मोक्षपाहुड़ ग्रन्थ में यों न लिखते—

धुवसिद्धी तित्थयरा चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥ 60॥

अर्थ—तीर्थंकर को उसी भव से अवश्य आत्मसिद्धि (मुक्ति) होती है, तथा वे जन्म

से मति, श्रुत, अवधिज्ञानसहित और मुनिदीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञानसहित चार ज्ञानधारक हो जाते हैं। चार ज्ञानधारक होकर भी वे तपश्चरण करते हैं। (तपस्या करने के बाद ही तीर्थंकर मुक्त होते हैं।) ऐसा जानकर ज्ञानसहित व्यक्ति को अवश्य तपस्या करनी चाहिये। यानी बिना चारित्र के ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं होती।

तथात्र—

तीर्थंकरा जगज्ज्येष्ठा यद्यपि मोक्षगामिनः।
तथापि पालितञ्चैव चारित्रं मोक्षहेतुकम्॥

अर्थ—यद्यपि तीर्थंकर जगत्श्रेष्ठ तथा मुक्तिगामी होते हैं तो भी तीर्थंकरों ने मोक्ष के कारणभूत चारित्र का पालन अवश्य किया है। सूत्रपाहुड़ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ 32॥

अर्थ—जैनधर्म में वस्त्रधारक (संयमरहित) तीर्थंकर भी क्यों न हों, वह मुक्त नहीं हो सकते। मोक्षमार्ग नग्न दिगम्बररूप है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।

मोक्षप्राभृत में श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुतं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं॥ 57॥

अर्थात्—चारित्र से रहित ज्ञान, सुखकारी नहीं है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र 1-1।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) मोक्ष का मार्ग है। राजवार्तिक में इसी सूत्र की टीका में श्री अकलंकदेव ने लिखा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।

अर्थ—चारित्ररहित ज्ञान, मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है।

इत्यादि अनेक आर्ष प्रमाणों द्वारा आपका यह लिखना कि 'ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।' अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

इस विषय में समयसार (अहिंसा मन्दिर, 1 दरयागंज, दिल्ली से प्रकाशित) के पृष्ठ 118 की टिप्पणी में लिखा है—

एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं उभाभ्यामेव मोक्षः।

अर्थ—एकान्त से न तो मात्र ज्ञान ही कर्म-बन्ध का रोकनेवाला है और न केवल चारित्रक्रिया ही कर्म-बन्ध की रोकनेवाली है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान-चारित्र दोनों के द्वारा ही मोक्ष होता है।

इसी विषय को श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार की 155 वीं गाथा में कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥

अर्थ—जीव-अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उन तत्त्वों का जानना ज्ञान है, राग आदि भावों का परिहार सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है।

इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धान-स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।

अर्थ—मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। यहाँ सम्यग्दर्शन तो जीवादिक तत्त्वों के श्रद्धानस्वभाव से ज्ञान का होना है। जीवादिक के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना ज्ञान है। राग आदि के परिहार स्वभाव से ज्ञान का होना चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक ही ज्ञानरूप होना सिद्ध हुआ। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ से मोक्ष का कारण है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि के इस कथन के अनुरूप ही 106-107 वें कलश का अभिप्राय है। तदनुसार 'ज्ञान मोक्ष का कारण है' इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि 'सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रसहित, ज्ञान, मोक्ष का कारण है'—मात्र ज्ञान (जीवादि तत्त्वों का अधिगम) मोक्ष का कारण नहीं है।

इन उपर्युक्त आर्ष प्रमाणों द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जीव दया संयमरूप है तथा संवर और निर्जरा का कारण होने से धर्म है।

आपने व्रतपालन को शुभभाव में गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है। इस विषय का निर्णय करने के लिये सर्व प्रथम व्रतों का स्वरूप देखना आवश्यक हो जाता है। श्री तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 7 के सूत्र 1 में व्रतों का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरक्ति व्रत है।

उक्त लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रत विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं है। इसी कारण यह सम्यक्चारित्र में गर्भित है। जितनी भी निवृत्ति है, वह केवल संवर तथा निर्जरा की ही कारण है, वह कभी भी बन्ध का कारण नहीं हो सकती है। अतः व्रतों का पालन संवर-निर्जरा का कारण है। सिद्धान्त में अणुव्रती एवं महाव्रती के प्रत्येक समय असंख्यातगुणी निर्जरा बतलाई है। अव्रत सम्यग्दृष्टि के लिये ऐसा नियम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ व्रत ही असंख्यातगुणी निर्जरा के कारण हैं।

दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतों का लक्षण नहीं है। इनको व्रतों का लक्षण स्वीकार कर लेने पर अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि दत्तादान को न ग्रहण करने की अवस्था में या मौनस्थ आदि अवस्था में मुनियों के, यह लक्षण घटित न होने के कारण, महाव्रत ही न रहेंगे। किन्तु यह इष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि मुनियों के हर समय महाव्रत रहते हैं, श्रेणी आदि के गुणस्थानों में स्थित मुनियों के भी महाव्रत होना स्वीकार किया गया है। 12 वें गुणस्थान में अप्रमाद बतलाते हुए कहा है—

पंच महव्वयाणि पंच समिदीयो तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम। *— धवल पुस्तक 14 पृष्ठ 89*

अर्थ—पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायों के अभाव का नाम अप्रमाद है।

इससे प्रमाणित होता है कि 12 वें गुणस्थान में भी पंच महाव्रत आदिक होते हैं और वे अप्रमादरूप हैं।

यह व्रत सम्यक्चारित्ररूप हैं। इसके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्॥ 40॥ —*पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

अर्थ—हिंसा से, असत्य भाषण से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से, वह चारित्र दो प्रकार का होता है।

हिंसानृतचौरेभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥ 49॥ —*रत्नकरण्डश्रावकाचार*

अर्थ—हिंसा, अनृत, चौर्य, मैथुनसेवन, परिग्रह—ये पाप आवने के प्रनाला हैं, इनसे जो विरक्त होना सो सम्यग्ज्ञानी के चारित्र है।

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं॥ 97॥ —*रयणसार*

अर्थ—पापारम्भ से निवृत्ति तथा पुण्यारम्भ में प्रवृत्ति भी सर्व जीवों के ज्ञान एवं धर्म्यध्यान हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने व्रतों को ज्ञान एवं धर्म्यध्यान प्ररूपित किया है तथा चारित्रपाहुड़ गाथा 27 में इनको संयम और चारित्र बतलाया है—

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं॥ 27॥

अर्थ—पंचेन्द्रियों का संवरण, पंच व्रत, पच्चीस क्रिया, पंच समिति तथा तीन गुप्ति मुनियों के संयम एवं चारित्र हैं।

प्रत्येक जैन आगम अभ्यासी को यह तो सुविदित ही है कि चारित्र, संयम तथा धर्म्यध्यान संवर-निर्जरा एवं मोक्ष सिद्धि के कारण हैं। व्रत भी चारित्र, संयम एवं धर्म्यध्यानरूप होने से संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धि के कारण सिद्ध हो जाते हैं। अतः यह कहना कि व्रतपालन से संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव है—सर्वथा आगमविरुद्ध है।

यह प्रश्न हो सकता है कि कहीं-कहीं आगम में व्रतों को शुभ आस्रव-बन्ध का भी कारण क्यों बतलाया है? उसका समाधान यह है कि उन व्रतों के साथ दत्तादान का ग्रहण,

सत्यभाषण आदिरूप जो रागसहित प्रवृत्ति अंश रहता है और जिसका इन व्रतों में त्याग नहीं किया गया है, उससे ही शुभ आस्रव-बन्ध होता है। जैसे कि देव आयु के आस्रव के प्रत्ययों में तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यक्त्वं च' अर्थात् सम्यक्त्व से भी देव आयु का बन्ध होता है, ऐसा कहा गया है। वास्तव में सम्यक्त्व बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व के साथ रहनेवाला रागांश ही देव आयु के बन्ध का कारण है। जैसे एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होने के कारण सम्यक्त्व को बन्ध का कारण कहा जाता है, उसी प्रकार एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होने के कारण व्रतों को भी शुभबन्ध का कारण कहा जाता है।

एक मिश्रित अखण्ड पर्याय में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं। अतः उससे आस्रव-बन्ध भी है और संवर-निर्जरा भी है। क्रमशः प्रवृत्ति (राग) अंश के क्षीण हो जाने पर मात्र संवर-निर्जरा ही होती है। राग के साथ जो पापों से निवृत्ति बनी रहती है, उससे उस समय भी संवर-निर्जरा बराबर होती रहती है।

आगम में जिस-जिस स्थान पर व्रतों को छोड़ने का उपदेश पाया जाता है, वहाँ सविकल्प से निर्विकल्प समाधि में पहुँचाने के लिये व्रतों में होनेवाला अध्यवसान या उसके प्रवृत्तिरूप रागांश अथवा व्रतों के विकल्प को ही छुड़ाने का उपदेश है, न कि निवृत्तिरूप स्वयं व्रतों को छोड़ने का। क्योंकि पापों से निवृत्तिरूप व्रतों के छोड़ने का अर्थ होगा, पापों में प्रवृत्ति करना, जो कि कभी इष्ट नहीं हो सकता है। जैसे ऊपर सप्रमाण बतलाया गया है— व्रत तो ऊपर के श्रेणी के गुणस्थान आदि में भी कायम रहते हैं, छोड़े नहीं जाते हैं।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 3

जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

1. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरों का उपसंहार

जीवदया पद के स्वदया और परदया दोनों अर्थ सम्भव हैं। किन्तु प्रकृत में मूल प्रश्न परदया को ध्यान में रखकर ही है, इस बात को ध्यान में रखकर हमने प्रथम उत्तर में यह स्पष्टीकरण किया कि यदि धर्म पद का अर्थ पुण्यभाव लिया जाये तो जीवदया को पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। इस उत्तर में आगम प्रमाण भी इसी अर्थ की पुष्टि में दिये गये।

अपर पक्ष ने अपनी प्रथम प्रतिशंका में एक अपेक्षा से हमारे उक्त कथन को तो स्वीकार कर लिया। किन्तु साथ में आगम के लगभग बीस प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जीवदया का संवर और निर्जरा तत्त्व में भी अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह मोक्ष का भी कारण है।

अपर पक्ष ने जो प्रमाण उपस्थित किये, उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें धर्म को दया प्रधान कहा गया है, या करुणा को जीव का स्वभाव कहा गया है या शुभ और शुद्धभावों से कर्मों की क्षपणा कही गई है और साथ ही ऐसे प्रमाण भी उपस्थित किये, जिनमें स्पष्टरूप से रागरूप पुण्यभाव की सूचना है। किन्तु इनमें से किस प्रमाण का क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं किया गया। वे कहाँ किस अपेक्षा से लिखे गये हैं, यह भी नहीं खोला गया। इसलिए हमें अपने दूसरे उत्तर में यह टिप्पणी करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि 'ये सब प्रमाण तो लगभग 20 ही हैं। यदि पूरे जिनागम में से ऐसे प्रमाणों का संग्रह किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाये।'

फिर भी उन प्रमाणों को ध्यान में रखकर हमने अपने दूसरे उत्तर में यह स्पष्टीकरण कर दिया कि पुण्य (शुभराग) भावरूप जो दया है, वह तो मोक्ष का कारण नहीं है। हाँ इसका अर्थ वीतरागभाव यदि लिया जाये तो वह संवर और निर्जरारूप होने से अवश्य ही मोक्ष का कारण है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगम में सराग सम्यक्त्व को या सरागचारित्र आदि को जहाँ बन्ध का कारण कहा है, वहाँ उन्हें परम्परा मोक्ष का कारण भी कहा है। पर उसका आशय दूसरा है, इसलिए प्रकृत में उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो निर्णय इस बात का करना है कि रागरूप शुभभाव या पुण्यभाव भी क्या उसी तरह मोक्ष का कारण है, जिस तरह निश्चय रत्नत्रय। इन दोनों में कुछ अन्तर है या दोनों एक समान हैं। पूरी चर्चा का केन्द्रबिन्दु भी यही है। हमने अपने प्रथम और दूसरे उत्तर में इसी आशय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

2. प्रतिशंका 3 के आधार से विचार

तत्काल प्रतिशंका 3 विचार के लिए प्रस्तुत है। इसके प्रारम्भ में हमारे प्रश्न उत्तर को लक्ष्य में रखकर तीन निष्कर्ष फलित किये गये हैं। प्रथम उत्तर हमने अन्य जीवों की दया को लक्ष्य में रखकर दिया था, इसलिए इस अपेक्षा से अपर पक्ष ने हमारे प्रथम उत्तर का जो यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'जीवदया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है, किन्तु धर्मरूप नहीं है।' वह यथार्थ है, पर जीवों की दया पर भाव अर्थात् रागभाव है, इसलिए वह धर्म अर्थात् वीतरागभाव कथमपि नहीं हो सकता।

दूसरा निष्कर्ष हमारे आशय को स्पष्ट नहीं करता। परमात्मप्रकाश गाथा 71 में भावों के तीन भेद किये गये हैं — धर्म, अधर्म और शुद्ध। स्पष्ट है कि यहाँ धर्म पद शुद्धभावों से भिन्न शुभभाव के अर्थ में आया है। इसकी टीका का भी यही आशय है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि शुभभाव से धर्म अर्थात् मुख्यरूप से पुण्य होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुभभाव से वीतराग भावरूप धर्म होता है, यह उपचार कथन है। किन्तु अपर पक्ष ने इसका ऐसा अर्थ किया है, जिससे भ्रम होना सम्भव है।

तीसरे निष्कर्ष के विषय में मात्र यही खुलासा करना है कि पर जीवों की दया का विकल्प तो सम्यग्दृष्टियों, यहाँ तक कि मुनियों को भी होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो इनके पूजा, भक्ति, व्रतग्रहण आदि व्यवहार धर्म नहीं बन सकता। हमारी समझ से यह बात अपर पक्ष को भी मान्य होगी, अतः अपर पक्ष को निःसंकोचरूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि पुण्यबन्धरूप जीवदया सम्यग्दृष्टियों के भी होती हैं।

अपर पक्ष ने अपने प्रतिशंकारूप दूसरे पत्रक में विविध ग्रन्थों के अनेक आगमप्रमाण

दिये हैं यह सच है और उनमें से कुछ में जीवदया धर्म है तथा शुभभाव से कर्मक्षय होता है, यह भी कहा गया है। किन्तु कहाँ किस आगमवाक्य का नयदृष्टि से क्या आशय है, इसका स्पष्टीकरण करना विवेकियों का काम है। हमने अपने दूसरे उत्तर में वही किया है। क्या इसे आर्ष ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर अपर पक्ष द्वारा अप्रामाणिकता की अंगुली उठाना कहना उपयुक्त है। इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यही बात है तो वह स्वयं अपने को इस दोष से बरी नहीं रख सकता। अपर पक्ष को यह समझना चाहिए कि किसी आर्ष वाक्य को अप्रामाणित घोषित करना अन्य बात है और जहाँ जिस दृष्टि से विवेचन किया गया है, नयदृष्टि से उसके आशय को खोलना अन्य बात है।

अपर पक्ष यदि व्यवहार धर्म और निश्चयधर्म दोनों को मिलाकर निश्चयधर्म कहना चाहता है और वह हमसे भी ऐसा कहलाने की यदि आशा रखता है तो उसकी यह आशा कम से कम हमारे द्वारा कभी भी पूरी नहीं की जा सकेगी। जबकि जिनागम में ये दो भेद किये हैं और उनके कारणों तथा फल का अलग-अलग विवेचन किया है, ऐसी अवस्था में हम तो वही कहेंगे जिसे स्थान-स्थान पर जिनागम में स्पष्ट किया गया है।

श्री प्रवचनसार में शुभ, अशुभ और शुद्धभाव का निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ 9॥

परिणामस्वभाववाला यह जीव जब शुभ या अशुभरूप से परिणमता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूप से परिणमता है, तब शुद्ध होता है॥ 9॥

आगे इनमें से किसमें उपादान बुद्धि की जाये और किसमें त्यागबुद्धि रखी जाय, इस अभिप्राय से इनके फल का निर्देश करते हुए लिखा है—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥ 11॥

धर्म से परिणित स्वभाववाला यह आत्मा, यदि शुद्धोपयोग में युक्त होता है तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला होता है तो स्वर्गसुख को प्राप्त होता है॥ 11॥

ये आगम प्रमाण हैं। इनकी प्रामाणिकता पर कोई भी श्रद्धालु बन्धु अप्रामाणिकता की अंगुली उठाने का साहस नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में दूसरे जीवों की दयारूप शुभभावों

को यदि हमने पुण्यबन्ध का कारण लिखा तो आगम की अवहेलना कहाँ हुई। इस कथन द्वारा तो हमने आगम का रहस्य खोलकर मोक्षमार्ग ही प्रशस्त किया। क्या अपर पक्ष यह चाहता है कि प्रत्येक भव्य जीव पर जीवों की दया को मोक्ष का कारण जान उसी में उलझा रहे और आत्मस्वभाव के सन्मुख हो सच्चे आत्मकल्याण के मार्ग में न लगे ? हम नहीं समझते कि वह ऐसा चाहता होगा। यदि यही बात है तो उस पक्ष को प्रवचनसार के उक्त उल्लेखों के आधार पर शुभ और शुद्धभावों में अन्तर तो करना ही चाहिए। साथ ही उनके कारणभेद और फलभेद को भी अपने दृष्टिपथ में लेना चाहिए।

अपर पक्ष ने अपने दूसरे पत्रक में जो आगम प्रमाण दिये हैं, भला वह पक्ष ही बतलावे कि उनकी उपेक्षा करने का साहस हम कैसे कर सकते थे। तभी तो हमने **जीवदया के स्वदया और परदया ऐसे दो भेद करके स्वदया का अन्तर्भाव वीतरागभाव में और परदया का अन्तर्भाव रागरूप पुण्यभाव में करके,** अपने दूसरे उत्तर में उनके फल का भी पृथक्-पृथक् निर्देश कर दिया है। अपर पक्ष ने सब प्रमाणों को एक पंक्ति में रखकर और उनका आशय खोले बिना उन सभी प्रमाणों से अपने अभिप्राय की पुष्टि करनी चाही है। यह देखकर ही हमें अपने दूसरे उत्तर में यह लिखना पड़ा है कि 'ये सब प्रमाण तो लगभग 20 ही हैं। यदि पूरे जिनागम में से ऐसे प्रमाणों का संग्रह किया जावे तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाये, पर इन प्रमाणों के आधार से क्या पुण्यभावरूप दया को इतने मात्र से मोक्ष का कारण माना जा सकता है।'

हमने अपने पिछले उत्तर में जो यह लिखा है कि 'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतों का पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है। उससे संवर, निर्जरा और मोक्ष की सिद्धि होना असम्भव है।' यह प्रवचनसार गाथा 11 तथा उसकी दोनों आचार्यों द्वारा रचित संस्कृत टीकाओं को लक्ष्य में रखकर ही लिखा है। हम आशा करते थे कि अपर पक्ष भी इसी प्रकार प्रत्येक आगम प्रमाण को उपस्थित करते हुए आगम का कौन वचन किस आशय से लिखा गया है इसे सुस्पष्ट करता जाता। उदाहरणार्थ जयधवला में कहा है—

शुभ-शुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

यदि शुभ और शुद्धपरिणामों से कर्मों का क्षय नहीं होता तो कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

इसमें शुभ परिणामों को शुद्ध परिणामों के समान कर्मक्षय का कारण कहा है। इसलिए ऐसे स्थल पर अपर पक्ष को चाहिए था कि वह इस वचन का आशय अन्य आगम वचन के प्रकाश में अवश्य ही स्पष्ट कर देता तो इससे कौन कथन किस विवक्षा से किया गया है, यह सबकी समझ में सुगमता से आ जाता। प्रकृत में कम से कम इसका खुलासा किस प्रकार से किया जाना इष्ट था, इसके लिए प्रवचनसार गाथा 11 की आचार्य जयसेनकृत टीका पर दृष्टिपात कीजिए—

तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते।

वहाँ जो शुद्ध संप्रयोग शब्द का वाच्य शुद्धोपयोग स्वरूप वीतराग चारित्र है, उससे निर्वाण को प्राप्त करता है। तथा निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोगरूप शक्ति के अभाव में जब शुभोपयोगरूप सरागचारित्र रूप से परिणमता है, तब पहले के अनाकुलत्वलक्षण पारमार्थिक सुख से विपरीत आकुलता के उत्पादक स्वर्गसुख को प्राप्त करता है। पश्चात् परम समाधिरूप सामग्री के सद्भाव में मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

यह आगमप्रमाण है। इस द्वारा शुभ और शुद्ध दोनों प्रकार के भावों का क्या फल है, यह स्पष्ट किया गया है। इस द्वारा हम यह अच्छी तरह जान लेते हैं कि शुभभावों को जो श्रीजयधवला में कर्मक्षय का हेतु कहा है, वह किस रूप में कहा है। वस्तुतः तो वह पुण्यबन्ध का ही हेतु है। उसे जो कर्मक्षय का हेतु कहा गया है, वह इस अपेक्षा से ही कहा गया है कि उसके अनन्तर जो शुद्धोपयोग होता है, वह वस्तुतः कर्मक्षय का हेतु है, इसलिए उपचार से उसे भी कर्मक्षय का हेतु कहा गया है। शुभभाव बन्ध का कारण है, इसका निर्देश करते हुए पंचास्तिकाय में भी कहा है—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विवहेण॥ 147॥

यदि आत्मा विकारी वर्तता हुआ उदीर्ण शुभ-अशुभ भाव को करता है तो वह उस भाव के निमित्त से नाना प्रकार के पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है॥ 147॥

इससे शुभ परिणाम करने का क्या फल है, इसका सहज पता लग जाता है।

यह अपर पक्ष द्वारा अपने द्वितीय पत्रक में उपस्थित किया गया एक उदाहरण है, जिसका यहाँ हमने दो आगम प्रमाणों के प्रकाश में स्पष्टीकरण किया है। अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणों के विषय में भी इसी प्रकार स्पष्टीकरण जान लेना चाहिए। हमारी तो दृष्टि सदा काल से तत्त्वविमर्श की रही है और रहेगी। इसका विचार तो अपर पक्ष को ही करना है कि कोई भी जिनवाणी का भक्त महान आचार्य और महान ग्रन्थों के नयविशेष से किये गये कथन को उसी रूप में ग्रहण न कर, उसे सर्वथा रूप में क्यों स्वीकार करता है ? इसका हमें विशेष आश्चर्य है।

हमने तो जीवदया किस अपेक्षा से शुभभाव है और किस अपेक्षा से वीतरागभाव है, मात्र इसका अपने पिछले उत्तरों में खुलासा किया। यदि अपर पक्ष उसे हमारा मूल विषय को छुए बिना विषयान्तर में प्रवेश करना मानता है तो भले ही मानता रहे, उसकी इच्छा। किन्तु जिसका हमने पिछले उत्तरों में निर्देश किया है, वह हमारा विषयान्तर में प्रवेश करना नहीं है, अपितु मूल प्रश्न का स्पष्टीकरणमात्र है।

जीवदया स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। वह जीव का परिणाम है, जो नयविशेष से शुभ भी हो सकता है और शुद्ध भी। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा इसी का स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि जीवदया को शुभ परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्व में होता है और उसे शुद्ध परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व में होता है। अपर पक्ष इसे निर्विवादरूप में स्वीकार कर ले, यही इस प्रयास का फल है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में लिखा है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥ 181॥

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तथा जो परिणाम अन्य को लक्ष्य कर नहीं होता है, उसे शास्त्र में दुःख के क्षय का कारण कहा है॥ 181॥

हमने पिछले उत्तर में इसी जिनागम को लक्ष्य में रखकर दूसरे जीवों की दया को

पुण्यभाव और स्वदया को वीतरागभाव कहा है। शुभभाव का फल कर्मास्रव है और शुद्धभाव का फल कर्मनिरोध है, इसके लिए प्रवचनसार गाथा 156 तथा 245 पर दृष्टिपात कीजिए।

दया कहो, करुणा कहो या अनुकम्पा कहो, इन तीनों का आशय एक ही है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में जीवों में की गई अनुकम्पा को शुभोपयोग बतलाते हुए लिखते हैं—

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥157॥

जो जिनेन्द्र को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों की श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है उसका वह शुभोपयोग है॥ 157॥

यदि अपर पक्ष कहे कि हम इन सब प्रमाणों को प्रकृत में उपयोगी नहीं मानते। हमें तो ऐसा प्रमाण दीजिए जिसमें स्पष्टरूप से दया का उल्लेख हो और उसे आस्रव भाव बतलाया गया हो तो इसके लिये तत्त्वार्थसार के आस्रव प्रकरण के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए —

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा॥ 25॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः॥ 26॥

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, दम, क्षमा, वैयावृत्त्य, विनय, जिनपूजा, आर्जव, सरागसंयम, संयमासंयम तथा जीवों और व्रतियों पर अनुकम्पा में, ये सब सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं॥ 25-26॥

इस प्रकार उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि हम प्रथम और द्वितीय उत्तर में जो कुछ भी लिख आये हैं, वह आगम का आशय होने से प्रमाण है।

अपर पक्ष ने बोधप्राभृत का उद्धरण उपस्थित कर जो धर्म को दयाप्रधान बतलाकर अपने अभिमत की सिद्धि करनी चाही है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ भी धर्म को दयाप्रधान कहा है, वहाँ 'दया' पद मुख्यतया वीतरागभाव का सूचक ही लिया गया है। यह इसी से स्पष्ट है कि स्वयंम्भूस्तोत्र में अभिनन्दन जिन की स्तुति करते समय, उन्हें दयावधू का आश्रय करनेवाला तथा शान्ति जिनकी स्तुति करते समय उन्हें दशामूर्ति कहा गया है।

जिन सहस्त्रनाम तो स्पष्टत: सर्वज्ञ वीतराग जिन की स्तुति है। इसमें जिनदेव को दयाध्वज, महाकारुणिक, दयागर्भ, दयायोग और दयानिधि नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है। जिनदेव के ये सब नाम अर्थगर्भ अर्थात् गुणनाम हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'दया' यह शब्द जहाँ जिनागम में शुभरागरूप पुण्यभाव के अर्थ में आता है, वहाँ वह वीतरागरूप धर्म के अर्थ में भी आता है। इसलिए बोधप्राभृत के '**धम्मो दयाविसुद्धो**' इस उल्लेख के आधार पर 'धर्म' पद का अर्थ मुख्यरूप से वीतरागभाव ही लेना चाहिए, क्योंकि जिससे राग की पुष्टि होती हो वह जिनागम ही नहीं हो सकता।

धवल पुस्तक 13 के '**करुणाए जीवसहावस्स**' इत्यादि उल्लेख का भी यही आशय है। तभी तो उसमें करुणा के कर्म जनित होने का विरोध किया गया है। जो कर्म को निमित्त कर उत्पन्न नहीं होता, वह तो मात्र निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम ही हो सकता है।

अपने अभिमत की पुष्टि में अपर पक्ष ने भावसंग्रह की '**सम्माइट्ठीपुण्णं**' इत्यादि गाथा उपस्थित की है। यदि अपर पक्ष इसके अन्तिम चरण पर ध्यान दे तो नयविशेष से कहे गये इस वचन का अर्थ सहज ही स्पष्ट हो जाये। आगम में व्यवहार रत्नत्रय को व्यवहार से मोक्ष का हेतु बतलाया ही है। इस वचन से उसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। अथवा सम्यग्दृष्टि का पुण्य दीर्घ संसार का कारण नहीं है, अल्प काल में ही वह मोक्ष का पात्र होगा, यह आशय भी इस गाथा का हो सकता है।

जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 6 के '**शुभ-शुद्धपरिणामेहिं**' का क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण इसी उत्तर में हम पहले ही कर आये हैं।

अब तक प्ररूपित समग्र कथन का सार यह है—

1. दया पद आगम में दोनों अर्थों में व्यवहृत हुआ है—शुभभाव के अर्थ में भी और वीतरागभाव के अर्थ में भी।

2. शुभभाव परभाव होने के कारण उसका यथार्थ में आस्रव और बन्ध तत्त्व में ही अन्तर्भाव होता है। जहाँ भी इसे निर्जरा का हेतु कहा है, वहाँ वैसा कथन व्यवहारनय से ही किया गया है।

3. वीतरागभाव निजभाव होने से उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व में ही होता है।

4. वीतरागभाव व्यवहार से आस्रव और बन्ध का कारण है, यह व्यवहार वीतरागभाव पर लागू नहीं होता, क्योंकि वह सब प्रकार के व्यवहार को दृष्टि में गौण कर, एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्मा के आलम्बन के तन्मयस्वरूप उत्पन्न होता है। अतः वह स्वरूप से ही सब प्रकार के व्यवहार से अतीत है। उस पर किसी प्रकार का उपचार लागू नहीं होता।

अपर पक्ष जिस प्रकार आशावादी है, उसी प्रकार हम भी आशावादी हैं। क्या ही अच्छा हो कि अपर पक्ष रागरूप पुण्यभाव और वीतराग भाव में वास्तविक अन्तर को समझकर 'दया' पद का जहाँ जो अर्थ इष्ट हो, उसे उसीरूप में स्वीकार कर ले और इस प्रकार शुभभाव और वीतरागभाव में एकत्व स्थापित करने से अपने को जुदा रखे।

हमें शुभभावों की अवान्तर परिणतियों का पूरा ज्ञान हो या न हो। पर हम इतना निश्चय से जानते हैं कि जो भी शुभभाव उत्पन्न होता है, वह कर्म तथा नोकर्म के सम्पर्क के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, इसलिए वह कर्मस्वभाववाला होने से नियम से कर्मबन्ध का हेतु है; वह मोक्ष का हेतु त्रिकाल में नहीं हो सकता। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा 156 की टीका में लिखते हैं—

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिसिद्धिः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्।

कितने ही प्राणी परमार्थरूप मोक्षहेतु के सिवाय व्रत, तप आदि शुभकर्म मोक्ष के हेतु हैं, ऐसा मानते हैं। किन्तु वह सभी निषिद्ध हैं, क्योंकि वह द्रव्यान्तरस्वभाव है, उसके स्वभाव से ज्ञान का होना नहीं बनता।

इसी अर्थ को स्पष्टरूप से समझने के लिए इस कलश पर दृष्टिपात कीजिए—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥ 107॥

कर्मस्वभाव से वर्तना ज्ञान का होना नहीं है, इसलिए वह (शुभभाव) मोक्ष का हेतु नहीं है, क्योंकि वह अन्य (पुद्गल) द्रव्य के स्वभाववाला है॥ 107॥

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने रागमात्र को बन्ध का हेतु मान लिया है। किन्तु इतना स्वीकार करने के बाद भी उसकी ओर से जो रागांश और रत्नत्रयांश में एकत्व स्थापित करने के लिए युक्ति दी गई है, वह सर्वथा अयोग्य है। इस सम्बन्ध में उस पक्ष का कहना है—

'तथा च अमृतचन्द्रसूरि ने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयत के मिश्रित भावों को अपनी प्रज्ञा छैनी से भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्म के बन्धन और अबन्धन की सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के तीन श्लोकों में की है, उनमें एक अखण्डित मिश्रित भाव का विश्लेषण समझाने के लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्ड भाव ही शुभभाव है, अत: उससे आस्रव-बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होती है।

अपने इस अभिप्राय की पुष्टि के लिये अपर पक्ष ने भोजन, काढ़ा और कर्म को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है। किन्तु उसका यह सब कथन वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करनेवाला न होने से प्रकृत में ग्राह्य नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—

सर्व प्रथम विचार यह करना है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने रागांश और रत्नत्रयांश को भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया। आचार्य श्री कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥ 294॥

जीव और बन्ध ये दोनों निश्चित अपने-अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनी से इस तरह छेदने चाहिए कि जिस तरह छेदे हुए वे दोनों, नाना हो जायें॥ 294॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्ध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्ता आत्मा के करण सम्बन्धी विचार करने पर निश्चयत: अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उसके द्वारा छिन्न हुए वे दोनों, नानापने को अवश्य ही प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध भिन्न-भिन्न किये जाते हैं।

शंका—आत्मा और बन्ध चेत्य-चेतकभाव के कारण अत्यन्त प्रत्यासन्न होने से एकीभूत है तथा भेदविज्ञान का अभाव होने के कारण, वे एक चेतक ही हों—ऐसे व्यवहार को प्राप्त होते हैं, अत: उनका प्रज्ञा के द्वारा छेदना कैसे शक्य है?

समाधान—आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षण हैं, उनकी सूक्ष्म अन्त:सन्धि में प्रज्ञारूपी छैनी को सावधान होकर पटकने से उनको छेदा जा सकता है - ऐसा हम जानते हैं। — गाथा 294 की टीका के कुछ अंश का अर्थ।

ऐसा करने का फल (प्रयोजन) क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए गाथा 295 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्ध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों के ज्ञान द्वारा सर्वथा ही छेदना चाहिए। तत्पश्चात् रागादिलक्षणवाले समस्त बन्ध को तो छोड़ना चाहिए और उपयोग लक्षणवाले शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का वास्तव में यही प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्ध आत्मा का ग्रहण हो जाये।

अत्यन्त प्रत्यासन्न दो को भिन्न-भिन्न करने की यह रीति है। एकमात्र इसी पद्धति से दो को भिन्न-भिन्न जाना जाता है। जो उत्पाद है, वही व्यय है ऐसा होने पर भी लक्षण भेद से आगम में उन्हें दो बतलाया है। (आप्तमीमांसा कारिका 58।) प्रकृत में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी न्याय से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'येनांशने विशुद्धिः' इत्यादि वचन लिखे हैं।

राग का कारण कर्मोपाधि से संपृक्त होकर परिणमना है और निश्चय रत्नत्रय का कारण ज्ञायक स्वभाव आत्मा के आलम्बन द्वारा तन्मय होकर परिणमना है। राग का (शुभाशुभ का) लक्षण पराश्रय भाव करना है और रत्नत्रय का लक्षण शुद्ध चैतन्य का स्वाश्रय प्रकाशमात्र है। राग का फल संसार की परिपाटी है और निश्चय रत्नत्रय का फल शुद्ध आत्मा की प्राप्ति है। इस प्रकार कारणभेद, लक्षणभेद और कार्यभेद से ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें मिश्रित कहकर दोनों का कार्य आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा मानना संगत नहीं है।

जब कि अपर पक्ष ही उन्हें मिश्रित स्वीकार करता है तो इससे वे दो अंश सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। इससे तो वे दोनों अंश मिले हुए सरीखे दिखते हैं, एक नहीं हैं, यही सिद्ध होता है। और जबकि वे दोनों एक नहीं हैं, दो हैं तो उनके दो होने का कारणभेद, कार्यभेद और लक्षणभेद भी अपर पक्ष को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए। स्पष्ट है कि शुभभाव का कार्य निश्चय से एकमात्र आस्रव और बन्ध है तथा निश्चय रत्नत्रय का कार्य एकमात्र संवर और निर्जरा तथा अन्त में मोक्ष है, यही सिद्ध होता है।

एक बात और है कि **रागभाव और रागपर्याय विकार संपृक्त और विभावभाव होने से स्वयं बन्धस्वरूप हैं। ऐसी अवस्था में वह संवर और निर्जरा का हेतु कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकाल में नहीं हो सकता। संवर और निर्जरा का हेतु वही हो सकता है, जो स्वयं**

संवर-निर्जरास्वरूप है। फिर भी अपर पक्ष निश्चय से राग को यदि संवर और निर्जरा का हेतु मानना चाहता है तो उसका यह मानना राग को संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप मानना ही कहा जाएगा, क्योंकि आगम का ऐसा अभिप्राय है कि निश्चय से जो जिसका हेतु होता है, वह स्वयं तत्स्वरूप ही होता है। किन्तु जहाँ जितने अंश में वीतरागता उत्पन्न होती है, वह उतने अंश में राग का अभाव होकर ही उत्पन्न होती है, अतः राग निश्चय से वीतरागता को त्रिकाल में उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए। फिर भी आगम में जो राग को निश्चय रत्नत्रय का व्यवहारनय से हेतु कहा गया है, वह सहचर सम्बन्ध को देखकर उपचार से ही कहा गया है। विवक्षित रत्नत्रय के साथ विवक्षित रागांश के रहने में कोई हानि नहीं, यह ज्ञान कराना ही इसका प्रयोजन है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविपरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ 110॥

जब तक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति पूर्णता को नहीं प्राप्त होती, तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी विहित है, उसमें कोई हानि या विरोध नहीं। किन्तु इस अवस्था में भी आत्मा में अवशपने जो कर्म उदित होता है, वह तो बन्ध का हेतु है और पर द्रव्य-भावों से स्वयं भिन्न जो परम ज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का हेतु है॥ 110॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथन से अपर पक्ष के इस मत का खण्डन हो जाता है कि चतुर्थादि गुणस्थानों में रागांश और रत्नत्रयांशरूप जो मिश्रित शुभभाव है, वह आस्रव और बन्ध का भी हेतु है तथा संवर और निर्जरा का भी हेतु है। किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि जो रागांश है, वह एकमात्र आस्रव और बन्ध का हेतु है और जो रत्नत्रयांश है, वह संवर और निर्जरा का हेतु है।

यह तो अपर पक्ष ने भी स्वीकार कर लिया है कि रागांश 10 वें गुणस्थान के अन्त तक पाया जाता है, ऐसी अवस्था में वह रागांश और रत्नत्रयांश के मिश्रितरूप शुभभाव को छठे गुणस्थान तक ही क्यों स्वीकार करता है, आगे क्यों स्वीकार नहीं करता? यदि वह कहे कि आगे ध्यान की भूमिका है, इसलिए वहाँ पर लक्ष्य से बुद्धिपूर्वक राग की प्रवृत्ति नहीं पाई

जाती है। अत: **वहाँ रागांश एकमात्र बन्ध का ही हेतु है।** तब तो इससे यही सिद्ध होता है कि अबुद्धिपूर्वक जितना भी रागांश है, वह तो मात्र बन्ध का कारण है ही। बुद्धिपूर्वक राग भी बन्ध का ही कारण है और इस कथन से यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि रत्नत्रयांश स्वयं आत्मस्वरूप होने से अणुमात्र भी बन्ध का हेतु नहीं।

अपर पक्ष ने अपने विचारों के समर्थन में एक भोजन का उदाहरण दिया है और दूसरा काढ़े का उदाहरण दिया है। किन्तु ये उदाहरण ही इस बात का समर्थन करते हैं कि भोजन में या काढ़े में जिन तत्त्वों का समावेश होता है, उनसे उन्हीं तत्त्वों की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ काढ़े में कफ क्षयकारक द्रव्य का समावेश करने पर ही उस काढ़े के पान करने पर कफ की हानि होती है, अन्यथा नहीं होती। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक तत्त्व अपना-अपना ही कार्य करता है, अन्य का नहीं। कर्मशास्त्र भी इसी आशय का समर्थन करता है। बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण का उदय है। पर उससे मोह या रागपर्याय की उत्पत्ति त्रिकाल में नहीं हो सकती। कर्म का विपाक किस प्रकार होता है, इसका ज्ञान कराते हुए तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 8 सूत्र 22 में बतलाया है—'**स यथानाम।**' जिस कर्म का जो नाम है, उसके अनुसार ही उसका फल होता है। इससे सिद्ध है कि जिसका जो कार्य है, उससे उसी कार्य की निष्पत्ति होती है, अन्य के कार्य की निष्पत्ति होना त्रिकाल में सम्भव नहीं। फिर भले ही वे मिलकर ही क्यों न रहें। किन्तु करेंगे अपना-अपना ही कार्य। इसी प्रकार रागभाव और रत्नत्रय के विषय में भी जान लेना चाहिए।

अपर पक्ष ने चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक के परिणाम को मिश्रगुणस्थान के परिणाम के समान बतलाते हुए लिखा है कि 'उन गुणस्थानों में सम्मिलित एक विचित्र प्रकार का परिणाम होता है, जैसा कि मिश्र गुणस्थान में सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वभाव से पृथक् विचित्र प्रकार का परिणाम होता है, उस मिश्र गुणस्थान के विचित्र मिश्रित परिणाम में श्रद्धा-अश्रद्धा का क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणति की मिश्रित अवस्था हुआ करती है, जिससे कि कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा - ये तीनों कार्य एकसाथ हुआ करते हैं।' किन्तु अपर पक्ष का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इससे पूरी मोक्षमार्ग की व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है। जो कर्मशास्त्र का साधारण जानकार भी होगा, वह भी ऐसे विचित्र कथन को त्रिकाल में स्वीकार नहीं करेगा।

यह तो सभी जानते हैं कि तीसरे गुणस्थान में कारण एक है—सर्वघाति मिश्र प्रकृति

का उदय। तदनुसार उसका कार्य भी एक है - मिश्र परिणाम। इसलिए उसे अशक्यविवेचन कहा है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा भी है—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ 21॥

जात्यन्तर सर्वघाति के कार्यस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से जो सम्यक्त्व भी नहीं है, मिथ्यात्व भी नहीं है - ऐसा सम्मिश्र परिणाम होता है॥ 21॥

किन्तु यह स्थिति चतुर्थादि गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भावों की नहीं है। वहाँ कारणभेद के अनुसार कार्यभेद का आगम में स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप वेदक सम्यक्त्व को लीजिए। इसे वेदक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें सम्यक्त्व प्रकृति का उदय बना रहता है। और सम्यक्त्व इसलिए है, क्योंकि यह मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम से होता है। अब विचार कीजिए कि क्या वेदक सम्यक्त्व की तुलना मिश्र गुणस्थान के मिश्रभाव से की जा सकती है ? दोनों का लक्षण भिन्न है। मिश्र गुणस्थान का मिश्रभाव, सर्वघाति प्रकृति के उदय से होने के कारण विभाव भाव है। और वेदक सम्यक्त्व सर्वघाति प्रकृतियों के क्षयोपशम से होने के कारण, आत्मा का स्वभावभाव है। इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थान के विरताविरत परिणाम की स्थिति है। यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं है, इसलिए तो विरत भाव है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है, इसलिए अविरतभाव है। तदनुसार इनके कार्य भी पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। विरतभाव के कारण यह जीव त्रसहिंसा से विरत रहता है और अविरतभाव के कारण स्थावर हिंसा का त्याग नहीं कर पाता। इस प्रकार जब यहाँ कार्यभेद है तो उससे होनेवाले फल में भी भेद हो जाता है। जितने अंश में आत्मस्थितिरूप चारित्र प्रगट हुआ है, उतने अंश में इस जीव के संवर-निर्जरा है और जितने अंश में अविरतिभाव है, उतने अंश में आस्रव-बन्ध है। इसलिए चतुर्थादि गुणस्थानों के क्षायोपशमिक भावों की मिश्र गुणस्थान के मिश्रभाव के साथ तुलना करना सर्वथा असंगत है। मिश्र गुणस्थान का मिश्रभाव जहाँ अशक्यविवेचन है, वहाँ चतुर्थादि गुणस्थानों का क्षायोपशमिकभाव शक्यविवेचन है।

अपर पक्ष का कहना है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है। अन्य कोई शुद्धोपयोग आदि उन गुणस्थानों में नहीं होता। किन्तु यह कथन भी युक्त नहीं,

क्योंकि चतुर्थादि गुणस्थानों में आत्मानुभूति होती ही नहीं, यह मानना आगमविरुद्ध है। वृहद्द्रव्यसंग्रह में गाथा 47 की टीका में लिखा है—

तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति।

उस दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनि निर्विकार स्वसंवित्तिस्वरूप परम ध्यान के द्वारा प्राप्त करता है।

यह सम्यक्चारित्र का प्रकरण है, इसलिए यहाँ मुनि को लक्ष्य कर उक्त कथन किया गया है। इससे विदित होता है कि निर्विकार स्वसंवित्तिरूप परम ध्यान मुनि के नियम से होता है।

इसी आर्षग्रन्थ की 46 वीं गाथा में '**णाणिस्स**' पद आया है। इसकी व्याख्या करते हुए टीका में लिखा है—

इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति? 'णाणिस्स' निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः।

शंका—उभय क्रियानिरोधलक्षण चारित्र किसके होता है?

समाधान—ज्ञानी के अर्थात् निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद ज्ञानी के होता है।

इन प्रमाणों से हम जानते हैं कि सातवें गुणस्थान में मुनि के शुद्धोपयोग नियम से होता है, क्योंकि वहाँ पर बाह्य विषय में शुभाशुभ वचन-काय व्यापाररूप क्रियाव्यापार का तथा भीतर शुभाशुभ मानसिक विकल्परूप क्रियाव्यापार का सर्वथा निरोध होकर, यह आत्मा निष्क्रिय नित्य निरंजन विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा अपने आत्मा में तन्मय होकर परिणम जाता है। इसी का नाम परम ध्यान है और इसी का नाम आत्मानुभूति है। ऐसी आत्मानुभूति यदि मुनि के न हो तो वह मुनि कहलाने का पात्र नहीं।

किन्तु ज्ञानी यह संज्ञा तो सम्यग्दृष्टि की भी है। कोई अपने आत्मा को न जाने (न अनुभवे) और राग के परवश हुआ बाह्य विषयों में ही इष्टानिष्ट या हेयोपादेय बुद्धि करता रहे तो वह सच्चा ज्ञानी नहीं। **ज्ञानी का लक्षण ही यह है कि जो ज्ञान स्वभावरूप से परिणमता है, वह ज्ञानी।** और इसके विपरीत जो रागस्वभावरूप से परिणमता है, वह अज्ञानी। ज्ञानी यह सम्यग्दृष्टि की संज्ञा है और अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि अध्याय 1 सूत्र 32 में कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास इन तीन का निर्देश किया है। इससे

स्पष्ट ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टि को कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास नहीं होता। वह पर से भिन्न आत्मस्वरूप को यथावत् जानता है और **परद्रव्य-भावों से भिन्न जाननक्रियारूप आत्मा का परिणमना, इसी का नाम आत्मानुभूति है।** स्पष्ट है कि ऐसी आत्मानुभूति सम्यग्दृष्टि के भी होती है, जिसे शुभोपयोग कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग का विषय पर पदार्थ है। आत्मानुभूति उससे भिन्न है। अतएव सिद्ध हुआ कि चतुर्थादि गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग होता है।

अपर पक्ष कहेगा कि चतुर्थादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग होता है, इसका आगम में कहाँ निर्देश है ? समाधान यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानों में धर्मध्यान बहुलता से होता है और आत्मानुभूति दीर्घकाल बाद अल्प होती है, इसलिए इन गुणस्थानों में उसका निर्देश नहीं किया। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखते हैं—

यहाँ प्रश्न—जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थान में कहे हैं ?

ताका समाधान—चौथे ही से होय है, परन्तु चौथे तो बहुत काल के अन्तराल में होय है और ऊपर के गुणठाने शीघ्र-शीघ्र होय है।

बहुरि प्रश्न—जो अनुभव तो निर्विकल्प है, तहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानि में भेद कहा ?

ताका उत्तर—परिणामन की मग्नता विषै विशेष है। जैसे दोय पुरुष नाम ले हैं, अर दो ही का परिणाम नाम विसै है, तहाँ एक कै तो मग्नता विशेष है अर एक कै स्तोक है तैसे जानना।

इससे स्पष्ट है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक केवल शुभोपयोग ही होता है, ऐसा जानना-समझना मिथ्या है। इतना अवश्य है कि इन गुणस्थानों में जो आत्मानुभूति होती है, उसे धर्मध्यान ही कहते हैं, शुक्लध्यान नहीं। शुक्लध्यान में एक मात्र शुद्धोपयोग ही होता है, परन्तु धर्मध्यान में शुभोपयोग भी होता है और शुद्धोपयोग भी यही इन दोनों में विशेषता है।

चतुर्थादि गुणस्थानों में शुभोपयोग के काल में उससे आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा दोनों होते होंगे, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धि होती है, इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और शुभोपयोग के कारण आस्रव-बन्ध होता है।

तथा जब आत्मानुभूति होती है, तब इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और अबुद्धिपूर्वक राग के कारण आस्रव-बन्ध होता है। इससे एक काल में एक ही उपयोग होता है, यह व्यवस्था भी बन जाती है और किसका कौन यथार्थ कारण है, इसका भी ज्ञान हो जाता है।

अपर पक्ष का कहना है कि एक कारण से अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। समाधान यह है कि शुभोपयोग संवर-निर्जरा का विरोधी है। पंचास्तिकाय गाथा 144 की टीका में बतलाया है—

शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः।

शुभ और अशुभ परिणाम का निरोध करना, संवर है।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा 124 में कहा है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥ 142॥

जिसका सब द्रव्यों में राग, द्वेष या मोह परिणाम नहीं है, सुख-दुख में सम परिणामवाले उस भिक्षु के शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता॥ 142॥

इसलिए शुभोपयोग से संवर निर्जरारूप कार्य मानना योग्य नहीं है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व के सन्मुख होता है, तब शुद्ध परिणामों के अभाव में भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है। तद्वत् शुभोपयोगरूप पुण्य का प्रत्येक भाव कर्मसंवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है। अतः जीवदया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जरा के भी निर्विवाद कारण हैं।'

समाधान यह है कि **प्रथम गुणस्थान में इस जीव के परद्रव्य-भावों से भिन्न आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह विशुद्धि ही असंख्यातगुणी निर्जरा आदि का कारण है, परद्रव्य-भावों में प्रवृत्त हुआ शुभोपयोग परिणाम नहीं।** यह जीव जबकि मिथ्यादृष्टि है, ऐसी अवस्था में उसके शुद्धोपयोग के समान शुभोपयोग कहना भी उपयुक्त नहीं है। फिर भी वहाँ पर जो भी विशेषता देखी जाती है, वह आत्मस्वभाव सन्मुख हुए परिणाम का ही फल है।

अपर पक्ष ने दया धर्म है, इसकी पुष्टि में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, उसकी टीका,

नियमसार गाथा 6 की टीका, आत्मानुशासन, यशस्तिलक, आचार्यकुन्दकुन्दकृत द्वादशानुप्रेक्षा, भावपाहुड, शीलपाहुड और मूलाराधना के अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं। किन्तु उन सब प्रमाणों से यही प्रख्यापन होता है कि जो निश्चय दया अर्थात् वीतरागपरिणाम है, वही आत्मा का यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्मा का यथार्थ धर्म नहीं है, फिर चाहे वह व्रत परिणाम हो, भूतदया हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो। सरागभाव होने से वह जीव का निश्चयस्वरूप यथार्थ धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि मोह, राग और द्वेषरूप से परिणत हुए जीव के नाना प्रकार का बन्ध होता है, इसलिए उनका क्षय करना ही उचित है। प्रवचनसार में इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए लिखा भी है—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा॥ 84॥

मोह से, राग से और दोष से परिणत हुए जीव के विविध प्रकार का बन्ध होता है, इसलिए उन्हें उत्तरोत्तर घटाना चाहिए॥ 84॥

अतएव पर जीवों में किये गये करुणाभाव या दयाभाव को धर्म मानने के प्रति ज्ञानी जीवों की क्या दृष्टि होनी चाहिए, इसके लिए प्रवचनसार के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुव-तिरिएसु।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥ 85॥

पदार्थों का अयथाग्रहण, तिर्यंचों तथा मनुष्यों में करुणाभाव और विषयों की संगति— ये मोह के लक्षण हैं॥ 85॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

पदार्थों की अयथातथ्य प्रतिपत्ति द्वारा तथा तिर्यंच और मनुष्यमात्र प्रेक्षायोग्य हैं, फिर भी उनमें करुणाबुद्धि द्वारा मोह को, अभीष्ट विषयों के प्रसंग से राग को और अनभीष्ट विषयों में अप्रीति से द्वेष को इस प्रकार इन तीन लिंगों से इन तीनों को जानकर जैसे ही यह तीन प्रकार का मोह उत्पन्न हो, वैसे ही उसे नष्ट कर देना चाहिए। संस्कृत टीका ग्रन्थ में देखिए।

इसी गाथा पर टीका करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं—

शुद्ध आत्मादि पदार्थ यथास्वरूप अवस्थित हैं, फिर भी उन्हें विपरीताभिनिवेशवश अयथार्थरूप से ग्रहण करना तथा मनुष्यों और तिर्यंचों में शुद्धात्मोपलब्धिलक्षण परम उपेक्षासंयम

के विपरीत करुणाभाव और दयाभाव करना अथवा व्यवहार से करुणा नहीं करना, यह दर्शनमोह का चिह्न है। निर्विषय सुख के आस्वाद से रहित बहिरात्मा जीवों का जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में प्रकर्षरूप से संसर्ग होता है, उसे देखकर प्रीति और अप्रीतिलक्षण चारित्रमोहसंज्ञावाले राग-द्वेष जाने जाते हैं। विवेकीजन उक्त चिह्नों द्वारा मोह, राग, और द्वेष को जान लेते हैं। इसलिए उनका परिज्ञान होने के अनन्तर ही निर्विकार स्वशुद्धात्मभावना द्वारा राग, द्वेष और मोह का नाशकर देना चाहिए। संस्कृत टीका मूल में देखिए।

आशय यह है पर जीवों के लक्ष्य से उत्पन्न हुई दया शुभराग है, उसे आत्मा का निश्चयधर्म मानना मिथ्यात्व है और व्यवहारधर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है।

ज्ञानी जीव के कृपा या करुणाभाव से जीवों में अनुकम्पा होती है, पर वह मनःखेद ही है, इसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा 137 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वत्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनःखेद इति।

तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर, करुणा के कारण उसका प्रतीकार करने की इच्छा से आकुलित चित्त होना अज्ञानी की अनुकम्पा है तथा जन्मार्णव में निमग्न जगत् के अवलोकन में किंचित् मनःखेद होना, यह सविकल्प भूमिका में वर्तते हुए ज्ञानी की अनुकम्पा है।

दया, करुणा, क्षमा, व्रत, संयम, दम, यम, नियम और तप इत्यादि शब्द निश्चय धर्म के अर्थ में भी आगम में प्रयुक्त हुए हैं और व्यवहार धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। यह विवेकियों का कर्तव्य है कि कहाँ किस अर्थ में इनका प्रयोग हुआ है, इसे जानकर यथार्थ का निर्णय करें। दोनों को मिलाकर एक कहना और मानना उचित नहीं है।

अज्ञानी का शुभ और अशुभभाव बन्ध का हेतु है ही। ज्ञानी का भी शुभभाव पुण्यरूप और अशुभभाव पापरूप होने से निश्चय से एकमात्र बन्ध करानेवाला ही है। पुण्य और पापपदार्थ का निर्णय करते हुए पंचास्तिकाय गाथा 108 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

शुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पुण्यम्। अशुभ-परिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पापम्।

जीव का शुभ परिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलों का कर्मपरिणाम पुण्य है। तथा जीव का अशुभपरिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलों का कर्मपरिणाम पाप है।

अपर पक्ष ने सम्यग्दृष्टि के शुभभावों को वीतरागता और मोक्ष प्राप्ति का हेतु कहा है और उसकी पुष्टि में प्रवचनसार आदि ग्रन्थों का नामोल्लेख भी किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'सम्यग्दृष्टि का शुभभाव कर्मचेतना न होकर, ज्ञानचेतना माना गया है।' किन्तु यह सब कथनमात्र हैं, क्योंकि आगम में न तो कहीं शुभभावों को वीतरागता और मोक्षप्राप्ति का निश्चय हेतु बतलाया है और न कर्मचेतना का अन्तर्भाव ज्ञानचेतना में ही किया है। इन दोनों के लक्षण ही आगम में जुदे-जुदे प्ररूपित किये गये हैं। समयसार गाथा 387 आदि की टीका में कर्मचेतना का लक्षण करते हुए लिखा है—

तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना।

उसमें, ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में ऐसा चेतना कि 'मैं इसको करता हूँ'— कर्मचेतना है।

इससे स्पष्ट है कि शुभभावों का ज्ञानचेतना में कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

दया शब्द सरागभाव और वीतरागभाव, दोनों के अर्थ में आगम में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि अपरपक्ष द्वारा उपस्थित किये गये आगमप्रमाणों से भी विदित होता है, मात्र इसी अभिप्राय से हमने 'यदि प्रकृत में दया से वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है' इत्यादि कथन अपने दूसरे उत्तर में किया था। इस आधार से अपर पक्ष ने जो अभिप्राय व्यक्त किया है, वह प्रधानता से स्वयं उस पक्ष को ही ध्यान देने योग्य है, हमारा तो उस ओर ध्यान सदा से रहा है और इसीलिए हम शुद्ध परिणति और शुभपरिणति को मिलाकर एक नहीं लिख या कह रहे हैं। अपर पक्ष को भी इन दोनों के वास्तविक भेद को स्वीकार कर लेना चाहिए। समग्र आगम में सुमेल बिठलाने का एकमात्र यही मार्ग है।

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, उस द्वारा अखण्ड आत्मा का कथन हुआ है, इसलिए मोक्षप्राभृत के साथ संगति बैठ जाती है। समयसार कलश 106-107 में इसी अर्थ में 'ज्ञान' शब्द आया है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए। इसका विशेष खुलासा आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार के परिशिष्ट में किया ही है। उस पर दृष्टिपात कीजिए।

मोक्षप्राभृत गाथा 60 में जो तपश्चरण करने की प्रेरणा की है, वह इच्छानिरोधरूप तपश्चरण करने के लिए ही कहा गया है। '**इच्छानिरोधस्तपः**' यह प्रसिद्ध आगम वचन है।

'चारित्र भी 'स्वरूपस्थिति' का दूसरा नाम है—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्।' प्रवचनसार गाथा 7, आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका। बाह्य तप या चारित्र को जो तप या चारित्र संज्ञा प्राप्त है, वह निश्चयतप और निश्चय चारित्र का सहचर होने से ही प्राप्त है। आचार्य ने मोक्षप्राभृत गाथा 60 में ऐसे ही तपश्चरण करने की प्रेरणा की है। मुनिदीक्षा स्वरूपस्थिति का दूसरा नाम है। वह न हो और बाह्य तप करने का विकल्प और क्रियाकाण्ड मात्र हो तो वह न सच्ची मुनिदीक्षा है और न सच्चा तपश्चरण ही है।

अपर पक्ष ने आगे सूत्रप्राभृत, मोक्षप्राभृत तथा तत्त्वार्थसूत्र-तत्त्वार्थवार्तिक के जो प्रमाण दिये हैं, वे पूर्वोक्त अभिप्राय की ही पुष्टि करते हैं। तभी तो तत्त्वार्थवार्तिक में चारित्र का यह लक्षण किया है—

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्।

संसार के कारणों की निवृत्ति के प्रति उद्यत हुए ज्ञानी के, बाह्य और अभ्यन्तर क्रिया का उपरम होना सम्यक्चारित्र है।

देखिए, इस वचन में बाह्य अनशनादि और आभ्यन्तर विकल्परूप क्रिया के प्रति उपरमभाव को सम्यक्चारित्र कहा है, इन क्रियाओं को नहीं। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञानी वही है, जो इन क्रियाओं के करनेमात्र से आत्मा का हित न मानकर स्वरूप में रमणता करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अन्तस्तत्व समझने के लिए कठिन तो है, पर वह हितकारी होने से समझने योग्य अवश्य है।

अपर पक्ष ने अहिंसा मन्दिर दरियागंज 1 दिल्ली से प्रकाशित समयसार पृष्ठ 118 की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया सो वहाँ पर 'क्रिया' शब्द आत्मा और आस्रवों में भेद को जानकर, आत्मस्वरूप परिणमने के अर्थ में ही आया है। इसे गाथा 72 की अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका से समझा जा सकता है। 47 संख्याक कलश भी इसी अभिप्राय को सूचित करता है।

अपर पक्ष ने समयसार गाथा 155 और उसकी टीका का प्रमाण दिया है, उससे हमारे इसी अभिप्राय की ही पुष्टि होती है कि रागादि की निवृत्ति का नाम ही सच्चा चारित्र है। ज्ञान पद से सम्यग्दर्शनादि तीन रूप परिणत आत्मा ही लिया गया है, इसमें हमें तो विवाद नहीं, अपर पक्ष भी इस विकल्प को छोड़ दे कि समयसार कलश 106-107 में 'ज्ञान' पद अकेले

ज्ञान के अर्थ में आया है। यदि वह ऐसा नहीं समझता था तो उसकी ओर से यह शंका ही उपस्थित नहीं की जानी चाहिए थी, क्योंकि प्रकृत विषय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ पर अपर पक्ष ने उक्त प्रमाणों के आधार से जो यह फलित किया है कि 'जीवदया संयम तपरूप है तथा संवर और निर्जरा का कारण होने से धर्म है,' वह ठीक नहीं, क्योंकि एक तो उन प्रमाणों द्वारा दूसरी वस्तु कही गई है, दूसरे जीवदया पद से वह पक्ष यदि शुभभाव को ग्रहण करता है तो न तो वह यथार्थ तप-संयमरूप है और न ही निश्चयधर्म का यथार्थ हेतु है, अतएव उसे यथार्थ धर्म नहीं माना जा सकता। हाँ उसे व्यवहार धर्म मानने में आगम से कोई बाधा नहीं आती और इसीलिए उसे आगम में निश्चय धर्म का उपचरित हेतु कहा गया है।

अपर पक्ष ने हमारे एक कथन को गलतरूप में उपस्थित कर जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं। दूसरे उत्तर में हमारा कहना यह है — 'शुभभाव, चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्ब दर्शन हो, व्रतों का पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा और मोक्ष की सिद्धि होना असम्भव है।'

इसके स्थान में अपर पक्ष ने हमारे इस कथन को इन शब्दों में उपस्थित किया है—

'आपने व्रतपालन को शुभभाव में गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है।'

अपर पक्ष को हम बतला देना चाहते हैं कि हमने व्रत पालन को शुभभाव में गर्भित नहीं किया है। किन्तु हमने यह लिखा है 'शुभभाव चाहे वह.....व्रतों का पालन करना हो, ...यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा मोक्ष की सिद्धि होना असम्भव है।'

कोई भी निष्पक्ष विचारक यह जान सकता है कि अपर पक्ष के उक्त वाक्य में और हमारे इस कथन में कितना अन्तर है। अस्तु,

अपर पक्ष ने यहाँ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 7 सूत्र 1 को उपस्थित कर और उस द्वारा प्रतिपादित व्यवहार चारित्र को निवृत्तिरूप से सम्यक्चारित्र में गर्भितकर लिखा है कि 'जितनी भी निवृत्ति है, वह केवल संवर तथा निर्जरा की ही कारण है, वह कभी भी बन्ध का कारण नहीं हो सकती। अतः व्रतों का पालन संवर-निर्जरा है।'

किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि इस सूत्र द्वारा मात्र अशुभ से निवृत्ति कही गई है, शुभ और अशुभ दोनों से निवृत्ति नहीं कही गई है। अतः इस सूत्र द्वारा आस्रव तत्त्व का ही निरूपण हुआ है, संवर-निर्जरा या मोक्षतत्त्व का नहीं। हमारे इस कथन की पुष्टि उस सूत्र की उत्थानिका से हो जाती है। सर्वार्थसिद्धि में इसकी उत्थानिका में लिखा है—

आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत् सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभः इत्युक्ते इदमुच्यते।

आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया। इसके प्रारम्भ काल में ही कहा है—'**शुभः पुण्यस्य।**' पर वह सामान्यरूप से कहा है। उसके भेदों का ज्ञान कराने के लिए 'शुभ क्या है' ऐसी पृच्छा होने पर यह सूत्र कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस सूत्र द्वारा आस्रवतत्त्व का ही कथन किया गया है, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व का नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र में किस प्रकार की निवृत्ति कही गई है, इसके लिए वृहद्द्रव्यसंग्रह के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए —

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ 45॥

जो अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति है, उसे चारित्र जानो। इसे जिनदेव ने व्यवहारनय से व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है॥ 45॥

अपर पक्ष का कहना है कि 'दत्तादानग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतों का लक्षण नहीं है। इनको व्रतों का लक्षण स्वीकार कर लेने पर अव्याप्ति दोष आता है।' किन्तु अपर पक्ष का यह लिखना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने पर एक तो वृहद् द्रव्यसंग्रह के उक्त आगम वचन के साथ विरोध आता है। उसमें स्पष्ट शब्दों द्वारा शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र घोषित किया गया है। दूसरे साधु के जब तक आहार आदि के ग्रहण का विकल्प या कषायांश बना हुआ है, तब तक व्यवहार से शुभ प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। आगे के गुणस्थानों में यथायोग्य संज्ञाओं का सद्भाव और छेदोपस्थापना संयम इसी आधार पर स्वीकार किया गया है। इसके लिए नौवें अध्याय में 22 परीषहों का प्रकरण द्रष्टव्य है।

धवल पुस्तक 14 पृष्ठ 89 में जो अप्रमाद का लक्षण दिया है, उसका आशय इतना ही है कि पाँच महाव्रत और पाँच समितिरूप विकल्प तो 6 वें गुणस्थान में होता है। आगे छेदोपस्थापना संयमरूप से इनका सद्भाव स्वीकार किया गया है। उसके भी आगे सूक्ष्मसांपराय संयम और यथाख्यात संयम में इन्हें गर्भित कर लिया है।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र के 7 वें अध्याय के प्रारम्भ में जिन व्रतों का निर्देश है, उनका आस्रव तत्त्व में ही अन्तर्भाव होता है। यही कारण है कि देवायु के आस्रवों में सरागसंयम और संयमासंयम को भी परिगणित किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 6 सूत्र 20 में लिखा है—

प्राक् शुभपरिणामाः सरागसंयमादयः व्याख्याताः। ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः।

पहले शुभपरिणाम सरागसंयमादिक कह आये हैं, वे देवायु के आस्रव के हेतु हैं, यह इस सूत्र का संक्षेप है।

अतः तत्त्वार्थसूत्र के उक्त वचन के आधार पर तो अशुभ से निवृत्तिरूप और शुभ में प्रवृत्तिरूप व्रतों को संवर-निर्जरा का कारण कहा नहीं जा सकता। अब रहे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, रत्नकरण्डश्रावकाचार, रयणसार और चारित्रप्राभृत के अन्य प्रमाण सो इन प्रमाणों का भी पूर्वोक्त कथन में ही अन्तर्भाव होता है। इन सभी प्रमाणों द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्र के साथ होनेवाले व्यवहार सम्यक्चारित्र का ही स्वरूप निर्देश किया गया है।

प्रत्येक जैन आगमाभ्यासी को उक्त प्रमाणों के प्रकाश में यह अच्छी तरह ज्ञात है कि निश्चयस्वरूप चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान, संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धि के कारण हैं। व्यवहारनय से कहे गये चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान नहीं। ये तो स्वयं आस्रव होने से बन्ध के ही कारण हैं। व्यवहार नय से कहे गये व्रतों का व्यवहार चारित्र, संयम और धर्मध्यान में ही अन्तर्भाव होता है, अतः इनसे संवर-निर्जरा और मोक्ष की निश्चय से सिद्धि होती है, ऐसा कहना सर्वथा आगमविरुद्ध है।

हमें प्रसन्नता है कि रागसहित प्रवृत्त्यंश की अपेक्षा अपर पक्ष ने व्रतों को आस्रव-बन्ध का हेतु मान लिया है। किन्तु उस पक्ष का यह लिखना है कि 'दत्तादानग्रहण, सत्यभाषण आदि रूप जो रागसहित प्रवृत्त्यंश है, उसका इन व्रतों में ग्रहण नहीं किया गया है' सर्वथा

आगमविरुद्ध है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ऐसा लिखकर व्यवहार में व्रतरूप से स्वीकृत पूजा, भक्ति, दान, स्वाध्याय, दया आदि सभी सत्प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्म की उपेक्षा कर देना चाहता है। ये सभी दत्तादान और सत्यभाषण के समान सत्प्रवृत्तियाँ व्रत ही तो हैं। मोक्षमार्ग में निश्चयधर्म के साथ होनेवालीं इन सभी सत्प्रवृत्तियों को आचार्यों ने व्यवहारधर्म ही तो कहा है। हम इसी उत्तर में वृहद्द्रव्यसंग्रह का उद्धरण उपस्थित कर आये हैं, उसमें स्पष्टतया बतलाया है कि जिस प्रकार अशुभरूप हिंसा, असत्य आदि से निवृत्ति व्यवहार सम्यक्चारित्र है; उसी प्रकार अहिंसा, सत्यभाषण आदि शुभ में प्रवृत्ति भी व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

अपर पक्ष ने जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या? यह प्रश्न किया है। साथ ही इसकी पुष्टि में अनेक आगमप्रमाण देकर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीवदया धर्म है और उससे संवर-निर्जरा भी होती है। अब पूछना यह है कि अपर पक्ष के मतानुसार यदि जीवदया धर्म है तो सत्यभाषण और दत्तादानादि धर्म क्यों नहीं? क्या जीवदया रागसहित प्रवृत्त्यंश नहीं है? हम यह अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अपर पक्ष अशुभ से निवृत्ति को धर्म कहकर उसे संवररूप सिद्ध करने की चेष्टा में है, परन्तु इससे उसने जिस अन्यथा प्ररूपणा को जन्म दिया है, उससे वह परस्पर विरुद्ध कथन के दोष से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। एक ओर तो जीवदया को धर्म मानना और दूसरी ओर सत्यभाषण तथा दत्तादानादि को व्रत नहीं मानना, यह परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है तो और क्या है? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे।

अपर पक्ष का हमारे पक्ष के ऊपर यह दोषारोपण है कि हमारा पक्ष व्यवहार धर्म का लोप करने पर तुला हुआ है। किन्तु उसके उक्त आगमविरुद्ध कथन से जिस अनर्थ परम्परा को जन्म मिलेगा, उसे वह पक्ष अभी नहीं समझ रहा है। पक्षव्यामोह इसी का दूसरा नाम है। यदि इसे उल्टी गंगा बहाना कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हम तो अपर पक्ष के उक्त कथन से यह समझे हैं कि 'हमारा पक्ष व्यवहार धर्म का लोप करना चाहता है' — यह तो उस पक्ष का प्रचारमात्र है। वस्तुतः वह पक्ष स्वयं लोक में से पूजा, भक्ति, दान आदि सभी सत्प्रवृत्तियों का लोप कर देना चाहता है, तभी तो वह पक्ष सत्यभाषण आदि को व्रतरूप से स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं दिखाई देता।

अपर पक्ष का कहना है कि 'दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना व्रतों का लक्षण नहीं है, इनको व्रतों का लक्षण स्वीकार करने पर अव्याप्ति दोष आता है। कारण कि दत्तादान

को न ग्रहण करने की अवस्था में या मौनस्थ आदि अवस्था में मुनियों के यह लक्षण घटित न होने के कारण महाव्रत ही न रहेंगे।'

समाधान यह है कि अभिप्राय में दत्तादान का ग्रहण या सत्य बोलनेरूप परिणाम के बने रहने के कारण दत्तादान को न ग्रहण करने की अवस्था में या मौनस्थ अवस्था में भी व्रतों का लक्षण घटित हो जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोष नहीं आता।

साधुओं के 28 मूलगुण बतलाये हैं। उनमें पाँच समितियाँ भी सम्मिलित हैं। ये पाँचों समितियाँ प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार की गई हैं। इसी प्रकार गृहस्थों के 12 व्रतों में अतिथिसंविभाग व्रत भी प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार धर्म में अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही मुख्यरूप से ली गई है, क्योंकि अशुभ निवृत्ति का अर्थ ही शुभप्रवृत्ति है। इनको इस प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसा कि अपर पक्ष ने इनका पृथक्रूप से विधान किया है। इतने विवेचन के बाद भी यदि अपर पक्ष सत्य-भाषण आदि को व्यवहार व्रतरूप से स्वीकार नहीं करना चाहता तो इन्हें अव्रत तो कहा जा सकता नहीं और व्रतों में इनकी गणना आप करना चाहते नहीं, ऐसी अवस्था में इनकी क्या स्थिति होगी, इसका अपर पक्ष स्वयं निर्णय करे।

यहाँ पर अपर पक्ष ने जिस प्रकार यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तव में सम्यक्त्व बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व के साथ रहनेवाला रागांश ही देव आयु के बन्ध का कारण है। उसी प्रकार वह यह भी स्वीकार कर लेगा कि शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चय चारित्रांश या रत्नत्रयांश वास्तव में बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ रहनेवाला रागांश ही वास्तव में बन्ध का कारण है। इसे स्वीकार कर लेने पर उस पक्ष ने जो यह लिखा है कि एक मिश्रित अखण्ड पर्याय में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं। अत: उससे आस्रव-बंध भी है और संवर-निर्जरा भी है।' इसका सुतरां निरास हो जायेगा। निश्चय रत्नत्रयांश में केवल अशुभ की ही निवृत्ति नहीं है, किन्तु शुभ की भी निवृत्ति है। अत: सिद्ध हुआ कि जो निश्चय रत्नत्रयांश है, उससे संवर और निर्जरा है और गृहस्थों तथा मुनियों के उस उस पद के योग्य जो शुभ-अशुभरूप प्रवृत्त्यांश या रागांश है, उससे आस्रव और बन्ध है।

आगम में अपर पक्ष के कथनानुसार व्रतों के छोड़ने का उपदेश तो कहीं नहीं है। इन

व्रतों के धारण करनेमात्र से ही मैं मुक्ति का पात्र बनूँगा, ऐसे विकल्प के छुड़ाने का उपदेश अवश्य है। जब यह जीव स्वभाव सम्मुख हो निर्विकल्प समाधि का अधिकारी बनता है, तब व्रतरूप विकल्प स्वयं विलयमान हो जाते हैं, इतना अवश्य है। **शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप जो व्रत है, वह तो एकमात्र वीतरागभाव है।** उसकी संज्ञा कुछ भी रख ली जाये, है वह स्वयं एकमात्र वीतरागभाव ही। सप्तमादि गुणस्थानों में यदि व्रतों का सद्भाव है भी तो एकमात्र इसी रूप में है।

इस प्रकार किस रूप में दया आत्मधर्म है और किस रूप में पुण्यभाव है, इसका स्पष्टीकरण किया।

●

प्रथम दौर

(1)

शंका 4

व्यवहार धर्म, निश्चयधर्म में साधक है या नहीं ?

समाधान

निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय धर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म में साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्म की उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। श्री नियमसारजी में कहा भी है—

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं॥ 13॥

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छि त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो॥ 14॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शनोपयोग, स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। जो केवल इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है। तथा चक्षु, अचक्षु और अवधि—ये तीनों विभाव दर्शन कहे गये हैं, क्योंकि पर्याय दो प्रकार की है—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष॥ 13-14॥

तात्पर्य यह है कि सर्वत्र विभाव पर्याय स्वपरसापेक्ष होती है और स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष होती है।

पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा इसी बात को स्पष्ट करते हुए, इसी नियमसार की गाथा 28 में भी कहा है—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जावो॥ 28॥

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम होता है, वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूप जो परिणाम होता है, वह विभावपर्याय है ॥ 28 ॥

यत: निश्चय रत्नत्रय स्वभाव पर्याय है, अत: उसकी उत्पत्ति का साधक व्यवहार धर्म नहीं हो सकता, यह उक्त प्रमाण से स्पष्ट है।

तथापि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्पदशा में व्यवहारधर्म, निश्चय धर्म के साथ रहता है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का सहचर होने के कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।

●

द्वितीय दौर

(2)

शंका 4

व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म का साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका 2

इसका उत्तर आपने यह दिया है — 'निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्म की उत्पत्ति पर निरपेक्ष होती है।'

आपके इस अभिप्राय की सिद्धि के लिये नियमसार की गाथा 13 और 14 का प्रमाण उपस्थित किया है, जिसके आधार पर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि चूँकि स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष है और इस तरह निश्चयधर्म जब पर निरपेक्ष सिद्ध होता है तो इसे व्यवहारधर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है।

आपके उत्तर से यह मालूम होता है कि सबसे बड़ी चिन्ता आपको यही है कि यदि निश्चयधर्म को व्यवहारधर्म सापेक्ष माना जाता है तो फिर निश्चयधर्म को आत्मा की विभाव पर्याय मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनों आत्मा के ही धर्म हैं। निश्चयधर्म में व्यवहारधर्म की साध्यता मान लेने पर भी परनिरपेक्षता का सद्भाव बना रहने से (निश्चय धर्म के समान व्यवहारधर्म भी पर नहीं है, इसलिये) निश्चयधर्म को आत्मा की स्वभावपर्यायता का अभाव नहीं हो सकता।

आगम में व्यवहारधर्म को, निश्चयधर्म का साधक बतलाया है। जिसके कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

निश्चय-व्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।

अर्थ—निश्चय और व्यवहार में परस्पर साध्य-साधनभाव है, जैसे सोना साध्य है और सुवर्णपाषाण साधन है। पंचास्तिकाय गाथा 159, श्री अमृतचन्द्रजी कृत टीका तथा परमात्मप्रकाश अध्याय 2-12 टीका।

भिन्नविषयश्रद्धान-ज्ञान-चारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्य-साधनभावा-भावाद्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसमाहितस्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः।

— पंचास्तिकाय गाथा 172, अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका

अर्थ—जीव पहले भिन्नस्वरूप श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहाररत्नत्रय से शुद्धता करते हैं—जैसे मलीन वस्त्र को धोबी भिन्न साध्य-साधनभावकर शिला के ऊपर साबुन आदि सामग्रियों से उज्ज्वल करता है, तैसे ही जीव, व्यवहारनय का अवलम्बन पाय भिन्न साध्यसाधन भाव के द्वारा क्रम से विशुद्धता को प्राप्त होता है। तदनन्तर निश्चयनय की मुख्यता से भिन्न साध्य-साधनभाव का अभाव होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप विषैं सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्था को धारण करता है।

श्री जयसेनजी ने भी पंचास्तिकाय गाथा 105 की टीका में लिखा है—

निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतं व्यवहारमोक्षमार्गः।

अर्थ—व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा करके निश्चय मोक्षमार्ग का कारणभूत है।

इसी ग्रन्थ की गाथा 160 तथा 161 के शीर्षक में सूरिजी ने निम्न प्रकार दिये हैं—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। तथा व्यवहार-मोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।

अर्थ—निश्चय मोक्षमार्ग का साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग से साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग।

इसी प्रकार इन्हीं गाथाओं की टीका में श्री जयसेनजी ने भी स्पष्टरूप से व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय का साधक बतलाया है।

निश्चय मोक्षमार्गसाधकव्यवहारमोक्षमार्गकथनरूपेण। *— पृष्ठ 262*

श्री प्रवचनसार गाथा 202 की टीका में सूरिजी ने व्यवहार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के विषय में स्पष्ट कहा है कि इनके प्रसाद से जीव शुद्धात्मस्थिति को प्राप्त होता है।

श्री परमात्मप्रकाशजी श्लोक 7 की टीका में भी व्यवहार पंचाचार को निश्चय पंचाचार का साधक बतलाया है।

अध्याय 2 श्लोक की टीका में भी व्यवहार रत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का साधक बतलाया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि।

श्रीद्रव्यसंग्रहजी की टीका के प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

निश्चयरत्नत्रयं तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं। — पृष्ठ 81

निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरंगसहकारिकारणभूतं पंचपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्। — पृष्ठ 102

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते..... सम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। — पृष्ठ 23

अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत्? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्य-साधकभावज्ञापनार्थमिति। — पृष्ठ 176

निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानम्। —पृष्ठ 204

निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं। — पृष्ठ 215

द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च। — पृष्ठ 223

आपने अपने उत्तर के अन्त में जो यह लिखा है कि 'चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सविकल्पदशा में व्यवहार धर्म, निश्चयधर्म के साथ रहता है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्म

का सहचर होने के कारण साधक कहा गया है।' इसके विषय में हमारा आपसे यह निवेदन है कि व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का सहचर होने के कारण साधक किस उद्देश्य से माना जाता है ? कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिये। पदार्थों में सहचरभाव तो बहुत से विद्यमान रहते हैं फिर भी उनमें एक का दूसरे के साथ साध्य-साधकभाव माना जाना अनिवार्य नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि जिस तरह आप सहचर होने के कारण व्यवहार धर्म को निश्चयधर्म का साधक कहते हैं, उसी तरह सहचर रहनेवाले निश्चयधर्म को क्या आप व्यवहारधर्म का साधक मानते हैं ?

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आगम में व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक सहचर होने के कारण नहीं माना गया है। यदि माना गया हो तो कृपया आप स्पष्ट कीजिये।

●

शंका 4

व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म में साधक है, या नहीं ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

शंका 4 में व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का साधक है या नहीं ? यह पृच्छा की गई थी। इसके उत्तर स्वरूप बतलाया गया था कि उत्पत्ति की अपेक्षा तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक नहीं है, क्योंकि निश्चय धर्म की सर्वदा सर्वत्र एकमात्र स्वभाव के आश्रय से ही उत्पत्ति होती है। नयचक्र में कहा भी है—

ववहारदो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले॥ 77॥

अर्थ—यत: व्यवहार से बन्ध होता है और स्वभाव का आश्रय लेने से मोक्ष होता है, इसलिए स्वभाव की आराधना के काल में अर्थात् मोक्षमार्ग में व्यवहार को गौण करो॥ 77॥

इस सम्बन्धी प्रतिशंका में प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह के विविध प्रमाण उपस्थित कर जो यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का

साधक है सो वह कथन असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा से ही किया गया है। यही कारण है कि श्रीजयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय गाथा 105 की टीका में और द्रव्यसंग्रह पृष्ठ 204 में व्यवहार रत्नत्रय को परम्परा से निश्चयरत्नत्रय का साधक कहा है। श्री पण्डितप्रवर टोडरमलजी सा० ने मोक्षमार्गप्रकाशक में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्यपना करि, कहीं शुभोपयोगकौं शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है। *पृष्ठ 377 दिल्ली संस्करण*

श्री पञ्चास्तिकाय गाथा 105 की जयसेनाचार्यकृत टीका में और बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका पृष्ठ 204 में जो व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का परम्परा से साधक कहा है सो वह इसी अभिप्राय से कहा है। वस्तुत: मोक्षमार्ग एक ही है। उसका निरूपण दो प्रकार का है। इसलिए जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है, वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहारधर्मरूप रागपरिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग आगम में कहा है और यत: वह सहचर होने से निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल है, इसलिए उपचार से निश्चय मोक्षमार्ग का साधक भी कहा है। श्री पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने खुलासा करते हुए लिखा है—

जहां सांचा मोक्षमार्गकौ मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है वा सहचारी है, ताकौ उपचार करि मोक्षमार्ग कहिए सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है - ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानैं है सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिए है।

— मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 365-366 देहली संस्करण

तात्पर्य यह है कि निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म दोनों ही आत्मा के धर्म अर्थात् पर्यायांश हैं। किन्तु निश्चयधर्म आत्मा का स्वाश्रित पर्यायांश है और व्यवहार धर्म आत्मा का पराश्रित पर्यायांश है। प्राथमिक भूमिका में ये दोनों मिश्ररूप होते हैं। ऐसी अवस्था में निश्चयधर्म की उत्पत्ति व्यवहार धर्म के द्वारा मानने पर आत्मा को स्वभाव सन्मुख होने का प्रसंग ही नहीं आ सकता। अतएव इस सम्बन्ध में जो पूर्व में स्पष्टीकरण किया है, वैसा श्रद्धान और ज्ञान करना ही शास्त्रानुकूल है।

श्री प्रवचनसार में इन दोनों में महान भेद है, इस तथ्य का बहुत सारगर्भित शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। उसे अपनी सूक्ष्मेक्षणिका से ध्यान में लेने पर व्यवहार धर्म को निश्चय धर्म का जो साधक कहा है, वह कथन उपचरितमात्र है, यह तथ्य अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है—

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुर-मनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्ट-फलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्॥ 6॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्र से, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभव क्लेशरूप बन्ध की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षुओं को इष्टफलवाला होने से वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है, और अनिष्ट फलवाला होने से सराग चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है॥ 6॥

●

तृतीय दौर

(3)

शंका 4

हमारा प्रश्न था—

व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न के उत्तर में आपके पत्रक में मूल प्रश्न को न छूते हुए स्वभाव और विभाव दर्शनोपयोग पर तथा पुद्गल द्रव्य की स्वभाव विभाव पर्याय पर प्रकाश डालकर नियमसार की तीन गाथाएँ उद्धत की गई थीं, परन्तु उन प्रमाणों का मूल विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

आपके उस पत्रक पर हमने प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह ग्रन्थों के अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि व्यवहारधर्म (व्यवहार रत्नत्रय) साधन है और निश्चयधर्म (निश्चय रत्नत्रय) साध्य है। परम प्रमाणभूत, मूलसंघ के प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्यों के आर्ष प्रमाण देखकर, जिनवाणी का श्रद्धालु तत्त्ववेत्ता नतमस्तक होकर उन्हें स्वीकार कर लेता है, ऐसी ही आशा आपसे भी थी; किन्तु आपने उन प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया और असद्भूत व्यवहारनय की आड़ लेकर उन्हें टाल दिया है, जबकि उक्त कथन असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से नहीं है और न उसकी अपेक्षा से हो ही सकता है। इसके लिये आलापपद्धति के अन्त में दिया हुआ अध्यात्म नयों का प्रकरण द्रष्टव्य है। वहाँ सद्भूत तथा असद्भूत व्यवहारनय का निम्न प्रकार लक्षण दिया है—

व्यवहारो भेदविषयः, एकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

अर्थ—व्यवहारनय भेद विषयवाला है। एक ही वस्तु जिसका विषय है, वह सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तु जिसका विषय है, वह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस विवेचन से आत्मा का व्यवहार रत्नत्रय है, यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय ठहरता है। अपनी पक्षपुष्टि के लिये आपने कोई भी ऐसा आगम प्रमाण उपस्थित नहीं किया जो व्यवहार धर्म को निश्चयधर्म का साधन न मानता हो।

हमारे प्रश्न 12 के उत्तर में आपने स्पष्टरूप से स्वीकार कर लिया है कि 'कुगुरु, कुधर्म, कुशास्त्र की श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्री नियमसार में निम्न गाथा दी है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं॥ 5॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है।

उसकी टीका में स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

व्यवहारसम्यक्त्वाख्यानमेतत्।

यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है।

'सम्यग्दृष्टि के ऐसी श्रद्धा अवश्य होती है और वह ऐसे कथन को शास्त्रोक्त मानता

है' आपका यह उत्तर ठीक है, अत: हमने इसे स्वीकार कर लिया है। परन्तु आपने हमारे चौथे प्रश्न के उत्तर में जो लिखा है, वह आपके इस उक्त 12 वें प्रश्न के उत्तर से विरुद्ध है।

आपने इस चौथे प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'व्यवहारधर्मरूप रागपरिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग आगम में कहा है' तथा यह भी कहा है कि 'वह (रागपरिणाम) सहचर होने से निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल है।' आपका राग परिणाम को, निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल लिखना उचित नहीं है। राग परिणाम तो निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल नहीं हो सकता। अत: आपका यह लिखना आगम सम्मत नहीं है, क्योंकि किसी भी आगम ग्रन्थ में मात्र राग परिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के साथ प्रशस्त रागभाव रहता है, परन्तु मोक्षमार्ग मात्र रागभाव को नहीं बतलाया गया है। सर्वत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहा है। जैसा कि निम्न प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है—

नियमसार की उल्लिखित 5 वीं गाथा में व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण आप्त, आगम और तत्त्व की श्रद्धा बतलाया है, राग को नहीं।

श्री पञ्चास्तिकाय में गाथा 106 के पश्चात् श्री जयसेनाचार्यकृत टीका में भी एक गाथा आई है, जो इस प्रकार है—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्ते॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत पदार्थों में रुचिरूप श्रद्धान करते हुए पुरुष को जो मति-श्रुतज्ञान होते हैं, उनसे युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

श्री जयसेनाचार्य इसकी टीका में लिखते हैं—

अत्र सूत्रे यद्यपि क्वापि निर्विकल्पसमाधिकाले निर्विकारशुद्धात्मरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं यद् व्यवहारसम्यक्त्वं तस्यैव तत्र मुख्यता।

अर्थ—इस आगम वाक्य में यद्यपि कभी निर्विकल्प समाधिकाल में निर्विकार शुद्धात्मरुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का स्पर्श होता है तो भी अधिकता से बहिरंग पदार्थ रुचिरूप जो व्यवहार सम्यक्त्व रहता है, उसी की यहाँ पर मुख्यता है।

रुचि, प्रतीति, श्रद्धा एक पर्यायवाची शब्द हैं।

इसी ग्रन्थ में व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है—

धम्मादीसद्दहणं समत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥ 160॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्यों के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, अंग-पूर्वगत ज्ञान और तपश्चरणरूप चारित्र, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इस गाथा का शीर्षक वाक्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने निम्न प्रकार दिया है—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।

अर्थ—आगे निश्चय मोक्षमार्ग के साधनरूप से पहले कहे गये व्यवहार मोक्षमार्ग का निर्देश है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने टीका में इसी का विस्तार से कथन किया है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग का साधकभाव और निश्चय मोक्षमार्ग का साध्यभाव सिद्ध किया है।

द्रव्यसंग्रह की 13 वीं गाथा की टीका में भी स्पष्ट लिखा है—

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते..... सम्यग्दृष्टिलक्षणम्।

अर्थ—श्री अरहन्त सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहे हुए निश्चय-व्यवहारनय को जो साध्यसाधक भाव से मानता है, वह सम्यग्दृष्टि का लक्षण है।

इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि जो निश्चयनय को साध्य और व्यवहारनय को साधकभाव से नहीं मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

परमात्मप्रकाश के दूसरे अध्याय की 14 वीं गाथा की टीका में देखिये—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक् श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहार-मोक्षमार्गः।

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यादि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठानरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री नियमसार में पूर्वोक्त 5 वीं गाथा के अतिरिक्त 51 से 55 तक पाँच गाथाओं में भी रत्नत्रय का विस्तृत स्वरूप कथन है—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं॥ 51॥

चल-मलिनमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतच्चाणं॥ 52॥

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहोऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥ 53॥

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहार-णिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि॥ 54॥

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणम्।
णिच्छयणयचारित्ते तवयरणं होदि णिच्छयदो॥ 55॥

अर्थ—विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, संशय-विमोह-विभ्रमरहित सम्यग्ज्ञान होता है॥ 51॥ चल-मलिन-अगाढ़रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व होता है। हेय उपादेय तत्त्वों का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है॥ 52॥ जिनसूत्र तथा उनका ज्ञायक पुरुष, सम्यक्त्व का बहिरंग निमित्त है, और दर्शनमोह के क्षयादिक, अन्तरंग हेतु कहे गये हैं॥ 53॥ हे भव्य जीव! सुन, मोक्ष के लिये सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होते हैं, इसलिए व्यवहार तथा निश्चय चारित्र का कथन करता हूँ॥ 54॥ व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है॥ 55॥

इन गाथाओं के टीकाकार ने निम्नलिखित टीका द्वारा गाथार्थ का विस्तार करते हुए स्पष्ट किया है कि 55 वीं गाथा के उत्तरार्ध के अतिरिक्त शेष सब व्यवहार रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। टीका देखिये—

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरम्पराहेतुभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढवर्जितसमयजनितनिश्चलभक्ति-युक्तत्त्वमेव। विपरीते हरिहरहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः। संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव। तत्र संशयस्तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः। विभ्रमो ह्यज्ञानमेव। पापक्रियानिवृत्ति-परिणामश्चारित्रम्। इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः। तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्व-परिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्।

अर्थ—भेदोपचार रत्नत्रय भी विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान, आत्मसिद्धि के परम्परा कारणभूत पञ्च परमेष्ठी भगवान की चल, मलिन एवं अगाढ़रहित निश्चल भक्ति ही है, जो कि हरि हर ब्रह्मादि प्रणीत विपरीत पदार्थ समूह में अभिनिवेश का अभावरूप है और सम्यग्ज्ञान भी संशय विमोह विभ्रम से रहित ही है। इनमें संशय का रूप यह है कि 'जिन' देव हैं ? या 'शिव' देव हैं ? शाक्यादि-बौद्धादि द्वारा कही हुई वस्तुओं में निश्चयहोना, विमोह है। विभ्रम अज्ञानता ही है और पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है। ये भेदोपचार रत्नत्रय की परिणति है। इनमें जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्त्व का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

आगे चलकर इसी ग्रन्थ के चौथे अध्याय में व्यवहारचारित्र का कथन है, जिसमें पाँच पापों से निवृत्ति अर्थात् पञ्च व्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति को व्यवहारचारित्र कहा है। इस अध्याय की अन्तिम गाथा 76 द्वारा यह स्पष्ट किया है कि इस अध्याय में व्यवहार चारित्र का कथन किया है। पञ्च पापों के त्याग का नाम व्रत बतलाया है, क्रिया करते समय प्रमाद-असावधानी का त्याग, समिति है और मन-वचन-काय की क्रिया का निरोध करना, गुप्ति है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुड़ में लिखते हैं—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूपं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ 19॥

अर्थ—जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट छह द्रव्य, नव पदार्थ पाँच अस्तिकाय तथा सप्त तत्त्वों के स्वरूप का जो श्रद्धान करता है, उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ 19॥

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखते हैं—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ 4॥

अर्थ—सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह तीन मूढ़तारहित, आठ अंगसहित और आठ मदरहित होता है।

ऐसे अन्य भी बहुत प्रमाण हैं। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार रत्नत्रय को मात्र रागरूप कहना अर्थात् 'निश्चय रत्नत्रय के साथ जो राग रहता है, उस रागांश का नाम व्यवहार रत्नत्रय है' कहना आगम विरुद्ध है। प्रत्युत 'राग, भेद या विकल्पसहित जो सप्त तत्त्व आदि का श्रद्धान व ज्ञान तथा पापों से निवृत्तिरूप चारित्र है, वह व्यवहार रत्नत्रय

या व्यवहार मोक्षमार्ग है।' इसी को उपचार रत्नत्रय भी कहा जाता है। यह निश्चय रत्नत्रय एवं मोक्ष का हेतु है। जिसके कुछ प्रमाण पहले पत्रक में तथा इसी लेख में ऊपर दिये हैं। और भी देखिये—

श्री अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में निश्चय के साथ व्यवहार रत्नत्रय को मुक्ति का कारण बतलाते हैं—

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥ 22॥

अर्थ—इस प्रकार यह पूर्व कथित निश्चय और उपचार-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग, आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराता है।

पञ्चास्तिकाय की गाथा 70 की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं—

निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गचारी.....गच्छति.....निर्वाणनगरम्।

अर्थ—निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति मोक्ष नगर को पहुँच जाता है।

निश्चय-व्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संम्भवति।

— पञ्चास्तिकाय गाथा 106 जयसेनीया टीका

वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम्।

—पञ्चास्तिकाय 172 गाथा श्री जयसेनाचार्यकृत टीका

अर्थ—वीतरागता, निश्चय तथा व्यवहारनय के साध्यसाधक भाव से परस्पर सापेक्ष होने पर ही मुक्ति की सिद्धि के लिये होती है, दोनों नयों के निरपेक्ष होने पर वह वीतरागता मुक्तिसिद्धि के लिये नहीं होती।

श्री पण्डित दौलतरामजी छहढाला ग्रन्थ की तीसरी ढाल में लिखते हैं—

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई॥ 2॥

अर्थ—अब व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप सुनो जो कि निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है।

छठवीं ढाल के अन्त में वे निष्कर्ष (ग्रन्थ का निचोड़) कहते हैं—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें।
अरु धरेंगे ते शिव लहें, तिन सुयश-जल जगमल हरें॥

अर्थ—इस प्रकार जो भाग्यशाली पुरुष निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय को धारण करते हैं अथवा भविष्य में धारण करेंगे, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं और उनका स्वच्छ यशरूपी जल संसार के मैल को दूर करता है।

यहाँ दोनों ढालों में पण्डित दौलतरामजी ने व्यवहार रत्नत्रय को भी निश्चय रत्नत्रय का कारण बतलाते हुए मोक्ष का कारण बतलाया है।

अब प्रसंगवश निश्चय रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का स्वरूप दिखलाने के लिए कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पञ्चास्तिकाय में लिखते हैं—

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥162॥

अर्थ—जो (आत्मा) आत्मा को आत्मा से अनन्यमय आचरता है, जानता है, देखता है वह (आत्मा ही) चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है—ऐसा निश्चय रत्नत्रय है।

ये ही कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में लिखते हैं—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्मादिट्ठी हवेइ फुड जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गु त्ति॥ 31॥

अर्थ—जो आत्मा में रत है, वह सम्यग्दृष्टि है, उसे जानना सम्यग्ज्ञान है और उसमें आचरण करना सो सम्यक्चारित्र है।

अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ 216॥

अर्थ—अपनी आत्मा का विनिश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में स्थिरता सम्यक्चारित्र है। इन तीनों से बन्ध कैसे हो सकता है?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अपने द्रव्यसंग्रह में लिखते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥ 39॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो और निश्चय से सम्यग्दर्शनादि त्रिरूप आत्मा मोक्ष का कारण है।

परमात्मप्रकाश अध्याय 2 दोहा 14 की टीका में लिखा है—

वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणम्।
वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वम्॥

अर्थ—वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण स्वशुद्धात्मानुभूति है और वह वीतराग चारित्र का अविनाभूत है। वह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

पण्डित दौलतरामजी ने भी छहढाला तीसरी ढाल में निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है
आप-रूप को जानपनौं सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आप-रूप में लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सोई
अब व्यवहार मोक्ख मग सुनिये हेतु नियत को होई॥ 2॥

अर्थ—अन्य द्रव्यों से पृथक् अपनी आत्मा की रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, केवल निज आत्मा को जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने आत्मा में लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। अब व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं जो कि निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है।

उपर्युक्त प्रमाणों और व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रय के स्वरूप पर विचार करने से यह स्फुटरूप से प्रकट हो जाता है कि सहचरता के कारण निश्चय व्यवहार रत्नत्रय में साध्य-साधकभाव नहीं माना गया है, अपितु कार्य-कारण भाव से माना गया है।

इस प्रकार यह कहना कि 'जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है, वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप राग परिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग आगम में कहा है' आगम संगत नहीं जान पड़ता है, क्योंकि मात्र रागांश का नाम व्यवहार रत्नत्रय नहीं है और न मात्र रागांश, निश्चय रत्नत्रय का साधक हो सकता है।

आपसे पहले उत्तर में निवेदन किया गया था कि 'आप ऐसे प्रमाण देने की कृपा करें जहाँ मात्र रागांश को व्यवहार रत्नत्रय कहा गया हो और इस प्रकार सहचरता के कारण साध्य-साधक भाव सिद्ध किया गया हो' किन्तु उसके लिए आपने एक भी प्रमाण नहीं दिया, प्रत्युत पञ्चास्तिकाय गाथा 105 पर श्री जयसेनाचार्यकृत टीका और बृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ 209 का प्रमाण देकर यही सिद्ध किया है कि व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय का परम्परा से साधक है।

'व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म में साधक है या नहीं ?' इस प्रश्न के मूल में आशय यह था कि आज समाज के अन्दर प्रवचन की ऐसी धारा चल पड़ी है जिसमें कहा जाता है 'मैं शुद्ध बुद्ध निरंजन हूँ, त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य हूँ, बाह्य चारित्र से आत्मा का कल्याण होनेवाला नहीं, प्रत्युत कर्मबन्ध होता है। इसे धारण कर तो यह जीव अनन्त-बार ग्रैवेयक में उत्पन्न हो चुका है।' इसके फलस्वरूप समाज में व्यवहार धर्म से अरुचि फैलने लगी है। कितने ही त्यागियों ने गृहीत व्रत छोड़ दिये हैं, जनता में रात्रिभोजन और अभक्ष्यभक्षण की प्रवृत्ति चल पड़ी है। और साधारण गृहस्थ का जो कुलाचार है, उसे भी लोग छोड़ रहे हैं। फिर देशव्रत और महाव्रत की ओर लोगों की अभिरुचि जागृत हो, यह दूर की बात रह गई है। लोगों की यह मान्यता बनती जाती है कि धर्म तो एक निश्चय धर्म है, व्यवहार धर्म कोई धर्म नहीं है। वह तो मात्र बन्ध का कारण है, उसके पालने से कुछ लाभ नहीं होता। अनादि-काल से लगे हुए मोह के संस्कारवश जनता तो त्याग के मार्ग से दूर रहती है, उस पर उसे ऐसे उपदेश मिलें कि व्यवहार धर्म में क्या रखा है ? तब तो उसे त्याग की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ हो जायेगी। इसी अभिप्राय से यह प्रश्न था कि 'व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म में कारण है या नहीं ?' पर इस ओर आपका लक्ष्य नहीं गया, ऐसा जान पड़ता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के जो अवतरण आपने दिये हैं, उनसे यह अभीष्ट सिद्ध नहीं होता कि व्यवहार निश्चय का साधक नहीं है। किन्तु उससे तो यही सिद्ध होता है कि व्यवहार, निश्चय का साधक है, क्योंकि वहाँ पर भी व्यवहार को निश्चय का निमित्त कहा गया है। जिनागम का उपदेश नयवाद को लिये हुए है और नयवाद पात्र के अनुसार होता है। इसीलिए नय को परार्थ श्रुतज्ञान का भेद माना गया है। श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने पञ्चास्तिकाय के अन्त में प्राथमिक शिष्यों के विषय में निम्नांकित पंक्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

अर्थ—जिनकी बुद्धि अनादि-काल से भेदभाव कर वासित हो रही है, ऐसे प्राथमिक शिष्य भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से ही धर्मतीर्थ में अवतीर्ण हो जाते हैं। धर्म को अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

इसके आगे की पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं, जिनमें उन्होंने प्राथमिक शिष्य व्यवहार धर्म से आत्मसाधना करता हुआ, निश्चय धर्म को प्राप्त होता है, इसका उल्लेख किया है—

तदाहीदं श्रद्धेयमश्रद्धेयमिदमयं श्रद्धातेदं श्रद्धानमिदमश्रद्धानमिदंज्ञेयमिदमज्ञेयमयं ज्ञातेदं ज्ञानमिदमज्ञानमिदं चरणीयमिदमचरणीयमयं चरितेदं चरणमिति कर्त्तव्याकर्त्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः शनैः शनैर्मोहमल्लमुन्मूलयन्तः कदाचिद-ज्ञानान्मदप्रमादतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्याय्यपथप्रवर्तनाय प्रयुक्तप्रचण्डदण्डनीतयः पुनः पुनर्दोषानुसारेण दत्तप्रायश्चित्ताः सन्ततोद्युक्ताः सन्तोऽथ तस्यैवात्मनो भिन्नविषयश्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वंगमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहितत्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूचयन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति।

अर्थ—'तीर्थ क्या है ? सो दिखाते हैं—जिन जीवों के ऐसे विकल्प हों ही कि यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य है, यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा है, यह श्रद्धान है, इसका नाम अश्रद्धान है, यह वस्तु जाननेयोग्य है, यह नहीं जाननेयोग्य है, यह स्वरूप ज्ञाता का है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह आचरने योग्य है, यह वस्तु आचरने योग्य नहीं है, यह आचारमयी भाव है, यह आचरण करनेवाला है, यह चारित्र है, ऐसे अनेक प्रकार के करने न करने के कर्ता कर्म के भेद उपजते हैं, उन विकल्पों के होते हुए उन पुरुष तीर्थों को सुदृष्टि के बढ़ाव से बार-बार उन पूर्वोक्त गुणों के देखने से प्रकट उल्लास लिये उत्साह बढ़े हैं। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा की कला बढ़ती जाती है, तैसैं ही ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अमृत-चन्द्रमा की कलाओं का कर्तव्याकर्तव्य भेदों से उन जीवों की बढ़वारी

होती है। फिर उन्हीं जीवों के शनैः शनैः मोहरूप महामल्ल का सत्ता से विनाश होता है। किस ही एक काल में अज्ञानता के आवेश हैं, प्रमाद की आधीनता से उन्हीं जीवों के आत्मधर्म की शिथिलता है, फिर आत्मा को न्याय मार्ग में चलाने के लिये आपको दण्ड देते हैं। शास्त्र न्याय से फिर ये ही जिनमार्गी बारंबार जैसा कुछ रत्नत्रय में दोष लगा होय, उसी प्रकार प्रायश्चित्त करते हैं। फिर निरन्तर उद्यमी रहकर अपनी आत्मा को जो आत्मस्वरूप से भिन्न स्वरूप (भिन्न पदार्थों को विषय करनेवाला) श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहार रत्नत्रय से शुद्धता करते हैं, जैसे मलीन वस्त्र को धोबी भिन्न साध्य-साधनभाव कर शिला के ऊपर साबुन आदि सामग्रियों से उज्ज्वल करता है। तैसें ही व्यवहारनय का अवलम्ब पाय भिन्न साध्यसाधनभाव के द्वारा गुणस्थान चढ़ने की परिपाटी से क्रम से विशुद्धता को प्राप्त होता है। फिर उन ही मोक्षमार्ग के साधक जीवों के निश्चयनय की मुख्यता से भेदस्वरूप पर अवलम्बी व्यवहारमयी भिन्न साध्य-साधन का अभाव है, इस कारण अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप विषैं सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्था को धारण करता है। और जो समस्त बहिरंग योगों से उत्पन्न है, क्रियाकाण्ड का आडम्बर तिनसे रहित निरन्तर संकल्प-विकल्पों से रहित परम चैतन्य भावों के द्वारा सुन्दर परिपूर्ण आनन्दवंत भगवान् परम ब्रह्म आत्मा में स्थिरता को करे हैं, ऐसे जे पुरुष हैं, वे ही निश्चयावलम्बी जीव हैं। व्यवहारनय से अविरोधी क्रम से परम समरसीभाव के भोक्ता होते हैं। *— पांडे हेमराज कृत हिन्दी टीका पृष्ठ 247-248*

श्री कुन्दकुन्दस्वामी की निम्नलिखित गाथा भी हमें यही पथ प्रदर्शन करती है कि कहाँ किसके लिये कौन नय प्रयोजनवान् है—

सुद्धो सुद्धोदेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ 12॥ —समयसार

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान चरित्रवान् हो गये, उनको तो शुद्धनय का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके तथा साधक अवस्था में ही ठहरे हुए हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

लोक में जिनधर्म की देशना परस्पर सापेक्ष उभयनय के ही आधीन है, एकनय के आधीन नहीं। जैसा कि कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

— समयसार गाथा 12 की आत्मख्याति टीका

अर्थ—यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ—व्यवहार मार्ग का नाश हो जायेगा और दूसरे निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

नोट—निश्चयनय और व्यवहारनय के स्वरूप को समझने के लिये प्रश्न संख्या 1, 5, 6, 16, व 17 भी देखिये। इसके साथ इसका परिशिष्ट भी है।

प्रश्न चार का परिशिष्ट

संक्षेप में इसका अन्तिम फलितार्थ यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और संयमी मुनियों का जो बाह्य आचार जैन संस्कृति में निश्चित किया गया है, वह तो व्यवहार धर्म कहलाता है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप आत्मा की विशुद्ध अविकारी-वीतरागता पूर्ण जो स्थिति बनती है, उसे निश्चयधर्म कहते हैं।

वीतरागी देव, वीतरागी गुरु और वीतरागता के पोषक आगम के प्रति भक्ति प्रगट करना, इनके प्रति आकृष्ट हो जाना, यह सब अविरत सम्यग्दृष्टि का बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शनरूप व्यवहार धर्म कहलाता है और सांसारिक प्रवृत्तियों के एकदेश त्यागनेरूप अणुव्रतों को धारण करना, यह सब श्रावक का बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्ररूप व्यवहारधर्म तथा उन्हीं सांसारिक प्रवृत्तियों के सर्वदेश त्यागनेरूप महाव्रतों को धारण करना, यह सब संयमी मुनियों का बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्ररूप व्यवहार धर्म कहलाता है।

प्राणी का लक्ष्य आत्मा को विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बनाने का जैन संस्कृति में निर्धारित किया गया है, इसलिये इस प्रकार का निश्चयधर्म प्राणी के सामने साध्य के रूप में उपस्थित होता है और जब वह प्राणी यथायोग्य प्रकार से क्रमशः अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियों के उपर्युक्त बाह्याचार के रूप में व्यवहारधर्म को अपनाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनियों के बाह्याचाररूप व्यवहारधर्म को द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चयधर्म को भावलिंग भी कहते हैं। व्यवहारधर्म का

प्रतिपादक चरणानुयोग है और निश्चयधर्म का प्रतिपादक करणानुयोग है। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव जीवन की बाह्य स्थिति में प्रवर्तमान रहते हैं, अत: ऐसे जीवों का मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर लक्ष्य रहना आवश्यक हो जाता है और यही कारण है कि इन जीवों के व्यवहार धर्म की मुख्यता तथा निश्चयधर्म की गौणता स्वभावत: रहती है। सप्तम गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में रहनेवाले जीव जीवन की अन्तरंग स्थिति में प्रवर्तमान हो जाते हैं। अत: ऐसे जीवों की वृत्ति बाह्य पुरुषार्थ से हटकर अन्तरंग पुरुषार्थ के उन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि सप्तम आदि गुणस्थानों में पहुँचे हुए जीवों के निश्चय धर्म की प्रधानता तथा व्यवहार धर्म की गौणता स्वभावत: हो जाती है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही आचार्य कुन्दकुन्द ने निम्नलिखित गाथा की रचना की है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ 12॥ — समयसार

अर्थ—जो जीव जीवन की बाह्य स्थिति से हटकर अन्तरंग स्थिति में पहुँच गये हैं उन्हें अपने परम (उत्कृष्ट) स्वाश्रित भाव के दर्शन होते ही इस कारण उन जीवों के शुद्ध (स्वाश्रित) निश्चयधर्म की प्रमुखता पायी जाती है। तथा जो अभी अपने जीवन की बाह्य स्थिति में ही प्रवर्तमान हैं, उन्हें इस हालत में अपरम भाव के ही दर्शन हुआ करते हैं, अत: इन जीवों के पराश्रित व्यवहार धर्म की ही प्रमुखता पायी जाती है।

व्यवहार धर्म का सद्भाव निश्चय धर्म के अभाव में भी पाया जाता है और जहाँ निश्चय धर्म का सद्भाव होगा, वहाँ व्यवहार धर्म का सद्भाव रहना ही चाहिए। इससे व्यवहार धर्म की कारणता और निश्चय धर्म की कार्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, क्योंकि आगम का अभिप्राय व्यवहार धर्म को कारण और निश्चय धर्म को उसका कार्य स्वीकार करने में यह है कि निश्चय धर्म की उत्पत्ति और स्थिति व्यवहार धर्म को अंगीकार किये बिना असम्भव है, इसलिए आपका ऐसा सोचना भी गलत है कि निश्चय धर्म को प्राप्त होने पर व्यवहार धर्म की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। समयसार की 'अपडिक्कमणं दुविहं' इत्यादि 283 से 285 वीं गाथाओं की आत्मख्याति टीका से स्पष्टरूप में यह बात सिद्ध होती है कि व्यवहार धर्म निश्चय धर्म की उत्पत्ति और स्थिति में कारण होता है। वह टीका निम्न प्रकार है—

तत: एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावा:। यद्येवं नेष्येत

तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवान्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादिनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च। तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च। यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैवं निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षात् अकर्तैव स्यात्॥ 283, 284, 285॥

अर्थ—इस तरह यह निश्चित हो जाता है कि पर द्रव्य निमित्तकारण है और आत्मा के रागादि-विकार, पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाये तो आगम में द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान में जो आत्मा के राग-द्वेषादि विकारों की उत्पत्ति की निमित्तता प्रतिपादित की गयी है, वह अनर्थक हो जायेगी। इसके अनर्थक हो जाने पर एक आत्मा में ही रागादि की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त हो जाने पर, आत्मा में रागादि के नित्यकर्तृत्व की भी प्रसक्ति हो जाने से रागादि के अभाव का भी प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, इसलिए आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारों का निमित्त परद्रव्य ही ठहरता है इस तरह यद्यपि आत्मा स्वयं तो रागादि का अकारक ही है, तो भी जब तक जीव निमित्तभूत पर द्रव्य का प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं करेगा, तब तक भावरूप रागादि विकारों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। इस तरह तब तक आत्मा रागादि का कर्ता ही बना रहता है और जब निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान जीव करता है, तभी वह उसके निमित्त से होनेवाले रागादि का भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है। इस प्रकार जब रागादि विकारों का भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाता है, तब आत्मा रागादि का साक्षात् अकर्ता हो जाता है॥ 283, 284, 285॥

इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि आत्मा की परिणति में जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है, उसका कारण क्रोधादि द्रव्यकर्मों का उदय ही होता है। आत्मा में क्रोधादि विकारों की उत्पत्ति स्वतः अपने आप नहीं हो जाती है। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल में व्यवहार धर्म की निश्चय धर्म में कारणता का स्पष्ट उल्लेख किया है—

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो॥

इसी प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥ 83॥

— स्वयंभूस्तोत्र

अर्थ—हे भगवन्! आपने आध्यात्मिक (निश्चय) तप की वृद्धि के लिये, बाह्य (व्यवहार) तप का कठोरता के साथ आचरण किया था।

नोट—व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को समझने के लिये अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टि डालिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 4

व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म में साधन है या नहीं ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

1. उपसंहार

हमने अपने प्रथम उत्तर में लिखा है कि निश्चय रत्नत्रय स्वभावभाव है, इसलिए निश्चय से व्यवहार धर्म उसका साधक नहीं है। तथापि सहचर सम्बन्ध के कारण व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का साधक (निमित्त) कहा जाता है।

अपर पक्ष ने इस पर शंका करते हुए अपने दूसरे पत्रक में कुछ आगम प्रमाण देकर व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का साधक है, यह सिद्ध किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक मान लेने पर भी निश्चयधर्म पर निरपेक्ष बना रह सकता है।

इसका उत्तर देते हुए हमने अपने दूसरे उत्तर में लिखा कि व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का असद्भूत व्यवहारनय से साधक बतलाया है। साथ ही व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय

मोक्षमार्ग का सहचर होने से अनुकूल है, इसलिए इसमें निश्चय मोक्षमार्ग के साधकपने का व्यवहार किया है, यह भी बतलाया है।

2. प्रतिशंका 3 के आधार से विवेचन

तत्काल प्रतिशंका 3 के आधार से तृतीय पत्रक पर विचार करना है। इसके प्रारम्भ में अपर पक्ष ने यह संकेत किया है कि हमने प्रथम उत्तर में नियमसार की जो तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं, उनका प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन गाथाओं द्वारा हमारा यह दिखलाना ही प्रयोजन था कि निश्चय मोक्षमार्ग, निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा है, वह आत्मस्वभाव के अवलम्बन करने से ही उत्पन्न होता है। अतः व्यवहारधर्म को उसका साधक व्यवहारनय से ही माना जा सकता है। यह परमार्थ कथन नहीं है, निमित्त का ज्ञान कराना मात्र इसका प्रयोजन है।

अपने दूसरे पत्रक में अपर पक्ष ने प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु किस नय से उन शास्त्रों में वे प्रमाण उल्लिखित किये गये हैं और उनका आशय क्या है, इस विषय में अपर पक्ष ने एक शब्द भी नहीं लिखा है। **हमारी दृष्टि तो नयदृष्टि से उनका आशय स्पष्ट करने की है** जबकि अपर पक्ष उस स्पष्टीकरण को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर उसकी अवहेलना करता है। क्या इसे ही परम प्रमाणभूत, मूलसंघ के प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्यों के आर्ष वाक्यों को परम श्रद्धालु और तत्त्ववेत्ता बनकर स्वीकार करना कहा जाये, इसका अपर पक्ष को ही निर्णय करना है। पूरे जिनागम को दृष्टि में रखकर उसके हार्द को ग्रहण कर अपने कल्याण के मार्ग में लगा जाये, यह हमारी दृष्टि है और इसी दृष्टि से प्रत्येक उत्तर में हम यथार्थ का निर्णय करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। अपर पक्ष भी इसी मार्ग को स्वीकार कर ले, ऐसा मानस है। स्व-पर के कल्याण का यदि कोई मार्ग है, तो एकमात्र यही है।

हमने अपने दूसरे उत्तर में व्यवहारधर्म को असद्भूत व्यवहारनय से निश्चयधर्म का साधक लिखकर उन प्रमाणों को टालने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उनके हार्द को ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। व्यवहारधर्म, आत्मा का धर्म किस नय की अपेक्षा कहा गया है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 45 में बतलाया है—

तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण।

उसमें बाह्य में जो पाँचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से चारित्र है।

यह आगम प्रमाण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा ही व्यवहारधर्म चारित्र या धर्म संज्ञा को धारण करता है। वह वास्तव में आत्मा का धर्म नहीं है। ऐसी अवस्था में उसे निश्चयधर्म का साधक उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही तो माना जा सकता है। निश्चय धर्म केवल हो और व्यवहारधर्म न हो ऐसा नहीं है। **ये चतुर्थादि गुणस्थानों में युगपत् वर्तते हैं—ऐसा एकान्त नियम है। परस्पर अविनाभावी हैं।** इसी से आगम में व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधन (निमित्त) कहा गया है, ऐसी जिसकी श्रद्धा होती है, उसके निश्चयधर्म के साथ व्यवहारधर्म होता ही है। किन्तु इसके विपरीत जिसकी यह श्रद्धा बनी हुई है कि व्यवहारधर्म को अंगीकार करना मेरा परम कर्तव्य है, मात्र उसके पालन करने से आत्मधर्म की उत्पत्ति हो जायेगी और ऐसी श्रद्धावश ज्ञायकस्वभाव स्वरूप यथार्थ साधन आत्मा के अवलम्बन की ओर दृष्टिपात नहीं करता, वह त्रिकाल में निश्चयधर्म का अधिकारी बनने का पात्र नहीं होता। इससे यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि मोक्षमार्ग की प्राप्ति का यथार्थ साधन तो निर्विकार चिद्घनस्वरूप आत्मा का अवलम्बन ही है। वही मेरा परम कर्तव्य है, उसका अवलम्बन लेने पर निश्चय मोक्षमार्ग की उत्पत्ति में व्यवहारधर्म निमित्तमात्र है, निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति का निश्चयसाधन नहीं। पंचास्तिकाय आदि परमागम में इसी रहस्य को स्पष्ट किया गया है और इसीलिए ही पारमेश्वरी तीर्थ प्रवर्तना को उभयनयायत्त कहा गया है। पंचास्तिकाय गाथा 159 की सूरिरचित टीका।

निश्चयधर्म की प्राप्ति तभी निरपेक्ष समझ में आती है, जबकि अभेदरत्नत्रयात्मक आत्मा की प्राप्ति आत्मा में अभेदरत्नत्रय के परम साधनभूत आत्मा से स्वीकार की जाये और इसके विपरीत व्यवहारधर्म से उसकी उत्पत्ति यथार्थ में मानी जाये तो वह निरपेक्षता कैसी? वह तो निरपेक्षता का उपहासमात्र है। यही कारण है कि आगम में उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधन कहा है।

अपर पक्ष ने आलापपद्धति का उद्धरण उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा का व्यवहार रत्नत्रय, असद्भूत व्यवहारनय का विषय नहीं है, किन्तु अपर पक्ष का यह लिखना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय आत्मा का यथार्थ रत्नत्रय

नहीं है। उसमें यथार्थ रत्नत्रय का समारोप करके, उसे रत्नत्रय कहा गया है, इसलिए तो वह (व्यवहार रत्नत्रय) असद्भूत व्यवहारनय का विषय ठहरता है, क्योंकि निश्चय रत्नत्रय भिन्न वस्तु है और व्यवहार रत्नत्रय भिन्न वस्तु है। ये दोनों एक नहीं। यदि एक होते तो ये दो कैसे कहलाते और एक आत्मा में एकसाथ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हुए कैसे रहते?

इसकी पुष्टि में अपर पक्ष ने प्रमाण न देने की शिकायत की है सो एक प्रमाण तो हमने बृहद्द्रव्यसंग्रह का पूर्व में दिया ही है। दूसरा प्रमाण यह है—

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः।

पापक्रिया निवृत्ति चारित्र है, यह भेदोपचार रत्नत्रय परिणति है।

अपर पक्ष ने लिखा है कि हमने प्रश्न 12 के उत्तर में 'कुगुरु-कुधर्म-कुशास्त्र की श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव सुशास्त्र सुगुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' ऐसा स्वीकार किया है। निवेदन यह है कि सुदेवादि की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, यह कथन हमने व्यवहारनय से ही स्वीकार किया है। अपर पक्ष ने यहाँ जो नियमसार का प्रमाण दिया है, उससे भी यही सिद्ध होता है।

हमने प्रस्तुत प्रश्न के दूसरे उत्तर में व्यवहारधर्म को रागपरिणाम लिखकर, उसे निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल लिखा है। यह अपर पक्ष को मान्य नहीं। उसका कहना है कि 'रागपरिणाम तो निश्चय मोक्षमार्ग के अनुकूल नहीं हो सकता।' आदि।

निवेदन है कि अपर पक्ष ने हमारे कथन का हवाला देते हुए एक तो उसे पूरा उद्धृत नहीं किया, दूसरे उसके एक शब्द को पकड़कर टीका करनी प्रारम्भ कर दी। यह तत्त्वविमर्श का मार्ग नहीं कहा जा सकता। हमारा वह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

'वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग आगम में कहा है और यतः वह सहचर होने से मोक्षमार्ग के अनुकूल है, इसलिए उसे उपचार से निश्चय मोक्षमार्ग का साधक भी कहा है।'

अपर पक्ष ने इसी वाक्य को अपने तीसरे पत्रक में उद्धृत किया है। किन्तु उसे उद्धृत करते हुए एक तो 'वहाँ उसके साथ होनेवाले' प्रारम्भ के इस वचन को छोड़ दिया है। दूसरे बीच का कुछ अंश छोड़कर दो कथन के रूप में उसे उद्धृत किया है। तीसरे हमारे वाक्य

में आये हुए 'वह' पद के आगे कौंस में (रागपरिणाम) यह पद अपनी ओर से जोड़ दिया है। और इस प्रकार उस वाक्य के आशय को नष्टकर अपनी टीका प्रारम्भ कर दी है।

अपर पक्ष का कहना है कि मात्र राग परिणाम को किसी भी आगम ग्रन्थ में व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। किन्तु अपर पक्ष का यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मात्र रागपरिणाम को हमने भी मोक्षमार्ग नहीं लिखा है और ऐसा है भी नहीं कि जो जो रागपरिणाम होता है, वह सब मोक्षमार्ग ही होता है। किन्तु ऐसा अवश्य है कि निश्चय मोक्षमार्ग के साथ सच्चे देवादि की श्रद्धा, सच्चे शास्त्र के अभ्यास तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि के पालनरूप जो शुभ परिणति होती है, उसे परमागम में व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इससे हमारा यह कथन सिद्ध हो जाता है कि निश्चय मोक्षमार्ग के साथ होनेवाला व्यवहार-धर्मरूप रागपरिणाम व्यवहार मोक्षमार्ग है। हमारे उक्त कथन की पुष्टि में बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 39 के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक् श्रद्धान-ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः। निजनिरंजनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चय मोक्षमार्गः।

श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रत आदिरूप आचरण के विकल्परूप, व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा निज निरंजन शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण की एकाग्र परिणतिरूप, निश्चय मोक्षमार्ग है।

सराग चारित्र का लक्षण करते हुए इसी ग्रन्थ की 45वीं गाथा में अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहार चारित्र कहा है और उसे व्रत, समिति तथा गुप्तिरूप बतलाया है। तथा इसकी व्याख्या में देशचारित्र को इसका एक अवयवरूप बतलाया है।

आगे इसी गाथा की व्याख्या में यह भी लिखा है—

तच्चाचाराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पंचमहाव्रतपंचसमिति-त्रिगुप्तिरूपमप्य-पहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।

और वह आचार-आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप होता हुआ भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाला सरागसंयम नामवाला होता है।

पंचास्तिकाय में लिखा है—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥ 136॥

अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में नियम से चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन, वह प्रशस्त राग कहलाता है॥ 136॥

यहाँ टीका में धर्म का अर्थ, व्यवहार धर्म किया है और लिखा है कि प्रशस्त (अरिहन्तादि) इसके विषय हैं, इसलिए यह प्रशस्त राग है।

प्रशस्त राग क्या है इसका निर्देश करते हुए मूलाचार (षडावश्यक अधिकार) में भी लिखा है—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
धम्मम्हि य जो राओ सुदे यजो बारसविधम्हि॥ 73॥

आइरिएसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरितड्ढे।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु॥ 74॥

राग-द्वेष से रहित अरिहंतों में जो राग है, धर्म में और बारह प्रकार के श्रुत में जो राग है, तथा चारित्र से विभूषित आचार्यों, श्रमणों और उपाध्यायें में जो राग है, वह प्रशस्त राग है। यह सब सराग जीवों के होता है॥ 73-74॥

यहाँ तक हमने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनको ध्यान में रखकर यदि विचारकर देखा जाये तो निश्चय सम्यक्त्व के साथ होनेवाला यह प्रशस्त राग ही व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। तथा अशुभ से निवृत्तिपूर्वक शुभ में प्रवृत्तिरूप जो प्रशस्त राग है, वही व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार सम्यक्चारित्र भी नियम से निश्चय सम्यक् चारित्र का अविनाभावी है।

मूलाचार मूलगुणाधिकार गाथा 3 की टीका में व्रत का लक्षण करते हुए लिखा है—

व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते।

व्रत शब्द भी सावद्य की निवृत्ति होने पर, मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत आचरण में व्यवहृत होता है।

ये जितने भी व्रत हैं, वे अशुभ से निवृत्तिरूप और शुभ में प्रवृत्तिरूप ही हैं। इसी से

द्रव्यसंग्रह में अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र बतलाया है। व्रतों का आस्रव तत्त्व में अन्तर्भाव करने का कारण भी यही है। इनके लक्ष्य से शुभोपयोग होता है, शुद्धोपयोग नहीं होता, इसका भी यही कारण है। शुभोपयोग संवर और निर्जरा का कारण न होकर, मात्र आस्रव-बन्ध का हेतु है इसका विशेष खुलासा हम तीसरे प्रश्न के तीसरे उत्तर में विशेषरूप से कर आये हैं।

नियमसार में जो आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है, उसका आशय ही इतना है कि इनके यथार्थ स्वरूप को जानकर इनमें प्रगाढ़ रुचि अर्थात् प्रगाढ़ भक्ति रखनी चाहिए और भक्ति प्रशस्त राग का उद्रेक विशेष है। अरिहन्तादिक में ऐसा प्रशस्त राग सम्यग्दृष्टि के ही होता है, इसलिए इसे निश्चय सम्यक्त्व से भिन्न व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर जो श्रद्धागुण की मिथ्यात्व पर्याय का व्यय होकर सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है, जो कि आत्मा की विशुद्धिरूप है, वह निश्चय सम्यक्त्व है। और उसके होने पर जो सच्चे देवादि में विशेष अनुराग होता है, वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार इन दोनों में महान् अन्तर है।

सम्भवत: अपर पक्ष का यह ख्याल बना हुआ है कि रागविशेष के कारण निश्चय सम्यक्त्व को ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय सम्यक्त्व साथ जो सच्चे देवादि पर द्रव्यविषयक प्रशस्त राग होता है, उसे ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्र के विषय में खुलासा कर लेना चाहिए। **अध्यात्म में व्यवहार का लक्षण ही यह है कि जो जिस रूप न हो, उसको उस रूप कहना व्यवहार कहलाता है।** व्यवहार का यह लक्षण सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकार के व्यवहारों में घटित होता है। यदि इनमें अन्तर है तो इतना ही कि सद्भूतरूप वस्तु है तो परन्तु सर्वथा पृथक् नहीं है। पर असद्भूत व्यवहार की विषयभूत वस्तु मात्र उपचरित होती है उदाहरणार्थ हम पहले बृहद्द्रव्यसंग्रह का प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। उसमें व्यवहारचारित्र को चारित्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से बतलाया गया है। उसका आशय ही यह है कि **व्यवहारचारित्र वास्तव में चारित्र नहीं है, किन्तु निश्चयचारित्र का सहचर होने से व्रतादिरूप प्रशस्त राग को उपचार से चारित्र कहा गया है।**

अपर पक्ष ने बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 47 में **'दुविहं पि मोक्खहेउं'** इस वचन पर तो दृष्टिपात किया ही होगा। उसने आगम में यह भी पढ़ा होगा कि व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्ष का

परम्परा हेतु है और निश्चय मोक्षमार्ग साक्षात् हेतु है। वह यह लिख ही रहा है कि व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है। ऐसी अवस्था में वह पक्ष दो को एक ही क्यों बतलाने लगा है, यह हमारी समझ के बाहर है। जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वही यदि व्यवहार मोक्षमार्ग है तो फिर वे दोनों एक हुए। इनमें साधकसाध्यभाव की चर्चा करना ही व्यर्थ है और यदि वह इन्हें वास्तव में दो मानता है तो इन दोनों के पृथक्-पृथक् लक्षण भी स्वीकार करने चाहिए। साथ ही उन दोनों को इस रूप में मानना चाहिए कि एक आत्मा में उन दोनों का सद्भाव एकसाथ बन जाये। तभी तो उनमें-से एक को साधन (निमित्त) और दूसरे को साध्य कहा जा सकेगा। मिट्टी, घटरूप परिणम रही हो, फिर भी उसका बाह्य साधन कुम्भकारादि न हो—ऐसा मानना विचित्र बात है। तात्पर्य यह है कि निश्चय रत्नत्रय के साथ उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिए, जिसमें साधन व्यवहार किया जा सके और वे दोनों परस्पर अविनाभावी होने चाहिए। स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रद्धान के विषयभूत देवादिक में प्रशस्त राग को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है, ज्ञानोपयोग के विषयभूत आगमाभ्यास में प्रशस्त राग को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहा गया है और चर्या के विषयभूत व्रतादि के नियमरूप प्रशस्त राग को व्यवहार सम्यक्-चारित्र कहा गया है। तथा आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शुद्धिरूप परिणति को निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा गया है।

अपर पक्ष ने तीसरे प्रश्न के अपने तीसरे पत्रक में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 7 सूत्र 1 के आधार से एक बात यह भी लिखी है कि '**व्रत, विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं हैं।**' मालूम पड़ता है कि इसी कारण अपर पक्ष को व्यवहार रत्नत्रय को देवादि विषयक प्रशस्त रागरूप मानने में बाधा पड़ रही है परन्तु उस पक्ष का यह विधान मोक्षमार्ग पर गहरा प्रहार करनेवाला है, इसे वह पक्ष नहीं समझ रहा है। यह जीव मोक्षमार्गी कैसे बनता है, उसका क्रम यह है कि '**सर्वप्रथम यह जीव तत्त्वज्ञानपूर्वक कुदेवादि का त्यागकर सच्चे देवादि में रुचि करता है, कुशास्त्रों को छोड़कर सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन करता है, गुरु का उपदेश सुनता है और मिथ्यात्व की पोषक क्रियाओं को छोड़कर देवपूजा आदि क्रिया करता है। इस प्रकार अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त होता है।**' किन्तु इतना करनेमात्र से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये मोक्ष प्राप्ति के साक्षात् साधन नहीं हैं। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के काल में निमित्तमात्र हैं। इतनी भूमिका तो मिथ्यादृष्टि के ही बन जाती

है, फिर भी सम्यक्त्व नहीं होता है। कारण यह है कि इतना तो उसने अनन्तबार किया, परन्तु इसके साथ उसने स्वभाव सन्मुख होकर अपने आत्मा का अनुभव एकबार भी नहीं किया। सम्यक्त्व-प्राप्ति का जो साक्षात् साधन है, उसका अवलम्बन करे नहीं और सम्यक्त्व हो जाये, यह नहीं हो सकता और स्वभाव सन्मुख होने का उपाय यह है कि उक्त जीव को '**शुभ में न मग्न होय, शुद्धता विसरनी नहीं**' वचन के अनुसार शुभ में मग्न होकर, उपयोगमय चिच्चमत्काररूप आत्मा के साथ सतत अनुगमन करनेवाले अपने आत्मस्वभाव को दृष्टि ओझल नहीं कर देना चाहिए। कुम्भकार का मिट्टी को संयोगकर व्यापार हो नहीं तथा मन में घट बनाने का विकल्प रखे नहीं। मात्र क्रिया तो वह दूसरे को लक्ष्य में रखकर करे और विकल्प भी दूसरे का करता रहे, फिर भी घट का निमित्त कहलावे। जैसे यह सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शुभ क्रिया में रत यह जीव क्रिया तो आत्मा से भिन्न अन्य को लक्ष्य में रखकर करता रहे और मन में विचार भी अन्य का करता रहे, फिर भी वह क्रिया आत्मशुद्धि का निमित्त कहलावे, यह भी सम्भव नहीं है। **पहले आत्मप्राप्तिरूप प्रयोजन समझना चाहिए और उस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर क्रिया होनी चाहिए, तभी वह क्रिया या विचार उसका निमित्त कहलाने का पात्र होता है। यहाँ मुख्य प्रयोजन संवर, निर्जरा और मुक्ति है। वह आत्मा के अवलम्बन करने से ही होते हैं, पर के अवलम्बन करने से नहीं। सच्चे देव, गुरु और शास्त्र आत्मा के प्रतिनिधि हैं, इसलिए उनका गुणानुवाद, भक्ति और श्रद्धा करने का उपदेश आगम में दिया गया है। जिन पुण्य पुरुषों ने आत्मस्वभाव का अवलम्बन कर उसे प्राप्त किया है, निरन्तर उसका अपनी वाणी द्वारा भान कराते रहते हैं — ऐसे सत्पुरुषों के निरन्तर समागम करने का उपदेश भी आगम में इसीलिए दिया गया है। किन्तु यही करना मुख्य नहीं है, मुख्य तो आत्मस्वभाव का अवलम्बन कर तद्रूप परिणमन द्वारा अपने में संवरादिरूप शुद्धि उत्पन्न करना है।** अतएव प्रकृत में यही तात्पर्य समझना चाहिए कि अशुभ क्रिया के निरोध से शुभक्रिया होती है। स्वभाव सन्मुख होने के लक्ष्य से की गई वही क्रिया, व्यवहारधर्म कहलाती है। संवर शुभाशुभपरिणाम के निरोधस्वरूप होने के कारण इन दोनों से भिन्न है। अनगारधर्मामृत अध्याय 2 श्लोक 41 की टीका में कहा भी है—

भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधः द्रव्यपुण्य-पापसंवरस्य हेतुरित्यर्थः।

शुभाशुभ परिणाम का निरोध भावसंवर है। वह द्रव्य पुण्य-पाप के संवर का निमित्त है। जो जीव मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है या उत्तरोत्तरभाव संवर-निर्जरारूप विशुद्धि

उत्पन्न करता है, उसके लिए उसे प्राप्त करने का क्रम ही यही है कि स्वभाव के लक्ष्य से पहले यह जीव अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में जाता है। किन्तु शुभ में जाना ही इसका मुख्य प्रयोजन न होने से **उसमें भी अशुभ के समान हेयबुद्धि रखता हुआ** स्वभाव सन्मुख होने का उपक्रम करता रहता है। ऐसा करते रहने से कोई ऐसा अपूर्व अवसर आता है, जब वह स्वभाव में मग्न ही तत्स्वरूप परिणमन द्वारा अपने संवरादिरूप शुद्धि को उत्पन्न करता है या उसमें वृद्धि करता है।

अपर पक्ष ने पंचास्तिकाय गाथा 106 तथा जयसेनाचार्य कृत उसकी टीका का जो उद्धरण दिया है, उनका भी यही आशय है। आचार्य जयसेन ने व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप निर्देश करते हुए स्पष्ट किया है—'**बहिरंगपदार्थरुचिरूपम्।**' यह वचन ही सच्चे आप्त, आगम, पदार्थ विषयक प्रगाढ़ अनुराग को सूचित करता है। यहाँ रुचि शब्द प्रगाढ़ अनुराग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यही भाव पंचास्तिकाय गाथा 160 का भी है। उसमें अन्य बात नहीं कही गई है। उस गाथा के शीर्षक के भाव को हम मनसा स्वीकार करते हैं। वहाँ साधन शब्द निमित्त के अर्थ में आया है, इसे अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा और एक को दूसरे का निमित्त कहना यह उपचार है। तभी वह व्यवहार मोक्षमार्ग संज्ञा का अधिकारी है और तभी उसरूप परिणाम को आस्रवतत्त्व में गर्भित कर उसे बन्ध का हेतु कहा गया है और तभी उसे संवर तत्त्व से विलक्षण बतलाया गया है। उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका का यही आशय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका के वचनानुसार व्यवहारनय को साध्यभूत निश्चयनय का उपचरित हेतु स्वीकार न कर उसे परमार्थरूप मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। हमने परमात्मप्रकाश के दूसरे अध्याय की गाथा 14 पर दृष्टिपात किया है, उस द्वारा उसी व्यवहार मोक्षमार्ग का निर्देश किया गया है, जिसका हम पूर्व में स्पष्टीकरण कर आये हैं। नियमसार की 51 की प्रभृति पाँच गाथाओं पर हमने दृष्टिपात किया है। इनकी टीका करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भेदोपचार रत्नत्रय को निश्चयभक्ति रूप घोषित कर रहे हैं। टीका पर दृष्टिपात कीजिए। पद की श्रद्धा आदि इसके सिवा और अन्य क्या हो सकता है। अपर पक्ष यदि इसे दृष्टिपथ में ले तो उसे यह स्वीकार करने में देर न लगे कि निश्चय रत्नत्रय से भिन्न, वह निश्चय भक्तिरूप अनुराग ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

नियमसार के चौथे अध्याय में पाँच पापों की निवृत्ति को व्रत बतलाया है और उसे

व्रत, समिति, गुप्तिरूप कहा है। इसी से यह स्पष्ट है कि पापक्रियाओं से निवृत्ति और व्रतादिरूप पुण्यक्रियाओं में प्रवृत्ति का नाम ही व्रत है। दर्शनप्राभृत के उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि छह द्रव्यादि की सच्ची श्रद्धा सम्यग्दृष्टि के ही होती है। यही बात रत्नकरण्डश्रावकाचार के वचन से भी ज्ञात होती है। इसमें विरोध किसे है यह हमारी समझ में नहीं आया। यहाँ तो विचार इस बात का हो रहा है कि व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय क्या वस्तु है, क्या वे दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न वस्तु हैं और उनमें साध्य-साधन भाव किस नय से कहा गया है ? यह अपर पक्ष ही विचार करे कि क्या उल्लेखों का आशय स्पष्ट किये बिना, उनके उपस्थित कर देने मात्र से देवादिविषयक प्रशस्त राग व्यवहार रत्नत्रय नहीं है, इसकी पुष्टि हो जाती है ? पूर्वोक्त प्रमाणों के प्रकाश में विचार कर देखा जाये तो अपर पक्ष को विदित होगा कि आगम विरुद्ध हमारा कथन न होकर वस्तुतः अपर पक्ष ही ऐसा प्रयत्न कर रहा है, जिसे आगम विरुद्ध कहना उपयुक्त होगा। दूसरे को शब्दों द्वारा लांछित करने की चेष्टा करना अन्य बात है और आगम प्रमाणों के प्रकाश में यथार्थ का निर्णय करना अन्य बात है।

अपर पक्ष ने लिखा है कि 'राग, भेद या विकल्पसहित जो सप्ततत्त्व आदि का श्रद्धान व ज्ञान तथा पापों से निवृत्तिरूप चारित्र है, वह व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है।'

हमने अपर पक्ष के इस कथन पर दृष्टिपात किया। किन्तु अपर पक्ष हमारी इस धृष्टता को क्षमा करेगा कि वह जो कहना चाहता है, वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो पा रहा है। हमारी समझ से सद्भूत व्यवहारनय का आश्रय लेकर वह कहना यह चाहता है कि निश्चय सम्यक्त्वादि तीनों में से एक-एक को मुक्ति का साधन कहना व्यवहार रत्नत्रय है। यहाँ तीनों मिलकर मुक्ति के साधन हैं, एक-एक नहीं, इसलिए तो यह व्यवहार उपचरित हुआ और प्रत्येक में मुक्ति की साधनता विद्यमान है, इसलिए वह व्यवहार सद्भूत हुआ। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में-से एक-एक को साधन कहना उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। या मुक्तिरूप परिणत आत्मा कार्य है और रत्नत्रय परिणत आत्मा उसका कारण है— ऐसा भेद द्वारा कथन करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। किन्तु अपर पक्ष ने वाक्य योजनाकर उस द्वारा जो कथन किया है, वह असद्भूत व्यवहारनय से कहा जा सकता है और ऐसी अवस्था में देवादि विषयक श्रद्धा आदि प्रशस्त रागरूप ही ठहरते हैं। निश्चयनय की दृष्टि में प्रथम दो तो उपचरित हैं ही, क्योंकि अन्य कारण हो और अन्य कार्य हो या एक-एक

कारण हो और मुक्ति कार्य हो, यह यथार्थ न होने से इसे यह नय स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत उसका निषेध ही करता है। इसके लिए समयसार गाथा 272 पर दृष्टिपात कीजिए। किन्तु उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से जो कुछ कहा जाता है, वस्तु वैसी न होने से यह निश्चयनय की दृष्टि में सर्वथा हेय है। क्योंकि एक तो यह नय वस्तु जैसी नहीं है, वैसी कहता है। दूसरे उसका साधन-साध्य आदि भाव से अन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, अतएव यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का ही विषय है।

अपर पक्ष ने यहाँ जो पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पंचास्तिकाय की आचार्य जयसेन कृत टीका तथा छहढाला के जो उदाहरण उपस्थित किये हैं, वे सब उक्त कथन की ही पुष्टि करते हैं। **कोई समझे कि मोक्षमार्गी के व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं, मात्र निश्चय रत्नत्रय ही होता है, इस एकान्त का परिहार उन वचनों से होता है।** किन्तु इन दोनों का स्वरूप क्या है, इसे समझना अन्य बात है। परमात्मप्रकाश में धर्मपुरुषार्थ (व्यवहारधर्म) से मोक्षपुरुषार्थ (निश्चयधर्म) भिन्न है, यह बतलाते हुए लिखा है—

धम्महं अत्थहँ कामहँ वि एवहँ सयलहँ मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु॥ 2-3॥

हे जीव! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थों से ज्ञानी पुरुष मोक्ष को उत्तम कहते हैं, क्योंकि अन्य पुरुषार्थों से परम सुख नहीं मिलता॥ 2-3॥

व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग में साधन-साध्यभाव किस रूप में है, इसके लिए परमात्मप्रकाश अध्याय 2 दोहा 14 के इस टीकावचन पर दृष्टिपात कीजिए—

अत्राह शिष्यः—निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः, तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह—भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति। अथवा सविकल्प-निर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा। तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—निश्चयमोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (व्यवहार रत्नत्रयरूप) मोक्षमार्ग नहीं है, वह साधक कैसे होता है?

यहाँ समाधान करते हैं—भूत नैगमनय की अपेक्षा परम्परा से साधन है। अथवा सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें से 'मैं अनन्त

ज्ञानरूप हूँ' ऐसे विकल्प का नाम सविकल्प मोक्षमार्ग साधक है और निर्विकल्प समाधिरूप साध्य है, यह इस कथन का भावार्थ है—

इससे व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है और उसे साधन किस रूप में कहा है, इसका कुछ हद तक ज्ञान हो जाता है।

अपर पक्ष ने निश्चय रत्नत्रय का ज्ञान कराने के लिए यहाँ पंचास्तिकाय, भावपाहुड, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश और छहढाला के कुछ प्रमाण उपस्थित किये हैं। उनसे इन बातों का ज्ञान होता है—

1. आत्मा की आत्मा द्वारा आत्मा में जो श्रद्धा, ज्ञान और आत्मस्थितिरूप स्वभाव परिणति होती है, उसका नाम निश्चय रत्नत्रय है।

2. ऐसे रत्नत्रय से बन्ध कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकाल में नहीं होता।

3. निश्चय से ऐसे रत्नत्रय की उत्पत्ति का साधन आत्मा ही है। वह करण साधन होकर, अपने द्वारा अपने आत्मा में आप कर्ता बनता हुआ, निश्चय रत्नत्रय को उत्पन्न करता है।

किन्तु **व्यवहार रत्नत्रय इससे विरुद्ध स्वभाववाला है। इसका विषय स्व नहीं है, पर है,** वह बन्ध स्वभाववाला है और वह निश्चय रत्नत्रय के कारण, रत्नत्रय कहलाता है। साथ ही वह वीतराग देवादि पर पदार्थों को साधन बनाकर उत्पन्न होता है, इसलिए वह प्रशस्त रागस्वभाववाला होने के कारण सहचर सम्बन्धवश साधक कहा गया है। अतएव हमने जो यह लिखा है कि **जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है, वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणाम को व्यवहार मोक्षमार्ग आगम में कहा है,** वह आगम संगत ही लिखा है।

अपर पक्ष ने उक्त कथन के स्पष्टत: पोषक जिन प्रमाणों की जिज्ञासा की थी, वे यहाँ दिये ही हैं। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष को उनके आधार पर यथार्थ का निर्णय करने में सहायता मिलेगी।

तत्त्वार्थसूत्र में हिंसादि क्रिया की निवृत्ति का आस्रवतत्त्व में अन्तर्भाव करना और द्रव्यसंग्रह में व्रत, समिति और गुप्ति को शुभक्रिया लिखकर, उसरूप प्रवृत्ति को व्यवहार धर्म कहना ही यह सिद्ध करता है कि व्यवहार धर्म सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग परिणाम का ही दूसरा नाम है। जो भी बन्ध होता है, वह पर्यायार्थिकनय से योग और कषाय को निमित्त कर ही होता है और व्यवहारधर्म बन्ध का हेतु है, क्योंकि आचार्यों ने उसका आस्रव तत्त्व

में अन्तर्भाव किया है; इसलिए उसे सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त रागरूप ही जानना चाहिए, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

अपर पक्ष ने 'व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म में साधक है या नहीं?' यह प्रश्न किस अभिप्राय से किया है, इसे हम तत्काल समझ गये थे। किन्तु अपर पक्ष ने वर्तमान में प्रवचन की जो धारा चल रही है, उसके आशय की ओर लक्ष्य न देकर उसके प्रति विरोध का जो वातावरण बतलाया है, वह उचित नहीं है। इससे समाज की जो हानि हो रही है, वह वचनातीत है। हम कुछ काल पूर्व हो गये ऐसे मनुष्यों को जानते हैं, जिन्होंने मुनिलिंग तक धारण कर अपना पतन तो किया ही, समाज में मोक्षमार्ग के प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न की, पूर्व में हो गये ऐसे त्यागियों को भी जानते हैं। वर्तमान काल की हम बात नहीं करना चाहते, क्या इतने मात्र से जैसे व्यवहार कथनी का निषेध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह देखकर कि कुछ मनुष्यों ने निश्चय कथनी को सुनकर यद्वा तद्वा प्रवृत्ति को प्रारम्भ कर दिया है, यह बात सच्ची हो तो, निश्चय कथनी का निषेध करना और उसके लिए आन्दोलन तक का मार्ग ग्रहण करना, कहाँ तक उचित है? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे जहाँ तक समाज के उस वर्ग का प्रश्न है जो निश्चय कथनी के शास्त्रों का विशेषरूप से अभ्यास करते हैं, उनके अनुरूप प्रवचनों में सम्मिलित होते हैं, उसके सम्बन्ध में हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि न तो उनमें से बहुधा आलू आदि कन्दमूल, बेगन और शहद आदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं, जो पूर्व में करते रहे हैं, उन्होंने उनका त्याग कर दिया है। प्रतिदिन देवदर्शन करना या देवपूजा करना तथा शास्त्र स्वाध्याय में सम्मिलित होना, यह उनका प्रधान कर्तव्य हो गया है। रात्रिभोजन भी उनमें प्रायः नहीं देखा जाता। किन्तु इसके विपरीत जो स्थिति समाज में है, उसकी हम अपर पक्ष के समान लांछन के रूप में चर्चा नहीं करना चाहते। हम तो यही चाहते हैं कि जिससे समाज में प्रचलित व्यवहारधर्म प्राणवान् बन जाये और रही सही कुरीतियाँ भी नाम-शेष हो जायें, ऐसे मार्ग को अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। क्या हम आशा करें कि अपर पक्ष विरोध के रुख को छोड़कर हमारे इस प्रयत्न में सहयोगी बनेगा। हमारी ओर से स्वागत है। वीतरागता की दृष्टि से एक मात्र यही मार्ग है, जिस पर सबको मिलकर चलने का संकल्प करना चाहिए।

यदि अपर पक्ष मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार से ही यह स्वीकार कर लेता है कि निश्चय धर्म की प्राप्ति में व्यवहारधर्म निमित्तमात्र है तो समस्या ही हल हो जाती है। ऐसी

अवस्था में अपर पक्ष को व्यवहार धर्म का वही अर्थ स्वीकार करना होगा, जिसका निर्देश हम पूर्व में कर आये हैं।

अपर पक्ष का कहना है कि 'नयवाद पात्र के अनुसार होता है।' इसका आशय इतना ही है कि पात्र उपदेश को सुनकर अपनी शक्ति के अनुसार उसे अंगीकार कर, अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने '**व्यवहारनयेन**' इत्यादि पंक्ति सविकल्प बुद्धिवाले जीवों को लक्ष्य में रखकर ही लिखी है। यहाँ '**प्राथमिकाः**' पद का अर्थ सविकल्प बुद्धिवाले जीव ही हैं। जब कोई जीव विकल्प की भूमिका में होता है तो वह अपना उपयोग, क्या श्रद्धान करने योग्य है और क्या श्रद्धान करने योग्य नहीं है, इत्यादि तथ्यों के निर्णय करने में ही लगाता है। और ऐसा निर्णय करके वह अपने पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः निर्विकल्पता की ओर ढलने लगता है। जो अनादि-काल से भेदबुद्धि से वासित चित्तवाले हैं, उन्हें ऐसे निर्णय द्वारा तीर्थ पर आरोहण करना सुगम होता है, यह आचार्य के कथन का सार है। उनके द्वारा दिये गये उदाहरण से भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्ष ने समयसार की 12वीं गाथा उद्धृत की है। उसके द्वारा जिस तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है, उसके लिए पद्मनन्दिपंचविंशतिकान्तर्गत एकत्वसप्तति अधिकार का यह श्लोक मार्गदर्शक है—

प्रमाण-नय-निक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासिते॥ 16॥

सविकल्प अवस्था में प्रमाण, नय और निक्षेप सब हैं। केवल निर्विकल्प अवस्था में तो एक चैतन्य ही अनुभव में आता है॥16॥

यहाँ अर्वाचीन पद का अर्थ व्यवहारपद सविकल्प अवस्था है और 'केवले तस्मिन्' पद से निर्विकल्प अवस्था का ग्रहण हुआ है। यही तथ्य समयसार की 12 वीं गाथा में प्ररूपित हुआ है। वहाँ भी '**परमभावदरसीहिं**' पद द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्व को अनुभवनेवाले जीवों का ग्रहण किया गया है और '**अपरमे ट्ठिदा भावे**' पद द्वारा सविकल्प अवस्था का ग्रहण हुआ है। इस तथ्य को समझने पर ही उक्त गाथा का आशय स्पष्ट समझ में आता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने सोलहवान के सोने का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार यह

सोना अत्यन्त निर्मल होता है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय का विषयभूत आत्मा समस्त परद्रव्य-भावों से भिन्न होने के कारण अत्यन्त निर्मल है। ऐसा आत्मा ही शुद्धनय का विषय है। जो परम भावदर्शी—शुद्धात्म-भावदर्शी जीव हैं, वे ऐसे ही आत्मा को अनुभवते हैं। किन्तु जो सविकल्प अवस्था में स्थित जीव हैं, उनका अशुद्ध सोने के समान अशुद्ध आत्मा जाना हुआ प्रयोजनवान् है। इससे निश्चय-व्यवहारनय के कथन का प्रयोजन क्या है ? वह समझ में आ जाता है। यही परस्पर सापेक्ष उभयनय की देशना का तात्पर्य है। संसारी आत्मा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अत्यन्त शुद्ध है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अत्यन्त अशुद्ध है। इस प्रकार एक ही आत्मा एक काल में कथंचित् शुद्ध है और कथंचित् अशुद्ध है। जिनवाणी भी यही है, ऐसा जानकर पर्यायार्थिकनय के विषय को गौणकर जो द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत आत्मा को दृष्टि में अवलम्बनकर तत्स्वरूप परिणमता है, वही परमपद का अधिकारी होता है। यह 12 वीं गाथा और उसकी दोनों टीकाओं का आशय है। इससे व्यवहारनय का विषय जानने के लिए तो प्रयोजनवान् बतलाया, पर आदर करनेयोग्य नहीं बतलाया, यह तथ्य भी समझ में आ जाता है, क्योंकि कौन ऐसा मुमुक्षु जीव है कि जो जिस गुणस्थान में है, उसी में रहना चाहेगा। उसका प्रयत्न तो निरन्तर आगे बढ़ने का ही होगा। और आगे बढ़ना उसी गुणस्थान के भावों में रत रहने से बन नहीं सकता। वह जिस गुणस्थान में है, उस गुणस्थान के अनुरूप ही प्रवृत्ति करेगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उस प्रवृत्ति को आगे बढ़ने का साधन न मानकर, अन्तरंग में उस साधन को अपनाने की चेष्टा करता रहेगा जो उसे वर्तमान गुणस्थान से उठाकर यथायोग्य आगे के गुणस्थानों में पहुँचा देगा। ऐसा यदि कोई साधन है तो वह एकमात्र ज्ञायकभाव का अवलम्बन ले तत्स्वरूप परिणमना ही है। इसमें जितनी प्रगाढ़ता आती जायेगी, उतना ही वह आगे बढ़ता जायेगा। इसके सिवा मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का अन्य कोई साधन नहीं। यही कारण है कि निश्चय धर्म की प्राप्ति में व्यवहारधर्म को निमित्तमात्र कहा है। साक्षात् साधन तो ज्ञायक स्वभाव का अवलम्बन कर तत्स्वरूप परिणमना ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो '**जइ जिणमयं**' इत्यादि गाथा उद्धृत की है, उसका भी यही आशय है। व्यवहारनय के अनुसार गुणस्थान भेद हैं, मार्गणास्थान भेद हैं और जीवसमास भेद हैं, आदि। भला ऐसा कौन मुमुक्षु जीव है, जो इसकी सत्ता नहीं मानेगा। यदि इन्हें न स्वीकार किया जाये तो उत्कृष्ट तीर्थ की प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती और उसके अभाव में व्यवहार तीर्थ की सिद्धि नहीं होती। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में उत्तम तीर्थ का निर्देश करते हुए लिखा है—

रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरेइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए॥ 191॥

रत्नत्रय से संयुक्त यही जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नाव से संसार को पार करता है॥ 191॥

और इसी प्रकार ऐसा कौन मुमुक्षु जीव है, जो शुद्धनय के विषयभूत नित्य चिद्घनस्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं स्वीकार करेगा, क्योंकि उसके अभाव में तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। फिर तो भेदव्यवहार या उपचरित व्यवहार की बात करना ही व्यर्थ हो जाता है — **'मूलो नास्ति कुतः शाखा।'**

इस प्रकार दो नय हैं और दोनों के विषय हैं, ऐसा प्रत्येक ज्ञानी जानता ही है। जिनमत की प्रवृत्ति का यह मूल है।

3. प्रश्न चार के परिशिष्ट का ऊहापोह

इस परिशिष्ट के प्रारम्भ में यह तो स्वीकार कर लिया है कि सच्चे देवादिविषयक भक्ति प्रमुख उत्कृष्ट अनुराग, व्यवहार धर्म है। साथ ही इसमें बाह्य क्रिया को भी व्यवहार धर्म में गर्भित किया गया है। किन्तु उस बाह्य क्रिया से आत्मा की प्रशस्त रागरूप परिणति ली गई है या पुद्गल द्रव्य की क्रिया ली गयी है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। क्रिया शब्द परिणाम के अर्थ में भी आता है और परिस्पन्द के अर्थ में भी आता है। यदि अपर पक्ष को बाह्य क्रिया से सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग अपेक्षित है तो सम्यग्दृष्टि के ऐसे परिणाम को सम्यक् व्यवहार धर्म मानना उपयुक्त ही है। किन्तु यदि बाह्य क्रिया से पुद्गलद्रव्य की क्रिया ली गयी है तो वह परद्रव्य का परिणाम है। सम्यग्दृष्टि के उसमें परबुद्धि हो गई, इसलिए उसे आत्मा का व्यवहार-धर्म कहना उचित नहीं है। प्रशस्त राग परिणति में वह निमित्त है, इसलिए उसे व्यवहार धर्म कहने में आता है, यह तो उपचरितोपचार का भी उपचरितोचार है। तथ्य समझ में आ जावे, इसलिए यह स्पष्टीकरण किया है।

अपर पक्ष ने परिशिष्ट के तीसरे पैरा में आत्मा के विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बनने के लक्ष्य को निश्चयधर्म संज्ञा दी है। किन्तु ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि लक्ष्य का नाम निश्चय धर्म न होकर, विशुद्ध-निर्विकार-वीतरागरूप परिणति का नाम निश्चय धर्म है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनियों के बाह्याचाररूप व्यवहार धर्म को द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चय धर्म को भावलिंग भी कहते हैं।' समाधान यह है कि अपर पक्ष ने जो लिखा है, उस पर विशेष ऊहापोह न करके मात्र उसका ध्यान भावप्राभृत के इस वचन की ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं—

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण॥ 48॥

भाव से ही मुनि लिंगी होता है, द्रव्य मात्र से लिंगी नहीं होता। इसलिए भाव लिंग को धारण करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यलिंग से क्या कार्य सध सकता है॥ 48॥

इस गाथा में द्रव्यलिंगी पद भावशून्य मुनि के लिए ही आया है। गाथा 50 में इसके लिए द्रव्य श्रमण पद का भी प्रयोग किया गया है। गाथा 72 में तो ऐसे मुनि को ही द्रव्य निर्ग्रन्थ लिखा है, जो राग संयुक्त है और जिनभावना से रहित है। देखिए—

जे रागसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमला॥ 72॥

जो द्रव्य निर्ग्रन्थ राग संग से युक्त होकर जिन भावना से रहित हैं, वे जिन शासन में समाधि और बोधि को नहीं प्राप्त होते॥ 72॥

अपर पक्ष का कहना है कि 'निश्चयधर्म का प्रतिपादक करणानुयोग है, किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्म का कथन मुख्यतया द्रव्यानुयोग का विषय है।' रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में द्रव्यानुयोग के स्वरूप का निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्ध-मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥ 46॥

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षतत्त्वरूप से श्रुतविद्यारूपी आलोक को विस्तारता है॥ 46॥

निश्चयधर्म का संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व में ही अन्तर्भाव होता है। अतः निश्चयधर्म का कथन द्रव्यानुयोग में किया गया है, ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले जीवों का लक्ष्य

मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर रहना आवश्यक है।' किन्तु ऐसा विधान करते हुए अपर पक्ष ने यहाँ बाह्य पुरुषार्थ से अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ लिया है या धर्मपुरुषार्थ लिया है, यह उक्त कथन से ज्ञात न हो सका। जो कुछ भी हो, अपर पक्ष का यह कथन है आगमविरुद्ध ही, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक को जो भी बाह्य क्रिया करता है, वह हेयबुद्धि से ही करता है, अन्यथा वह अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक कहलाने का पात्र नहीं। समयसार निर्जराधिकार में ऐसे जीवों की बाह्य परिणति को तीन दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है— पहला उदाहरण विष खानेवाले वैद्य का दिया है, दूसरा उदाहरण अरतिभाव से मद्य पीनेवाले का दिया है और तीसरा उदाहरण पर घर में प्रकरण चेष्टा करनेवाले का दिया है। सागारधर्मामृत में कोतवाल के द्वारा पकड़े गये चोर के समान सम्यग्दृष्टि को बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि उक्त जीवों के व्यवहार धर्म को करते हुए भी अन्तरंग में मुख्यता निश्चयधर्म की ही रहती है। सागारधर्मामृत के मंगलाचरण का '**तद्धर्मरागिणाम्**' पद विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। नीची पदवी में रहना यह न तो सम्यग्दृष्टि को ही इष्ट होता है और न श्रावक को ही। अब रही मुनि की बात सो उसके तो संज्वलन कषायजन्य अल्प प्रमाद के काल में ही अन्तर्मुहूर्त काल के लिए बाह्य प्रवृत्ति देखी जाती है। उनकी जो सामायिक आदि षट्क्रियाएँ होती हैं, वे नियम से सामायिकपूर्वक ही होती हैं। इसी से उन्हें निश्चय षट्क्रिया संज्ञा मूलाचार में दी गई है। मूलाचार प्रथम भाग गाथा 3 की टीका में लिखा है —

आवश्यककर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रियाः सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमाः।

इससे स्पष्ट है कि बाह्यक्रिया करते हुए भी मुनि के जीवन में निश्चयधर्म गौण हो ही नहीं सकता।

अपर पक्ष ने यहाँ पर अपने विचारों की पुष्टि में समयसार गाथा 12 का उपयोग किया है। किन्तु उस गाथा का आशय ही दूसरा है। इसका स्पष्ट खुलासा थोड़े ही पहले हम कर आये हैं। अपर पक्ष ने इसका जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं यह उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

अपर पक्ष का यह लिखना भी आगम विरुद्ध है कि व्यवहारधर्म का सद्भाव निश्चयधर्म के अभाव में भी पाया जाता है, क्योंकि जैसे सम्यग्दर्शन के पूर्व जितना भी ज्ञान होता है, वह मिथ्याज्ञान माना गया है; इसी प्रकार निश्चयधर्म के पूर्व जितनी भी क्रिया होती है, वह यथार्थ

नहीं मानी गई है। निश्चयधर्म के साथ होनेवाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रिया को ही आगम में व्यवहारधर्म कहा है, अन्यथा अट्ठाईस मूलगुणरूप द्रव्यलिंग की आगम में निन्दा नहीं की गई होती। इससे स्पष्ट है कि निश्चयधर्म के पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं। जो होता है, वह उस पद का व्यवहारधर्म नहीं। अन्तरंग में अनन्तानुबन्धी आदि का उदय बना रहे और कोई जीव मन्दकषायवश बाह्य क्रिया करने लगे, फिर भी वह निश्चयधर्म के काल में होनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि आदि पद का व्यवहारधर्म कहलावे, यह विचित्र बात है। निमित्त-नैमित्तिक योग एक काल में होता है। पहले निमित्त था और बाद में नैमित्तिक हुआ, ऐसा कार्य-कारणभाव नहीं है। हाँ अपर पक्ष अपने विधान द्वारा यह स्वीकार करना चाहता है कि निश्चयधर्म की प्राप्ति के पूर्व जो क्रिया होती थी, वह निश्चयधर्म की प्राप्ति के काल में व्यवहारधर्म संज्ञा को प्राप्त हो जाती है। तो बात दूसरी है, किन्तु अपर पक्ष उससे जो यह अर्थ फलित करना चाहता है कि पहले की क्रिया के कारण निश्चयधर्म की प्राप्ति होती है, वह गलत है। **कौन कार्य किस क्रम से होता है, इसका कथन करना अन्य बात है और निमित्त-नैमित्तिकपने के आधार पर कार्य-कारण का विचार करना, अन्य बात है।**

अपर पक्ष ने समयसार की '**अप्पडिकमणं दुविहं**' गाथा उद्धृत कर तीन गाथाओं की टीका दी है। और उस पर से यह सिद्ध किया है कि 'पर द्रव्य निमित्त कारण है और आत्मा के रागादि विकार पर द्रव्य के निमित्त से होते हैं।' पर अपर पक्ष इस तथ्य को भूल जाता है कि परद्रव्य में रागादि की निमित्तता का व्यवहार कब होता है, उनके प्रति प्रीति-अप्रीति करने पर या सदाकाल ही। यदि वे सदाकाल निमित्त हैं तो इस जीव के रागादि का परिहार होना सदाकाल असम्भव है। यदि इस दोष से बचने के लिए अपर पक्ष का यह कहना हो कि जब यह जीव उनके प्रति प्रीति-अप्रीतिरूप परिणाम करता है, तभी वे रागादि की उत्पत्ति में निमित्त हैं, अन्यथा नहीं। तो इससे सिद्ध हुआ कि यह रागाविष्ट जीव आप कर्ता होकर रागादि को उत्पन्न करता है, पर जिनको लक्ष्य कर यह रागादि को उत्पन्न करता है, उनके साथ रागादि परिणामों का निमित्त-नैमित्तिकपना बन जाने से उनका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कराया जाता है। जैसे आत्मा स्वभाव से रागादिक का कर्ता नहीं है, वैसे ही पर द्रव्य भी स्वभाव से रागादिक के उत्पादक नहीं हैं। उनमें उत्पादकता का व्यवहार तभी बनता है, जबकि उनके लक्ष्य से आत्मा रागी, द्वेषी हो परिणमता है। आत्मा में पायी जानेवाली क्रोधादिरूपता के सम्बन्ध में भी इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए। इसका विशेष ऊहापोह पाँचवें प्रश्न

के तीसरे उत्तर में करनेवाले हैं ही। पण्डित प्रवर दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल में व्यवहारधर्म में जो निश्चयधर्म की हेतुता का उल्लेख किया है, वह व्यवहारहेतुता की दृष्टि से ही किया है। व्यवहार धर्म जबकि स्वयं उपचरित धर्म है तो वह निश्चयधर्म का उपचरित हेतु ही हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म का परमार्थ से साधक नहीं है। उसे निश्चयधर्म का साधक उपचारनय का आश्रय करके ही कहा गया है।

●

प्रथम दौर

(1)

शंका 5

द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत-क्रम से ही होती हैं या अनियत क्रम से भी ?

समाधान

(1) द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं। सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णिंयदं जम्मं वा अह व मरणं वा॥ 321॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा॥ 322॥

एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो दु कुद्दिट्ठी॥ 323॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने जिस जन्म अथवा मरण को जिस जीव के, जिस देश में, जिस विधि से, जिस काल में नियत जाना है; उसे उस जीव के, उस देश में, उस विधि से, उस काल में शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमें से कौन चलायमान कर सकता है, अर्थात् कोई भी चलायमान नहीं कर सकता। इस प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है, वह कुदृष्टि है॥ 321-323॥

यह आगम प्रमाण है, इसमें भिन्न टाईप में दिये गये पद ध्यान देने योग्य है। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें जिस देश और जिस काल में होती हैं, वे उस देश और उस काल में नियत क्रम से ही होती हैं, अनियत क्रम से नहीं होतीं।

(2) आगम में उपादान कारण का जो लक्षण स्वीकार किया है, उसका सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करने पर भी यही ज्ञात होता है कि सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं, अनियत क्रम से नहीं होतीं। लक्षण इस प्रकार है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥ 230॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अनन्तर पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से (उपादान कारणरूप से) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य, नियम से कार्यरूप होता है॥ 230॥

यह उपादान कारण का अव्यभिचारी लक्षण है। इसका स्पष्टरूप से विश्लेषण करने पर, उससे यही फलित होता है कि सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं, क्योंकि पूर्व-पूर्व क्षणवर्ती उस-उस पर्याय युक्त द्रव्य यथार्थ उपादान कारण होने से, उस द्रव्य द्वारा प्रत्येक समय में नियत क्रम से ही कार्य उत्पत्ति की प्रसिद्धि होती है, अनियत क्रम से कार्य उत्पत्ति की प्रसिद्धि त्रिकाल में होना सम्भव नहीं है।

यहाँ पर उपादान कारण के लक्षण का आश्रय लेकर सभी द्रव्यों की होनेवाली सभी पर्यायों का जो नियत क्रम से होने का समर्थन किया गया है, वह कथन केवल तर्क का सहारा लेकर ही नहीं किया गया है। किन्तु आगम में ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जो इस विषय के समर्थन के लिये पर्याप्त हैं। प्रकृत में इस प्रमाण को पढ़िये —

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणं अयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयमिति। — तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1 पृष्ठ 71

अर्थ—निश्चयनय का आश्रय लेने पर तो जिसके अनन्तर मोक्ष का उत्पाद होता है, अयोगकेवली के अन्तिम समय में होनेवाला वही रत्नत्रय, मोक्ष का मुख्य (प्रधान साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

आचार्यवर्य विद्यानन्दि स्वामी इसके पूर्व इसी तथ्य का दृढ़तापूर्वक समर्थन करते हुए क्या कहते हैं? यह उन्हीं के आगमस्वरूप शब्दों में पढ़िए—

न हि-द्वित्रयादिसिद्धक्षणैः सहयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-

कारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तः येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि प्रथमसिद्ध-क्षणेन सह। तत्र च तत् समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुप-जनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्, धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित् कस्यचित् समर्थं कारणम्। न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता।

— श्लोकवार्तिक, अध्याय 1, पृष्ठ 71

अर्थ—प्रकृत में द्वितीय आदि सिद्धक्षणों के साथ अयोगकेवली के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय का कार्य-कारणभाव विचार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है, जिससे उसकी उत्पत्ति में उसकी असामर्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षण के साथ ही प्रकृत में उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्ति में वह समर्थ उपादानकारण ही है, इसलिए पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है। यदि ऐसा न माना जावे तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्ति में वह समर्थ कैसे हो सकती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में धूमक्षणों के द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीय आदि धूमक्षणों के उत्पन्न करने में उसके (अग्नि के) असमर्थ होने से प्रथम धूमक्षण के उत्पन्न करने में भी उसकी असामर्थ्य के प्राप्त होने का प्रसंग आता है। और ऐसा होने पर कोई भी किसी का समर्थ कारण नहीं बन सकता। और असमर्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं, ऐसी स्थिति में यह विचारी कार्य-कारणता कैसे ठहरेगी अर्थात् तब कार्य-कारणता का स्वीकार करना ही निष्फल हो जायेगा।

इस प्रकार इस उल्लेख का सम्यक् प्रकार से विचार करने पर यही निष्पन्न होता है कि प्रत्येक समय में नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है और उसका उपादान कारण भी नियत ही होता है। अतएव समस्त आगम पर दृष्टिपात करने पर विचारकों को एकमात्र यही मानना उचित है कि सभी द्रव्यों की होनेवाली सभी पर्यायें नियत-क्रम से ही होती हैं; अनियतक्रम से त्रिकाल में नहीं होतीं।

●

द्वितीय दौर

(2)

शंका 5

द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं या अनियत क्रम से भी ?

प्रतिशंका 2

इस प्रश्न के उत्तर में जो आपने यह लिखा है कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं' आपका यह लिखना निराधार है, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में समस्त पर्यायों को नियत क्रम से ही होना नहीं बतलाया है। अत: किसी भी ग्रन्थ में क्रमबद्धपर्याय का उल्लेख नहीं पाया जाता। यदि किसी भी ग्रन्थ में क्रमबद्धपर्याय का उल्लेख हो तो बतलाने की कृपा करें।

आपने अपने कथन की पुष्टि में जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की '**जं जस्स जम्मि देसे**' आदि तीन गाथाओं का उद्धरण दिया है, उनमें न तो कहीं क्रमबद्ध-पर्याय का उल्लेख है, न उनसे क्रमबद्ध पर्याय का समर्थन होता है।

यदि कोई व्यक्ति अपना मरण टालने के लिये किसी देवी-देवता की आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझाने के लिये स्वामिकार्तिकेय ने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण काल को इन्द्र या देव, यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। इस तरह जीवन बचाने के अभिप्राय से कुदेव आदि की आराधना से बचाने के लिये ग्रन्थकार ने गाथाओं को लिखा है, जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने धर्मानुप्रेक्षा में गाथा 311-318 तक 'सम्यग्दृष्टि को तत्त्व श्रद्धान किस प्रकार होता है' उसका कथन किया है। उसमें प्रथम यह कहा है—'**जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि**' अर्थात् सम्यग्दृष्टि नियम से तत्त्वों का अनेकान्तात्मकरूप से श्रद्धान करता है, यानि एकान्तरूप से श्रद्धान नहीं करता। जब सम्यग्दृष्टि अनेकान्तरूप से

श्रद्धान करता है तो उसको एकान्त नियतिवाद का जिसको कि द्वादशांग में मिथ्यात्व कहा है, कैसे उपदेश दिया जा सकता है।

गाथा 319 से 322 तक चार गाथाओं में कुदेव की पूजा के निषेध के लिए इस प्रकार उपदेश दिया है—

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उपयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहामुहं कुणदि॥ 319॥

अर्थ—न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है, शुभाशुभकर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते हैं॥ 319॥

भत्तीए पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥ 320॥

अर्थ—यदि व्यन्तर देवी-देवता भक्ति-पूजा करने से लक्ष्मी देते हैं तो फिर धर्म क्यों किया जावे, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है।

इसी विचार को दृढ़ करने के लिये यह उपदेश दिया गया है। अथवा सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि जब इन्द्र व जिनेन्द्र भी तेरे कर्मों को नहीं टाल सकते तो अन्य तुच्छ देव तेरे कर्मों को कैसे टाल सकेंगे।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा॥ 321॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा॥ 322॥

अर्थ—जिस जीव के जिस देश में जिस काल में जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिन देव ने नियतरूप से जाना, उस जीव को उसी देश में उसी काल में उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है॥ 321-322॥

इन गाथाओं का जो निष्कर्ष यहाँ बतलाया गया है, उसकी पुष्टि गाथा नं 319 से इस तरह होती है कि उसमें एकान्त नियतिवाद के विरुद्ध शुभाशुभ कर्मों को जीव के उपकार-अपकार का निमित्त कारण स्पष्ट बतलाया है। अर्थात् जीव का उपकार या अपकार मात्र काल पर निर्भर नहीं है, किन्तु बाह्य कारणों के अनुसार शुभाशुभ कर्मोदय के अधीन है।

इसी ग्रन्थ की गाथा नं. 219 भी है जो हमें यह बतलाती है कि काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव, भावादि लब्धियों से युक्त और नाना शक्तियों से संयुक्त पदार्थों के परिणमन को कोई भी वारण करने में समर्थ नहीं है। इसका भी आशय केवल यह है कि यदि निमित्तभूत और उपादानभूत परिपूर्ण सामग्री जहाँ निराबाध उपस्थित है, वहाँ कार्योत्पत्ति टालने में कोई भी समर्थ नहीं है। टीका में भी इसी प्रकार कहा है—

यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ताः इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्रीं प्राप्य भक्तपरिणामं लभन्ते।

अर्थ—जैसे भात शक्ति युक्त चावल ईंधन, आग, बटलोई, जल आदि सामग्री के मिलने पर ही भातरूप हो जाते हैं।

इस तरह ये सब प्रमाण ऐकान्तिक नियतिवाद का समर्थन करने में बिल्कुल असमर्थ हैं। गाथा 219 इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥ 219॥

इस गाथा 219 में पदार्थों को नाना शक्तियुक्त बतलाया गया है किन्तु पदार्थ उत्तर समय में उसी कार्यरूप परिणत होते हैं, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्याय का कार्य नियत नहीं।

इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थ की गाथा 222 की टीका के निम्नलिखित वाक्यों से होती है।

द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादान-कारणत्वेन वर्तते। तदेव द्रव्यं जीवादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्तं उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्वेन।

अर्थ—जो जीवादि वस्तु पूर्व पर्याय की हालत में उपादान कारणरूप से रहती है, वही जीवादि वस्तु यदि निर्मापक संपूर्ण निमित्तों के साथ मणि मंत्रादिक बाह्य सामग्री और अप्रतिबद्ध सामर्थ्य से सम्पन्न हो तो वह उत्तर क्षण में कार्य को निष्पन्न करती ही है। अर्थात् उसको कोई वारण करने में समर्थ नहीं है।

इतना ही अभिप्राय ग्रंथकर्ता का है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 319-322 में वस्तु स्वरूप नहीं बतलाया गया है, किन्तु कुदेव आदि की पूजा के निषेधार्थ यह उपदेश दिया गया है। जैसे बारह भावनाओं में वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए 'अनित्य भावना' का उपदेश है। किन्तु वस्तु स्वरूपमात्र अनित्य नहीं है, वस्तु स्वरूप तो नित्यानित्यात्मक है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन्द्र या जिनेन्द्र किसी अन्य जीव के कर्मों को टालने में असमर्थ हैं, किन्तु वह जीव तो स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मों के उदयादि को टाल सकता है, अन्यथा मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जावेगा।

श्री पण्डित फूलचन्दजी इसी ग्रन्थ की 323 गाथा का सम्बन्ध सिर्फ 321 और 322 से ही जोड़ना चाहते हैं, जो गलत है, कारण कि उसका सम्बन्ध 311 से 322 तक की गाथाओं से है।

यदि जीव अपने परिणामों द्वारा कर्मों की स्थिति-अनुभाग को खण्डन करके, अविपाक निर्जरा (नियत काल से पूर्व उदय में लाकर खिराना) नहीं कर सकता तो मोक्ष का अभाव हो जायेगा और '**तपसा निर्जरा च।**' तत्त्वार्थसूत्र 9-3 सूत्र से विरोध आ जायेगा।

इसके अतिरिक्त इन गाथाओं में यह बात कही नहीं बतलाई कि कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अपने पूर्वबद्ध कर्मों को उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि रूप में घटाना, बढ़ाना, पलटना नियत समय से पूर्व उदय में ले आना, कर्मों की नियत स्थिति तथा अनुभाग का खंडन करना आदि नहीं कर सकता, अर्थात् जिस कर्म पर्याय के पलटने में जिनेन्द्र, इन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं, उस पर्याय **परिवर्तन को जीव अपने पुरुषार्थ से करने में समर्थ है।**

इसीलिए 'जिनका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है, तब तहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ नहीं कर सकता' ऐसा एकान्त नियतिवाद का लक्षण करके, उसको अमितगति आचार्य ने पंचसंग्रह श्लोक 312 तथा श्री सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गो०क० गाथा 882 तथा प्राकृत पंचसंग्रह पृष्ठ 547 में एकान्त मिथ्यात्व कहा है।

इसके सिवाय ऐसा भी एकान्त नहीं है कि पूर्वबद्ध आयुकर्म के अनुसार नियत समय पर ही जीवों की मृत्यु अवश्य हो जाती है, क्योंकि सर्वज्ञदेव ने अकालमृत्यु का भी विधान किया है और जिसका श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ की 25-26-27 वीं गाथाओं में स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीयाध्याय के अन्तिम सूत्र में भी निश्चित आयु की समाप्ति से पहले भी बाहरी निमित्त कारणों द्वारा मृत्यु (अकाल मृत्यु) हो जाना अनेक जीवों के बतलाया है। उस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में निम्नलिखितरूप से उल्लेख किया है—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न, दृष्टत्वादाम्रफलादिव्रत ॥10॥

व्याख्या — यथावधारितपाककालात्प्राक् सोपायोपक्रमे सति आम्रफलादिनां दृष्टः पाकः तथा परिच्छिन्नमरणकालात्प्राक् उदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपर्वतः।

अर्थ—शंका—अप्राप्त कालवाले जीव का मरण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए अकालमृत्यु नहीं है ?

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अप्राप्तकाल मरण भी देखा जाता है। जैसे कि आम्रफल निश्चित काल से पहले उपाय द्वारा पका लिया जाता है, वैसे ही निश्चित मरण काल से पहले उदीरणा द्वारा आयु का व्याघात होता है।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥11॥

अर्थ—आयुर्वेद की सामर्थ्य से भी अकाल मृत्यु की सिद्धि होती है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस वार्तिक की वृत्ति में देखिये। इस अकाल मृत्यु के विधान से प्रमाणित होता है कि आयु समाप्ति से पूर्व भी दुर्घटनावश आयुक्रम का भंगकर साधारण जीवों का मरण हो जाता है।

अकाल में दिव्यध्वनि

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का समय यद्यपि नियत होता है, तथापि बाहरी प्रबल निमित्त कारण मिलने पर असमय में भी उस नियम को भंगकर दिव्यध्वनि खिरा करती है।

जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 126 में लिखा है—

तिसंज्झविसयछघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया इयरकालेसु संसयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा संकरवदिगराभावादो विसदसरूवा।

अर्थ—जो दिव्यध्वनि प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीन संध्याओं में छह छह घड़ी तक खिरती रहती है और उक्त समय को छोड़कर इतर समय में गणधरदेव के संशय, विपर्यय

और अनध्यवसाय भाव को प्राप्त होने पर, उनके प्रति प्रवृत्ति करना अर्थात् उनके संशयादिक को दूर करना जिसका स्वभाव है तथा संकर व्यतिकर दोषों से रहित विशद स्वभाववाली है।

इसी प्रकार चक्रवर्ती के समवसरण में आ जाने पर भी दिव्यध्वनि असमय में भी खिरा करती है।

निर्जरा तथा मुक्ति का अनियत समय

राजवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 3 पृष्ठ 24 पर लिखा है—

कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥ 9 ॥

अर्थ—जीवों की कर्मों की निर्जरा का समय अनियत है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अन्तरंग बहिरंग अनुकूल निमित्त कारण प्राप्त कर कर्मों की निर्जरा करता हुआ मुक्त होता है। अतः कर्मनिर्जरा और कर्ममुक्ति का समय नियत नहीं है।

अनियत गुण-पर्याय

पञ्चास्तिकाय में पर समय जीव की पर्याय अनियत बतलाते हुए लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमयो।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भसदि कम्मबंधादो॥ 155॥

अर्थ—अपने चैतन्य स्वभाव में नियत होता हुआ भी संसारी जीव, अनियत गुण-पर्यायवाला होता हुआ पर समय होता है। यदि वह स्वसमय होता है, तब कर्मबन्ध से छूट जाता है।

इस तरह संसारी जीव की नियत तथा अनियत दोनों प्रकार की पर्यायें हुआ करती हैं। अनियत गुण-पर्याय का निमित्त कारण मोहनीय कर्म को टीकाकार ने बतलाया है।

क्रम-अक्रम परिणमन

धवल पुस्तक 13 (5-5-82) पृष्ठ 349 पर लिखा है—

अण्णेसिं दव्वाणं कमाकमेहिं परिणमणहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो। एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कापव्वा। जहा (मट्टिया) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो।

अर्थ—अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना, कालद्रव्यानुभाग है।

इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूप से अनुभाग का कथन करना चाहिये। जैसे मृत्तिका पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुम्हार आदि का घटोत्पादनरूप अनुभाग।

इस तरह श्री वीरसेनाचार्य ने धवलसिद्धान्त के उक्त विधान द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि कालद्रव्य में यह शक्ति है कि वह अन्य द्रव्यों के निमित्ति कारणवश होनेवाले क्रमिक-अक्रमिक पर्याय-परिणमन में सहायक होता है। तथा च यह भी उन्होंने बतलाया है कि दो द्रव्यों की संयुक्त शक्ति से भी घट आदि बननेरूप कार्य होता है। निमित्त कारणों के अभाव में केवल उपादान से घट आदि पर्याय का होना अटक जाता है।

द्रव्यकर्म की अनियत पर्याय

कर्मबन्ध हो जाने पर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग निश्चित (नियत) हो जाने पर भी बहिरंग-अन्तरंग निमित्तकारणों के बल से संचित द्रव्यकर्मों की प्रकृति-स्थिति-अनुभाग में उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणारूप परिवर्तन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि बद्ध कर्मों की पर्याय नियत और अनियत दोनों प्रकार की हुआ करती हैं। तदनुसार सातावेदनीय आदि कर्म असातावेदनीय आदि रूप भी हो जाता है। श्रेणिक ने अपनी सातवें नरक की बाँधी हुई 33 सागर की आयु को अपने प्रयत्न से बदलकर प्रथम नरक की 84 हजार वर्ष की आयुरूप कर दिया। इस तरह कर्मों की निकाचित रूप में नियत पर्याय और संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा (अकाल मरण के समान) रूप में अनियत पर्याय होती है।

इसके सिवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कर्म अपना फल नियत और अनियतरूप से दिया करते हैं।

अरहन्त भगवान के असातावेदनीय कर्म का उदय, सातारूप से हुआ करता है। नरक में सातावेदनीय का उदय (फल) असातावेदनीय के रूप में होता है। देवगति में दुःखदायक साधन न होने से असातावेदनीय का उदय दुःखदायक नहीं होता।

इसी बात की पुष्टि श्री वीरसेन आचार्य के जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थ पुस्तक 1 पृष्ठ 289 के निम्नलिखित कथन से होती है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भाव (भावा) वेक्खाए जायदे। तदो ण सब्बद्धं दब्ब-कम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं।

अर्थ—प्रागभाव का नाश हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रागभाव का विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लेकर होता है, इसलिए द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं, यह सिद्ध होता है।

श्री वीरसेनाचार्य के उक्त कथन से दो बातें सिद्ध होती हैं—

1— कार्य अपने निमित्त-उपादान कारणों के अनुसार ही होता है, किसी नियति के अनुसार या केवलज्ञान के अनुसार नहीं होता है।

2— द्रव्यकर्मों का फल भी अपरिवर्तनीय-नियत नहीं है।

निमित्त-उपादान कारण

इसके बाद आपने जो उपादान कारण के अनुसार पर्याय को नियत—क्रमबद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है और उसके लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा श्लोकवार्तिक के वाक्यों को उद्धृत किया है, वह कार्य-कारण भाव का सूचक होते हुए भी नियत काल का सूचक नहीं है।

जो पर्याय जिस समय होती है, वह उसका स्वकाल अवश्य है; किन्तु पर्याय का वह स्वकाल एकान्तरूप से नियत नहीं है। उसका कारण यह है कि कार्य केवल उपादान कारण से ही नहीं होता, उसके लिये निमित्त कारणों का व्यापार अनिवार्यरूप से आवश्यक है। कोई भी स्व-परप्रत्यय पर्याय निमित्त कारण के बिना कभी नहीं होती।

निमित्त कारण का व्यापार कालक्रम के अनुसार ही नियत हो ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि कार्य-सिद्धि के लिये अनुकूल कारण जब भी आगे-पीछे क्रम से या अक्रम से उपलब्ध होंगे, तब ही उन निमित्त कारणों के व्यापार के अनुसार कार्य पहले या पीछे, क्रम से या अक्रम से होगा। जैसे आम या केले वृक्ष पर कालक्रम से प्राप्त सूर्य आदि अन्य पदार्थों के निमित्त से देर में पका करते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उन फलों को पेड़ से तोड़कर भूस आदि की गर्मी द्वारा पहले भी पका लेता है।

रसोई बनानेवाला रसोइया भोजन बनाने के लिए अपनी इच्छानुसार लकड़ी, कोयला, बिजली या गैस की मन्द, तीव्र, तीव्रतर आदि अग्नि का निमित्त मिलाकर दाल, चावल,

शाक, रोटी आदि शीघ्र या देर से बना लेता है। अपनी इच्छानुसार चावल, दाल, रोटी आदि में से जिस द्रव्य की पर्याय को पहले या पीछे करना चाहता है, कर डालता है। रोटी बनाते हुए यदि वह पूड़ी बनाना आवश्यक समझता है तो वह आटे की रोटी पर्याय को बन्द कर, पूड़ी पर्याय को करने लगता है।

ऐसे अनियत अनन्त कार्यों को होते हुए हम प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि हम ऐसे अनियत कार्यों को सिद्धान्त ग्रन्थों में देखें तो वहाँ भी कर्मों के उत्कर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि अवस्थाओं में जीव के अनियत भावों के कारण, अनियत कार्य होना उपलब्ध होता है।

इससे फलित होता है कि कार्य का होना कारण के व्यापार के अनुसार है। यतश्च कारण व्यापार कालक्रम से तथा काल के अक्रम से उपलब्ध होता है, अतः कारणभूत पूर्व पर्याय का स्वकाल नियतरूप से क्रमिक तथा अनियतरूप से अक्रमिक भी होता है — **कारणक्रमाक्रमानुविधायित्वात्कार्यक्रमाक्रमस्य।**

केवलज्ञान की अपेक्षा

उपलब्ध क्रमिक अक्रमिक निमित्त तथा उपादान कारणों के अनुसार होनेवाली पदार्थों की क्रमिक अक्रमिक पर्यायें केवलज्ञान में उसी क्रम-अक्रमरूप से झलकती हैं—

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।

जैसे कि कालमृत्यु या अकालमृत्यु। अतः केवलज्ञान द्वारा भी पदार्थों की पर्यायें नियत-क्रमिक एवं अनियत-अक्रमिकरूप में सिद्ध होती हैं। इस तरह पर्याय क्रम-अक्रम के विषय में एकान्त नहीं है—अनेकान्त है।

यतञ्च केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नहीं है और कार्य, कारक के अनुसार होता है, ज्ञापक के अनुसार नहीं—

णाणं णेयपमाणं। —प्रवचनसार, गाथा 23

अतः पर्याय क्रम का नियामक केवलज्ञान नहीं है, निमित्त-उपादान कारणरूप कारक ही पर्याय-क्रम का नियामक है।

अतः आपका उत्तर युक्ति तथा आगम से गलत सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने प्रवचनसार के अन्त में चरणानुयोग सूचक चूलिका में नयों का वर्णन करते हुए निम्नलिखित

भंगों का उल्लेख किया है—

यथा कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्त-सिद्धिः ॥ 30 ॥ अकालनयेन कृत्रिमौष्ण्यपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्त-सिद्धिः ॥ 31 ॥

अर्थ स्पष्ट है।

इस उल्लेख से पदार्थ के क्रमिक-अक्रमिक परिणमन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

●

नमः श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 5

द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से होती हैं या अनियत क्रम से ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

इस प्रश्न का उत्तर व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों प्रकार से दिया गया है। व्यवहारनय से उत्तर देते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा से तीन गाथायें उद्धृत कर केवलज्ञान के ज्ञेयरूप से द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से होती हैं, यह सिद्ध किया गया था और निश्चयनय से उत्तर देते हुए उपादान की अपेक्षा द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से होती हैं, यह अनेक आगम प्रमाण देकर सिद्ध किया गया था, किन्तु द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से नहीं होतीं, इस अभिप्राय की पुष्टि करते हुए पुनः प्रतिशंका 2 उपस्थित की गई है। प्रतिशंका 2 में विषयों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

(1) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तीन गाथायें तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री।

(2) अकाल में दिव्यध्वनि

(3) निर्जरा तथा मुक्ति का अनियत समय

(4) अनियत गुण-पर्याय

(5) क्रम-अक्रम परिणाम

(6) द्रव्य कर्म की अनियत पर्याय

(7) निमित्त-उपादान कारण।

आगे इसका समाधान किया जाता है।

(1)

स्वामी कार्तिकेय ने स्वलिखित द्वादशानुप्रेक्षा में सम्यग्दृष्टि निश्चयनय से कैसा निर्णय करता है, यह बतलाने के लिये **जं जस्स जम्मि देसे** इत्यादि दो गाथाएँ देकर अन्त में यह लिखा है कि इस प्रकार सब द्रव्य और उनकी पर्यायों को जो जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। गाथा इस प्रकार है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥ 323॥

इस गाथा में भिन्न टाईप में दिये गये पद ध्यान में लेने योग्य हैं। **णिच्छयदो** का अर्थ निश्चय से (यथार्थ में) है। इससे विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओं में जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वह यथार्थ है। आगे **एवं जो दव्वाणि सव्वपज्जाए** पद देकर यह स्पष्ट किया गया है कि पिछली दो गाथाओं में जिस तत्त्व की व्यवस्था की गई है, वह सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों के विषय में है। **सद्दिट्ठी सुद्धो** पद देकर यह बतलाया गया है कि निश्चय से सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को जो पूर्वोक्त प्रकार से जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है तथा आगे **कुद्दिट्ठी** पद देकर यह बतलाया गया है कि जो पूर्वोक्त प्रकार से सब द्रव्यों और उनकी पर्यायों को निश्चय से नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है।

इस गाथा में **णिच्छयदो** पद देने का एक दूसरा अभिप्राय भी है। इस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि यह कथन निश्चय (यथार्थ) नय की (उपादान की) प्रधानता से किया गया है। इससे पर्यायान्तर से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगम में जहाँ भी अकाल मृत्यु आदि का निर्देश दिया गया है, वहाँ वह व्यवहारनय की (उपचरितनय की) अपेक्षा ही किया गया है, निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं।

इन गाथाओं के आशय को ध्यान में रखकर, जो यह कहा जाता है कि जो 'कोई

व्यक्ति अपना मरण टालने के लिये किसी देवी-देवता की आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझाने के लिए स्वामी कार्तिकेय ने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण काल को भी इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते।' सो उन गाथाओं पर से ऐसा आशय फलित करना उचित नहीं है। कारण कि इन दो गाथाओं के पूर्व में जो गाथा आई है, उसके अन्त में **सद्दिट्ठी** पद स्वतन्त्र पड़ा है, अत: इस गाथा का इन दो गाथाओं के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। दूसरे 319 और 320 गाथाओं द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है, वह मात्र सम्यग्दृष्टि की भावना नहीं है, किन्तु उन द्वारा वस्तुस्थिति का ही प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए समयसार की 247 से लेकर 261 तक की गाथाओं के साथ इन दो गाथाओं का मिलान कीजिए। वहाँ कहा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ 253॥

अर्थ—जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं जीवों को दु:खी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। परन्तु जो ऐसा नहीं मानता, वह ज्ञानी है॥ 253॥

अब इसके प्रकाश में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह गाथा पढ़िए—

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारे।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥ 319॥

अर्थ—कोई किसी को लक्ष्मी नहीं देता और न कोई जीव का उपकार करता है। उपकार और अपकार शुभ और अशुभ कर्म करते हैं॥ 319॥

यों तो श्री समयसारजी में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं, जिन द्वारा यह बतलाया गया है कि न तो कोई किसी को मार सकता है और न जिला सकता है। कर्म के उदय से जीव मरता और जीता है आदि। उदाहरणस्वरूप एक गाथा और देखिए।

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि परेहिं सत्ते हिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ 250॥

अर्थ—जो जीव मानता है कि मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ और दूसरे जीव मुझे जिलाते हैं, वह मूढ़ है—अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है॥ 250॥

अब इसके प्रकाश में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की 319 नम्बर की गाथा पढ़िए—

भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥ 320॥

अर्थ— भक्ति से पूजित व्यन्तर देव यदि लक्ष्मी देता है तो धर्म क्यों किया जाता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता है॥ 320॥

इससे ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त 321 और 322 गाथाओं द्वारा तथा 319 और 320 गाथाओं द्वारा ऐसा कोई तत्त्व नहीं कहा गया है जो मात्र भावना से सम्बन्ध रखता हो। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की इन सब गाथाओं द्वारा एकमात्र इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि अन्य अन्य का अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। सब अपने-अपने कर्मानुसार ही होता है। यही बात श्री समयसारजी में कही गई है। अतएव सम्यग्दृष्टि की इस भावना को यथार्थ ही जानना चाहिए। इसी ग्रन्थ में 219 नम्बर की एक गाथा और आई है, जिसमें बतलाया गया है कि निश्चय से कालादि लब्धि से युक्त और नाना शक्तियों से स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थों को कोई भी वारण नहीं कर सकता। गाथा इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥ 219॥

इसमें '**परिणममाणा हि सयं**' पद ध्यान देने योग्य है। इन पदों द्वारा यह स्पष्ट शब्दों में ज्ञान कराया गया है कि यथार्थ में प्रत्येक यथार्थ स्वयं परिणमन करते हैं, अन्य के द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं। इसलिए इस गाथा के आधार से यदि कोई यह फलित करे कि कार्य उत्तर समय में उसी कार्यरूप परिणत होते हैं, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्याय का कार्य नियत नहीं है। सो यह लिखना पदार्थ व्यवस्था के प्रतिकूल है। प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक समय में जो द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति होती है जिसे कि आचार्यों ने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है, उसके अनुसार ही कार्य की उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्दि स्वामी जैसे समर्थ आचार्य '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' यह कहने में समर्थ हुए। यदि उपादान के इस लक्षण को, जिसे कि सभी आचार्यों ने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है, तब उसके अनुसार कार्य होता है तो सिद्धों को जिन में वैभाविक शक्ति इस अवस्था में भी विद्यमान है और लोक में सर्वत्र बाह्य निमित्तों की भी विद्यमानता है, तब उन्हें संसारी बनाने से कौन रोक सकता है, क्योंकि

ऐसा मानने पर जीव के राग-द्वेषरूप से परिणमन करने पर ही उसको निमित्त कर द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है, यह सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है। इसके साथ तब यही मानना पड़ेगा कि कोई जीव सातवें नरक में जाने योग्य संक्लेश परिणाम करे, परन्तु बाह्य निमित्त देव-गुरु-शास्त्र का सानिध्य आदि देवगति में जाने के योग्य हो तो उसे नरकायु का बन्ध न होकर देवायु का ही बन्ध होगा, क्योंकि जबकि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्त के अनुसार होता है। ऐसी अवस्था में अमुक प्रकार के परिणामों के होने पर अमुक प्रकार का बन्ध होता है, यह जो आगम में व्यवस्था की गई है, वह सबकी सब छिन्न-भिन्न हो जाती है। प्रत्येक द्रव्य की संयोग काल में होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्त सापेक्ष निश्चय उपादान से होती है — यह तो है, पर साथ में इसके प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान की नियामकता ही स्वीकार की गई है। इसलिए जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है, तब निमित्त भी उसी के अनुसार ही मिलते हैं, यह भी नियम है। नियम में अनेकान्त लागू नहीं होता। अनेकान्त की अपनी मर्यादा है, इसलिए उसे ध्यान में रखकर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्य में सामान्य की अपेक्षा जो नित्यता और पर्याय अपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गई है, वह अनेकान्त नहीं बनेगा। तब तो यह भी मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा कि — 'द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।' अतएव ज्ञानी विद्वान पुरुषों का कार्य है कि वे शास्त्र की मर्यादा को ध्यान में रखकर ही उसकी व्याख्या करें। अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 222 नं० की गाथा की टीका से, जो उसका यथार्थ तात्पर्य है, वही फलित करना चाहिये। उसमें '**मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्य कारणान्तरावैकल्येन**' के पूर्व यदि '**यदि**' अर्थ को सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीका में होता, तब तो निमित्तों की अनिश्चितता भी समझ में आती, परन्तु उसमें इस आशय को सूचित करनेवाला कोई पाठ नहीं है, इसलिए उसे '**तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतम्**' का विशेषण बनाकर ही उसका अर्थ करना चाहिये और ऐसा अर्थ करने पर निमित्त-उपादान के योग की अच्छी तरह सुसंगति बैठ जाती है।

बारह भावनाओं में अनित्य भावना का उपदेश संवेग और वैराग्य उत्पन्न कराने के अभिप्राय से ही आया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु **अर्पितानर्पितसिद्धेः** तत्त्वार्थसूत्र 5-32 सूत्र के अनुसार नित्यपक्ष को गौण कर ही ऐसी भावना कराई गई है। ऐसा करने का कारण भी है। बात यह है कि संसार में धन, पुत्र, स्त्री आदि का संयोग होता है। जिसमें कि मिथ्यादृष्टि

की निजबुद्धि बनी आ रही है, उस संयोग के प्रति अरुचि उत्पन्न कराना, वहाँ प्रयोजन है। स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्य नित्यानित्य हो सकता है, पर स्त्रीपर्याय नहीं, और मिथ्यादृष्टि जीव स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्य में निज बुद्धि नहीं कर रहा है, किन्तु जो जीव उस काल में स्त्रीपर्यायविशिष्ट है, उसकी उस काल में होनेवाली स्त्रीपर्याय में निज बुद्धि कर रहा है। अतएव वहाँ उस पर्यायसम्बन्धी आसक्ति छुड़ाने के अभिप्राय से ही, वैसी भावना का उपदेश दिया गया है। अतएव अनित्य भावना को उदाहरणस्वरूप उपस्थित कर 319-322 गाथाओं को उसी अर्थ में लेना उचित नहीं है।

323 नम्बर की गाथा का सम्बन्ध 321-322 गाथाओं के साथ तो है ही। और यदि इसका सम्बन्ध इसके पूर्व की 319-320 नम्बर की गाथाओं के साथ भी जोड़ा जाता है तो भी कोई आपत्ति नहीं है। जैसा कि पूर्व में श्री समयसारजी के आधार से सिद्ध कर आये हैं।

अकामनिर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जरा का शास्त्र में विधान है, इसमें सन्देह नहीं। पर कर्मशास्त्र के अभ्यासी से यह बात छिपी हुई नहीं है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मों की कैसी योग्यता के होने पर कैसी पद्धति से होती है। जिस काल में जिन कर्मों की जितने परिमाण में जिन परिणामों को निमित्त कर उत्कर्षित, अपकर्षित, संक्रमित और उदीरित होने की योग्यता होती है, उस काल में उन कर्मों का उतने परिमाण में उन परिणामों को निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा होती है, ऐसा नियम है। जीव के विवक्षित परिणामों के साथ उन कर्मों के अपकर्षणादि की व्यवस्था की गई है, यह बात कर्मशास्त्रियों को सुविदित है।

दूसरे बन्ध काल में जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, सो उस काल में ही उन-उन कर्मों में ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आने पर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मों को निमित्त कर उन-उन कर्मों का अपकर्षणादि रूप परिणमन होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो एक तो कर्मशास्त्र में जो उपशमकरण, निधत्तिकरण और निकाचितकरण की व्यवस्थानुसार यह बतलाया गया है कि जो कर्म उदय में नहीं दिये जा सकते, उनकी उपशमकरण संज्ञा है, जो कर्म उदय में नहीं दिये जा सकते और संक्रमण के अयोग्य होते हैं, उनकी निधत्ति संज्ञा है तथा जो कर्म उदय में नहीं दिये जा सकते और जो संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण के अयोग्य होते हैं, उनकी निकाचित संज्ञा है, वह पूरी की पूरी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है।

दूसरे उदीरणादि में यह किस क्रम से होती है और कितने काल में होती है, यह जो व्यवस्था कर्मशास्त्र में बतलाई है, वह व्यवस्था भी गड़बड़ा जायेगी। उदाहरणार्थ जो उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, वह मिथ्यात्व में रहते हुए सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में करता है। उसमें भी प्रथम समय में अमुक परिमाण में उद्वेलना होती है, द्वितीय समय में अमुक परिमाण में उद्वेलना होती है इत्यादि रूप से जो व्यवस्था बताई गई है, वह व्यवस्था भी नहीं बन सकती। देवादि का सम्यक् निमित्त मिलने पर, वह अन्तर्मुहूर्त में, एक दिन में, एक पक्ष में, एक मास में, एक वर्ष में या सैकड़ों वर्षों में उनकी उद्वेलना क्यों नहीं कर लेता है, क्योंकि उद्वेलना के योग्य बाह्य सामग्री है ही, फिर अमुक काल ही उसके लिये लगे, ऐसा नियम नहीं रहना चाहिये।

तीसरे बन्ध के योग्य एक प्रकार का अमुक परिणाम होने पर जो बन्ध होता है, उस परिणाम को निमित्त कर मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति पड़े और ज्ञानावरणादि कर्मों की अन्य स्थितिबन्ध हो, स्थितिबन्ध में यह भेद कौन करता है ?

चौथे एक शुभ परिणाम के होने पर विविध कर्मों में जो अनुभागबन्ध में या योग के अनुसार प्रदेशबन्ध में भेद होता है, यह भेद भी कौन करता है ?

पाँचवें प्रत्येक आत्मा के साथ विस्रसोपचय इतना अधिक होता है कि यदि नया विस्रसोपचय संचित्त न हो और उसी में से नया-नया बन्ध होता रहे तो भी वह चिरकाल तक समाप्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति के रहते हुए भी किस समय में विस्रसोपचय में से किन कर्मवर्गणाओं का कितने परिमाण में बन्ध होगा, यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्धयोग्य कर्मवर्गणाओं का ही बन्ध होता है, अन्य का नहीं, ऐसा फर्क क्यों पड़ता है ?

छठे ऐसा नियम है कि निमित्त की निमित्तता कार्य के समय में मानी गई है। अतएव (1) जिस समय उपादान कारण कार्यरूप से परिणमता है, उस समय जो उसका निमित्त कारण है वह स्वयं अपना उपादान बनकर अपनी पर्याय को उत्पन्न करने के लिये व्यापार करता है या जिसका वह निमित्त है, उसके व्यापार में लगता है ? यदि कहो कि उस समय वह स्वयं का उपादान बनकर करता तो अपना कार्यरूप व्यापार ही है, किन्तु जिसका वह

निमित्त है, उसके कार्यरूप व्यापार को नहीं करता है तो फिर दोनों ने जबकि उस समय एकसाथ अपने-अपने कार्य को करने का व्यापार किया। ऐसी अवस्था में निमित्त के अनुसार उपादान को परिणमना पड़ता है, यह नियम कैसे बन सकता है ?

यदि कहो कि (2) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है, उस समय जो उसका निमित्त है वह स्वयं का उपादान बनकर अपना व्यापार न करके, मात्र जिसका वह निमित्त है उसका व्यापार करता है तो फिर दोनों का मिलकर एक व्यापार दिखलाई देना चाहिये। उदाहरणार्थ जिस समय कुम्भकार घट का निर्माण करता है, उस समय उक्त प्रकार से मिट्टी में ही दोनों के परिणमन की क्रिया दिखलाई देनी चाहिये। मिट्टी में होनेवाली परिणमनरूप क्रिया के साथ कुम्भकार के जो हाथ आदि हिलते हुए दिखलाई देते हैं, वे नहीं दिखलाई देने चाहिये।

यदि कहो कि (3) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है, उस समय उसका जो निमित्त है वह अपना कार्य तो करता ही है, पर उसके साथ-साथ जिसका वह निमित्त है, उसका भी व्यापार करता है तो इस प्रकार उसे एक साथ उपादान बनकर अपनी और जिसका वह निमित्त है उसकी, इस प्रकार एक साथ दो कियाऐं करनी पड़ेंगी। परन्तु ऐसा तो जिनागम में माना नहीं गया है, कि एक पदार्थ दो क्रिया का कर्त्ता हो।

अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादान के कार्य के प्रति दूसरे एक या एक से अधिक जिन द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में निमित्त व्यवहार होता है, वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसी का कार्य नहीं करता, परन्तु उन सब द्रव्यों के उस-उस काल में उस-उसरूप परिणमने की द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनों की इस बाह्य व्याप्ति को देखकर ही उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ऐसा मानना यहाँ आगमानुकूल है।

शब्द विवक्षित वाक्यों का रूप लेकर सीमित अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः यदि 321-322 गाथाओं द्वारा मात्र नियति (निश्चय) के अनुसार ही कथन किया गया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उन गाथाओं द्वारा व्यवहार पक्ष का भी कथन किया जाना चाहिए था और नहीं किया गया है तो वह कथन एकान्त हो जायेगा। कथन कहीं प्रमाण की अपेक्षा किया गया है। कहीं व्यवहारनय की अपेक्षा कथन किया गया है और कहीं निश्चयनय की

अपेक्षा कथन किया गया है। इसलिए जहाँ जिस नय की अपेक्षा कथन हो, उसे उसी रूप में घटित कर विवक्षित प्रमाणरूप अर्थ को फलित कर लेना चाहिये। यही शास्त्र के अर्थ करने की पद्धति है, जो शास्त्रकारों ने सर्वत्र अपनाई है।

कथन करने की पद्धति तीन हैं—प्रमाण की अपेक्षा, निश्चयनय की अपेक्षा और व्यवहारनय की अपेक्षा। ये तीन पद्धतियाँ आगम में यथास्थान सर्वत्र स्वीकार की गई हैं, अतएव उनकी संगति बिठलाते हुए इष्टार्थ को फलित करना चाहिये।

प्रकृत में 321-322 गाथाऐं निश्चयनय की मुख्यता से लिखी गई हैं, वह इसी से स्पष्ट है कि उनसे अगली गाथा में '**एवं जो णिच्छयदो**' यह पाठ दिया गया है। हम इस गाथा में पठित णिच्छयदो पद को गौण कर दें और उनका अपने विकल्प के अनुसार अर्थ करें, यह उचित नहीं है। अर्थ करने की यह पद्धति भी नहीं है। इसी आशय का एक श्लोक पद्मपुराण में भी उपलब्ध होता है, सो उसका भी प्रकृत के अनुरूप अर्थ करना चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावत्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम्॥ 29-83॥

अर्थ—जिस जीव के द्वारा जहाँ पर जिस काल में जिस कारण से जिस परिमाण में जो प्राप्तव्य है, उस जीव के द्वारा वहाँ पर उस काल में उस कारण से उस परिमाण में वह नियम से प्राप्त किया जाता है।

पण्डितप्रवर भैया भगवतीदासजी तत्त्वज्ञान से भली-भाँति परिचित लोकोत्तर पुरुष थे। जिनागम का सार वीतरागता जानकर पर्याय और निमित्तों के प्रति एकत्वबुद्धि का त्याग कराने के अभिप्राय से उन्होंने भी अपनी समर्थ वाणी के द्वारा निश्चयनय की अपेक्षा यह वचन कहा है—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

भगवन! जीवन में वीतरागता उत्पन्न हो, क्योंकि वह संसारी आत्मा का मुख्य कार्य है, इसलिए वर्तमान पर्याय में अनासक्ति उत्पन्न होने तथा निमित्तों के प्रति इष्टानिष्ट बुद्धि का त्याग करने के अभिप्राय से प्रत्येक संसारी प्राणी की निश्चय के आश्रय से ऐसी बुद्धि

सदाकाल बनी रहे, यह भावना है। यह सिद्धान्त जीवन का वह प्रेरणास्रोत है, जो प्रत्येक प्राणी को आकुलता से बचाकर निराकुलस्वरूप अनन्त सुख की ओर ले जाता है। अन्यथा निमित्तों की उठाधरी के सिवा जीवन में आत्मीक लाभ मिलना इतना दुर्लभ है, जिस प्रकार बालुका समुद्र में गिरा हुआ मणि का मिलना दुर्लभ है।

प्रायः हम पुरुषार्थ की बात तो करते हैं; परन्तु परद्रव्य के कार्य करने में उसकी सफलता मानते हैं जो कर सकना असम्भव है। संसारी जीव ने विकल्प के अनुसार क्रिया को ही सच्चा पुरुषार्थ मान लिया है। यदि वह इसमें और सच्चे पुरुषार्थ में वास्तविक अन्तर को जान ले तो उसके जीवन में पर के कार्य करने का विकल्प ही न रहे। स्वामी समन्तभद्र इसी परमार्थभूत तत्त्व का स्मरण कराते हुए स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्यवादीः॥ 33॥

अर्थ—आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य-शक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' इस प्रकार के अहंकार से पीड़ित है, वह (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता॥ 33॥

पूर्वबद्ध आयुकर्म में जितना स्थितिबन्ध होता है, उसमें भोगकाल में उत्कर्षण तो सम्भव नहीं, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है, इस नियम को ध्यान में रखकर जिन जीवों में यह निषेक स्थिति अपकर्षण नहीं होता, उन जीवों का वह आयुकर्म इस नियम का अपवाद है, यह दिखलाने के लिए तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2, सूत्र 53 में नियम वचन आया है। उस पर से बहुत से बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर, निश्चयकथन है। आचार्य अकलंकदेव ने इस वचन के आश्रय से जो व्यवहार पक्ष का समर्थन किया है, उसे ही हमारे बन्धु निश्चयपक्ष मानकर वैसी श्रद्धा किये हुए हैं और उसी को मात्र जिनागम बतलाकर जोरदार शब्दों द्वारा उसका समर्थन करते हैं। अब यह विचार करना है कि क्या यह निश्चय कथन है या मात्र व्यवहाररूप विशेष निमित्तों का ज्ञान कराने के लिए यह कथन किया गया है। आगे यही विचार करना है।

यह तो आगमाभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव प्रथम, द्वितीय

और तृतीय समय में तथा अधिक से अधिक चौथे समय में उत्तरभव को अवश्य धारण कर लेता है। मान लो किसी जीव का अकालमरण होता है, परन्तु ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म धारण करे ? इसकी तो कोई नियत व्यवस्था है ही नहीं, क्योंकि अकालमरण के कथन को यथार्थ माननेवाले महानुभाव इस नियम का प्रतिपादन तो कर नहीं सकते कि उसके जन्म का नियत स्थान है और न यह ही कहने की क्षमता रखते हैं कि वहाँ जन्मयोग्य गर्भादिक के आवश्यक निमित्त भी नियम से तैयार रहते हैं। ऐसी अवस्था में जिसका अकालमरण हुआ, उसका अकाल जन्म मानना पड़ेगा और अकाल जन्म के स्वीकार कर लेने पर जन्मस्थान आदि का कोई निश्चित नियम न होने से ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म लेगा, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। आनुपूर्वी कर्म, गतिकर्म आदि तो जड़ हैं, वे जानते नहीं कि ऐसी अनिश्चित व्यवस्था के रहते हुए कहाँ इस जीव को ले जाया जाये। और फिर जब सब अनिश्चित है और अनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर कार्य-कारण व्यवस्था बनानी है। ऐसी अवस्था में यही मानना पड़ेगा कि मरण के बाद कितने समय में कौन जीव कहाँ जन्म धारण करेगा, इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता है। किन्तु जब लोक में चारों गतियों की और गत्यागति आदि की सब सुनिश्चित व्यवस्था है। ऐसी अवस्था में अकालमरण के कथन को व्यवहारपक्ष का कथन ही जानना चाहिये।

: 2 :

तीर्थंकर की वाणी किसी विशेष पुण्यशाली गणधर आदि को निमित्तकर अन्य समय में भी खिरती है, ऐसा जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 126 में उल्लेख है। इस पर से यह फलित किया जाता है कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि अकाल में भी खिरती है। परन्तु उक्त उल्लेख पर ऐसा फलित नहीं होता। वहाँ मूल में तो '**इदरकालेसु**' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ ' अन्य कालों में' होता है। इस द्वारा दिव्यध्वनि कब-कब खिरती है, यह नियम किया गया है। जिसका जो नियम हो, वह उसका स्वकाल है, अकाल नहीं। और संयोग की भूमिका में होनेवाला कार्य हों तो उस समय वैसा निमित्त भी मिलता है। उसका भी यह स्वकाल है, **क्योंकि जिसे उपादानरूप से विवक्षित किया जाता है, उसका प्रत्येक परिणाम जैसे अपने-अपने काल में होता है। उसी प्रकार जिसे निमित्तरूप से विवक्षित किया जाता है, वह स्वयं अपने कार्य के प्रति उपादान होने से उसका भी प्रत्येक परिणाम अपने-अपने काल में होता है। इस प्रकार कार्य के प्रति निमित्त-उपादान की संगति बैठती जाती है। उसमें बाधा नहीं आती।** इस तथ्य

को जयधवला में इन्द्र द्वारा गौतमगणधर को समवशरण में लाने के समय के प्रसंग को लेकर भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है। वहाँ यह प्रश्न किया गया है कि इन्द्र पहले ही गणधर को ले आता, 66 दिन तक क्यों रुका रहा ? उत्तर में कहा गया है कि काललब्धि के अभाव में पहले वैसा करना संभव नहीं था। जयधवला का वह कथन इस प्रकार है—

सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। पृष्ठ 76 ॥

शंका—सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान के प्राप्त होने के समय ही गणधर को क्यों नहीं उपस्थित किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उस समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

इसमें '**काललब्धि**' पद ध्यान देने योग्य है। इसे सर्वत्र कार्य उत्पत्ति में स्वीकार किया गया है। सब कार्य काललब्धि के प्राप्त होने पर ही होते हैं, ऐसा निश्चित नियम है। अतएव तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि इतर काल में खिरती है, इस उल्लेख को देखकर उस पर से अकाल में खिरती है—ऐसा फलित करना योग्य नहीं है।

: 3 :

निर्जरा और मुक्ति का काल अनियत है, यदि यह सिद्धान्त माना जाता है तो जैसा कि पूर्व में बतला आये हैं तदनुसार निमित्त-उपादान की सम्यक् व्यवस्था ही नहीं बन सकती। आचार्य विद्यानन्दि श्लोकवार्तिक पृष्ठ 70 में कहते हैं—

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुः न केवलः, तथा प्रतीतेः।

अर्थ—यथार्थ में कालादि सामग्री से युक्त मोहक्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है, अकेला नहीं, क्योंकि उस प्रकार प्रतीत होता है।

उसी स्थल पर वे पुनः कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

अर्थ—शंका क्षीणकषाय के प्रथम समय में केवलज्ञान के प्रादुर्भाव की प्रसक्ति होती है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सहकारीरूप से अपेक्षित कालविशेष का उस समय अभाव है।

श्लोकवार्तिक के ये दो ऐसे पुष्ट प्रमाण हैं, जो इस तथ्य को सूचित करते हैं कि जिस कार्य का जो स्वकाल है, उसके प्राप्त होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्य काल में नहीं। अतएव जिस प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति निश्चित काल में होती है, उसी प्रकार विवक्षित निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति भी नियतकाल में होती है, ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए।

: 4 :

पंचास्तिकाय की 155 वीं गाथा में आये 'णियदो' और 'अणियद' पद के प्रकृत अर्थ को छोड़कर नियत और 'अनियत' अर्थ करके जो गुण-पर्यायों को नियत और अनियत सिद्ध किया गया है, वह संगत नहीं है। वहाँ उसमें आये हुए '**सहावणियदो**' पद का अर्थ 'स्वभाव में नियत—अवस्थित अर्थात् लीन' है तथा '**अणियद-गुणपज्जाओ**' पद का अर्थ-स्वभावगुण पर्यायों में अनियत—अनवस्थित अर्थात् विभाव-गुणपर्यायों में अवस्थित (लीन) है,' क्योंकि उस गाथा में स्वसमय और परसमय की व्याख्या की गई है और फलितार्थरूप में यह बतलाया गया है कि जो स्वसमयरूप परिणमता है, वह कर्मबन्ध से छूट जाता है। अतः इस गाथा पर से 'संसारी जीव की नियत (क्रम नियत) तथा अनियत (क्रम अनियत) दोनों प्रकार की पर्यायें हुआ करती हैं, यह अर्थ करना संगत नहीं है। जिसमें सब विषय स्पष्ट हो जाये, इसके लिए यहाँ उक्त गाथा और उसकी टीका दी जा रही है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जाओध परसमओ।
जीवो कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो॥ 155॥

अर्थ—जीव स्वभाव में अवस्थित होने पर भी यदि विभाव गुणपर्यायों में लीन हो तो परसमय है। यदि वह स्वसमय को प्राप्त करता है, तो कर्मबन्ध से छूट जाता है॥ 155॥

टीका—स्वसमयपरसमयोपादानव्युदासपुरस्सरकर्मक्षयद्वारेण जीवस्वभाव-नियतचरितस्य मोक्षमार्गत्वद्योतनमेतत्। संसारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्यापि अनादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सतः समुपात्त-भाववैश्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमयः परचरितमिति यावत्। तस्यैवानादि-मोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नि-

यतगुणपर्यायत्त्वं स्वसमयः स्वचरितमिति यावत्। अथ खलु यदि कथञ्चनोद्भिन्न-सम्यग्ज्ञानज्योतिर्जीवः परसमयं व्युदस्य स्वसमयमुपादत्ते तदा कर्मबन्धादवश्यं भ्रश्यति। यतो हि जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्ग इति॥ 155॥

अर्थ—स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है — ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ (इस गाथा में) 'जीव स्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है' ऐसा दर्शाया है। संसारी जीव, (द्रव्य अपेक्षा से) ज्ञानदर्शन में अवस्थित होने के कारण स्वभाव में नियत (निश्चलरूप से स्थित) होने पर भी, जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणत करने के कारण उपरक्त उपयोगवाला (अशुद्ध उपयोगवाला) होता है, तब (स्वयं) भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होने के कारण, उसे जो अनियतगुणपर्यायपना होता है, वह परसमय अर्थात् परचारित्र है; वही (जीव) जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति को छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है, तब (स्वयं) भाव का एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण, उसे जो नियतगुण-पर्यायपना होता है, वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है।

अब, वास्तव में यदि किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञानज्योति प्रकट करके जीव परसमय को छोड़कर, स्वसमय को ग्रहण करता है तो कर्मबन्ध से अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तव में (ऐसा निश्चित होता है कि) जीवस्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है॥155॥

: 5 :

आचार्य वीरसेन के जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 289 के उल्लेख पर से प्रतिशंका में यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्रागभाव का अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल पर निर्भर है। जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल का योग नहीं मिलता, तब तक प्रागभाव का नाश नहीं होता, सब कार्यों का कोई स्वकाल न होने से कार्य, क्रम से भी होते हैं और अक्रम से भी होते हैं। अक्रम से होते हैं अर्थात् क्रम को छोड़कर होते हैं।'

अब यहाँ विचार यह करना है कि क्या जयधवला के उक्त वाक्य पर से यह अर्थ फलित होता है। वह वचन इस प्रकार है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे।

अर्थ—प्रागभाव का विनाश भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा से होता है।

अब इस वचन पर विचार कीजिए—प्रागभाव और उपादान इन दोनों का एक ही अर्थ है और इस द्वारा मात्र इतना कथन किया गया है कि प्राभाव का अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव सापेक्ष होता है। इसमें यह नहीं कहा गया है कि यदि द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि न मिलें तो कार्य नहीं होता। अतः इस पर से क्रम-अक्रम परिणाम का समर्थन करना तो योग्य नहीं है।

रही कर्मादिक के संक्रम आदि की बात सो ऐसा मान लेने पर कि कर्म का उदय होने पर भी उदय के विरुद्ध साधन मिलने से उन कर्मों का फल नहीं मिलता। यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है, जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा। विशेष प्रसंग आने पर अवश्य ही विचार करेंगे। संक्रमादि के विषय में पूर्व में विचार कर ही आये हैं। **अतएव उपादान निश्चय पक्ष होने से और निमित्त व्यवहार पक्ष होने से यही मानना चाहिए कि दोनों का मेल होने पर कार्य होता है। सिद्धान्त यह है कि निश्चय उपादान के प्राप्त होने पर यतः उस समय जो अन्य द्रव्य की पर्याय उसका निमित्त है, वह अपने परिणमन के लिए उसी समय निश्चय उपादान भी है, इसलिए प्रत्येक समय में निश्चय व्यवहार का सुमेल होते जाने से प्रत्येक कार्य अपने-अपने काल में ही होता है, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।**

: 6 :

उपादान निमित्त का विचार स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर पूर्व में कर आये हैं। कार्य उत्पत्ति में उपादान और निमित्त इन दो का कारणरूप से उल्लेख किया गया है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो, इसलिए कार्य नहीं होगा—ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है। जबकि शास्त्रकारों ने उपादान की अन्तर्व्याप्ति और निमित्त की बाह्य व्याप्ति का निर्देश दिया है, ऐसी अवस्था में दोनों की व्याप्ति एक साथ प्रत्येक समय में मिलती रहती है और प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करता रहता है। प्रत्येक समय में द्रव्य का परिणमन अन्यथा नहीं बन सकता और न ही उपादान-निमित्त की विषमव्याप्ति बनाई जा सकती है, इस तथ्य को प्रमेयकमलमार्तण्ड 2, 2 पृष्ठ 201 में इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

यद्यप्यभिहितम्—शक्तादशक्ताद्वा तस्याः प्रादुर्भाव इत्यादि। तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भावः। न चानवस्था दोषाय बीजांकुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य। वर्तमाना हि शक्तिः प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पूर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोतरावस्थाप्रादुर्भाववत्।

और जो यह कहा है कि समर्थ उपादान से उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति की उत्पत्ति होती है या असमर्थ उपादान से उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति की उत्पत्ति होती है इत्यादि। उसमें समर्थ उपादान से ही द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति की उत्पत्ति होती है। और अनवस्था दोष के लिए नहीं हैं, क्योंकि बीजांकुर प्रवाह के समान उसका प्रवाह अनादि है। वर्तमान शक्ति पूर्व शक्तियुक्त अर्थ से उत्पन्न होती है। वह भी उससे पूर्व की शक्तियुक्त अर्थ से उत्पन्न होती है, पूर्व पूर्व अवस्थायुक्त पदार्थों का उत्तरोत्तर अवस्थारूप से जैसे प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये।

इस प्रकार निमित्त-उपादान की अपेक्षा विचार करने पर सब कार्यों की उत्पत्ति नियत क्रम से ही होती है, ऐसा निर्णय करना समीचीन है। यहाँ प्रमेय कमलमार्तण्ड का जो उद्धरण पूर्व में दिया है। उसके आधार से प्रत्येक समय के उपादान की सम्यग्व्यवस्था बन जाती है। उक्त उल्लेख में उसे समर्थ उपादान प्रतिपादित किया है। इससे यह भी भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि उपादान के अनुसार तो नियत कार्य होता ही है, साथ ही कार्य के समय उसके नियत निमित्तों का योग भी होता रहता है। अत: प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है, ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

: 7 :

उपादान के कार्य और निमित्त की समव्याप्ति है, इस व्यवस्था के रहते हुए तथा उपादान का 'अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य को उपादान कहते हैं, यह सुनिश्चित लक्षण के होने पर भी यह लिखना कि कार्य के प्रति जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं, तब कार्य होता है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उपादान बनकर प्रत्येक समय में अपना-अपना कार्य कर रहा है; उसमें कहीं किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं देखी जाती। यदि निमित्ताधीन कार्य की व्यवस्था होती तो द्रव्य को जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला आगम में सर्वत्र स्वीकार किया है, वह नहीं बन सकता।

क्या ऐसा है कि किसी द्रव्य को किसी समय अनुकूल निमित्त नहीं मिले, इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नहीं किया, इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तों के अभाव में कार्य नहीं होता या किसी विवक्षित द्रव्य से किसी विवक्षित समय में विवक्षित कार्य की उत्पत्ति की अपेक्षा से व्यापार किया गया था, परन्तु बीच में कुछ ऐसी सामग्री उपस्थित हो गई जिस कारण वह विवक्षित कार्य या तो विवक्षित

समय में नहीं हो सका या हो ही नहीं सका, इसलिए यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तों के अभाव में कार्य नहीं होता? इनमें से प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर तो आगम विरोध आता है, क्योंकि सूक्ष्म-स्थूल, जड़-चेतन, ऐसा एक भी द्रव्य नहीं है जो प्रत्येक समय में परिणमन न करता हो। और प्रत्येक समय में परिणमन करना, यही उसका स्वभाव है, अतएव इस आधार से विचार करने पर अनुकूल निमित्त न मिलने से कार्य नहीं हुआ, यह तो कहा नहीं जा सकता। दूसरे पक्ष के स्वीकार करने पर यह तो कहा जा सकता है कि जैसी इच्छा हुई थी, उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। पर किसी पदार्थ ने किसी की इच्छा के अनुसार परिणमन करने का ठेका थोड़े ही लिया है। और जिन्हें प्रतिबन्धक कारण कहा जाता है सो वह कथन विवक्षित कार्य की अपेक्षा से ही किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक पदार्थ कार्य तो स्वयं ही करता है, निमित्त उसका कार्य नहीं करता। परन्तु जिस कार्य का जो निमित्त होता है, उसकी अनुकूलता होने पर और जो जिसका अनुकूल निमित्त नहीं है, उसके अभाव में ही वह कार्य होता है। पर यह नियम विवक्षित कार्य की अपेक्षा सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया गया है। अविवक्षित कार्य की अपेक्षा विचार करने पर तो तब भी उस पदार्थ ने अपना कार्य किया, जब उक्त स्थिति के रहते हुए भी विवक्षित कार्य नहीं हुआ। अतएव जैसा कि आगम प्रमाण से सिद्ध कर आये हैं, प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है, यह नियम स्वीकार कर लेना चाहिये। पूरे उपचरित और अनुपचरित कारणों का विचार करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

पदस्वभाव पूरव उदय निहचै उद्यम काल।
पक्षपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥

पदार्थ का स्वभाव, पूर्व का उदय (निमित्त), निश्चय उपादान, उद्यम (पुरुषार्थ) और काल—ये पाँच कारण हैं। इनके समवाय में कार्य की उत्पत्ति होती है। इनमें से किसी एक का पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् संसार का मार्ग है और सबके सद्भाव में कार्य को स्वीकार करना, मोक्षमार्ग है।

गोमट्टसार कर्मकाण्ड में काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच एकान्तों का निर्देश किया गया है, वह इसी अभिप्राय से ही किया गया है। देखो पदार्थ के स्वभाव की महिमा, कार्यरूप परिणाम यह निश्चय उपादान का ही कार्य है। पर निश्चय उपादान की स्थिति आई और कार्य हो गया, ऐसा एकान्त भी नहीं है। क्योंकि कार्य

पुरुषार्थपूर्वक ही होता है और जब कार्य होता है, तब उसके अनुकूल निमित्त भी होते हैं। साथ ही निश्चय उपादान की स्थिति उस पदार्थ के स्वभाव की कक्षा के भीतर ही बनती है। इन चारों का योग कब हो, इसका अभ्यन्तर दृष्टि से विचार करने पर निश्चय उपादान उनके योग का नियामक है और निश्चय उपादान कभी भी उत्पन्न हो जाये, यह नहीं है। बाह्य की अपेक्षा विचार करने पर वह विवक्षित काल के प्राप्त होने पर ही होता है। इस प्रकार के पाँचों के समवाय में कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा नियम बन जाता है। अतएव एकान्त नियति का जहाँ आचार्यों ने निषेध किया है, वहाँ सम्यक् नियति को स्वीकार भी किया है। अतएव प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक कार्य उक्त पाँचों के समवाय की अपेक्षा क्रमनियत होता है, अनियत क्रम से नहीं होता—ऐसे अनेकान्त को स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

हम अन्त में श्रीस्वामीकार्तिकेय के द्वादशानुप्रेक्षा के वे तीन श्लोक श्री शुभचन्द्र सूरिरचित संस्कृत टीका के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिन्हें यह बताया जाता है कि मात्र व्यंतरादि से लक्ष्मी आदि चाहनेवालों को समझाने मात्र के लिए लिखे गये हैं। श्लोकों का क्या भाव है और परम्परा से उनका क्या अर्थ प्राचीन आचार्य तथा विद्वान करते आये हैं, इसे उनके ही शब्दों में पढ़कर यथार्थ निर्णय कीजिये।

अथ सम्यग्दृष्टिः एवं वक्ष्यमाणलक्षणं विचारयतीति गाथात्रयेण आह

जं जस्स जम्मि देसे जेण विधाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा॥ 321॥

तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा॥ 322॥

संस्कृत टीका—यस्य पुंसः जीवस्य यस्मिन् देशे अंग-बंग-कलिंग-तिलंग-मरु-मालव-मलयाट-गुर्जर-सौराष्ट्रविषये पुर-नगर-करवट-खेट-ग्राम-वनादिके वा येन विधानेन शस्त्रेण विषेण वैश्वानरेण जलेन शीतेन श्वासोच्छ्वासरुन्धनेनान्नादि-विकारेण कुष्ट-भगंदर-रक्तोदर-प्रचंडपीडादिप्रमुखरोगेण वा यस्मिन् काले समय-मुहूर्त प्रहर-पूर्वाह्न मध्याह्न-अपराह्न-संध्या-दिवस-पक्ष-मास-वर्षादिके नियतं निश्चितं यत् जन्म-अवतरणं उत्पत्तिः अथवा मरणं वा शब्दः समुच्चयार्थः सुखं दुःखं लाभालाभ-मिष्टानिष्टादिकं गृह्यते। तत्सर्वं कीदृशं देश-विधान-कालादिकं ? जिनेन ज्ञातं केवलज्ञानिना अवगतं॥ 321॥

टीका—तस्य पुंसः जीवस्य तस्मिन् देशे अंग-बंग-तिलंग-गुर्जरादि के नगर-ग्राम-वनादिप्रदेशे वा तेन विधानेन शस्त्रविषादियोगेन तस्मिन् काले समय-पल-घटिका-प्रदर-दिन-पक्षादि के तत् जन्म-मरण-सुख-दुःखादिकं कः इन्द्रः शक्रः अथवा जिनेन्द्रः सर्वज्ञः वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थः राजा गुरुर्वा पितृ-मात्रादिर्वा चालयितुं निवारयितुं शक्नोति समर्थो भवति कोऽपि ? अपि तु न॥ 322॥

अर्थ—जिस जीव के या पुरुष के जिस देश में अर्थात् अंग, बंग, कलिंग, तिलंग, मरु, मालव, मलयाट, गुर्जर, सौराष्ट्र देश में अथवा पुर, नगर, करवट, खेट, ग्राम, वनादिकों में जिस प्रकार से अर्थात् शस्त्र से, विष से, अग्नि से, जल से, शीत से, श्वासोच्छ्वास के रुकने से, तथा अन्नादि विकार से अथवा कोढ़, भगंदर, रक्तोदर, प्रचंड पीडाकर आदि प्रमुख रोगों से जिस काल में अर्थात् समय, मुहूर्त, प्रहर, प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, संध्या, दिन, पक्ष, महिना, वर्ष आदिक में नियत अर्थात् निश्चित जो जन्म अर्थात् उत्पत्ति, अथवा मरण, तथा 'वा' शब्द के द्वारा सूचित सुख-दुख, लाभ, अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि भी ग्रहण कर लेना चाहिये। वह सब देश, विधान और कालादिक के रूप में (उसी प्रकार) जिनेन्द्र के द्वारा ज्ञात है अर्थात् केवलज्ञानियों के द्वारा जाना जा चुका है॥ 321॥

अर्थ—उस पुरुष के यानि जीव के उस देश में अर्थात् अंग, बंग, तिलंग, गुजरात, आदिक में तथा नगर में, ग्राम में, या वनादिक प्रदेशों में उसी विधि से अर्थात् शस्त्र, विषादि (उक्त) संयोग से उसी काल में अर्थात् समय, पल, घड़ी, प्रहर, दिन, पक्षादिक में उन जन्म, मरण, अथवा सुख-दुखादिकों को कोई इन्द्र यानि देवेन्द्र-शक्र (शक्तिशाली) अथवा जिनेन्द्र यानि सर्वज्ञदेव 'वा' शब्द से सूचित राजा, गुरु, पिता, माता आदि टालने के लिये समर्थ हो सकता है क्या कोई ? अर्थात् नहीं हो सकता॥ 322॥

अथ सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिलक्षण लक्षयति—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो दु कुदिट्ठी॥ 323॥

संस्कृत टीका — स भव्यात्मा सम्यग्दृष्टिः शुद्धः निर्मलः मूढत्रयादिपंचविंशति-मलरहितः, स कः ? य एवं पूर्वोक्तप्रकारेण निश्चयतः परमार्थतः द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशकालाख्यानि, सर्वपर्यायांश्च अर्थपर्यायान् (उत्पाद-व्यय-युक्तान्) व्यंजन-पर्यायांश्च (नरनारकादीन्) जानाति वेत्ति श्रद्दधाति स्पृशति निश्चिनोति स सम्यग्दृष्टिर्भवति। उक्तं च तथा सूत्रेण —

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव-षट्कायलेश्याः
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः।
इत्येतन् मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

इति 'दु' इति स्फुटम्। सः पुमान् कुदृष्टिः। सः कः ? शंकते यः जिनवचने दवे गुरौ धर्मे तत्त्वादिके शंकां संशयं संदेहं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवेत्॥ 323॥

अर्थ—वह भव्यात्मा तीन मूढ़ता आदि 25 मलरहित निर्मल शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, जो पूर्वोक्त प्रकार से निश्चय से यानि परमार्थ से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल नामक (छः) द्रव्यों को तथा उत्पाद-व्यययुक्त अर्थ पर्यायों को और नर-नारकादि व्यंजनपर्यायों को इस तरह सब पर्यायों को जानता है, श्रद्धान करता है, अनुभव करता है, निश्चय करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है।—जैसा कि सूत्र से प्रतिपादित है—

अर्थ—त्रिकाल सम्बन्धी छः द्रव्य, नव पदार्थ, छः जीवकाय, छः लेश्या, पंचास्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान, चारित्र और उनके भेद त्रिभुवनपूज्य सर्वज्ञ अरहंत भगवान ने मोक्ष के मूलभूत तत्त्व कहे हैं। जो बुद्धिमान उन्हें जानता है, श्रद्धा रखता है और अनुभव करता है, वह निश्चय से शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

गाथा में 'दु' शब्द का अर्थ स्फुट या स्पष्ट है। अब सूत्र के उक्त कथन के अनुसार जो जीव जिनेन्द्र के वचन में तथा देव-गुरु-धर्म में, तत्त्वों में शंका, संशय अथवा सन्देह करता है, वह मिथ्यादृष्टि है — यह बात स्पष्ट है॥ 323॥

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 5

प्रश्न था — द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं या अनियत क्रम से भी ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न के उत्तर में आपने लिखा है कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं।' इसी को आपने दूसरे शब्दों में ऐसा लिखा है कि 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं।' इसके समर्थन में आपने आगम के निम्नलिखित प्रमाण भी उपस्थित किये हैं:—

: 1 :

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं व अह व मरणं वा॥ 321॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो व अह जिणिंदो वा॥ 322॥

—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गाथाओं का आपने यह अर्थ किया है—'जिनेन्द्र देव ने जिस जन्म अथवा मरण को जिस जीव के जिस देश में जिस विधि से जिस काल में नियत जाना है, उसे उस जीव के उस देश में उस विधि से उस काल में शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमें से कौन चलायमान कर सकता है ? अर्थात् कोई चलायमान नहीं कर सकता है।'

: 2 :

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम्॥ 29-83॥ *—पद्मपुराण*

इस पद्य का भी आपने यह अर्थ किया है कि—'जिस जीव के द्वारा जहाँ पर जिस काल में जिस कारण से जिस परिमाण में जो प्राप्तव्य है उस जीव के द्वारा वहाँ पर उस काल में उस कारण से उस परिमाण में वह नियम से प्राप्त किया जाता है।'

: 3 :

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥ 133॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इस पद्य का भी अर्थ आपने यह किया है—''आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' इस प्रकार के अहंकार से पीडित है, वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता॥133॥''

: 4 :

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

—पण्डितप्रवर भैया भगवतीदासजी

इन प्रमाणों के आधार पर आपने अपना यह मत स्थिर कर लिया है कि चूँकि जिनेन्द्र भगवान केवल ज्ञानी होने के नाते त्रिकालज्ञ हैं, इसलिए प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्ती पर्यायों में से कौन-सी पर्याय किस काल में हुई या होगी — यह बात उन्हें मालूम है। दूसरे भवितव्यता (होनहार) अटल रहा करती है, इसलिए जिस काल में जिसका जो कुछ होनेवाला है वह होता ही है और इस तरह आपका कहना है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय के उत्पन्न होने का समय निश्चित है। आपकी इस मान्यता के ऊपर ही हमें यहाँ पर विचार करना है।

यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य के उत्पन्न होने का समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञान में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का केवलज्ञानी जीवों को युगपत् ज्ञान कराने की सामर्थ्य जैन संस्कृति द्वारा

स्वीकार की गयी है। इसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति उसी काल में होती है, जिस काल में उसकी उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी जीव के केवलज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस काल में होती है, उस काल में वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस काल में उस कार्य की उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है, क्योंकि वस्तु की जिस काल में जैसी अवस्था हो, उस अवस्था को जाननामात्र केवलज्ञान का कार्य है, उस कार्य का होना केवलज्ञान का कार्य नहीं है। स्वयं पण्डित फूलचन्दजी ने भी जैन तत्त्वमीमांसा के केवलज्ञान स्वभावमीमांसा प्रकरण में इस बात को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि—

केवलज्ञान को सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायों की सिद्धि मात्र केवलज्ञान के आलम्बन से न करके कार्यकारण परम्परा को ध्यान में रखकर ही की जानी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा की उल्लिखित 321 और 322 वीं गाथाओं में '**जेण विहाणेण**' और '**तेण विहाणेण**' पदों का पाठ, पद्मपुराण के उल्लिखित पद्य में 'यतो' और 'ततो' पदों का पाठ और स्वयंभूस्तोत्र के उल्लिखित पद्य में '**हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा**' पद का पाठ ये तीनों ही पाठ हमें कम-से-कम इस बात की सूचना तो दे ही रहे हैं कि कार्य केवलज्ञान द्वारा ज्ञात काल में उत्पन्न होते हुए भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। श्री पण्डित फूलचन्दजी द्वारा जैन तत्त्वमीमांसा के उल्लिखित कथन में यह बात भी स्वीकार कर ली गई है कि '**क्रमबद्ध पर्यायों की सिद्धि कार्यकारण परम्परा को ध्यान में रखकर ही की जानी चाहिये।**' और ऐसी हालत में पण्डितप्रवर भैया भगवतीदासजी के उल्लिखित पद्य का भी वही आशय लेना चाहिये जो श्री पण्डित फूलचन्दजी को स्वीकार है। अर्थात् वीतराग (केवलज्ञानी) का ज्ञान कार्य की उत्पत्ति में कारण नहीं है।

इस तरह कार्योत्पत्ति के विषय में आपके द्वारा उपर्युक्त आगम प्रमाणों को आधार बनाकर केवल इतना स्वीकार किया जाना ही पर्याप्त नहीं है कि 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं, किन्तु उक्त उन्हीं आगम प्रमाणों के आधार पर स्वकाल के साथ कार्योत्पत्ति के अनुकूल कारणों को भी ग्रहण कर आपके द्वारा यही स्वीकार किया जाना चाहिये कि सभी कार्य केवलज्ञान द्वारा ज्ञात काल में होने पर भी अपने-अपने प्रतिनियत

कारणों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं, क्योंकि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त 321 व 322 वीं गाथाओं में जिस प्रकार यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में कार्योत्पत्ति का स्वकाल प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार उन गाथाओं में यह भी बतला दिया है कि जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के प्रतिनियत कारण भी प्रतिभासित होते हैं। इस कथन का आशय यह है कि कोई भी कार्य जिस काल में उत्पन्न होता है, उस काल में वह अपने प्रतिनियत कारणों से ही उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

यदि 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथन से आपका यह अभिप्राय हो कि 'यद्यपि कार्य स्वकाल में अपने प्रतिनियत कारणों के प्राप्त होने पर ही हुआ करते हैं। परन्तु चूँकि कार्य की उत्पत्ति का काल आने पर उसके अनुकूल कारणों की प्राप्ति नियम से हो ही जाया करती है, इसलिए सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथन में स्वाभाविक रूप से कार्योत्पत्ति के प्रतिनियत कारणों का भी समावेश हो जाता है तो फिर हमारा आपसे यह कहना है कि उल्लिखित आगम प्रमाणों के आधार पर जिस प्रकार आप यह कहते हैं कि 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' उसी प्रकार उन्हीं प्रमाणों के आधार पर आपको ऐसा कहने में भी कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणों के प्रति होने पर ही हुआ करते हैं' और जिस प्रकार आप 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथन में कार्योत्पत्ति के अनुकूल कारणों का समावेश कर लेना चाहते हैं, उसी प्रकार 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणों के प्राप्त होने पर ही होते हैं' ऐसा कथन करके इसमें स्वकाल का समावेश करने में भी आपको कोई आपत्ति नहीं होना चाहिये।

एक यह भी बात है कि स्वामी समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र के पद्य '**अलंघ्यशक्ति-र्भवितव्यतेयं**' इत्यादि में पठित '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का अर्थ आप इस आशय से करते हैं कि अन्तरंग और बहिरंग हेतुओं को उसके अधीन बन जाना पड़ता है, परन्तु ऐसा अर्थ '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का नहीं है। अर्थात् '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का अर्थ 'अटल-शक्ति' यहाँ पर नहीं है। इस पद से स्वामी समन्तभद्र यह बतलाना चाहते हैं कि जिस कार्य के उत्पन्न होने के अनुकूल भवितव्यता होगी, कार्य वही उत्पन्न होगा; यह नहीं हो सकता है कि कोई भी प्राणी किसी वस्तु में ऐसा कार्य उत्पन्न कर दे जिसकी भवितव्यता वस्तु में स्वभावतः विद्यमान नहीं है, लेकिन ऐसी भवितव्यता कार्यरूप तभी परिणत होगी, तब उस भवितव्यता

के अनुकूल अन्तरंग और बहिरंग हेतु प्राप्त होते हैं और तब अन्तरंग तथा बहिरंग हेतुओं द्वारा उत्पन्न कार्य से ही हम जान लेते हैं कि अमुक वस्तु में चूँकि अमुक कार्य के अनुकूल भवितव्यता थी, तभी यह कार्य हो सका। इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि जिस प्रकार वस्तु में स्वभावतः रहनेवाली भवितव्यता अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसी प्रकार तदनुकूल अन्तरंग और बहिरंग हेतु भी अपना स्वतन्त्र ही अस्तित्व रखते हैं और जब वे कारण वस्तु में रहनेवाली भवितव्यता के अनुकूल अपना व्यापार करते हैं, तब उस भवितव्यता के अनुकूल कार्य उत्पन्न हो जाता है। कृपया यह ख्याल कीजिये कि भवितव्यता का अर्थ वस्तु में विद्यमान कार्योत्पत्ति की आधारभूत स्वतः सिद्ध योग्यता है और अन्तरङ्ग हेतु का अर्थ कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप उपादानशक्ति व बहिरंग हेतु का अर्थ निमित्तकारण है।

इस तरह अब अपने सामने दो मत विचारणीय हो जाते हैं—एक तो यह कि अपने प्रतिनियत कारणों से कार्य जिस काल में उत्पन्न होता है, उसे ही कार्य का प्रधान कारण माना जाये और दूसरा यह कि कार्य जब भी होता है, अपने प्रतिनियत कारणों से ही होता है और जिस काल में वह उत्पन्न होता है, वही उसका स्वकाल कहलाता है। इसलिए कार्य के यथायोग्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों हेतुओं को ही कार्य का प्रधान कारण माना जाये।

चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्ति के स्वकाल को अर्थात् जिस काल में कार्य उत्पन्न होता है, उस काल को प्रधान कारण मानने का है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्ति का काल आ जाने पर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है। और हमारा सिद्धान्त काल को तो कार्योत्पत्ति में प्रधानता नहीं देता है, किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरंग हेतु उपादान-कारण से उत्पन्न होनेवाला हो तो यहाँ अन्तरंग हेतु को ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरंग और बहिरंग (उपादान और निमित्त) दोनों कारणों से उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ उपादान और निमित्त दोनों को ही प्रधानता देता है। अर्थात् कार्योत्पत्ति तो अपने प्रतिनियत कारणों से ही होती है, लेकिन जिस काल में वह होती है, वहीं उसका स्वकाल कहलाने लगता है।

आपका अपने सिद्धान्त को मान्य करने में तर्क यह है या हो सकता है कि काल के जितने त्रैकालिक समय हैं, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायों की उत्पत्ति निश्चित होती है, काल के त्रैकालिक समयों से अधिक किसी भी वस्तु की पर्यायों की उत्पत्ति होना असम्भव है और चूँकि केवलज्ञान में प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक समयवर्ती पर्याय प्रकाशित हो रही है, अतः यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने नियत काल

में ही उत्पन्न होगी। जिस समय में कार्यभूत वस्तु की एक नियत पर्याय होगी, उस समय में निमित्त कारणभूत वस्तु की भी कार्य के अनुकूल दिखती हुई एक नियत पर्याय होगी। इस तरह एक वस्तु की कार्यरूप पर्याय के साथ दृश्यमान अनुकूलता के आधार पर निमित्तभूत वस्तु में कारणता का आरोप किया जाता है और चूँकि कार्यभूत वस्तु की कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के बाद ही वह कार्यरूप पर्याय निष्पन्न होनी है, अतः उसे उसका वास्तविक कारण, प्रधान कारण अथवा उपादान कारण कहा जाता है। इस तरह कार्य अपने नियत काल में ही उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है और प्रत्येक वस्तु की पर्यायें नियतक्रम से ही उत्पन्न होती है; अनियत क्रम से नहीं, इस सिद्धान्त की भी पुष्टि हो जाती है। यह आपकी मान्यता है। आगे इस विषय पर विचार किया जाता है:—

उल्लिखित जो सिद्धान्त आपका है, वह यद्यपि काल के त्रैकालिक समयों तथा स्वतःसिद्ध परिणमनशील प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायों और उनका प्रत्येक क्षण में युगपत् प्रतिभास करनेवाले केवलज्ञान के परस्पर सम्बन्ध की व्यवस्था पर आधारित है। परन्तु यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतनी मान्यता से श्रुतज्ञानी जीवों की समस्त समस्याऐं हल हो सकती हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर आप हाँ में देते हैं, तब तो हमें कहना पड़ेगा कि आप अपने अनुभव, प्रत्यक्ष और तर्क का ही अपलाप कर देना चाहते हैं, क्योंकि प्रत्येक संसारी प्राणी के सामने उसके जीवन की तथा जन्म-मरण, सुख-दुःख, संसार परिभ्रमण एवं मुक्तिसम्बन्धी असंख्य समस्याऐं उपस्थित हैं, जिनका समाधान केवल आपके द्वारा मान्य सिद्धान्त से नहीं हो सकता है।

प्रत्येक प्राणी के सामने यह प्रश्न है कि जिस पर्याय में वह विद्यमान है, वह क्यों ? सुखी हो रहा है तो क्यों ? वह कभी दुःखी होता है तो क्यों ? भिन्न-भिन्न विलक्षण पर्यायों को धारण करता है तो क्यों ? एक ही पर्याय में कभी राजा होता है तो क्यों ? रंक होता है तो क्यों ? स्वर्ग में जाता है तो क्यों ? नरक में जाता है तो क्यों ? भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो ये सब क्यों अच्छी और बुरी हालतों में नजर आ रहे हैं ? क्यों अच्छे और बुरे कृत्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं ? क्यों जीवन में धर्म और अधर्म का विश्लेषण किया जाता है ? विविध संस्कृतियों का प्रादुर्भाव क्यों हुआ, नाना प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त क्यों प्रकाश में आये ? पुद्गलों के विलक्षण विलक्षण विविधरूप देखने को मिलते हैं तो ये सब क्यों हैं ? क्यों विविध प्रकार की वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं ? सामाजिक, राष्ट्रीय, और धार्मिक संस्थाओं

का निर्माण क्यों हुआ? क्यों इनकी आचार पद्धतियाँ कायम की गयीं? क्यों आप अपने सिद्धान्त या दृष्टिकोण के प्रचार में लगे हुए हैं? आदि-आदि।

इस तरह जो असंख्य प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के सामने उभरे हुए दिखाई देते हैं, इनका समाधान आपके पास क्या यही है? कि केवलज्ञान में यही झलका है कि अमुक वस्तु की अमुक समय में अमुक पर्याय ही होना थी—यन्त्रवत विश्व की समस्त प्रक्रिया चल रही है, चलती आयी है और चलती जायेगी। यदि केवल यह समाधान आपके पास है और इसे आप युक्तियुक्त या आगमसम्मत मानते हैं तो आप आवश्यकता या इच्छा के अनुकूल कार्य करने की अपनी उधेड़-बुन को समाप्त कीजिये, अपने सिद्धान्त या दृष्टिकोण के प्रचार में जोड़-तोड़ का धन्धा भी समाप्त कीजिये। इतना आपके कह देने से कार्य चलनेवाला नहीं है कि आप भी सब कुछ यन्त्र की नांई ही करते जा रहे हैं, क्योंकि आप सेचतन हैं, ज्ञानी हैं, हृदय आपके पास है। उसका आप उपयोग करते हैं। मस्तिष्क आपके पास है, उसका भी उपयोग आप करते हैं। शरीर आपके पास हैं, उसका भी उपयोग आप करते हैं। इन्द्रियाँ आपके पास हैं, उनका भी उपयोग आप करते हैं। बाह्य साधन सामग्री की जोड़-तोड़ भी आप बिठलाते हैं। आपके द्वारा यह सब किया जाना आपको मान्य सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। जो सिद्धान्त आपने मान्य किया है, उसके अनुसार तो केवल ज्ञाता और दृष्टा ही आपको बने रहना चाहिये और वह भी मन से नहीं, मस्तिष्क से नहीं, इन्द्रियों से नहीं; क्योंकि आप मन से, मस्तिष्क से अथवा इन्द्रियों से जितना ज्ञान करते हैं, वह तो पराश्रित ही है। इसलिए इस ज्ञान में जब तक पराश्रितता है, तब तक आप पदार्थों के मात्र ज्ञाता और दृष्टा नहीं बने रह सकते हैं और जब तक आप ज्ञाता-दृष्टामात्र नहीं बन जाते, तब तक निष्क्रियता में आप रम नहीं सकते। इसी तरह जब तक आप निष्क्रियता में नहीं रम जाते, तब तक कार्यकारण पद्धति की उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते हैं कि सभी कार्य स्वकाल में ही होते हैं या यह भी नहीं कह सकते कि 'द्रव्यों की समस्त पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं।' और यदि आप उनकी उक्त मौजूदा अवस्थाओं में भी 'सभी कार्य स्वकाल में ही होते हैं' या 'द्रव्यों की समस्त पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं अथवा कार्य की उत्पत्ति के काल में निमित्त कारण हाजिर रहते हैं, परन्तु कार्य में उनका कुछ उपयोग नहीं होता आदि मान्यताओं को स्वीकार करते हैं तो फिर इन्हें कर्मकाण्ड आदि आगम ग्रन्थों के अनुसार नियतिवादरूप मिथ्यात्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है।'

यदि आप यह कहें कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321 और गाथा 322 में तो 'सभी कार्य स्वकाल में ही होते हैं' या 'द्रव्यों की सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती है' इन सिद्धान्तों को ही फलित किया गया है और इन दोनों गाथाओं के अनन्तर गाथा 323 द्वारा यह बतला दिया गया है कि इन सिद्धान्तों को माननेवाला ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है तो इसके उत्तर में हमारा कहना यह है कि जैन संस्कृति के आगम ग्रन्थों में कार्योत्पत्ति के विषय में श्रुतज्ञानी जीवों के लिये दो प्रकार से विवेचना की गयी है—एक तो केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा श्रद्धा दृष्टि से और दूसरी श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्यदृष्टि से। '**जं जस्स जम्मि देसे**' इत्यादि आगम वाक्यों में पहली दृष्टि की उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्य के स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्यकारण-भावपद्धति का जो जैन संस्कृति के आगम ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन पाया जाता है, वह सब श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्य की दृष्टि से ही किया गया है।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवों के लिये क्यों किया गया है ? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव, केवलज्ञानी जीवों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशा में विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृतकृत्य हैं, वहाँ श्रुतज्ञानियों के सामने हमेशा कृत्यों (कार्यों) के करने की समस्या खड़ी ही रहती है; जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तु के और उनके प्रत्येक क्षण में होनेवाले व्यापारों के केवल ज्ञातादृष्टामात्र बनकर रह रहे हैं, वहाँ कार्योत्पत्ति के लिए श्रुतज्ञानी जीवों को अपनी मौजूदा हालतों में अनुभव में आनेवाली जोड़-तोड़ बिठलाने की आवश्यकता है। अतः श्रुतज्ञानियों के लिये कार्योत्पत्ति की कार्यकारणभाव पद्धति को अपनाने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवलज्ञान में सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय होने के कारण यथायोग्य केवल उपादान कारण से अथवा उपादान और निमित्तरूप दोनों कारणों से ही उत्पन्न होते हुए अनुभव में आ रहे हैं। चूँकि श्रुतज्ञानी जीव को केवलज्ञान का विषय केवल आस्था का है, अतः उस पर केवल आस्था रखने का ही उसे उपदेश दिया गया है। और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवों के लिये उपयोगी नहीं हो सकता है, अतः उनके लिये कार्यकारणभाव पद्धति को अपनाने का भी उपदेश दिया गया

है। इसलिए जिसने कार्योत्पत्ति के लिये कार्यकारणभाव पद्धति के मार्ग को समाप्त करने का प्रयत्न किया, वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायेगा। अत: केवलज्ञानी ने जैसा देखा है, वैसा ही कार्य होगा, इस पर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीव का कर्तव्य है। कारण कि इस तरह की श्रद्धा करने से अपने पुरुषार्थ द्वारा होनेवाले कार्य की सफलता से उसके अन्त:करण में अहंकार पैदा नहीं होगा और असफलता मिलने पर कभी दु:ख पैदा नहीं होगा। लेकिन अपनी उक्त प्रकार की श्रद्धा के आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्व के प्रभाव से उसका अनन्त संसार में परिभ्रमण होने के सिवाय और क्या हो सकता है ? इस प्रकार श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें—तो नियतक्रम से ही होती हैं और प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें अनियतक्रम से भी होती हैं। इस तरह 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही हैं, अनियतक्रम से नहीं' आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नहीं और यह है तो आप कह नहीं सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है, अत: आपके सिद्धान्त पर हमारे लिये विचार करना आवश्यक हो गया है।

सामान्यरूप से सर्वत्र क्रम शब्द का प्रयोग कालिक सम्बन्ध के आधार पर हुआ करता है। प्रकृत में भी क्रम शब्द का प्रयोग पर्यायों के कालिक सम्बन्ध को ही प्रगट करनेवाला है, अत: उसका अर्थ यहाँ पर योगपद्य का विरोधी 'एक के बाद एक' ही ग्रहण करना चाहिये।

इस कथन का निष्कर्ष यह है कि पर्यायें एक के बाद एक रूप में क्रमवर्ती ही हुआ करती हैं। वे न तो कभी एक साथ रहती हैं और न उनकी उत्पत्ति ही कभी एक साथ होती है। पर्याय शब्द का अर्थ भी परिणमन होता है, इसलिए पर्याय स्वभावत: एक के बाद एक रूप में क्रमवर्ती अथवा क्रम से उत्पन्न होनेवाली सिद्ध होती है।

प्रत्येक वस्तु में तीन रूप देखने को मिलते हैं—आकृति, प्रकृति और इन दोनों में होनेवाली विकृति अर्थात् परिणमन। इनमें से आकृति प्रदेश रचना के रूप में द्रव्यात्मक हुआ करती है, प्रकृति वस्तु के स्वत: सिद्ध स्वभाव के रूप में गुणात्मक हुआ करती है और विकृति, आकृति तथा प्रकृति इन दोनों में होनेवाले परिणमन के रूप में पर्यायात्मक हुआ करती है। यह पर्याय यदि आकृति में होनेवाले परिणमन से उत्पन्न हुई हो तो द्रव्य-पर्याय कहलाती है और यदि प्रकृति में होनेवाले परिणमन से उत्पन्न हुई हो तो गुणपर्याय कहलाती है। इन दोनों ही प्रकार की पर्यायों का विभाजन यथायोग्य काल के अखण्ड एक समय और

नाना समयों के उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त समूहभूत आवली, घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष मास, वर्ष आदि के आधार पर हुआ करता है अर्थात् किन्हीं-किन्हीं पर्यायों का विभाजन एक-एक समय के आधार पर हुआ करता है। जैसे वस्तु की सम्पूर्ण अर्थपर्यायें अथवा अगुरुलघुगुण की षड्गुण-हानिवृद्धिरूप पर्यायें आदि। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं पर्यायों का विभाजन आवली आदि नाना समयों के समूहों के आधार पर हुआ करता है। जैसे घट-निर्माण के लिये मिट्टी की कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती पिण्डपर्याय के बाद होनेवाली स्थास पर्याय तथा कम से कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती इस स्थास पर्याय के बाद होनेवाली कोश पर्याय आदि एवं जीव की मनुष्य पर्याय के बाद होनेवाली देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक आदि कोई भी पर्याय आदि।

वस्तु द्रव्यात्मकरूप से एक होनेपर भी उसमें नाना गुणों का पाया जाना सम्भव है। जैसे जीव में स्थूलरूप से ज्ञान और दर्शनरूप तथा पुद्गल में वर्ण, रस, गंध और स्पर्शरूप नाना गुणों का एक साथ सद्भाव पाया जाता है। इस तरह एक ही वस्तु में एक ही साथ नाना गुणों का सद्भाव पाया जाने के सबब, उन गुणों की अपनी-अपनी एक-एक पर्याय के रूप में यद्यपि नाना पर्यायों का भी उस वस्तु में एक साथ सद्भाव सिद्ध होता है, परन्तु एक गुण की नाना पर्यायों का एक ही साथ एक वस्तु में सद्भाव रहना असम्भव होने के कारण उनकी वृत्ति या उत्पत्ति में यौगपद्य सिद्ध न होकर क्रम ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार के क्रम की व्यवस्था वस्तु की द्रव्यपर्यायों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

वस्तु की उक्त द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों की वृत्ति या उत्पत्ति का जो यह एक के बाद एकरूप क्रम है, उसमें श्रुतज्ञान की दृष्टि से उन पर्यायों के नियतपने और अनियतपनेरूप दोनों ही प्रकार की अनुभवपूर्ण स्थिति यथासंभव जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी है अर्थात् वस्तु की बहुत सी पर्यायों में तो अमुक पर्याय के बाद अमुक पर्याय—इस प्रकार नियतक्रम ही रहा करता है। और उसकी बहुत-सी पर्यायों में एक के बाद एकरूप सिर्फ क्रम ही रहा करता है, नियतक्रम नहीं। जैसे जीव की क्रोध पर्याय के बाद क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायों में से यथा-सम्भव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसी प्रकार मानादि पर्याय के बाद भी उक्त चारों पर्यायों में से कोई भी एक पर्याय हो सकती है, नियत कोई एक पर्याय नहीं। इसी प्रकार की व्यवस्था यथासम्भव मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्यायों के बारे में भी समझना चाहिये। इन सब पर्यायों में 'एक के बाद एक' रूप क्रम तो रहता है, परन्तु

नियतक्रम नहीं रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय, केवल मनुष्य पर्याय के बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देव-पर्याय के बाद सिर्फ तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारक पर्याय से सिर्फ तिर्यंच पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्याय से केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय भी ऐसी होती है, जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्याय से केवल देव पर्याय ही सम्भव होती है, तिर्यंच पर्याय के बाद भी आगम सम्मत अपने ढंग की ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवल क्रम (अनियतक्रम) पर्यायों में यथायोग्य समझना चाहिये।

मिट्टी की पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप पर्यायों में से प्रथम तो यथासम्भव पिंड पर्याय का, इस पिंड पर्याय के बाद ही स्थास पर्याय का, इस स्थास पर्याय के बाद ही कोश पर्याय का, इस कोश पर्याय के बाद ही कुशूल पर्याय का और इस कुशूल पर्याय के बाद ही घट पर्याय का होना सम्भव है, अतः इन पर्यायों में इस तरह नियत क्रम जानना चाहिये। वैसे मिट्टी पिंड बन तो सकती है, परन्तु नहीं भी बने। इसी तरह पिंड स्थास बन तो सकता है, परन्तु नहीं भी बने; स्थास कोश बन तो सकता है, परन्तु न भी बने; कोश कुशूल बन तो सकता है, परन्तु न भी बने और कुशूल घट बन तो सकता है, परन्तु न भी बने।

वस्तु में पायी जानेवाली सभी द्रव्यपर्याय तो स्व-परप्रत्यय ही हुआ करती हैं, लेकिन गुण-पर्यायों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो स्वप्रत्यय पर्यायों का विभाग और दूसरा स्व-परप्रत्यय पर्यायों का विभाग। इसमें से वस्तु के सिर्फ अपने ही बल पर होनेवाली पर्यायें, स्व-प्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं और वस्तु के अपने बल के साथ-साथ दूसरी एक वस्तु तथा अनेक वस्तुओं का बल पाकर होनेवाली पर्यायें, स्व-पर प्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं।

इन स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों प्रकार की पर्यायों में से जितनी स्व-प्रत्यय पर्यायें वस्तु में हुआ करती हैं, वे सब नियत क्रम से ही हुआ करती हैं। ऐसी पर्यायें वस्तु में अगुरुलघुगुण के आधार पर होनेवाली षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि के रूप में जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं। अर्थात् वस्तु के अगुरुलघुगुण के अविभागी प्रतिच्छेदों में अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, अंसख्यात गुणहानि और अनन्त गुणहानि, इस तरह नियत क्रम से होनेवाली हानि की प्रक्रिया तथा इसके समाप्त होने पर अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि,

असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि—इस तरह नियतक्रम से होनेवाली वृद्धि की प्रक्रिया—ये दोनों ही प्रकार की प्रक्रियायें अमुक के बाद अमुक के रूप में वस्तु में अनादि काल से चालू हैं और अनन्त काल तक इसी तरह चालू रहनेवाली हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तु में होनेवाली सभी स्वप्रत्यय पर्यायें नियत क्रम से ही हुआ करती हैं।

वस्तु में होनेवाली स्वपरप्रत्यय पर्यायों के विषय में यथासम्भव नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों ही तरह की प्रक्रियायें यद्यपि जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं, परन्तु आप इन स्वपरप्रत्यय पर्यायों के विषय में भी स्वप्रत्यय पर्यायों की तरह नियतक्रम ही मान लेना चाहते हैं, जिससे यह विषय विवादपूर्ण बन गया है। यद्यपि इस पत्रक में मुख्यरूप से पर्यायों के नियतक्रम और अनियतक्रम पर आगम की स्थिति को प्रगट करना है, परन्तु आपने अपने द्वितीय पत्रक में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की '**एवं जो णिच्छयदो**' इत्यादि 323 वीं गाथा की जिस टीका को अपने 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं' इस पक्ष की पुष्टि में उद्धृत किया है, उस टीका में उद्धृत '**त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं**' इत्यादि पद्य प्रकृत विषय की मर्यादा के बाहर होते हुए भी, आपने उसका उपयोग अपने पक्ष की पुष्टि के लिए करने का प्रयत्न किया है जो मालूम पड़ता है कि प्रकृत प्रश्न के महत्त्व को पाठकों की दृष्टि में कम करने के उद्देश्य से ही आपने किया है, इसलिए उक्त पद्य में निर्दिष्ट विषयों में हमारी आगम अनुकूल दृष्टि क्या है? इसे सर्व प्रथम हम यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम स्वयं '**त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं**' इत्यादि पद्य में प्रतिपादित विषय को सत्य मानते हैं और उस पर आस्था रखते हैं, लेकिन इस पद्य में प्रतिपादित विषयों की अपने ढंग की ऐकान्तिक नियतता के समर्थन से वस्तु की स्वपरप्रत्यय परिणमनों में पायी जानेवाली अपने ढंग की कुत्रचित् ऐकान्तिक नियतता, और कुत्रचित् कथंचित् नियतता तथा कथंचित् अनियतता का निषेध करना बुद्धिगम्य नहीं माना जा सकता है।

बात वास्तव में यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत्, ये तीन काल; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छह द्रव्य; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये नव पदार्थ; पाँच स्थावर और एक त्रस, ये छह कायिक जीव; कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्यायें; पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र इन सबकी व्यवस्था को भगवान अरहन्त देव ने मोक्ष प्राप्ति के लिए कारणरूप से प्रतिपादित किया है, जो कि असंदिग्ध रूप से सर्वमान्य

व्यवस्था है, लेकिन इससे पर्यायों के नियतक्रम या अनियतक्रम से क्या सम्बन्ध है ? यह आप जानें। फिर भी इससे हमारे सामने नियतता और अनियतता का विशद अर्थ करने की समस्या अवश्य खड़ी हो गयी है, अतः यहाँ पर प्रसंगवश कहाँ किस ढंग की नियतता और अनियतता को स्थान प्राप्त है, इसे कुछ उदाहरणों द्वारा हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम मानते हैं कि विश्व में विद्यमान वस्तुओं के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छह प्रकार नियत हैं अर्थात् निश्चित हैं। यह भी नियत है कि इन छह प्रकारों में से जीव नाम की वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं, पुद्गल नाम की वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म आकाश ये तीनों वस्तुएँ एक एक ही हैं तथा काल नाम की वस्तुएँ असंख्यात हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल, ये सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी आकृति (प्रवेश रचना) की अपेक्षा नियत हैं अर्थात् इनकी आकृति में कभी बदलाहट नहीं होती। ऐसा ही नियतपना मुक्त जीवों का तथा स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त पुद्गल परमाणुओं की आकृति (प्रदेश रचना) में भी विद्यमान है, लेकिन संसारी जीवों और द्व्यणुकादि पुद्गल-स्कन्धों की आकृति (प्रदेश रचना) नियत नहीं है, अनियत है। जैसे एक द्व्यणुक की आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाश के दो प्रदेशों पर अवस्थान प्राप्त करता है और एक द्व्यणुक की आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाश के एक ही प्रदेश पर अवस्थान प्राप्त कर लेता है। इसी तरह की आकृति का भेद त्रयणुक आदि पुद्गल स्कन्धों में भी जान लेना चाहिये। संसारी जीवों का और स्थूल पुद्गल स्कन्धों का आकृति भेद तो स्पष्ट ही है।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल, इन सभी को अवस्थिति नियत है अर्थात् ये वस्तुयें कभी गतिमान् नहीं होतीं। लेकिन जीवों और पुद्गलों की गति और अवस्थिति दोनों ही अनियत हैं। यहाँ पर अनियतपने का स्पष्टीकरण यह है कि ये कभी सामने गति करते हैं तो कभी विपरीत गति करते हैं अर्थात् पीछे को लौटते हैं, कभी ऊपर गति करते हैं, कभी नीचे गति करते हैं, कभी तिरछी गति करते हैं, कभी तीव्र, तीव्रतर अथवा तीव्रतम गति करते हैं तो कभी मन्द, मन्दतर अथवा मन्दतम गति करते हैं—इस तरह इनकी गति में अनियतपना पाया जाता है। इतना ही नहीं, ये कभी गति करते हैं तो कभी अवस्थित भी रहते हैं। इस तरह गति का स्थिति के साथ भी जीवों और पुद्गलों में अनियतपना पाया जाता है।

जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति के विषय में इतनी विशेषता और समझना

चाहिये कि जीवों का स्वतः सिद्ध स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है, अतः उनका जब तक परपदार्थों के साथ मिश्रण रहता है, तभी तक उनमें अधोगमन, तिर्यग्गमन और उल्टा गमन आदि सम्भव है। इसी प्रकार मुक्त जीवों का लोक के अग्रभाग में अवस्थान स्वभावतः नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन करने का ही है। परन्तु गमन करने के लिये उन्हें चूँकि धर्म द्रव्य का अवलम्बन आगे प्राप्त नहीं है, अतः लोक के अग्र भाग में ही उनका अवस्थान हो जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं, कि धर्म द्रव्य जीवों और पुद्गलों को गमन करने के लिये प्रेरित करता है, क्योंकि गमन करना तो जीवों और पुद्गलों का अपने ही कारणों से होता है, फिर भी गमन करने में धर्म द्रव्य का अवलम्बन उन्हें अपेक्षणीय अवश्य रहता है। जिस प्रकार कि मछली का या रेलगाड़ी का गमन करना इनके अपने कारणों से होते हुए भी, जहाँ तक जल रहता है मछली वहीं तक गमन करती है और जहाँ तक रेल की पटरी रहती है, वहीं तक रेलगाड़ी गमन करती है। अलावा इसके किन्हीं-किन्हीं पुद्गलों की अवस्थिति नियत है और किन्हीं किन्हीं पुद्गलों की गति भी नियत है। जैसे स्वर्ग लोक के विमान, अधोलोक के नरकादि, मध्यलोक के सुमेरु पर्वत, असंख्यात द्वीप और समुद्रादि एवं सिद्धशिला आदि यथास्थान नियत (स्थिर) हैं तथा ढाई द्वीप के सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि सर्वदा गतिमान ही हैं।

गणित की व्यवस्थायें नियत हैं अर्थात् निश्चित हैं। दो और दो जोड़ कर चार ही होते हैं, कम या अधिक त्रिकाल में कभी नहीं होते। कितने वेग से गति की जावे कि एक घण्टा में अमुक स्थान से अमुक स्थान तक पहुँचा जा सकता है, यह व्यवस्था नियत होने के कारण ही रेलगाड़ी की समयसारिणी बना ली जाती है। गणित की व्यवस्थायें नियत रहने के कारण ही सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की व्यवस्थित जानकारी ज्योतिषी या गणितज्ञ लोग, लोक को दिया करते हैं।

द्व्यणुक दो अणुओं के मेल से ही बनता है, एक अणु अथवा तीन आदि अणु मिलकर कभी द्व्यणुक का रूप धारण नहीं करते। समय की मात्रा नियत (निश्चित) कर दी गयी है। उसके आधार पर आवली, घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि की मात्रा भी नियत (निश्चित परिमाण में) मान ली गयी है। समय के निश्चित परिमाण के आधार पर ही पल्य, सागर, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि कालों की मात्रा आगम में नियतरूप से बतला दी गयी है। प्रदेशों (वस्तु के सबसे छोटे अंशों) की मात्रा नियत होने से ही धर्म, अधर्म और

प्रत्येक जीव की समान असंख्यात प्रदेशात्मकता तथा आकाश की अनन्त प्रदेशात्मकता नियत है।

ऊपर, नीचे अथवा तिर्यक्—कैसा भी गमन क्यों न किया जावे, वह गमन नियतरूप से आकाश के एक प्रदेश से अव्यवहित दूसरे प्रदेश को स्पर्श करते हुए ही आगे को होता है। पुद्गल परमाणु जो एक समय में ही चौदह राजू गमन कर जाता है—भी अपने गमन के मार्ग में पड़े हुए आकाश के असंख्यात प्रदेशों को एक-एक प्रदेश के नियम से स्पर्श करता हुआ ही गमन करता है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव नियत ही रहता है अर्थात् एक द्रव्य का स्वभाव कभी अन्य द्रव्य का स्वभाव नहीं बन जाता है। ज्ञान का स्वभाव नियत होने से केवलज्ञान का स्वभाव भी स्व और पर को जानना नियत है। इस तरह वह अपनी सामर्थ्य से सतत विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रैकालिक पर्यायों सहित युगपत् जानता है तथा समय-समय के विभागपूर्वक जानता है—ऐसा भी नियत है, परन्तु वह कितने और पदार्थों को भी जानने की क्षमता रखता है, यह नियत नहीं है, क्योंकि लोक और अलोक को मिलाकर जितने सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थों को और उनकी जितनी सम्पूर्ण अनन्तानन्त पर्यायों को केवलज्ञान जानता है, उनसे भी अनन्तगुने पदार्थों और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को जानने की क्षमता केवलज्ञान अपने में रखता है। अर्थात् केवलज्ञान के अन्दर जानने की शक्ति असीम है। स्वयं पण्डित फूलचन्दजी ने भी अपनी जैनतत्त्वमीमांसा के 'केवलज्ञानस्वभावमीमांसा' प्रकरण में यही बात लिखी है, जो निम्न प्रकार है:—

लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो केवलज्ञान के विषय के बाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। लोक और अलोक के जितने पदार्थ और उनकी पर्यायें हैं, उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ और उनकी पर्यायें यदि हों तो उन्हें भी उसमें जानने की सामर्थ्य है।

योगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाश में भी बतलाया है—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि॥ 47॥

इसका अर्थ संस्कृत टीका के आधार पर यह है कि जिस तरह वेल वहीं तक चढ़ती है, जहाँ तक मंडप का सहारा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आगे चढ़ने की योग्यता यहाँ वेल में नहीं है, उसी प्रकार मुक्त जीवों का ज्ञान वहीं तक फैलता है, जहाँ तक ज्ञेय पदार्थ होते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उनके ज्ञान में आगे जानने की शक्ति नहीं है। अर्थात्

शक्ति तो केवलज्ञान की पदार्थों को जानने की असीम है, परन्तु जितने ज्ञेय पदार्थ विद्यमान हैं, केवल उनको ही इसलिए जानता है कि विद्यमान पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थों का विश्व में अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार पदार्थों को अवगाहित करना (अपने अन्दर समा लेना) आकाश का स्वभाव नियत है, अत: विश्व के समस्त पदार्थों को वह अपने में अवगाहित कर रहा है — ऐसा भी नियत है, परन्तु कितने और पदार्थों को अवगाहित करने की क्षमता आकाश में विद्यमान है, यह नियत नहीं है, क्योंकि विश्व के जितने सम्पूर्ण पदार्थ हैं, उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ यदि हों तो आकाश उन्हें भी अपने अन्दर अवगाहित कर लेने की क्षमता रखता है। नियतपने और अनियतपने की यह व्यवस्था धर्म, अधर्म और काल-द्रव्यों के अपने-अपने स्वभाव के विषय में भी जान लेना चाहिये। ऐसे ही कुम्हार को मिट्टी से घड़ा आदि वस्तुओं के निर्माण के अनुकूल व्यापार करने की योग्यता प्राप्त है, परन्तु कितने और कौन-कौन घटादि पदार्थों के निर्माण के अनुकूल व्यापार करने की योग्यता उसको प्राप्त है, यह नियत नहीं है। यही बात जुलाहा में पट-निर्माण के अनुकूल व्यापार करने की योग्यता के विषय में भी जान लेना चाहिये। अध्यापक शिष्य को पढ़ाता है, परन्तु जिस पुस्तक को अध्यापक ने शिष्य को पढ़ाया, केवल उसके पढ़ने की ही योग्यता शिष्य को प्राप्त हुई हो, सो बात नहीं है; वह उस विषय की अन्य अनेक पुस्तकें पढ़ सकता है। प्राणी में आँखों से देखने की योग्यता पायी जाती है, इसलिए जो दृश्य पदार्थ उसकी आँखों के सामने आते हैं, उन्हें वह देखता है, लेकिन इसका यह अभिप्राय लेना गलत ही है कि जिनको वह देखता है, उन्हीं के देखने की उसे योग्यता प्राप्त है, अन्य की नहीं।

हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की नियत (निश्चित) योग्यताएँ हुआ करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मिट्टी से जिस प्रकार घटादि का निर्माण हो जाता है, उस प्रकार उससे पटादि का निर्माण कभी नहीं होता। इसका भी अभिप्राय यह है कि मिट्टी में घटादि निर्माण की योग्यता नियत है और पटादि निर्माण की अयोग्यता उसमें नियत है और चूँकि कुम्हार को उसमें रहनेवाली घटादि निर्माण की योग्यता का परिज्ञान रहता है, इसलिए वह उससे घटादि निर्माण के अनुकूल व्यापार करने में प्रवृत्त होता है। परन्तु चूँकि जुलाहे को उसमें रहनेवाली पटनिर्माण की अयोग्यता का भी ज्ञान रहता है, अत: वह उससे पटनिर्माण के अनुकूल व्यापार करने में भी प्रवृत्त नहीं होता है। इस प्रकार के नियतपने के साथ-साथ

मिट्टी की पर्यायों में अनियतपना भी इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक ही प्रकार की मिट्टी से कुम्हार बिना किसी भेदभाव के आवश्यकतानुसार कभी तो घट निर्माण में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है और कभी उस एक ही प्रकार की मिट्टी से सकोरा आदि के निर्माण में भी बुद्धिपूर्वक ही प्रवृत्त होता है। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्ति के लिहाज से उतनी संख्या में मानी जा सकती हैं, जितने त्रिकाल के समय निश्चित हैं। परन्तु इससे वस्तु की पर्यायों के उत्पन्न होने की योग्यताएँ निश्चित नहीं की जा सकती हैं। हम पहले भी स्पष्ट कर आये हैं कि केवलज्ञान में पदार्थों को जानने की योग्यता उतनी ही नहीं है, जितने कि लोक में पदार्थ विद्यमान हैं, किन्तु लोक में विद्यमान पदार्थों से भी अधिक असीम पदार्थों के जानने की योग्यता केवलज्ञान में विद्यमान है। इसी प्रकार आकाश, धर्म, अधर्म और काल में भी उनकी अपनी-अपनी असीम योग्यता का सद्भाव वहीं पर बतला आये हैं। आगे भी इस विषय को स्पष्ट किया जायेगा कि कारणों के प्राप्त होने पर वस्तु की किसी योग्यतानुसार कार्य की उत्पत्ति होना अलग बात है और कार्यों की योग्यताओं का वस्तु में सद्भाव रहना अलग बात है।

कोई भी कार्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की सीमा में ही होता है; परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव में नहीं होता है, यह सब नियत है। अर्थात् कार्य की जो वस्तु उपादान है; कार्य उसी उपादानभूत वस्तु में होता है, उपादानभूत वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु में वह कार्य कदापि नहीं होता है। जैसे घट की उत्पत्ति मिट्टी में ही होती है। कार्य उतने ही छोटे-बड़े परिमाण का होगा, जितना छोटा-बड़ा परिमाण उस कार्य की उपादानभूत वस्तु का होगा। यह कभी नहीं होगा कि उपादानभूत वस्तु के परिमाण से छोटे परिमाण का अथवा बड़े परिमाण का कभी कार्य उत्पन्न हो जावे। जैसे घटनिर्माण के लिये मिट्टी का जितना परिमाण होगा, घट भी उतने ही परिमाण का बनेगा। वस्तु की जिस पर्याय के अनन्तर ही जिस पर्याय का होना सम्भव हो, वह पर्याय उस पर्याय के अनन्तर ही होगी; किसी अन्य पर्याय के अनन्तर वह पर्याय नहीं होती है। जैसे स्थूलरूप से मिट्टी की कुशूल पर्याय के बाद ही घट का निर्माण सम्भव है। पिण्ड, स्थास अथवा कोश पर्याय के बाद कुशूल पर्याय के हुए बिना घट पर्याय का होना सम्भव नहीं है और यदि सूक्ष्मरूप से कहा जाये तो एक क्षणवर्ती निष्पन्न घट पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के अनन्तर ही घट का निर्माण

सम्भव है; व्यवस्थित द्वितीयादि पूर्वक्षणवर्ती किसी भी पर्याय के अनन्तर एक क्षणवर्ती उस घट पर्याय का निर्माण सम्भव नहीं है, असम्भव ही है। यहाँ पर 'वस्तु की जिस पर्याय के अनन्तर जिस पर्याय का होना सम्भव हो' इस वाक्य में 'सम्भव हो' के स्थान में 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि कार्य के अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्याय के अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी—यह नियम नहीं बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्याय के अनन्तर उपादानगत योग्यता के आधार पर भिन्न-भिन्न निमित्तों का योग मिलने पर विविध प्रकार की पर्यायों में से कोई एक पर्याय का होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्याय का होना ही सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वस्तु में जिस जाति की योग्यता होगी, कार्य भी उसी जाति का होगा। यह कभी नहीं होगा कि वस्तु में योग्यता तो किसी जाति की हो और कार्य किसी जाति का हो जावे। जैसे मिट्टी से घड़ा, सकोरा आदि का निर्माण तो हो सकता है, क्योंकि उस जाति की योग्यता मिट्टी में विद्यमान रहती है, परन्तु पट का निर्माण मिट्टी से नहीं हो सकता है, क्योंकि पट निर्माण की योग्यता मिट्टी में नहीं पायी जाती है।

यदि कार्य के स्वदेश और स्वकाल का अभिप्राय जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321 और गाथा 322 में प्रगट किया गया है, वैसा गृहीत किया जावे, तो वह भी इस प्रकार से सही होगा कि केवलज्ञान में सभी कार्य प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं, लेकिन केवलज्ञान में यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान की तरह ही कार्य झलकना चाहिये—यह अभिप्राय उन गाथाओं का नहीं है। कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियों का ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्व में बतलाया जा चुका है, अतः स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 323 द्वारा श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान के विषय के प्रति मात्र श्रद्धा करने का उपदेश देते हुए, ऐसे श्रद्धावान् व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया गया है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के अन्तर को स्वामी समन्तभद्र ने आप्त मीमांसा में भी बतलाया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ 105॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुत) तथा केवलज्ञान ये दोनों ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक हैं, इनमें से स्याद्वाद तो असाक्षातकार अर्थात् परोक्षरूप से वस्तुतत्त्व का प्रकाशक है और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से वस्तुतत्त्व का प्रकाशक है।

इसी प्रकार आप्तमीमांसा में ही जहाँ केवलज्ञान में सर्वसतत्त्व प्रकाशन का योगपद्य स्वीकार किया गया है, वहाँ श्रुतज्ञान में तत्त्वप्रकाशन की क्रमिकता बतलायी गयी है। वह कथन भी निम्न प्रकार है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥ 101॥

अर्थ—(हे जिनदेव) आपका युगपत् सर्व पदार्थों का प्रतिभासन स्वरूप तत्त्वज्ञान प्रमाणभूत है तथा जितना क्रमभावि तत्त्वज्ञान है, वह भी इसलिए प्रमाणभूत है कि वह स्याद्वाद तथा नयों से संस्कृत (परिष्कृत) हो रहा है।

इस कारिका से जहाँ केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में योगपद्य तथा क्रम का भेद प्रगट किया गया है, वहाँ यह बात भी बतला दी गयी है कि यदि प्रमाणता की दृष्टि से विचार किया जाये तो दोनों ही प्रमाणभूत ही हैं। इससे यह तत्त्व फलित हो जाता है कि कार्य-कारणभाव के आधार पर पर्यायों का श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात नियत क्रमवर्तित्व और अनियत-क्रमवर्तित्व प्रमाणित ही है।

फिर एक बात और है। धवल पुस्तक 13 में निम्नलिखित सूत्र पाया जाता है—

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं वंधं मोक्खं इड्ढिं, ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति॥825 (पृष्ठ 346)

अर्थ—जिनके ज्ञान और दर्शन स्वयं उत्पन्न हो गये हैं, ऐसे भगवान देवलोक और असुर-लोक के साथ मनुष्य लोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अर्हकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं।

इसमें अनुभाग का व्याख्यान करते हुए टीका में लिखा है—

अण्णेसिं दव्वाणं कमाकमेहि परिणमणहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो। (पृष्ठ 249)

अर्थ—अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना, कालद्रव्यानुभाग है।

इस उदाहरण से मालूम पड़ता है कि केवली का ज्ञान उपर्युक्त सब बातों के साथ-साथ द्रव्यों के क्रम और अक्रम से होनेवाले परिणमनों को भी जानता है।

तात्पर्य यह है कि नियतक्रमता और अनियतक्रमता, ये दोनों वस्तु-परिणमन के ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणों से ही उनमें सम्पन्न होते हैं और चूँकि पदार्थ की जैसी स्थिति हो; वैसी ही केवलज्ञानी के ज्ञान में झलकती है, अत: वस्तुपरिणमन में पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमतारूप दोनों धर्म केवलज्ञान के भी विषय होते हैं। वस्तु परिणमन में केवलज्ञान अथवा श्रुतज्ञान के विषय होने से नियतक्रमता या अनियतक्रमता आती हो—ऐसी बात नहीं है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणों से ही वस्तु परिणमनों में नियतक्रमता और अनियतक्रमता आती है। यह बात पूर्व में ही बतला चुके हैं कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवलज्ञान द्वारा ज्ञात होने के कारण नहीं हुआ करती है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणों से ही उसकी उत्पत्ति हुआ करती है और यह व्यवस्था श्री पण्डित फूलचन्दजी को भी स्वीकार है—यह बात भी वहीं पर बतला आये हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञानी, केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा से तो यही मानता है, यानी श्रद्धा और विश्वास करता है कि जिस देश में और जिस काल में जिस विधि-विधान से (यथायोग्य स्वरूपकारण से अथवा स्व और पर उभयरूप कारणों से) केवली भगवान ने जैसा जाना है, वैसा नियम से होता है और वही श्रुतज्ञानी यह भी आवश्यक समझता है कि कार्य के कार्य-कारणभाव को जाने बिना तथा तदनुकूल पुरुषार्थ किये बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी—इस तरह श्रुतज्ञानी की मान्यता श्रद्धा और अपने कर्तव्य पर समानरूप से आधारित होनी चाहिये। विवक्षावशात् दोनों में से एक को मुख्य और दूसरे को गौण कर देना दूसरी बात है। जैसे हम पहले बतला चुके हैं कि कार्य में सफलता की दृष्टि से वह अहंकारी न बन जावे अथवा असफलता की दृष्टि से दु:खी न हो जावे—इसके लिए तो वह ऐसा ही समझता है कि मेरा कर्तव्य तो पुरुषार्थ करने का था या है सो किया या करूँगा, परन्तु केवलज्ञानी भगवान ने जैसा देखा, वैसा ही हुआ या होगा। इसमें मेरा कुछ कर्तव्य निहित नहीं है, अथवा इसके लिए मेरा कुछ वश नहीं है। इसी प्रकार पदार्थ में जैसी भवितव्यता अर्थात् आगे होने योग्य कार्यों की सम्भावनापूर्ण स्थिति (होनहार) विद्यमान होगी, वैसा ही कार्य उस पदार्थ में हो सकता है। कोई भी प्राणी उक्त प्रकार की भवितव्यता को लांघकर यानी भवितव्यता के अलावा कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है या यों कहिये कि प्राणी पदार्थ में नवीन भवितव्यता

नहीं पैदा कर सकता है। जैसे मिट्टी में घटादि के उत्पन्न होने की भवितव्यता पायी जाती है, इसलिए जिस प्रकार मिट्टी में घटादि की उत्पत्ति सम्भव है, उस प्रकार पटादि के उत्पन्न होने की भवितव्यता मिट्टी में नहीं पायी जाने के सबब, कितने ही प्रयत्न क्यों न किये जावें — कदापि पटादि की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्रुतज्ञानी जीव श्रद्धा को प्रधान और कार्यानुकूल पुरुषार्थ को गौण बना लेता है तथा इसके साथ ही कार्य को उत्पन्न करने की दृष्टि से, वह जब अपने कर्तव्य मार्ग की ओर उन्मुख होता है तो उस समय उसकी दृष्टि में श्रद्धापक्ष की गौणता व कर्तव्य पक्ष की प्रधानता स्वाभाविकरूप से हो जाती है। यह तो ठीक है और इस तरह प्रवृत्ति करनेवाला श्रुतज्ञानी जीव सम्यग्दृष्टि है। लेकिन ऐसा न करके यदि कोई व्यक्ति उक्त प्रकार के नियतिवाद को ही कार्योत्पत्ति के लिए आधार बना कर पुरुषार्थहीन बन जाये तो उसका कार्य कभी सम्पन्न नहीं होगा। आप फिर भले ही कहते जावें कि ऐसा ही भगवान् ने देखा था या ऐसी ही भवितव्यता थी, परन्तु कब तक ऐसा मानकर बैठा जा सकता है। कार्य निष्पन्न करना होगा तो पुरुषार्थ करना ही होगा। मुक्ति पानी होगी तो नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करने के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि इसके लिए पुरुषार्थ न करके सिर्फ ऐसी मान्यता से ही वह प्राप्त हो जायेगी कि सर्वज्ञ के ज्ञान में जब मुक्ति झलकी होगी, तब वह हो ही जायेगी या जब हमारी भवितव्यता में वह होगी, तब वह हो ही जायेगी, हमें उसके लिए पुरुषार्थ करने की जरूरत नहीं है अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करना जरूरी नहीं है और यदि जरूरी है भी, तो जब हमारा मुक्ति पाना सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका होगा, तब अपने आप हम नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारी बन जावेंगे या भवितव्यता ही यह सब कुछ हमसे करा लेगी। ऐसी या इसी प्रकार की सब बातें नियतिवादरूप मिथ्यात्व के ही रूप में हैं।

इस प्रकार कार्यसिद्धि के लिए कार्यकारणभाव को समझिये, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तों को भी जुटाईये, लेकिन इसमें अहंकारी मत बनिये, अधीरता मत दिखाइये, असफलता से दुःखी मत हूजिये, विवेकी गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ़ श्रद्धा के साथ कर्तव्य पथ पर डट जाईये, डट जावें, तो फिर डटे रहिये, उस कर्तव्य पथ से च्युत नहीं हूजिये — यह सम्यक्त्व का चिह्न है, इसी में आस्तिक्यभाव (श्रद्धा का भाव) झलकता है, इसी में अनेकान्तवाद का प्रकाशपुंज आपको दिखेगा और निर्वेदभाव, अनासक्तिभाव की छाया इसी में प्राप्त होगी। निम्नलिखित पद्यों से हमें यही उपदेश प्राप्त होता है—

अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥ 133॥ —*स्वयंभूस्तोत्र*

इस पद्य का आशय हम पूर्व में प्रगट कर चुके हैं।

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

—*पंडितप्रवर भैया भगवतीदासजी*

आप देखेंगे कि प्रथम पद्य के प्रथम चरण और द्वितीय चरण में श्रद्धा और कर्तव्य का कितना सुन्दर समन्वय किया गया है और तीसरे चरण में एकान्त पक्ष को माननेवाले निमित्तवादियों को कहा गया है कि अनेकान्त तत्त्व को पहिचानो और निरहंकारी बनो। दूसरे पद्य में अपनी कार्यसिद्धि में अधीरता प्रगट करनेवालों को कहा गया है कि होगा वही जो वीतराग महाप्रभु के ज्ञान में झलका है, फिर इतनी अधीरता क्यों दिखलाते हो? इसमें भी पुरुषार्थ व निमित्तों को जुटाने का निषेध नहीं किया गया है, इसी पद्य के आगे के पद्यों को भी पढ़ा जावे तो आप देखेंगे कि उनमें फिर पुरुषार्थ करने की भी प्रेरणा की गयी है। वे पद्य निम्न प्रकार है—

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे। (तीसरे पद्य का उत्तरार्ध)

निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को जो टारै भव पीरा रे। (चौथे पद्य का पूर्वार्द्ध)

आप देखेंगे कि इसमें उन्होंने अपने पौरुष को सम्हालने व प्रभु का ध्यान करने के लिये प्राणियों को प्रेरणा दी है, जो नियतिवाद के सर्वथा विरुद्ध है। पूर्व में बतलाया जा चुका है तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 323 में '**णिच्छयदो**' पद डालकर आचार्य महाराज ने हमें इस बात का उपदेश दे दिया है कि श्रद्धा की लगाम लगाकर कर्तव्यरूपी घोड़े पर सवार हो जाईये, आपका कार्य सफल होगा। वह गाथा निम्न प्रकार है:—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥ 323॥

अर्थ—इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) से जो जीव समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों के विषय में आस्था रखता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि उक्त प्रकार से श्रद्धा और कर्तव्य का समन्वय न किया जाये तो जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 321 और 322 वीं गाथाओं में वर्णन किया और जिसके स्वीकार करने पर उक्त गाथा 323 में प्राणी को शुद्ध सम्यग्दृष्टि बतलाया है, उसी प्रकार का वर्णन तो पंचसंग्रह आदि आगम ग्रन्थों में भी किया है, जिसे स्वीकार करने पर वहाँ पर प्राणी को मिथ्यादृष्टि बतला दिया गया है। इन दोनों कथनों की संगति किस प्रकार हो सकेगी? पंचसंग्रह का वह कथन निम्न प्रकार है, जिसको वहाँ पर नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्व बतलाया है।

यद् भवति तद् भवति, यथा भवति तथा भवति, येन भवति तेन भवति, यदा भवति तदा भवति, यस्य भवति तस्य भवति इति नियतिवादः।

— प्रा० पं० सं० पृष्ठ 547, ज्ञानपीठ से प्रकाशित

अर्थ—जो होना हो, वह होता है; जैसे होना है, वैसे होता है; जिसके द्वारा होना है, उसके द्वारा होता है; जब होना है, तब होता है; जिसके होना है, उसके होता है — यह नियतिवाद है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्व का कथन निम्न प्रकार किया है:—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णितदिवादो दु॥ 883॥

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होना है, वह उस समय उससे वैसे उसके होता है—ऐसा मानना नियतिवाद है।

श्री अमितगति आचार्य के पंचसंग्रह में प्रथम अध्याय, पृष्ठ 112 में भी देखिये—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं परो न शक्तः किमपीह कर्तुम्॥ 312॥

अर्थ—जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है, तब तैसे वहाँ उस हेतु से उसके द्वारा वह होता है, यह सब नियति के नियन्त्रण में होता है, दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता है।

अब आप देखेंगे कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321 और गाथा 322 पद्मपुराण

के '**यत्प्राप्तव्यं यदा येन**' इत्यादि पद्य और स्वयंभूस्तोत्र के '**अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं**' इत्यादि पद्य के कथनों में और प्राकृत पंचसंग्रह, गोमट्टसार तथा अमितगति आचार्यकृत पंचसंग्रह के उक्त कथनों में, कुछ अन्तर नहीं है, फिर भी स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि के उन कथनों पर आस्था रखने से प्राणी सम्यग्दृष्टि माना जाता है और उसी प्रकार के पंच-संग्रह आदि के कथनों को स्वीकार करनेवाला, नियतिवादी मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसका आशय केवल इतना ही है कि यदि द्वादशांग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धति को अपनाते हुए कर्तव्य परायण बनकर उक्त कथनों पर श्रद्धा रखी जावे, तब तो प्राणी सम्यग्दृष्टि बनता है और यदि द्वादशांग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धति की सर्वथा उपेक्षा करके या उसे आरोपित, मिथ्या, कल्पित, अकिंचित्कर आदि के रूप में मानकर कर्तव्य से शून्य होता हुआ नियति के ही आश्रित प्राणी हो जाता है तो उस हालत में वह एकान्तनियतिवादी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से हमने आगमानुसार यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दिव्यध्वनि से लेकर गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुत में तथा उनके पश्चात् अन्य महर्षि-आचार्यों द्वारा रचित द्रव्य श्रुत में श्रुत-ज्ञानियों के लिये ही वस्तुतत्त्व व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है तथा उस व्यवस्था में श्रद्धा और कर्तव्य पथ का समावेश कर दिया गया है। कारण कि इन दोनों का समावेश किये बिना प्राणी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानियों के लिये वस्तुतत्त्व व्यवस्था की कोई उपयोगिता नहीं है। कारण कि केवलज्ञानी जीव तो समस्त वस्तु तत्त्व के स्वतः पूर्ण ज्ञाता है, अतः वे वस्तुतत्त्व के व्यवस्थापक तो हैं, किन्तु वस्तुतत्त्व व्यवस्था उनके लिये नहीं है। उनके ज्ञान में निश्चयनय और व्यवहारनय का भी भेद नहीं है। उनका सम्पूर्ण ज्ञान निरंशरूप से प्रमाणरूप है, जबकि श्रुतज्ञानियों का श्रुतज्ञान अंशीरूप से ही प्रमाणरूप हो सकता है। इसलिए केवलज्ञानियों का जो केवलज्ञान निरंशरूप से प्रमाणरूप है, उसमें निश्चयनय और व्यवहारनय का भेद कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता हैं। इस प्रकार केवलज्ञानी जीव वस्तु तत्त्व के सिर्फ ज्ञाता-दृष्टा ही बने हुए हैं। दूसरी बात हम यह भी बतला आये हैं कि वे कृतकृत्य भी हो चुके हैं—इत्यादि बातों से आप समझ सकते हैं कि केवलज्ञानी जीवों के लिये वस्तु तत्त्व व्यवस्था की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है, अतः सिर्फ श्रुतज्ञानी जीवों के लिये ही वस्तु तत्त्व व्यवस्था की उपयोगिता है।

वस्तुतत्त्व व्यवस्था के श्रुतज्ञानी जीवों के लिये दो रूप ही हो सकते हैं—एक तो केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा श्रद्धा का रूप और दूसरा श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्य का रूप। और तत्त्व व्यवस्था के दोनों ही रूप प्रमाणभूत हैं, अतः श्रुतज्ञानी जीवों को दोनों ही रूप प्रमाणरूप से स्वीकार करने योग्य हैं अर्थात् श्रुतज्ञानी जीव यदि केवलज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि चूँकि प्रत्येक वस्तु की एक-एक समय में एक-एक पर्याय ही उत्पन्न हो सकती है; इसलिए काल के जितने त्रैकालिक समय हैं, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायों की उत्पत्ति होना सम्भव है और चूँकि केवलज्ञानी जीव समस्त वस्तुओं की उनकी अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायों का सतत ज्ञान कर कर रहे हैं। अर्थात् भूत में कब किस वस्तु की कौन-सी पर्याय हुई, यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है; वर्तमान समय में किस वस्तु की कौन-सी पर्याय हो रही है, यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है और भविष्यत् में कब किस वस्तु की कौन-सी पर्याय होगी, यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है, इसलिए यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायों में से एक-एक पर्याय केवलज्ञान गम्य नियतक्रम से ही उत्पन्न होती है और वे ही श्रुतज्ञानी जीव यदि अपने श्रुतज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो यह उनके अनुभव, तर्क तथा आगम से भी प्रसिद्ध बात होगी कि मिट्टी से ही घट, सकोरा आदि बनते हैं; सूत से नहीं, मिट्टी से घट, सकोरा आदि ही बनते हैं, वस्त्रादि की उत्पत्ति मिट्टी से कदापि नहीं होती है, कुम्हार के पुरुषार्थ का मिट्टी को अनुकूल सहयोग मिलने पर ही इससे घट का निर्माण होता है, अन्यथा नहीं और कुम्हार भी दण्ड, चक्र, वस्त्र, जल आदि की सहायतापूर्वक ही अपने पुरुषार्थ का उपयोग मिट्टी से घट निर्माण में करता है—इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक स्वपरप्रत्यय पर्याय की उत्पत्ति में उपादानोपादेयभाव से साथ-साथ निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव की प्रक्रिया सतत विद्यमान रहती है। इसी प्रकार अगुरुलघुगुण के अविभागी प्रतिच्छेदों में षड्गुण हानि-वृद्धिरूप से होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायों (परिणमनों) की उत्पत्ति में भी केवल उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव की प्रक्रिया आगम में प्रतिपादित की गयी है, इसलिए यह भी निश्चित है कि प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने प्रतिनियत कारणों के आधार पर यथायोग्य नियतक्रम अथवा अनियतक्रम से ही उत्पन्न होती है।

एक बात और है कि श्रुतज्ञानी के सामने करने के लिये उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, ऐहिक-पारलौकिक, जीवन-सम्बन्धी—मुक्ति-सम्बन्धी, वैयक्तिक, कौटुम्बिक,

सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आदि आदि असंख्य प्रकार के कार्यों का अम्बार लगा रहता है। उनकी सम्पन्नता उस उस कार्य के अनुकूल सामग्री के जुटने पर अथवा जुटाने पर ही होती है और उस उस कार्य के अनुकूल सामग्री जुटाने के लिये हमें यथायोग्य अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा श्रमशक्ति का उपयोग भी करना होता है तथा करते भी हैं। यह बात हम पहले कह चुके हैं कि हम नियति के नियन्त्रण में बँधकर यन्त्रवत् यह सब कुछ नहीं कर रहे हैं, अन्यथा हमें अपने अनुभव को अप्रमाण मानना होगा, तर्क भी अप्रमाण मानना होगा और इसी तरह कार्यकारणभाव व्यवस्था के प्रतिपादक आगम को भी अप्रमाण मानना होगा। धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा आदि की आगम सम्मत सम्पूर्ण व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी, केवल नियति का विश्व में एक छत्र साम्राज्य प्रस्थापित हो जायेगा, जिसे आगम ग्रन्थों में मिथ्यात्व कहा गया है। जैनी दृष्टि यह नहीं है। जैनी दृष्टि तो श्रद्धा और कर्तव्य, दोनों के समन्वय करने से ही सम्पन्न होती है, जिस पर आपका ध्यान जाना चाहिये।

चूँकि आगम में कार्यकारणव्यवस्था का प्रभावशाली वर्णन पाया जाता है, अतः आपने कार्यकारण व्यवस्था को स्वीकार तो किया है। परन्तु आपने उसे इस रूप में रखने का प्रयत्न किया है कि जिससे आपको मान्य 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस सिद्धान्त को न केवल आंच न आने पावे, बल्कि इसका आपके द्वारा मानी हुई कार्यकारण व्यवस्था से पोषण हो सके, साथ ही आगम में महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त निमित्त कारण को आप अकिंचित्कर भी बना सकें। आपने अपने इस मत का समर्थन करने के लिए कार्यकारणभाव पर प्रभाव डालनेवाली स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्नलिखित गाथा को उद्धृत किया है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा॥ 230॥ (222)

इसका अर्थ आपने यह किया है कि अनन्तर पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से (उपादान कारणरूप से) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य, नियम से कार्यरूप होता है।

हम उक्त गाथा का यों अर्थ करते हैं—'द्रव्य अपने पूर्व परिणाम की अवस्था में कारणरूप से रहता है और जब वह उत्तर परिणाम से युक्त होता है, तब वह नियम से कार्यरूप हो जाता है।'

हमारे द्वारा कृत और आपके द्वारा कृत उक्त दोनों अर्थों के अभिप्रायों में अन्तर यह है कि जहाँ आप पूर्व पर्याय से सिर्फ वस्तु की कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को ही कारणरूप से स्वीकार करते हैं, वहाँ हम सूक्ष्म पर्यायों की दृष्टि से वस्तु की कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को तो कारणरूप से स्वीकार करते ही हैं, लेकिन इसके साथ ही स्थूल पर्यायों की दृष्टि से मिट्टी घटादि संभव पर्यायों में से किसी भी पर्याय से अव्यवहित पूर्वकाल में स्थित कुशूल पर्याय को भी हम कारणरूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि जिस प्रकार आगम में क्षणिक पर्यायों के आधार पर कार्यकारणभाव प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार स्थूल पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि पर्यायों के आधार पर भी उत्तरोत्तर कार्यकारणभाव को स्वीकार किया गया है। फिर भी हम मानते हैं कि प्रकृत में हमारे आपके मध्य पाये जानेवाले उक्त अन्तर से कोई समस्या खड़ी नहीं होती है, अत: हम आपके लिये मान्य विवक्षित क्षणिक पर्यायों में पाये जानेवाले कार्यकारणभाव के आधार पर ही आगे का विवेचन प्रारम्भ कर रहे हैं।

क्षणिक पर्यायों के आधार पर उल्लिखित गाथा में उपादान कारण और कार्य की व्यवस्था इस तरह बतलायी गयी है कि वस्तु की उत्तर क्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कारण कहलाती है और उस पूर्व पर्याय से अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कार्य कहलाती है। हमारे और आपके मध्य इस तरह की कार्यकारणभावव्यवस्था की स्वीकृति में कोई विवाद नहीं है और इस विषय में भी हमारे आपके मध्य कोई विवाद नहीं है कि वस्तु की पूर्वक्षणिकपर्याय के बाद, उत्तर क्षणिक पर्याय अवश्य होगी तथा वह एक ही होगी, कारण कि पर्यायों की क्रमिक एक धारा में एक साथ दो आदि पर्यायें कदापि नहीं होंगी, परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूप में होगी ? इसकी नियामक आगम के अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चने को खप्पर में डालकर अग्नि के जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोई में उबलते हुए पानी में डालकर उसी चने को उसी अग्नि के द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। आपकी मान्यता तो इस विषय में मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्याय के बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यता में पूर्व पर्याय के बाद एक नियत उत्तर पर्याय के होने का नियामक कौन होगा ? यदि कहा जाये कि गाथा में जो '**णियमा**' पद पड़ा हुआ है, उससे ही यह सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्याय की

नियामक हो जाती है, क्योंकि वह '**णियमा**' पद उस पूर्व पर्याय के अनन्तर दो आदि पर्यायों में से एक पर्याय होगी—इसका विरोधक ही है, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि गाथा में पठित '**णियमा**' पद किसी एक निश्चित पर्याय की सूचना देने के लिए नहीं है, उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियम से कार्य कहलाती है, फिर भले ही वह उत्तर पर्याय किसी रूप में क्यों न हो। इस तरह पूर्व पर्याय के बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी, वह नियम से उस पूर्व पर्याय का कार्य होगी। हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि इसी गाथा नम्बर 222 की आचार्य शुभचन्द्र कृत टीका से भी होती है। वह टीका निम्न प्रकार है:—

द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादान-कारणत्वेन वर्तते तदेव द्रव्यं जीयादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्तं उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव। यथा आतान-वितानात्मकास्तन्तवः अप्रतिबद्धसामर्थ्याः कारणन्तरा-वैकल्याश्च अन्त्यक्षणं प्राप्ताः पटस्य कारणं, उत्तरक्षणे तु कार्यम्।

अर्थ—जीव आदि, द्रव्य अपनी पूर्व पर्यायसहित उपादान कारणरूप होता है और अपनी पूर्व पर्यायसहित वही जीव आदि द्रव्य यदि मणि, मन्त्र आदि कार्य की प्रतिरोधक सामग्री से अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला हो तथा कारणान्तरों (अन्य अनुकूल कारणों) की विकलता (अपूर्णता) से भी रहित हो तो उत्तर क्षण में विवक्षित उत्तरपर्यायरूप कार्य का निष्पादन करता ही है। जिस प्रकार आतान और वितान (ताने और बाने) की अवस्था को प्राप्त तन्तु समूह यदि प्रतिरोधक कारण सामग्री के द्वारा होनेवाले अपनी पटोत्पादनरूप सामर्थ्य के प्रतिरोध से रहित तथा कारणान्तरों (जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि) की विकलता से रहित होता हुआ अन्तिम क्षण (कार्याव्यवहित पूर्व क्षण) को प्राप्त है तो वह तन्तु समूह पटरूप कार्य के प्रति कारण होता है और उसके उत्तर क्षण में वही तन्तु समूह पटरूप कार्य होता है।

इस टीका में आचार्य शुभचन्द्र ने उपादान कारण के साथ-साथ अन्य समस्त अनुकूल कारणभूत बाह्य सामग्री की अपूर्णता के अभाव को अर्थात् उक्त बाह्य सामग्री की पूर्णता को भी विवक्षित कार्य के प्रति आवश्यक कारण बतलाया है। इसी उद्देश्य से ही उन्होंने उक्त टीका में '**कारणान्तरावैकल्य**' शब्द का पाठ किया है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में उपादान कारणभूत वस्तु के

विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्य के अनुकूल अन्य कारणों की अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादान से विवक्षित कार्य की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी, फिर तो जिस कार्य के अनुकूल अन्य कारणों की पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी, उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा। यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञान में झलका होगा। तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानी को क्या मालूम, कि केवलज्ञानी के ज्ञान में क्या झलका है ? इसलिए जो कुछ होता है उसकी दृष्टि में कार्यकारणभाव के आधार पर ही होता है, कार्योत्पत्ति के विषय में इससे अधिक वह सोच ही तो नहीं सकता है। इस विषय को विस्तारपूर्वक पूर्व में लिखा जा चुका है, अतः और विस्तार से लिखना हम अनावश्यक समझते हैं।

इस सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय यह है कि अन्त्यक्षण अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को प्राप्त उपादानकारणभूत द्रव्य से उत्तर क्षण में वही पर्याय उत्पन्न होती है, जिस पर्याय के अनुकूल अन्य बाह्य कारण सामग्री अपनी पूर्णता के साथ वहाँ प्राप्त रहती है। जैसे मान लो, जीव की उत्तरक्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय क्रोधरूप हो रही है तो यह क्रोधरूप पर्याय जीव की पर्याय ही तो है और उत्तर क्षण में जो भी उस जीव की पर्याय होनेवाली है, वह भी जीव की ही पर्याय होगी, इसलिए यह बात तो ठीक है कि पूर्व की क्रोधरूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्याय का उपादान कारण है, परन्तु श्रुतज्ञानी की दृष्टि में यह नियम नहीं बन सकता है कि उत्तर क्षण में उस पूर्व की क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव के क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायों में से अमुक पर्याय ही होना चाहिये अर्थात् चूँकि वस्तु परिणमन स्वभाववाली होती है, अतः क्रोधरूप पूर्व पर्याय-विशिष्ट उस जीव का उत्तर क्षण में परिणमन तो अवश्यंभावी है, परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनों में से कौन-सा परिणमन होगा, यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्री पर ही निर्भर है। यानि जीव की पूर्व पर्याय में जो क्रोधरूपता है, वह क्रोधरूपता जीव के अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूप के नहीं है, अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूप से तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योंकि जीव का उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है; क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिए मानना पड़ता है कि जीव की अपनी पर्याय में जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है, वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि कर्मों के उदय के

निमित्त से ही पायी जाती है। इस तरह पूर्व पर्याय में जो क्रोधरूपता विद्यमान है, वह इसलिए है कि उस समय उस जीव के पौद्गलिक क्रोध कर्म का उदय हो रहा है और इस स्थिति में ही जब उसी जीव के आगे अव्यवहित उत्तर क्षण की पर्याय के विषय में विचार करना है कि कौन-सी पर्याय उस समय होना चाहिये ? तो इस विषय में यह तो निश्चित है कि जीव के परिणमनशील होने के कारण उसकी कोई-न-कोई पर्याय अवश्य होगी, परन्तु यह भी निश्चित ही समझना चाहिये कि यदि उत्तर क्षण में पौद्गलिक क्रोध कर्म का उदय होगा तो क्रोधरूप पर्याय होगी और यदि उस उत्तर क्षण में पौद्गलिक मान, माया और लोभ में से किसी एक कर्म का उदय होगा तो क्रोध पर्याय विशिष्ट पूर्व क्षण से अव्यवहित उस उत्तर क्षण में उन मानादिक पौद्गलिक कर्मों में से किसी एक कर्म के उदयानुसार मानादि पर्यायों में से कोई भी एक नियत पर्याय होगी।

इस तरह उपादानकारणरूप निश्चय की दृष्टि से विचार किया जाये तो वह क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव उत्तर क्षण में क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायों में से जो भी पर्याय अपने अनुकूल अन्य कारणों की सहायता से होगी, उसका उपादान कारण होगा। कारण कि परिणमन कैसा ही क्यों न हो, आखिर होता तो जीव का ही है, परन्तु उस पर्याय में (परिणमन में) उक्त क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों रूपों में से कौन-सा रूप आता है ? वह जीव के अपने स्वत:सिद्ध स्वभावरूप से न होकर पौद्गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कषायरूप कर्मों में से, जिसका उस समय उदय होगा उसकी नियामकता के आधार पर होगा, अत: निमित्तकारणरूप व्यवहार की दृष्टि से विचार किया जाये तो उन पौद्गलिक क्रोधादि कषायरूप कर्मों में से कोई एक कर्म का उदय यथायोग्यरूप से उसका निमित्तकारण होगा। इस विवेचन से यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस मान्यता के आधार पर आप जो निमित्तों को अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं, वह असंगत है और इसीलिये ही आचार्य अकलंकदेव को अपनी अष्टशती में निमित्तकारणों को अकिंचित्कर मानने का खण्डन करना पड़ा है। उनका वह कथन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

— अष्टसहस्री, पृष्ठ 105

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादान की असामर्थ्य का खण्डन न करता हुआ, सहकारी कारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहे तो उसे सहकारी कारण कैसे कहा जा सकता है ?

इस तरह इस कथन से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि जीव की उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती कारणरूप पर्याय क्रोधरूप है और उसके उत्तर क्षण में पौद्गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों में से किसी भी कर्म का उदय सम्भव है, जिसके कारण जीव की वह पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के उदयानुसार क्रोध, मान, माया अथवा लोभरूप हो सकती है तो इसका फलितार्थ यह हो जाता है कि उस कारणरूप पूर्वक्षणवर्ती क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव में उक्त चारों प्रकार की उपादान शक्तियों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इस प्रकार यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि उत्तर क्षण में उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव की क्रोधादि चारों में से वही पर्याय उत्पन्न होगी, जिसके अनुकूल पौद्गलिक क्रोधादिक के उदयरूप निमित्त सामग्री प्राप्त होगी। इसलिए कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के अवसर पर भी विविध प्रकार की नाना उपादान शक्तियों का सद्भाव मानना असंगत नहीं है। ऐसी स्थिति में आपकी यह मान्यता कि 'उपादान के कार्याव्यवहित पूर्णक्षण में पहुँच जाने पर नियम से विवक्षित कार्य की ही उत्पत्ति होती है' खण्डित हो जाती है। कारण कि पूर्वोक्त क्रोधविशिष्ट जीव का उदाहरण हमें इस बात का स्पष्ट संकेत दे रहा है कि उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव की पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभ में से क्रोधादि कर्मों के उदयानुसार कोई भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि उत्तरक्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के अनन्तर एक ही पर्याय होगी, दो आदि अनेक पर्यायें नहीं होंगी—यह सिद्धान्त तो ठीक है, परन्तु वह एक पर्याय अमुकरूप ही होगी इसकी नियामक पूर्वोक्त रीत्या वह पूर्व पर्याय नहीं हो सकती है, किन्त उसकी नियामक वहाँ पर उपस्थित अन्य अनुकूल बाह्य कारण (निमित्त कारण) सामग्री ही होती है, इसलिए उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तु में उस समय उत्तर पर्याय से परिणत होने के लिए नाना उपादान शक्तियों का सद्भाव अनायास ही सिद्ध हो जाता है और तब उनमें से उत्तर क्षण में उस योग्यता का ही विकास उस वस्तु में माना जा सकता है, जिसके लिये अनुकूल बाह्य निमित्तरूप सामग्री प्राप्त होती है। उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तु में नाना उपादान शक्तियों का सद्भाव मानने में यह तो प्रमाण है ही कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 222 वीं गाथा की उल्लिखित टीका में कार्योत्पत्ति के लिये कारणभूत पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को मणि-मन्त्रादि प्रतिरोधक कारणों से अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला तथा अन्य प्रतिनियत कारणों की अविकलता (पूर्णता) वाला, इस तरह दो विशेषण विशिष्ट स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही

निम्नलिखित प्रमाण भी देखिये—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं॥ 219॥

— स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अपनी अनेक उपादान शक्तियों से युक्त पदार्थ कालादि लब्धि के प्राप्त होने पर जब स्वयं (आप) परिणमन करते हैं, तब उसका वारण कोई भी नहीं कर सकता है।

इस गाथा में जो '**णाणासतीहिं संजुदा**' पद पड़ा हुआ है, वह स्पष्टरूप से बतला रहा है कि पूर्व पर्यायविशिष्ट वस्तु में एक ही साथ नाना उपादान शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं और '**कालाइलद्धिजुता**' पद यह बतला रहा है कि उन नाना उपादान शक्तियों में से एक उसी शक्ति का विकास उत्तर क्षण में होगा, जिसके अनुकूल काललब्धि आदि यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप बाह्य साधन सामग्री उस समय प्राप्त होगी। गाथा की आचार्य शुभचन्द्र कृत टीका और भी स्पष्टता के साथ उक्त अभिप्राय को प्रगट कर रही है। टीका निम्न प्रकार है—

अर्थ — जीवादिपदार्थाः, हीति स्फुटम्, स्वयमेव परिणममाणा परिणमन्तः पर्यायान्तरं गच्छन्तः सन्तः कैरपि इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिभिः वारयितुं न शवयंते।...कीदृक्षास्ते अर्थाः ? नानाशक्तिभिः अनेक समर्थतामिः नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभिः संयुक्ता। यथा जीवाः भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति, यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ताः इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्रीं प्राप्य भक्त परिणामं लभन्ते। तत्र भक्तपर्यायं तण्डुलानामुभयकारणे सति कोपि निषेद्धं न शक्नोतीति भावः।

अर्थ—जीव आदि पदार्थ अपनी अनेक प्रकार के स्वभाववाली उपादान शक्तियों से युक्त हैं। वे पदार्थ जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावादिरूप विविध प्रकार की निमित्त सामग्री को प्राप्त होते हैं, तब उनके विवक्षित परिणमन को इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि कोई भी वारण करने में समर्थ नहीं होते हैं। जिस प्रकार भव्यत्वादि उपादान शक्तियों से युक्त जीव रत्नत्रयादि (आदि पद से मनुष्यभव, वज्रर्षभनाराचसंहनन, कर्मभूमिजपना, मुनिदीक्षा आदि निमित्तकारण) सामग्री से सहित होते हैं, तब वे मुक्त होते हैं। इसी प्रकार जैसे भात बनने की उपादान शक्ति से युक्त चावल, इन्धनाग्नि, बटलोई, जल आदि निमित्तकारण सामग्री को पाकर भातरूप परिणत होते हैं। इस कारण उभय कारणों (उपादान और निमित्तकारणों) के रहते हुए चावलों के भातरूप परिणमन को कोई वारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

यह सब कथन में यह बतला रहा है कि 'कार्य के स्वकाल के सद्भाव में नियत कार्य के अनुकूल अन्य कारणों का सद्भाव नियम से पाया जाता है' यह मान्यता सही नहीं है, बल्कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उपर्युक्त गाथा 222 तथा 219 से तथा इन दोनों गाथाओं की उल्लिखित टीकाओं से इस मान्यता के विरुद्ध इस मान्यता की ही पुष्टि होती है कि नाना योग्यताओं से विशिष्ट वस्तु के कार्य स्वकाल में अर्थात् जहाँ पहुँच जाने पर उस वस्तु से कार्योत्पत्ति की निश्चित संभावना हो जाती है, वहाँ पहुँच जाने पर भी यदि विवक्षित कार्य के अनुकूल निमित्तसामग्री हो तो विवक्षित कार्य ही होगा और उस स्वकाल में अन्य जिस कार्य के उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है, यदि उसके अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित होगी तो फिर वही कार्य उत्पन्न हो जायेगा, यानि उस समय जैसी निमित्त सामग्री उपस्थित होगी, उसी के अनुसार ही उस वस्तु से कार्य उत्पन्न होगा।

इसी तरह इस प्रकरण में एक बात और भी ध्यान में रखने लायक है कि कार्य के उक्त प्रकार के स्वकाल में अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्व पर्याय में वस्तु के पहुँच जाने पर तथा उस कार्य के अनुकूल निमित्त सामग्री के उपस्थित रहने पर भी यदि उस अवसर पर कार्य की प्रतिरोधक सामग्री उपस्थित हो जावे तो ऐसी हालत में स्वकाल और अन्य अनुकूल कारणों की पूर्णता, इनका सद्भाव मिलकर भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। यह बात भी स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 222 की आचार्य शुभचन्द्रकृत पूर्वोक्त टीका में पठित '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यः**' वाक्यांश द्वारा जानी जाती है। इसका भाव यह है कि कार्यरूप उत्तर पर्याय के पूर्व की पर्याय से युक्त द्रव्य विवक्षित कार्य के प्रति तभी कारण होता है, जबकि उसकी कार्योत्पादक सामर्थ्य का प्रतिबन्धक कारणों द्वारा प्रतिरोध न किया जा रहा हो। यदि विवक्षित कार्योत्पादक सामर्थ्य का प्रतिरोधक कारणों द्वारा प्रतिरोध किया जा रहा हो तो विवक्षित कार्य के स्वकाल और अनुकूल अन्य कारण सामग्री के सद्भाव में वहाँ पर वह विवक्षित कार्य उत्पन्न नहीं होगा। जैसे किसी संस्था के चुनाव की पूरी पूरी तैयारी हो जाने पर भी यदि यकायक स्थगन आदेश प्राप्त हो जाता है तो चुनाव रोक दिया जाता है। इस प्रकार कार्योत्पत्ति के विषय में पूर्वोक्त आगम प्रमाणों और लौकिक व्यवहारों के आधार पर निम्नलिखित व्यवस्था जानना चाहिये।

(क) उपादान शक्ति अर्थात् आपके मत से क्षणिक उपादान—जिसे आपने स्वकाल नाम से पुकारा है, लेकिन जो आगमानुसार स्थूलरूप से कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप तथा

सूक्ष्मरूप से उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप होता है— विद्यमान हो, लेकिन विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित न रहकर दूसरे प्रकार की ही निमित्त सामग्री उपस्थित हो तो वहाँ पर वह विवक्षित कार्य न होकर, वही कार्य होगा जिसके अनुकूल निमित्तसामग्री मिला दी गयी हो या अनायास मिल गयी हो व उपादान में उसकी सामर्थ्य हो।

(ख) उक्त प्रकार की उपादान शक्ति विद्यमान हो तथा विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी वहाँ मौजूद हो, लेकिन उस अनुकूल निमित्त सामग्री की पूर्णता न हो तो भी विवक्षित कार्य नहीं होगा, किन्तु वही कार्य होगा, जिसके अनुकूल उक्त सब प्रकार की सामग्री वहाँ उपस्थित होगी।

(ग) उक्त प्रकार की उपादान शक्ति विद्यमान हो, विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णता के साथ उपस्थित हो, लेकिन साथ में प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी वहाँ पर विवक्षित कार्य नहीं होगा। किन्तु वही कार्य होगा जिसके अनुकूल सम्पूर्ण कारण सामग्री उपस्थित होगी और कोई भी बाधक सामग्री नहीं होगी।

(घ) यदि उक्त प्रकार की उपादान शक्ति ही विद्यमान न हो और विवक्षित कार्य के अनुकूल निमित्त सामग्री पूर्णरूप से उपस्थित हो तथा बाधक सामग्री का अभाव भी हो तो विवक्षित कार्य नहीं होगा, किन्तु वह ही कार्य होगा जिसके अनुकूल उपादान शक्ति और अनुकूल बाह्य कारण सामग्री, बिना किसी बाधक कारण सामग्री के उपस्थित रहेगी।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिए कि विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल उक्त प्रकार की उपादान शक्ति विद्यमान हो, उसके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णता के साथ उपस्थित हो और कार्यरूप परिणति की प्रतिरोधक सामग्री का अभाव भी सुनिश्चित हो, लेकिन यकायक विस्रसा या प्रायोगिकरूप से विनाश की सामग्री उपस्थित हो जावे तो कार्य की उत्पत्ति की शृंखला वहीं पर समाप्त होकर आगे विनाश की प्रक्रिया चालू हो जायेगी।

ऐसा नहीं है कि इन सब बातों से आप अनभिज्ञ हैं और ऐसा भी नहीं है कि कार्य की उत्पत्ति के लिये इन सब बातों पर आप लक्ष्य नहीं रखते हैं। जब तक प्राणी सर्वज्ञ नहीं हो

जाता अथवा इसके पूर्व में भी निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं हो जाता, तब तक उसका कार्यकारण पद्धति में इन सब बातों पर लक्ष्य नहीं जाना असम्भव भी है, परन्तु व्यवहार और निश्चय के सत्य स्वरूप को न समझ सकने के कारण निमित्तों को व्यवहाराश्रित कारणता के आधार पर कार्य के प्रति अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए ही आपने इस मान्यता को जन्म दिया है कि सभी कार्य केवल स्वकाल के प्राप्त हो जाने पर ही हो जाया करते हैं, लेकिन इसके पहले कि आप आगम स्वीकृत निमित्तकारणों को अकिंचित्कर मानें, इस बात पर भी आपको ख्याल करना चाहिये कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 321, 322, 219 और 230 वीं गाथाओं में व पद्मपुराण के उल्लिखित (29-83) पद्य में तथा स्वयंभूस्तोत्र के उल्लिखित 133 वें पद्य में भी निमित्तकारण को उपादानकारण के साथ स्वरूप और कार्यकर्तृत्व का भेद रहने पर भी समान दर्जा स्वीकार किया गया है। इस विषय की पुष्टि के लिए आगम में दूसरे भी अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। उनमें से कुछ प्रमाण तो यहाँ पर भी दिये गये हैं, कुछ आपको इस तत्त्व-चर्चा के अन्तर्गत दूसरे प्रश्नों में भी देखने को मिलेंगे, परन्तु या तो इन सब आगम प्रमाणों को आप दुर्लक्षित कर रहे हैं अथवा गलत अभिप्राय समझकर उनका अपने पक्ष की पुष्टि में उपयोग कर रहे हैं। जैसे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 321 और 322 वीं गाथाओं, पद्मपुराण के पद्य (29-83) तथा स्वयंभूस्तोत्र के पद्य 133 एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 219 और 230 वीं गाथाओं की टीका के अभिप्राय को अपने पक्ष की पुष्टि का ध्यान रखते हुए दुर्लक्षित कर दिया है और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 219 तथा 230 वीं गाथाओं के अभिप्राय को अपने पक्ष की पुष्टि में उपयोग भी किया है। यह प्रक्रिया आपने प्रायः सर्वत्र अपनायी है। परन्तु जहाँ-जहाँ आवश्यक जान पड़ा — हमने स्थिति को स्पष्ट करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। क्या हम आशा रखें कि यह सब कुछ आपने मतिभ्रम होने से किया है और यह सब आपने यदि मति-भ्रम से ही किया है तो हमें विश्वास है कि हमारे स्पष्टीकरण से आपका मतिभ्रम अवश्य दूर हो जायेगा। लेकिन यदि अपने संकल्पित अभिप्राय को पुष्ट करने की गरज से यह सब कुछ आपने किया है तो हम समझते हैं कि हमारे इस प्रयत्न का लाभ सम्भवतः आप नहीं लेंगे। कुछ भी हो, हमारा दृष्टिकोण तो तत्त्वसम्बन्धी स्थिति को साफ करनेमात्र का है। यदि इससे आप लाभ ले सकें तो उत्तम बात होगी।

आपने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 230 का अभिप्राय गलत लिया है और इस तरह आप उससे अपनी संकल्पित जिस गलत मान्यता का पोषण करना चाहते हैं, आपकी

वह संकल्पित गलत मान्यता यह है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय, अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती एक निश्चित पर्याय को ही जन्म देनेवाली है। परन्तु हम पूर्व में अत्यन्त स्पष्टता के साथ विवेचन कर चुके हैं कि वस्तु का स्वभाव परिणामी होने के कारण वस्तु की अव्यवहित पूर्व पर्याय के अनन्तर उत्तरपर्याय अवश्य होगी। इसके विषय में आपका कहना यह है कि जो पर्याय उस काल में नियत होगी, वही होगी और हमारा कहना यह है कि जिस पर्याय की उत्पत्ति के योग्य उपादान शक्ति के साथ-साथ अन्य अनुकूल बाह्य सामग्री की पूर्णता और प्रतिबन्धक सामग्री का अभाव — यह सब सामग्री उपस्थित होगी, वह पर्याय होगी। हम अपनी इस मान्यता की पुष्टि पूर्व में आगम प्रमाणों से कर चुके हैं तथा इसके लिये और भी नीचे लिखे प्रमाण देखिये—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीते।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 1, पृष्ठ 70।

अर्थ—प्रतिबन्धक कारण के अभाव से युक्त कारण ही अपने कार्य का जनक होता है।

स्वसामग्र्या बिना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते॥ 88॥

— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, पृष्ठ 70

अर्थ—कोई भी कार्य जब तक उसकी पूर्ण सामग्री उपस्थित न हो, तब तक नहीं उत्पन्न होता है।

इस तरह के आगम प्रमाणों के आधार पर ही हम आपकी उक्त संकल्पित मान्यता को गलत कहते हैं। और चूँकि अपनी उक्त संकल्पित मान्यता की पुष्टि आप स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 230 के द्वारा करना चाहते हैं, इसलिए इस गाथा का अभिप्राय भी आपने अपने ढंग से लेने का प्रयत्न किया है अर्थात् गाथा में पठित '**णियमा**' पद को आप उस काल में नियत पर्याय के साथ जोड़ देना चाहते हैं, जब कि उल्लिखित आगम प्रमाणों के आधार पर '**णियमा**' पद का केवल इतना आशय उस 230 वीं गाथा में ग्रहण करना है कि 'उत्तर पर्याय नियम से पूर्व पर्याय की कार्यरूप ही होगी, फिर भले ही वह पर्याय अपनी कारण सामग्री के आधार पर होनेवाली कोई भी पर्याय क्यों न हो?'

इसी प्रकार अपनी संकल्पित उक्त मान्यता की ही पुष्टि के लिये इस गाथा के दूसरे

नम्बर 222 की टीका में पठित '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणन्तरावैकल्येन**' इस वाक्यांश को भी आप बिल्कुल उपेक्षित कर देना चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपकी मान्यता के अनुसार वस्तु के कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाने पर, उसके अनन्तर क्षण में एक निश्चित कार्य की उत्पत्ति होने का नियम है, क्योंकि आपकी मान्यता के ही अनुसार वस्तु में एक समय में एक ही कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल एक ही योग्यता पायी जाती है, नाना कार्यों की उत्पत्ति के अनुकूल नाना योग्यताएँ एक साथ नहीं पायी जाती हैं, इसलिए आपका कहना है कि 'प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान की नियामकता ही स्वीकार की गई है, इसलिए जब कार्यक्षम निश्चय उपादान (क्षणिक उपादान) उपस्थित होता है, तब निमित्त भी उसी के अनुसार ही मिलते हैं।' इसके आगे आपने यह भी लिखा है कि 'अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 222 नम्बर की गाथा की टीका से जो उसका यथार्थ तात्पर्य है, वही फलित करना चाहिए। उसमें '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' से पूर्व यदि '**यदि**' अर्थ को सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीका में होता, तब तो निमित्तों की अनिश्चितता भी समझ में आती, परन्तु उसमें इस आशय को सूचित करनेवाला कोई पाठ नहीं है, इसलिए उसे '**तदेव, द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं** का विशेषण बनाकर ही उसका अर्थ करना चाहिये और ऐसा अर्थ करने पर निमित्त-उपादान के योग की अच्छी तरह सुसंगति बैठ जाती है।'

आपके इस कथन पर हमें आपसे इतना ही कहना है कि आपके कथनानुसार '**मणि-मंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश वस्तु के कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाने पर तभी निमित्तकारणों की अनिश्चितता बतला सकता था, जब कि उक्त टीका में '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' इस वाक्यांश के पूर्व 'यदि' अर्थ को सूचित करनेवाला कोई पद विद्यमान होता, परन्तु इसके विषय में हम आपसे कहते हैं कि जब आपकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्रव्य उतनी ही उपादानरूप योग्यताओंवाला है, जितनी काल के त्रैकालिक समयों के आधार पर उसकी पर्यायें संभव हैं और जब आपकी मान्यता के अनुसार ही वस्तु की प्रत्येक क्षणवर्ती पर्याय से उसके उत्तर क्षण में एक निश्चित उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है तो ऐसी हालत में आपकी दृष्टि से फिर उक्त टीका में '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। लेकिन चूँकि टीका में उक्त वाक्यांश का सद्भाव पाया जाता है, इसलिये

'यदि' अर्थ को सूचित करनेवाले पद का उक्त टीका में अभाव होने पर भी '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश वस्तु के कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाने पर भी, वहाँ निमित्तकारणों की अनिश्चितता को बतलाने से ही सार्थक हो सकता है। कारण कि निमित्तकारणों की अनिश्चितता बतलाने के अतिरिक्त और दूसरा कोई प्रयोजन उस वाक्यांश का वहाँ पर नहीं हो सकता है और न आप ही ने बतलाया है। हम आपसे पूछ सकते हैं कि '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश को आपके कथनानुसार यदि '**तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं**' का भी विशेषण मान लिया जाये तो फिर उक्त टीका में आपके मतानुसार '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश की क्या सार्थकता है ? हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि आपने हमारे इस कथन पर गंभीरता के साथ ध्यान दिया तो निश्चित ही आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि वस्तु के कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाने पर भी, इसमें उस पूर्व पर्याय के उत्तरक्षण में कार्यरूप परिणत होने के लिये अनेक उपादान शक्तियाँ लालायित हो रही हैं और उनमें से वही उपादान शक्ति कार्यरूप परिणत होती है, जिसके अनुकूल उस समय निमित्त सामग्री अनायास या पुरुषकृत प्रयोग से प्राप्त हो जाती है। इसलिए आपका यह लिखना सर्वथा गलत है कि 'जब कार्यक्षम उपादान उपस्थित होता है, तब निमित्त सामग्री उसी के अनुसार मिल ही जाती है।' और इसलिए आपकी यह मान्यता भी गलत है कि 'कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के अनन्तर क्षण में वही पर्याय उत्पन्न होगी, जो नियत होगी।' इससे भिन्न हमारा यही कहना सही है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय से अनंतर क्षण में वही पर्याय उत्पन्न होगी, जिसकी उत्पत्ति के अनुकूल निमित्त सामग्री उस समय वहाँ उपस्थित होगी।

आपने अपनी उक्त संकल्पित मान्यता की पुष्टि के लिये निम्नलिखित और भी प्रमाण उपस्थित किये हैं:—

(1) निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणं आयोगिकेवलिवरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति। *—तथ्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 1, पृष्ठ 101*

(2) न हि द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तः येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि ? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूम-

क्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात् ? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्या-समर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात् कारणादुत्पतिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता ?

— तत्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 1, पृष्ठ 71

आपने उक्त दोनों कथनों का निम्नलिखित अर्थ दिया है—

(1) निश्चयनय का आश्रय लेने पर तो जिसके अनन्तर मोक्ष का उत्पाद होता है, अयोगकेवली के अन्तिम समय में होनेवाला वही रत्नत्रय, मोक्ष का मुख्य (प्रधान-साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

(2) प्रकृत में द्वितीयादि सिद्धक्षणों के साथ अयोगकेवली के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय का कार्य-कारणभाव विचार के लिये प्रस्तुत नहीं है, जिससे उसकी उत्पत्ति में उसकी असमार्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षण के साथ ही प्रकृत में उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्ति में वह समर्थ (उपादान) कारण ही है, इसलिए पूर्वकृत शंका ठीक नहीं है।

यदि ऐसा न माना जाय तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्ति में वह समर्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि ऐसी स्थिति में धूमक्षणों के द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीयादि धूमक्षणों के उत्पन्न करने में उसके (अग्नि के) असमर्थ होने से प्रथम धूमक्षण के उत्पन्न करने में भी उसकी असामर्थ्य के प्राप्त होने का प्रसंग आता है। और ऐसा होने पर कोई भी किसी का समर्थकारण नहीं बन सकता। और असमर्थकारण से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं, ऐसी स्थिति में यह विचारी कार्यकारणता कैसे ठहरेगी अर्थात् तब कार्यकारणता का स्वीकार करना ही निष्फल हो जायगा।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के इन दोनों उद्धरणों से आप एक ही बात सिद्ध करना चाहते हैं कि 'सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं।' अब देखना यह है कि क्या ये दोनों उद्धरण आपकी उक्त बात को सिद्ध करने में समर्थ है ? तो हमें कहना पड़ता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उल्लिखित दोनों ही कथन आपकी 'सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं' इस बात को सिद्ध नहीं करते हैं, क्योंकि जिस प्रसंग से तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक में उक्त दोनों कथन किये गये हैं, वह प्रसंग एक तो इस बात का है कि समर्थ कारण ही कार्य की उत्पत्ति का कारण होता है, असमर्थ कारण कार्योत्पत्ति का कारण नहीं

होता है। दूसरे इस बात का प्रसंग है कि एक कार्य की उत्पत्ति में कोई कारण यदि असमर्थ है तो इतने मात्र से वह दूसरे कार्य की उत्पत्ति में कदापि असमर्थ नहीं होता है अर्थात् प्रत्येक कारण की एक कार्य के प्रति असामर्थ्य रहना एक बात है और उसकी (प्रत्येक कारण की) दूसरे कार्य के प्रति सामर्थ्य रहना दूसरी बात है। एक ही कारण में उक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से असामर्थ्य और सामर्थ्य दोनों ही बातें एक साथ रह सकती हैं, उनका एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

इस तरह बतलाया गया है कि अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में रहनेवाला रत्नत्रय चूँकि मुक्ति के लिये समर्थ कारण है, इसलिए उसके अनन्तर मुक्ति होती ही है। इसी प्रकार अग्नि भी प्रथम धूमक्षण की उत्पत्ति के लिये समर्थ कारण है, इसलिए वह भी प्रथम धूमक्षण को उत्पन्न कर देती है। परन्तु मुक्ति के लिये अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में विद्यमान रत्नत्रय समर्थ क्यों हैं ? और प्रथम धूमक्षण की उत्पत्ति के लिये अग्नि समर्थ क्यों हैं ? यदि ये प्रश्न उपस्थित हो जावें तो इनका समाधान यही होगा, कि वहाँ पर कारणान्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणों की पूर्णता तथा प्रतिबन्धक कारणों का अभाव दोनों ही बातें पायी जाती हैं। अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय के रत्नत्रय में अघाती कर्मों का क्षय हो जाने से कारणन्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणों की पूर्णता वहाँ पर हो जाती है तथा प्रतिबन्धक कारणों का अभाव उस समय प्रथम मोक्षक्षण की उत्पत्ति के लिये मोक्ष के कारणभूत क्षायिकरूप रत्नत्रय को मिला हुआ है। इस प्रकार अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय का रत्नत्रय प्रथम मोक्षक्षण की उत्पत्ति के लिये समर्थ कारण हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 1, पृष्ठ 70 में लिखा है—

केवलात्तत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणकमिति न शंकनीयं, तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकारणेंत्यक्षणप्राप्तत्वं हि संपूर्णं, तच्च न केवलात् प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। न च यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वामिघानात्। न हि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यंतिकं तदभिष्टूयते। कथं पुनस्तदसंपूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्तस्योत्पतेः। पूर्णं ततएव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनंतरम-

भावात्। किं तद् विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायम्।

अर्थ—ज्ञानरूप कारण से उत्पन्न होनेवाला क्षायिक यथाख्यातचारित्र केवलज्ञान से पहले ही सम्पूर्ण (समर्थ) बन जाता है, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, कयोंकि वह चारित्र मुक्ति के उत्पन्न करने में सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है, इसलिए वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं है। विवक्षित कार्य करने में अन्तिम क्षण को प्राप्त हो जाना ही पूर्णत्व कहलाता है, ऐसा पूर्णत्व केवलज्ञान से पहले चारित्र में नहीं है। केवलज्ञान के ऊर्ध्व (केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के बाद) अघाती कर्मों का ध्वंस हो जाने पर ही उसमें (चारित्र में) सम्पूर्णता मानी गयी है।

शंका—यदि कहा जाय कि आगम में जो यह कथन पाया जाता है कि 'यथाख्यातचारित्र, पूर्ण चारित्र कहलाता है' तो पूर्वोक्त कथन से इसका विरोध आता है ?

उत्तर—शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यथाख्यातचारित्र में जो पूर्णत्व का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रतिपादन उसके (यथाख्यातचारित्र के) क्षायिक (मोहनीय कर्म के क्षय से प्राप्त) होने के कारण से ही किया गया है। कारण यह है कि सकल मोहक्षय से उत्पन्न होता हुआ वह चारित्र अंशमात्र से भी सदोष नहीं है, यही कारण है कि उसकी हमेशा सर्वोत्कृष्टरूप से स्तुति की जाती है।

शंका—उक्त प्रकार के चारित्र की उत्पत्ति अपरिपूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञान से होने पर भी सम्पूर्ण कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्वादशांगश्रुत के विषयभूत समस्त तत्त्वार्थ का ज्ञान करानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति होती है।

शंका—उक्त प्रकार से वह क्षायिक यथाख्यातचारित्र जब पूर्णता को प्राप्त है तो उससे फिर मुक्ति हो जानी चाहिये ?

उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय इस क्षायिक यथाख्यातचारित्र में विशेषरूपता का अभाव रहता है।

शंका—कौन सा ऐसा चारित्र का वह विशेषरूप है, जिसके अभाव में वह चारित्र जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकता है ?

उत्तर—नाम, गोत्र और वेदनीय—इन तीन कर्मों की स्थिति की निर्जरा करने में समर्थ समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपातिध्यान ही उस चारित्र का वह विशेषरूप है।

यह उद्धरण हमने यहाँ पर इसलिए दिया है कि ताकि क्षायिकरूप यथाख्यातचारित्र की मोक्षोत्पादन में पूर्णता (सामर्थ्य) है, उसका ज्ञान लौकिकजनों को हो जावे। वह पूर्णत्व या सामर्थ्य सहकारी कारणों की सापेक्षता के अतिरिक्त क्षायिक यथाख्यातचारित्र में और कुछ नहीं है, यही ग्रन्थकर्ता आचार्य विद्यानन्दी का अभिप्राय है।

कालादिसामग्री को हि मोहक्षयस्तदूपाविर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः।

— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 70

अर्थ—मोहक्षय कालादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) सामग्रीसहित होकर ही आत्मा की उस मुक्तिरूपता की उत्पत्ति का कारण होता है, केवल मोहक्षय से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है।

इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि मोहक्षय अर्थात् क्षायिक यथाख्यातचारित्र को जब तक बाह्य कारण सामग्री प्राप्त नहीं हो जाती है, तब तक उससे जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। लेकिन जब जीव समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान में पहुँच जाता है, तब भी इतर सहायक कारणों के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। जीव जब उस समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यान से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति का आयुकर्म की स्थिति के साथ समीकरण कर देता है, तब उक्त चारों कर्मों की उदयानुसार समय समय प्रति प्रत्येक आघाति कर्म के एक-एक निषेक की सविपाक निर्जरा करता हुआ जब उक्त चारों अघातिया कर्मों के क्षय का अन्त समय आ जाता है, तब वह यथाख्यात क्षायिक चारित्र मुक्ति के लिए समर्थ कारण होता है और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में जीव मुक्त हो जाता है।

यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिये कि अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघाती कर्मों का क्षय हो जाने से रत्नत्रय में कारणन्तरावैकल्य और प्रतिबन्धकाभाव निश्चित हो जाता है, इसलिए वह रत्नत्रय तो मुक्ति का नियत कारण है, परन्तु सब प्रकार की अग्नि धूम की उत्पत्ति की नियत कारण नहीं बन सकती है। केवल वही अग्नि धूमोत्पत्ति के लिए कारण बनती है, जो अन्य कारण सामग्री की पूर्णता तथा प्रतिबन्धकाभाव से विशिष्ट होती है।

अयोगकेवली गुणस्थान के चरमसमयवर्ती रत्नत्रय के विषय में एक बात और विचारणीय है कि सयोगकेवली गुणस्थान के रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में विद्यमान रत्नत्रय के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, इस बात को हमने ऊपर बतलाया है और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उसी प्रकरण में और भी विस्तार से बतलाया गया है तथा यह भी वहाँ पर विस्तार से बतलाया गया है कि केवल सामग्री की पूर्णता न होने से ही सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव मुक्ति पाने में सदा असमर्थ रहते हैं। हमारा आपसे निवेदन है कि इस विषय को ठीक-ठीक समझने के लिये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के पृष्ठ 70 और 71 को अवश्य पढ़िये, उसके अभिप्राय को समझने का प्रयत्न कीजिये, केवल अपने संस्कारों के आधार पर उसमें जोड़-तोड़ बिठलाने का प्रयत्न मत कीजिये।

'प्रत्येक समय में नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती हे और उसका उपादानकारण भी नियत ही होता है तथा आवश्यकतानुसार निमित्तकारण भी स्वयंमेव मिल जाते हैं, यह जो आपकी मान्यता है, इसके समर्थन में एक कारण आप यह भी बतलाये हैं कि स्वयंभूस्तोत्र के पद्य 133 में भवितव्यता को अलंघ्यशक्ति बतलाया गया है और जिसका अभिप्राय है कि कार्योत्पत्ति तो भवितव्यता के आधार पर ही हुआ करती है, निमित्तों का कार्योत्पत्ति में कुछ उपयोग नहीं होता, वे तो कार्योत्पत्ति के अवसर पर हाजिरी ही दिया करते हैं।

इस विषय में बात तो दरअसल हम यह कहना चाहते हैं कि '**अलंघ्यशक्ति**' पद का जो अर्थ आप करना चाहते हैं, वह उसका अर्थ नहीं है, यानी अलंघ्यशक्ति का अर्थ वहाँ पर अटल शक्ति नहीं है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भवितव्यता की शक्ति को लांघकर अर्थात् भवितव्यता की शक्ति से बाहर कोई कार्य उसमें नहीं उत्पन्न हो सकता है। इसे हमने पूर्व में स्पष्ट कर दिया है। और फिर आपके मन्तव्य को मानकर भी हम यह कहना चाहते हैं कि उसी पद्य 133 में '**हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा**' पद कार्यात्पत्ति में निमित्तों की उपयोगिता को भी बतला रहा है। यद्यपि इस पर आप यह कहते हैं कि वे निमित्त उसी भवितव्यता की अधीनता में ही प्राप्त हो जाया करते हैं तथा इसके समर्थन में आप निम्नलिखित पद्य को भी उपस्थित करते हैं—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

अर्थ—जैसी भवितव्यता होती है, वैसी ही बुद्धि होती है, व्यवसाय (पुरुषार्थ) भी उसी तरह का होता है और सहायक भी उसी प्रकार के मिलते हैं।

लेकिन इस विषय में हमारा कहना यह है कि जब भवितव्यता कार्य की जनक है और वे निमित्त भी आपकी मान्यता के अनुसार भवितव्यता की अधीनता में ही प्राप्त किये जा सकते हैं, जिनकी आवश्यकता कार्योत्पत्ति के अवसर पर रहा करती है, तो इस तरह कार्योत्पत्ति के लिये अपेक्षित निमित्तों की प्राप्ति को भवितव्यता के ही आधार पर स्वीकार करने से यहाँ पर अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि जिस प्रकार विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिये भवितव्यता को निमित्तों का सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार उन निमित्तों की प्राप्तिरूप कार्य की उत्पत्ति के लिए भी अन्य निमित्तों के सहयोग की अपेक्षा उसे (भवितव्यता को) नियम से होगी और फिर उन निमित्तों की प्राप्ति भी भवितव्यता को अन्य निमित्तों के सहयोग से ही हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्था की जनक होने के कारण कार्योत्पत्ति के विषय में स्वीकार करने के अयोग्य है।

इसलिए यही कहा जाय कि उक्त अनवस्था दोष के भय से ही तो आप निमित्तों को अकिंचित्कर मान रहे हैं, तो इस पर भी हमारा कहना यह होगा कि '**अलंघ्यशक्ति**' इत्यादि पद्य में पठित '**हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिंगा**' पद '**जं जसस जम्मि देसे**' इत्यादि गाथाओं में पठित '**जेण विहाणेण**' और '**तेण विहाणेण**' ये दोनों पद तथा '**यत्प्राप्तव्यं**' इत्यादि पद्य में पठित '**यतः**' और '**ततः**' पद निरर्थक ही सिद्ध हो जावेंगे। इनके अलावा आगम में कार्य के प्रति निमित्तों की सार्थकता को बतलानेवाले जितने भी कथन पाये जाते हैं और जिनमें से बहुत कुछ हमारी 1, 6, 10, 11, 17 आदि संख्यांक शंकाओं और प्रतिशंकाओं में भी देखने के लिये मिलेंगे, वे सब अप्रमाणभूत ठहर जावेंगे तथा उन कथनों के अप्रमाणभूत हो जाने पर जैन संस्कृति का सम्पूर्ण आगम ही अप्रमाणभूत ठहर जावेगा। इसलिए अब यह बात आप ही को सोचना है कि निमित्तों की सार्थकता के समर्थक शास्त्रीय कथनों की अनुभव और तर्कगम्य एवं आस्था के विषय होने के कारण अप्रमाणभूत कैसे कहा जा सकता है? अतः यही मानना श्रेयस्कर है कि भवितव्यता की तरह कार्योत्पत्ति में निमित्तकारण भी अकिंचित्कर न होकर, सार्थक ही हुआ करते हैं।

यदि आप कहें जैसा कि पूर्व में भी इस पक्ष को रखा गया है कि प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी नियत पर्यायों में परिणमन करती हुई यन्त्रवत् चल रही है, एक वस्तु के परिणमन में

अन्य वस्तु न तो सहयोग देती है और न परिणमन करनेवाली वस्तु के लिए ही उस वस्तु के सहयोग की अपेक्षा रहती है, सब अपनी अपनी चाल से चले जा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि छद्मस्थ प्राणियों के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान इन सभी ज्ञानजन्य अनुभवों को अप्रमाणभूत मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। और फिर दिव्य-ध्वनि से लेकर द्वादशांग द्रव्यश्रुत तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रुत सभी अप्रमाणभूत ठहर जायेगा, वस्तुव्यवस्था का आधार सिर्फ केवलज्ञान ही रह जायेगा, इस प्रकार समस्त वस्तुतत्त्व अनिर्वचनीयता को ही प्राप्त हो जायेगा।

यदि फिर आप कहें कि व्यवहारनय से समस्त वस्तुजात प्रतिपादनीय है, दृश्य है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का भी वह ज्ञेय है, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि व्यवहार को और व्यवहार के प्रतिपादक द्रव्यश्रुतरूप व्यवहारनय को तथा ज्ञापक ज्ञानश्रुतरूप व्यवहारनय को तो आप स्वयं आरोपित, कल्पित, उपचरित, मिथ्या, असत्य, असद्भूत एवं अभावात्मक मान लेना चाहते हैं तो इससे अनिर्वचनीयता के प्रसंग की समस्या हल होनेवाली नहीं है। इतना ही नहीं, जब व्यवहार या व्यवहारनय असद्भूत हैं तो केवलज्ञानी भी तो समस्त वस्तुजात को व्यवहाररूप से ही जानता है, इसका अर्थ यह है कि केवलज्ञान से भी वस्तुतत्त्व का ज्ञान करना असंभव ही होगा। इस तरह समस्त जगत् वस्तुतत्त्व व्यवस्था से ही शून्य हो जायेगा। सिर्फ केवलज्ञानी जीव ही विश्व में रह जायेगा और फिर जब जैन संस्कृति में अनादि-निधन केवलज्ञानी नाम का जीवतत्त्व स्वीकार ही नहीं किया गया है, हमी-आप जैसे संसारी प्राणी ही पुरुषार्थ करके आगे चलकर केवलज्ञानी बनते हैं, तो जब संसारी प्राणियों का असितत्व ऊपर समाप्त किया जा चुका है तो फिर केवलज्ञानी का भी अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इस तरह सर्व प्रकार से शून्यवाद का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। धवल पुस्तक 14 पृष्ठ 234 का कथन भी इस बात का समर्थन कर रहा है जो निम्न प्रकार है—

संसारिणामभावे संते कथमसंसारिणामभावो ? वुच्चदे, तं जहा-संसारिणामभावे संते असंसारिणो वि णत्थि, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलंभण्णहाणुववत्तीदो।

अर्थ—संसारी जीवों का अभाव होने पर, असंसारी जीवों का अभाव कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सब पदार्थ अपने सत्प्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि में ही उपलब्ध होते हैं, अन्यथा नहीं।

हमारा विश्वास है कि यह सब हमारी तरह आपको भी अभीष्ट नहीं होगा, अतः व्यवहार और व्यवहार के प्रतिपादक एवं ज्ञापक नयों को आरोपित, कल्पित, उपचरित, मिथ्या, असत्य, असद्भूत एवं अभावात्मक न मानकर, हमारी तरह आपको भी वास्तविक, सत्य, सद्भूत, सद्भावात्मक ही मानना होगा। ऐसी स्थिति में कार्यकारण भाव में अन्तर्भूत निमित्त-नैमित्तिकभाव और उसक प्रतिपादक आगम तथा उसका ज्ञापक ज्ञान, ये सभी वास्तविक हो जावेंगे और जब आप इस बात को स्वीकार कर लेंगे, तब आपको स्वयं सोचने का अवसर प्राप्त होगा कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' आपकी ये मान्यतायें कहाँ तक अपनी स्थिति कायम रख सकेंगी। '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि पद्य के विषय में सर्वांगीण विवेचन आपको प्रश्न नम्बर 6 में देखने को मिलेगा। कृपया वहाँ पर देखने का कष्ट कीजियेगा।

यद्यपि हम पहले बतला चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु की स्वप्रत्यय पर्यायें नियतक्रम से ही हुआ करती हैं, परन्तु वस्तु की स्वपरप्रत्यय पर्यायें भी नियतक्रम से ही हुआ करती हैं, यह आज्ञा जैन आगम की नहीं है। यहाँ स्वपरप्रत्यय परिणमन के विषय में थोड़ा विचार लेना उचित प्रतीत होता है, अतः विचार किया जाता है।

ऊपर गिनायी गयी सभी वस्तुयें यथासंभव एक दूसरी वस्तु के साथ स्पृष्ट होकर रह रही हैं और चूँकि प्रत्येक वस्तु सतत परिणमन करती रहती है, अतः परिणमन के आधार पर स्पर्श में भी भेद होने के कारण स्पृष्ट वस्तु में भी परिणमन को स्वीकार करना स्वाभाविक है। और चूँकि एक वस्तु में इस प्रकार का परिणमन, अन्य परिणमन करती हुई वस्तु के स्पर्श के कारण होता है, अतः ऐसे परिणमन को स्वपरप्रत्यय कहना गलत नहीं है। जीवों और पुद्गलों में तो यथासंभव बद्धता (एक-दूसरे के साथ मिश्रण) की स्थिति पायी जाती है और दोनों के इस मिश्रण से जीवों में तथा पुद्गल में परिणमन होना जैन संस्कृति में स्पष्ट माना गया है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमितं तहेव जीवो वि परिणमइ॥ 80॥ —समयसार

अर्थ—जीव के परिणमन का सहयोग पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्म का सहयोग पाकर जीव भी परिणमन को प्राप्त होते हैं।

अतः जीवों और पुद्गलों के ऐसे परिणमन भी स्वपरप्रत्यय ही माने गये हैं।

धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों के गमन में अवलम्बन होता है, अधर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों की अवस्थिति (ठहरने) में अवलम्बन होता है, आकाशद्रव्य समस्त वस्तुजात को अपने अन्दर समाये हुए है, सभी कालद्रव्य अपने से सम्बद्ध वस्तुओं की सत्ता को और उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनों को समय, आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि में बद्ध करके विभाजित करते रहते हैं, सभी जीव अपने-अपने स्वभावानुसार स्व और परवस्तुओं के दृष्टा और ज्ञाता बने हुए हैं और पुद्गल -द्रव्य परस्पर एक-दूसरे पुद्गल या पुद्गलों के साथ तथा यथायोग्य जीवों के साथ मिलते और बिछुड़ते रहते हैं और इस तरह एक-दूसरे के परिणमन में सहायक होते रहते हैं। इस तरह उपकार्योपकारकभाव की अपेक्षा से भी उक्त समस्त वस्तुओं में सतत परिणमन होता रहता है। और चूँकि यह परिणमन एक वस्तु में उक्त प्रकार से अन्य वस्तु के सहयोग पर ही हुआ करता है, अत: जैन संस्कृति में ऐसे परिणमन को भी स्वपरप्रत्यय परिणमन नाम दिया गया है।

इन सब तथा इनसे अतिरिक्त भी दूसरे सभी पर के सहयोग से होनेवाले वस्तु परिणमनों में से बहुत से परिणमन तो ऐसे होते हैं, जिनके होने में अन्य वस्तु का सहयोग प्राकृतिक ढंग से प्राप्त रहता है। जैसे सभी वस्तुयें आकाश में प्रति समय अवगाहित हो रही हैं— यहाँ पर वस्तुओं को अपने अवगाह में आकाश का सहयोग प्राकृतिक ढंग से ही प्राप्त है। अत: समस्त वस्तुओं का प्रतिसमय अवगाहनरूप यह परिणमन सामान्यरूप से नियतक्रम को लेकर ही हो रहा है। जीवों और पुद्गलों को गमन करने में धर्मद्रव्य का सहयोग और ठहरने में अधर्मद्रव्य का सहयोग यद्यपि प्राकृतिक ढंग से प्राप्त रहता है, परन्तु वे जब तक गमन करते रहते हैं, तब तक गमन में सामान्य नियतक्रम चलता है और जब वे ठहरते हैं तो गमन का नियतक्रम समाप्त होकर अवस्थिति का नियतक्रम चालू हो जाता है। विशेषापेक्षया गति और स्थिति में अपना-अपना अनियतक्रम भी चलता रहता है। इसी तरह आकाश के आधार पर जीवों और पुद्गलों के अवगाहन में विशेषापेक्षया अनियत क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार जीवों और पुद्गलों की गति या अवस्थिति में एक दूसरे की अपेक्षा भी क्रमभंग संभव है और इसी प्रकार सभी वस्तुओं की सत्ता को तथा उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनों को समय आदि की वृत्ति के रूप में विभाजित करने में काल का सहयोग प्राकृतिक ढंग से ही प्राप्त रहता है। इसके अलावा भी खान में मिट्टी पड़ी हुई और

उसमें अनायास मिलनेवाले निमित्तों के आधार पर प्रतिसमय समान और असमान परिणमन होता रहता है और इनके भी अलावा उसी मिट्टी को कुम्हार अपने घर ले आता है और वह कुम्हार उसे घट निर्माण के योग्य तैयार कर उससे दण्ड, चक्र, चीवर आदि के सहयोग से घट का निर्माण कर देता है। इस तरह जो पर्यायों का निर्माण होता है, उसमें नियतक्रमपना और अनियतक्रमपना दोनों प्रकार की स्थिति यथायोग्य प्रकार से जैन संस्कृति में मान्य की गयी है। जैसे वस्तुओं की सत्ता अनादि काल से अनन्त काल तक रहनेवाली है, इसलिए यदि काल के त्रैकालिक समयों के आधार पर प्रत्येक वस्तु की सत्ता को विभाजित किया जाय तो जैसे काल के समय नियत हैं, वैसे ही प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक सत्ता भी नियत है। प्रत्येक वस्तु में जहाँ तक समानरूप से होनेवाले परिणमनों का संबन्ध है तो उन सब परिणमनों को भी नियत मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है। असमान परिणमनों में भी कहीं -कहीं नियतक्रम मानना आवश्यक है। एक परमाणु एक ही समय में चौदह राजू गमन कर जाता है, फिर भी वह लोकाकाश के क्रमवर्ती एक-एक प्रदेश को नियतक्रम से स्पर्श करता हुआ ही जाता है। गमनरूप क्रिया करने में यही हाल प्रत्येक जीव का और प्रत्येक पुद्गल का है। परन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता है कि गमनरूप पर्याय से बदल कर, स्थितिरूप पर्याय वस्तु की नहीं हो सकती है, क्योंकि देखने में आता है कि गमन करते-करते वस्तु अवस्थित भी हो जाती है अथवा सीधा गमन करते-करते वस्तु उलटा गमन भी करने लगती है। इसलिए गमन के चालू रहने में जो क्रम नियत था, वह क्रम वस्तु के अवस्थित होने में अथवा उलटा गमन करने में अनियत हो जाता है। प्राणी की आयु में वृद्धि एक-एक समय के आधार पर क्रम से ही हुआ करती है, प्राणी के शरीर का उत्सेध भी क्रम से बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार जितनी भी स्वपरप्रत्यय पर्यायें प्रत्येक वस्तु में सम्भव हैं, उनमें यथासंभव नियतक्रम और अनियतक्रम मानना असंगत नहीं है।

आपने अपने द्वितीय दौर के पत्रक में हमारी प्रतिशंका के निम्नलिखित विषयों पर विचार किया है—

(1) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की तीन गाथायें तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री।

(2) अकाल में दिव्यध्वनि।

(3) निर्जरा तथा मुक्ति का अनियत समय।

(4) अनियत गुण-पर्याय।

(5) क्रम-अक्रम पर्याय।

(6) द्रव्यकर्म की अनियत पर्याय।

(7) निमित्त-उपादानकारण।

इन विषयों पर आपने जो विचार प्रगट किये हैं, उन पर सामान्यरूप से तो हमने विचार कर ही लिया है। अब जो विशेष बातें विचार के लिये रह गयी हैं, उन पर विचार किया जाता है।

विषय नम्बर 1 पर विचार करते हुए आपने '**एवं जो णिच्छयदो**' गाथा के विषय में लिखा है कि — 'इस गाथा में भिन्न टाईप में दिये गये पद ध्यान देने योग्य हैं। '**णिच्छयदो**' का अर्थ निश्चय से (यथार्थ में) है। इससे विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओं में जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वह यथार्थ है।' आगे आपने स्पष्ट किया है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि कौन है ? और क्यों है ? तथा मिथ्यादृष्टि कौन है ? और क्यों है ?

इस विषय में हमारा कहना है कि श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि, केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा उस तत्त्व को यथार्थ मानता है जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओं में प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कार्यकारणभाव पद्धति को भी यथार्थ मानता है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा तो वह आस्थावान् होता है और श्रुतज्ञान के विषय के अनुसार अपनी प्रवृत्ति बनाता है। इसका विस्तृत विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं तथा केवलज्ञानविषयक और श्रुतज्ञानविषयक उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में परस्पर समन्वय भी पूर्व में विस्तार से कर चुके हैं।

उसी '**णिच्छयदो**' पद का एक दूसरा अभिप्राय भी आपने निकाला है कि 'यह कथन निश्चय (यथार्थ) नय की (उपादान की) प्रधानता से किया गया है। इससे पर्यायान्तर से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगम में जहाँ भी अकालमृत्यु आदि का निर्देश किया गया है, वहाँ वह व्यवहारनय की (उपचरित नय की) अपेक्षा ही किया गया है, निश्चयनय की अपेक्षा नहीं।'

इस विषय में हमारा कहना यह है कि वास्तव में देखा जाय तो जितना मरण है, चाहे वह अकालमरण हो अथवा चाहे कालमरण हो, दोनों ही व्यवहाररूप हैं, अतः दोनों ही

व्यवहारनय के विषय हैं। कारण कि आत्मा तो स्वभावतः अमर ही जैन संस्कृति में माना गया है, इसलिए कालमरण को आप जो निश्चयनय का विषय मान लेना चाहते हैं, वह गलत है। साथ ही व्यवहारनय को जो आपने उपचरितनय मान लिया है, वह भी गलत है, क्योंकि आप उपचरित शब्द का अर्थ कल्पित, असद्भूत, मिथ्या या अभावात्मक स्वीकार करते हैं, जबकि आगम के अनुसार व्यवहार भी अपने ढंग से वास्तविक, सद्भूत, सत्य और सद्भावात्मक होता है। इसका स्पष्ट विवरण आप प्रश्न नम्बर 17 के तृतीय दौर के हमारे प्रपत्र में देखियेगा। इसी प्रकार प्रश्न संख्या 11 के तृतीय दौर के हमारे प्रपत्र में भी देखने को मिलेगा।

संक्षेप में निश्चयनय और व्यवहारनय के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

वस्तु के अंश या धर्मभूत निश्चयरूप अर्थ का प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान, निश्चयनय कहलाता है। और वस्तु के अंश या धर्मभूत व्यवहाररूप अर्थ का प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान, व्यवहारनय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार यथास्थान नाना प्रकार के परस्पर विरोधी द्वयात्मक वस्तु के धर्म या वस्त्वंश ही माने गये हैं और व्यवहारनय तथा निश्चयनय उन युगल धर्मों में से एक-एक धर्म के प्रतिपादक शब्दरूप या ज्ञापक ज्ञानरूप हैं।

आगे आपने लिखा है कि—'इन गाथाओं के आशय को ध्यान में न रखकर जो यह कहा जाता है कि जो कोई व्यक्ति अपना मरण टालने के लिये किसी देवी-देवता की आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझाने के लिये स्वामी कार्तिकेय ने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरणकाल को इन्द्र या देव, यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। सो उन गाथाओं पर से ऐसा आशय फलित करना उचित नहीं है।' आदि।

इस विषय में भी हमारा कहना यह है कि प्रकरण के अनुसार तो हमने अपनी प्रथम प्रतिशंका में जो कुछ लिखा है, वह ठीक है, फिर भी आप इसे नहीं मानना चाहते हैं तो न मानें, लेकिन आप जो इससे एकान्तरूप से 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' यह तत्त्व फलित करना चाहते हैं, वह तो कदापि फलित नहीं होता है। यही कारण है कि आगम में लोक को कार्यसिद्धि के लिए कर्तव्य करने का उपदेश दिया गया और मुक्ति पाने के लिये धर्म पथ पर चलने का उपदेश दिया गया है।

समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका में आगम की एक गाथा उद्धृत की गयी है, जो निम्न प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छये मुअह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

— समयसार गाथा 12 की टीका

अर्थ—यदि जिनमत का प्रवर्तन करना हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को छोड़ो मत, क्योंकि निश्चय के त्याग से वस्तु का स्वत:सिद्ध स्वरूप नष्ट हो जायेगा तथा व्यवहार के त्याग से मोक्षमार्ग समाप्त हो जायेगा।

लोक में देखा भी जाता है कि कोई भी व्यक्ति कार्यसिद्धि के लिये कार्यकारणभाव पद्धति को ही अपनाता है। आप वस्तु के परिणमन को नियतक्रम से मान रहे हैं, फिर भी कार्यसिद्धि के लिये कार्यकारणपद्धति का ही अवलंबन लेकर चलते हैं तो इसे क्या कहा जाय? हम तो यही कह सकते हैं कि आप भी हमारी ही तरह वस्तुपरिणमन के एकान्त नियतक्रम के पक्ष में नहीं हैं। यदि आप कहें कि निश्चय से नियतक्रम है, व्यवहार से तो अनियतक्रम ही है, तो व्यवहार को तो आप कल्पित, असद्भूत, मिथ्या आदि शब्दों का वाच्य मानते हैं, लेकिन कार्यसिद्धि के लिये आप जो कार्यकारणपद्धति का अवलंबन लेकर चलते हैं, वह तो कल्पित नहीं, असद्भूत नहीं, मिथ्या नहीं। इतने पर भी कार्यकारणपद्धति के अवलम्बन पर होनेवाली अपनी प्रवृत्ति को यदि व्यवहारनय का विषय मानने को तैयार हैं तो फिर व्यवहार भी कल्पित, असद्भूत या मिथ्या नहीं रह जाता है। इस पर आपको गम्भीरता के साथ विचार करना होगा। विस्तार से विवेचन हम पूर्व में कर ही चुके हैं। उस पर भी आप विचार करने का कष्ट करें।

यहाँ पर विशेष बात यह भी विचारणीय है कि आपने अपने मत के समर्थन में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 319 का भी प्रमाण उद्धृत किया है। इससे मालूम पड़ता है कि आप उपकार और अपकार की मर्यादा को मानते हैं और उसका कारण भी आप क्रमश: शुभ और अशुभ कर्म को स्वीकार करते हैं, लेकिन इससे तो आपके नियतक्रमरूप सिद्धान्त का ही विघात हो जाता है। इसको भी आप समझने का प्रयत्न करें।

आपने अपने नियतक्रमरूप सिद्धान्त के समर्थन में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की

'**कालादिलद्धिजुत्ता**' इत्यादि 219 वीं गाथा को भी प्रमाणरूप से उद्धृत किया है, परन्तु वह भी नियतक्रम के विरुद्ध कार्यकारणभावपद्धति का ही समर्थन करती है। कारण कि उस गाथा में जो '**कालादिलद्धिजुत्ता**' पद पड़ा हुआ है, वह भी कार्यसिद्धि के लिये निमित्तसामग्री के साथ कार्यकारणभावपद्धति का ही समर्थक है। इसका विस्तार से विवेचन टीका के आधार पर पूर्व में किया है।

यद्यपि आपका कहना उस गाथा के आधार पर यह है कि गाथा में जो '**परिणममाणा हि सयं**' पद आया है, वह आपके पक्ष—नियतक्रम का समर्थक है, लेकिन इसमें भी आप भूल कर रहे हैं। कारण कि '**सयं**' पद का जो अर्थ आप कर रहे हैं, उस अर्थ का '**कालादिलद्धिजुत्ता**' पद के अर्थ के साथ विरोध आता है। आप '**सयं**' शब्द का यही तो अर्थ करते हैं कि 'पदार्थ स्वयं अर्थात् अपने आप परिणमन करते हैं', परन्तु जब पदार्थ अपने आप परिणमन करते हैं तो फिर '**कालादिलद्धिजुत्ता**' पद की स्थिति गाथा में सयुक्तिक नहीं रह जाती है, क्योंकि वह पद तो परिणमन में कारणभूत सामग्री का ही स्थापन करता है। इस तरह हमारा कहना यह है कि गाथा में पठित '**सयं**' पद का 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थ की सहायता के' ऐसा अर्थ न करके ऐसा अर्थ करना चाहिए कि निमित्त सामग्रीसापेक्ष जो भी पदार्थ में परिणमन होता है, उसे उसका (पदार्थ का) अपना ही परिणमन जानना चाहिये, यानि खुद पदार्थ ही परिणमन करता है, परिणमन में सहायक निमित्त सामग्री का कोई गुण-धर्म उसमें आ जाता हो, सो बात नहीं है। लेकिन निमित्तसामग्री उस पदार्थ को उसका अपना परिणमन करने में सहायक तो होती ही है। इस बात को बतलानेवाला ही गाथा में '**कालादिलद्धिजुत्ता**' पद है। पदार्थ के परिणमन के सिलसिले में '**सयं**' पद का व्याख्यान हमने प्रश्न नम्बर 1 के तृतीय दौर के पत्रक में विस्तार से किया है, अतः वहाँ देखने का कष्ट करें।

भो विद्वांसः! हम लोगों में से कौन कहता है कि उपादान के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। तो फिर क्यों गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं? आपने जो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामी के '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' की मिसाल दी है, उसे हम भी शिरोधार्य किये हुए हैं, परन्तु हमारा आपसे निवेदन यह है कि दूसरों के ऊपर गलत आरोप करके पाठकों को भ्रम में डालने का प्रयत्न न कीजिये। अपनी स्थिति के विषय में सोचिये कि आप कहाँ क्या गलती कर रहे हैं?

हमारा पक्ष तो यह है कि और जैसा कि हम पूर्व में स्पष्ट भी कर चुके हैं कि आत्मा

स्वत: सिद्ध स्वभाव परिणमन करता है, सो प्रतिक्षण वह परिणमन करे - इसका निषेध यदि हमने कहीं किया हो तो बताइये, इसमें बुराई नहीं है, यदि हमने ऐसी गलती की हो तो उसे हम स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। परन्तु हम आपसे पूछते हैं कि आत्मा का क्रोधरूप परिणमन करना, मानरूप परिणमन करना, मायारूप परिणमन करना या लोभरूप परिणमन करना भी क्या स्वत:सिद्ध स्वभाव है ? हमारा ख्याल है कि न तो आगम में कहीं ऐसा लिखा है और न आप भी इसे स्वीकार करेंगे कि 'क्रोधादिरूप परिणमन करना आत्मा का स्वत: स्वभाव है।' आत्मा का स्वत:सिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमन करना है। अब जो परिणमन में क्रोधादि रूपता आती है, वह क्रोधादि कर्मों के उदय से ही आती है। जैसे ज्ञान का स्वत:सिद्ध स्वभाव पदार्थों को जानने का है, लेकिन ज्ञान का उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है ? यह व्यवस्था तो उस पदार्थ के ही अधीन है। इसी तरह दर्पण का स्वत:सिद्ध स्वभाव अपने में पदार्थों का प्रतिबिम्ब लाने का है, लेकिन किसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है, यह व्यवस्था तो उस उस पदार्थ के अधीन ही है। तो, महानुभावों! हमारा कहना यही है कि स्वत:सिद्ध परिणमन स्वभाववाली आत्मा के परिणमन में जो क्रोधादिरूपता आती है, उसका निमित्तकारण क्रोधादिरूप कर्म ही है। देखिये, जिन अकलंकदेव और विद्यानन्दस्वामी ने **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वाक्य लिखा है और जिनके प्रति आपकी तीव्र आस्था जान पड़ती है, इस वाक्य के साथ उन्हीं आचार्यों के निम्न वाक्यों को भी पढ़ जाइये—

(1) तदसामर्थ्यमखण्डयदाकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।

— अकलंकदेव की अष्टशती-अष्टसहस्री, पृष्ठ 105

इसका अर्थ यह है कि सहकारीकारण यदि उपादान की असामर्थ्य का खण्डन नहीं करता है तो वह अकिंचित्कर सिद्ध होता है, ऐसी हालत में फिर क्या उसे सहकारीकारण कहा जा सकता है ?

(2) क्रमभुवो: पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविध: कार्यकारणभाव: सिद्धान्तविरुद्ध:। सहकारिकारणे कार्यस्य कथं तत्स्यादेक-द्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि:। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्..... तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ: सम्बन्ध: संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वाद् पारमार्थिक एव, न पुन: कल्पनोरोपित: सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। — *आचार्य विद्यानन्दस्वामी का तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 151*

अर्थ—क्रम से होनेवाली पर्यायों के मध्य एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभाव का कथन किया गया है। और इस प्रकार का कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। सहकारी कारण के साथ कार्य का वह कार्यकारणभाव कैसे होगा ? कारण कि सहकारिकारण की कार्य के साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव पाया जाता है। यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर यह है कि कालप्रत्यासत्तिविशेष के आधार पर सहकारी कारण के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। .....इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रयण करने पर दो में विद्यमान संबन्धरूप कार्यकारणभाव संयोग सम्बन्ध की तरह प्रतीतसिद्ध होने से पारमार्थिक ही है, कल्पनारोपित नहीं है, कारण कि उक्त प्रकार से वह सर्वथा निर्दोष हैं।

श्रीमदकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्द के और भी प्रमाण देखिये—

यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात् बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य या विरोध स्यात् ॥1 ॥3 ॥

—तत्वार्थराजवार्तिक

अर्थ—यदि सब कार्यों का कारण काल को माना जाये तो प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध बाह्य और आभ्यन्तर कारणों का जो कार्यों के साथ नियम पाया जाता है, उसका इसके साथ विरोध होगा।

प्रधानं हि कारणं मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपांत्या-न्त्यसमयं सहकारिणमन्तरेण तामुपजनयितुमलं सत्यपि केवले ततः प्राक् तदनुपतेः।

— तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 71

अर्थ—नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्म की निर्जरण शक्ति का प्रधान कारण मोह का क्षय ही है, लेकिन वह (मोहक्षय) अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समयरूप सहकारी कारण के बिना उस नामादि कर्म निर्जरण शक्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। कारण कि केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी उक्त अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समय की प्राप्ति के पूर्व उसकी उत्पत्ति नहीं होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त अयोगकेवली गुणस्थान में नियत क्रम से नामादि चारों अघातिकर्मों के क्रमस्थिति को प्राप्त निषेकों की प्रतिसमय उदयानुसार सविपाक निर्जरा होती हुई, उस उपान्त्य और अन्त्य समय में पूर्णक्षय होता है, इसलिए यहाँ पर उपान्त्य और अन्त्य समय को नामादि कर्मों के उस क्षय का सहकारी कारण माना गया है।

अथ जब आप एकान्ततः नियतिवाद को ही महत्त्व देते हैं तो अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामी के सहकारी कारणों के समर्थक वचनों का, उक्त दोनों आचार्यों के उक्त **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वचन के साथ कैसे समन्वय करेंगे? यह जानने के लिये हम आशान्वित रहेंगे। उपादानप्रधानपारक और निमित्तप्रधानपरक दोनों तरह के कार्यकारणभाव का समन्वय हम तो पूर्व में कर ही चुके हैं, जिसे आप देखेंगे ही।

हमें विश्वास है कि यदि आप हमारे प्रकृत प्रश्न पर अब तक हुए विवेचन पर ध्यान देंगे तो निश्चित ही आप अपने 'यदि उपादान के इस लक्षण को जिसे किसी भी आचार्य ने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है' यहाँ से लेकर 'क्योंकि जब कि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्तों के अनुसार होता है, ऐसी अवस्था में अमुक प्रकार के परिणामों के होने पर अमुक प्रकार का बन्ध होता है, यह जो आगम में व्यवस्था की गई है, वह सबकी सब छिन्न-भिन्न हो जाती है।' यहाँ तक के वक्तव्य को आप न केवल सहर्ष लौटा लेंगे, बल्कि आपको अपनी एकान्त नियतवाद की मान्यता को त्याग कर, सत्य मार्ग को भी आप अपना लेवेंगे।

सिद्धों के कर्मबन्ध क्यों नहीं

फिर आपने जो अपने लेख में यह बात लिखी है —

'सिद्धों को जिनमें वैभाविकशक्ति इस अवस्था में विद्यमान है और लोक में सर्वत्र बाह्य निमित्त को भी विद्यमानता है, तब उन्हें संसारी बनाने से कौन रोक सकता है?'

आपकी इस शंका का समाधान यह है कि जीव को संसारी बनानेवाला निमित्तकारण द्रव्यकर्म हैं, जो सिद्धों में नहीं है। लोक में यद्यपि कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं, तथापि वे वर्गणायें, द्रव्यकर्म न होने से, जीव को संसारी बनाने की निमित्त नहीं हो सकतीं।

इस पर यदि ऐसी आशंका की जावे कि सिद्धों के द्रव्यकर्म क्यों नहीं है? तो उसका समाधान यह है कि द्रव्यकर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने से ही सिद्ध होते हैं और नवीन द्रव्यकर्म-बन्ध के कारण रागादि का अभाव होने से नवीन द्रव्यकर्म का बन्ध भी नहीं होता, इसलिए सिद्धों के द्रव्यकर्म नहीं है। कहा भी है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। —तत्त्वार्थसूत्र 10।2

अर्थ—बन्ध-हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

अध्यात्म-वेत्ता यह बात भले प्रकार जानते हैं कि सिद्धों को विकारी करनेवाला द्रव्यकर्मरूपी निमित्त लोक में नहीं है, फिर भी यह कहना कि लोक में निमित्तकारण भरे हुए हैं, असंगत है। प्रत्युत उपादानमात्र से ही कार्य की उत्पत्ति माननेवाले आपके माने हुए सिद्ध जब वैभाविकशक्तियुक्त हैं, तब उनको अपने उपादान द्वारा ही संसारी बन जाने का कौन निराकरण कर सकेगा! तथा आप भी अपनी उपादान शक्ति के द्वारा अभी सिद्ध क्यों नहीं बन जाते।

इस सम्बन्ध में श्री अमृतचन्द्र के निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

सकिया बहिरंगसाधनेन सहभूता जीवाः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधने कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति।

—पञ्चास्तिकाय, गाथा ९८ टीका

अर्थ—बहिरंग साधन के साथ रहनेवाला जीव सक्रिय है। जीवों के सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म संचयरूप पुद्गल है, इसलिए जीव, पुद्गलकारण माने हैं। उस (पुद्गल करण) के अभाव के कारण सिद्धों के निष्क्रियपना है। पुद्गलों के सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणामनिष्पादक काल है, इसलिए पुद्गल, कालकरणवाले हैं। जिस प्रकार कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों का अभाव होता है, उस प्रकार काल का अभाव नहीं होता। इसलिए जिस प्रकार सिद्धों के निष्क्रियपना होता है, उस प्रकार पुद्गलों के निष्क्रियपना नहीं होता।

इसी प्रकार निमित्तकारण को बाह्य कारण कहते हैं। अन्तरंग कारण को उपादान कारण कहते हैं। अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही कारणों से कार्य होता है। पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओं के द्रव्य कर्म बन्धरूप अवस्था होने में अन्तरंग (उपादान) कारण तो पुद्गल वर्गणा है और बहिरंग (निमित्त) कारण जीव के रागादि परिणाम हैं। अर्थात् शुभ या अशुभरूप जैसे जीव के भाव होंगे, वैसे ही कार्मणवर्गणा शुभ या अशुभ द्रव्यकर्मरूप बन्ध अवस्था को प्राप्त हो जावेंगी। इस प्रकार निमित्त के अनुसार कार्य होना आपने भी स्वीकार किया है। यही बात हमारे द्वारा कही गई थी, किन्तु उस पर आपत्ति उठाई जाकर यह लिखना कि 'नरकायु के बन्ध योग्य जीव संक्लेश परिणाम करे, किन्तु बाह्य निमित्त देव, गुरु, शास्त्र का सानिध्य आदि देवगति में जाने योग्य हो तो उसे नरकायु का बन्ध न होकर देवायु का ही

बन्ध होगा।' युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि कार्मणवर्गणाओं के देवायुरूप बन्ध होने में या नरकायुरूप बन्ध होने में जीव के विशुद्ध या संक्लेशरूप परिणाम बाह्य (निमित्त) कारण हैं, देव, गुरु, शास्त्र का सानिध्य कारण नहीं है। यह बात कर्मसिद्धान्त के विशेषज्ञों से ओझल नहीं हैं। देव-गुरु-शास्त्र का सानिध्य आदि बाह्य नो-कर्म तो भाव-कर्म के लिये आश्रयभूत हैं, नो-कर्म का भाव-कर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। भावकर्म का द्रव्यकर्म के बन्ध के साथ तथा द्रव्यकर्म के उदय का भावकर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

आगे आपने लिखा है कि—'प्रत्येक द्रव्य की संयोगकाल में होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादान से होती है, यह तो है, पर साथ में इसके प्रत्येक कार्य के प्रति उपादान की नियामकता ही स्वीकार की गयी है। इसलिए जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है, तब निमित्त भी उसी के अनुसार मिलते हैं, यह भी नियम है।'

इस पर हमारा कहना यह है कि चूँकि वस्तु को जैन संस्कृति में स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली स्वीकार किया गया है, इसलिए परिणमन होने में तो उपादान की नियामकता रहा करती है, किन्तु उस परिणमन में जो विशेषता या विलक्षणता आती है, उसका नियामक तो निमित्त ही होता है। जैसे हमने पूर्व में बतलाया है कि आत्मा की क्रोध पर्याय के अनन्तर क्षण में जो मान, माया या लोभरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न होती हैं, इसमें परिणमन का उपादान कारण तो आत्मा स्वयं है। कारण कि वह स्वतः सिद्ध परिणमनशील है, परन्तु उसमें जो क्रोधरूपता के बजाय विलक्षण मानरूपता या लोभरूपता उत्पन्न हुई, उसका निमित्तकारण मानादि उस उस कषायरूप द्रव्यकर्म के उदय को माना गया है। इसके अलावा यह भी सोचने की बात है कि स्वपर-प्रत्यय परिणमन में उपादान जो कार्यक्षम निश्चयउपादान का रूप धारण करता है तो वह निमित्त कारण की सहायता से ही करता है। जैसे आत्मा के परिणमन में कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय में जो क्रोधरूपता पायी जाती है, वह भी क्रोध कषायरूप द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त कारण से ही उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार निष्पन्न क्षणवर्ती घटरूप पर्याय के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के अनन्तर क्षण में जो घटरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न हुई, उसका निमित्तकारण कुम्हार का तदनुकूल व्यापार ही तो है तथा उस निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती घट पर्याय के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती मिट्टी की पर्याय में जो विलक्षणता पायी जाती है, वह कुम्हार के तदनुकूल व्यापार के निमित्त से ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में जितने भी क्रम से प्रवर्तमान स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं, वे चाहे

कार्यक्षम निश्चय उपादानरूप हों अथवा चाहे उसके उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप हों, उनमें जिस विलक्षणता के दर्शन होते हैं, वह तदनुकूल निमित्तकारण के सहयोग की वजह से ही उत्पन्न हुई मानना चाहिये। आपने लिखा 'निमित्त भी उसी के अनुसार मिलते हैं', तो इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्ति के लिये अनुकूल निमित्तों का समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है, लेकिन इस विषय में हम कह सकते हैं कि जब वह निश्चय उपादान स्वयं कार्य-क्षम है तो उसे फिर निमित्तों के सहयोग की आवश्यकता ही क्यों होती है ? और यदि आवश्यकता है तो फिर उन निमित्तों की प्राप्ति वह कार्यक्षम उपादान स्वयं कर लेता है — यह असंभव बात है, इसलिए यदि यह माना जाये कि प्रत्येक वस्तु के जब अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक के परिणमन निश्चित हैं तो कार्य के प्रति उपादानभूत वस्तु का जब जैसा परिणमन होगा, तब निमित्तभूत वस्तु की अपनी अनादि क्रम से प्रवर्तमान परिणति भी तदनुकूल ही होगी, अन्यथा नहीं होगी, तो ऐसा मानने पर आपके प्रति हम कई बार कह चुके हैं कि फिर क्यों आप कार्य करने का संकल्प मन में करते हैं ? क्यों मस्तिष्क के सहारे पर कार्यकारणभाव की निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओं के साथ संगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यों अपनी श्रम शक्ति के आधार पर तदनुकूल व्यापार करते हैं। यदि कहा जाये कि यह सब कुछ अनादि कालीन नियतक्रम से प्रवर्तमान परिणमन धारा के अनुसार ही हो रहा है तो फिर इसे यदि एकान्त नियतिवाद न कहा जाये तो एकान्त नियतिवाद अन्य क्या होगा ? जिसे जैन संस्कृति के आगम ग्रन्थों में मिथ्यात्व कहा गया है।

हमें प्रसन्नता है कि आपने प्रत्येक द्रव्य की संयोग काल में उत्पन्न होनेवाली पर्यायों को बाह्य निमित्त सापेक्ष उपादान से उत्पन्न होनेवाली मान लिया है, परन्तु दुःख भी इस बात का है कि उस बाह्य निमित्त का उस पर्यायोत्पत्ति में क्या उपयोग है ? इसे आप स्पष्ट नहीं कर सके हैं।

आपने लिखा है कि 'नियम में अनेकान्त लागू नहीं होता। अनेकान्त की अपनी मर्यादा है, उसे ध्यान में रखकर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्य में (सामान्य की अपेक्षा) जो नित्यता और पर्याय की अपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गयी है, वह अनेकान्त नहीं बनेगा। तब तो यह भी मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा कि द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।'

इस विषय में हमारा निवेदन यह है कि **भो मनीषिणः!** प्रकृत में जिसको आपने नियम कहा है, उसे आप स्थापित तो कर लीजिये, फिर उसके बारे में एकान्त-अनेकान्त की संभावना और असंभावना का विचार कीजिये। सो 'जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है, तब निमित्त भी उसी के अनुसार ही मिलते हैं' इसकी स्थापना ही हमारे पूर्व विवेचन के अनुसार जब नहीं हो सकती है, तब उसके बारे में एकान्त-अनेकान्त की चर्चा ही व्यर्थ है।

आपने लिखा है 'अनेकान्त की अपनी मर्यादा है', परन्तु क्या मर्यादा अनेकान्त की है ? यह तो आपने स्पष्ट ही नहीं किया है। हमारी समझ से तो अनेकान्त की मर्यादा यही है जो आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी समयसार टीका आत्मख्याति के स्याद्वादाधिकार में उसका (अनेकान्त का) स्वरूप कथन के आधार पर बतलाई है। वह स्वरूप कथन निम्न प्रकार है—

एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकान्तः।

अर्थ—एक वस्तु के वस्तुत्व की स्थापना करनेवाली परस्पर विरोधी दो शक्तियों का प्रकाशन ही अनेकान्त है। ऐसा अनेकान्त, द्रव्य में सामान्य की अपेक्षा नित्यता और पर्याय की अपेक्षा अनित्यता की मान्यता में घटित होता ही है तथा उसमें यह दूषण भी प्रसक्त नहीं होता कि 'द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।'

आपने लिखा है 'अकाम निर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जरा का शास्त्र में विधान है - इसमें सन्देह नहीं। पर कर्मशास्त्र के अभ्यासी से यह बात छिपी हुई नहीं है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मों की, कैसी योग्यता के होने पर, कैसी पद्धति से होती है ?' इसके आगे अपनी इच्छानुसार कर्मों के आगमविरुद्ध कुछ नियम बनाकर आपने लिखे हैं। उनमें पाया जानेवाला आगम का वह विरोध आगम प्रमाणसहित आगे दिखलाया जायेगा। सर्व प्रथम तो यह बात है कि जीव के सम्यग्दर्शन, संयम, तप, श्रेणी, मोक्ष आदि का कोई नियत काल नहीं है। जीव के इन परिणामों द्वारा होनेवाले कर्मों का अपकर्षण, उत्कर्षण, स्थितिघात, अनुभागघात, संक्रमण और अविषाकनिर्जरा का काल कैसे नियत हो सकता है ?

राजवार्तिक अध्याय 1 सूत्र 3 में निम्न प्रकार कहा है—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ॥7॥ यदि अवधृत-मोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम्। न चादोऽस्ति। अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेन सिद्ध इति।

कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥9॥ यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्ष-कालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनंतेन, अपरे अनन्तानंतेनापि न सेत्स्यन्तीति। ततश्च न युक्त् 'भध्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपतेः' इति।

चोदनानुपपतेश्च ॥10॥ सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते। ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम् — 'भव्यसय कालेन मोक्षः' इति। यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।

अर्थ—प्रश्न—भव्य के काल के नियमकरि ही मोक्ष की प्राप्ति होय है, याते अधिगमज सम्यग्दर्शन का अभाव है।

टीकार्थ—प्रश्न—जो मोक्ष का काल नियमरूप है। ताते पहिले अधिगमसम्यक्त्व के बलते मोक्ष कार्य की उत्पत्ति होय तो अधिगम सम्यग्दर्शन के फलपना प्राप्त होय सो है नहीं। या कारणते जाकी जिस काल नियम करि मोक्ष है, सो निसर्गज सम्यग्दर्शन के कारणते ही सिद्ध है। याते अधिगम सम्यग्दर्शन का मानना युक्त नहीं है।

समाधान—'भव्य के नियमित काल करि ही मोक्ष की प्राप्ति है' ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है। जाते कर्म की निर्जरा को काल नियमरूप नाही हैं, याते भव्यनि के समस्त कर्मनि की निर्जरापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में काल का नियम नाहीं सम्भवे है। कोई भव्य है ते संख्यात काल करि मोक्ष प्राप्त होंयगे। अर केई असंख्यात काल करि अर केई अनन्त काल करि सिद्ध होयेंगे। बहुरि कोई अनन्तानन्त काल करिके भी सिद्ध नहीं होयेंगे। ताते 'नियमित काल ही करि भव्य के मोक्ष की उत्पत्ति है' ऐसा कहना युक्त नहीं, ऐसा जानना। आगे याही अर्थ का समर्थन करे है—

वार्तिकार्य—बहुरि नियमित काल मात्र ही करि मोक्ष कार्य की उत्पत्ति होय तो सर्व स्याद्वादीनि के ज्ञान यम-नियमादिक उपदेश की प्रवृत्ति का अभाव आवेगा। याते मोक्ष कार्य के प्रति केवल काल ही को असाधारण कारण मानना युक्त नाहीं है।

टीकार्थ—केई स्याद्वादी हैं तो ज्ञान ते मोक्ष कार्य की उत्पत्ति माने हैं, केई क्रियाते ही मोक्ष कार्य की उत्पत्ति माने हैं, केई ज्ञान क्रिया दोऊनि ते मोक्ष कहे हैं। केई यम-नियम धारणा तीन ते मोक्ष कहे हैं। या प्रकार सर्व स्याद्वादीनि के या उपदेश की प्रवृत्ति का अभाव आवे।

तातें नियमित काल करि मोक्ष है, यह कहना युक्त नाहीं। निश्चयकरि जो सर्व कार्य प्रति काल इष्ट होय तो प्रत्यक्ष के विषयस्वरूप अथवा अनुमान के विषयस्वरूप बाह्य अभ्यन्तर कारण के विरोध आवे। कार्य मात्र का आत्मलाभ है सो बाह्य तथा आभ्यन्तर कारण के निकट होते होय है, यह नियम प्रत्यक्ष विषय करि बहुरि अनुमान विषय करि श्रद्ध है, ताका विरोध होयगा। ताते मोक्ष कार्य प्रति काल ही को कारण कहना, यह नियम नाहीं सम्भवे है।

— श्री पण्डित पन्नालालजी न्यायदिवाकरकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक की हिन्दी टीका

अकामनिर्जरा या तप के द्वारा अकाल में भी निर्जरा होती है। इस तथ्य को नियति के ढाँचे में ढालने के लिए आपके द्वारा स्वइच्छानुसार आगम विरुद्ध ये दो नियम बनाये गये हैं — (1) जिस काल में जिन कर्मों की जितने परिमाण में जिन परिणामों को निमित्तकर उत्कर्षित, अपकर्षित, संक्रमित और उदीरित होने की योग्यता होती है, उस काल में उन कर्मों का उतने परिमाण में उन परिणामों को निमित्तकर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा होती है, ऐसा नियम है। (2) बंध के काल में जो स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है, सो उस काल में ही उन कर्मों में ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियतकाल आने पर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मों को निमित्त कर, उन-उन कर्मों का अपकर्षणादिरूप परिणमन होता है।

किसी भी आगम में ऐसे नियमों का उल्लेख नहीं है। इसी कारण इनके समर्थन में कोई भी आगम प्रमाण नहीं दिया गया है। इस बात को छिपाने के लिये भ्रमोत्पादक निम्न शब्द लिखे गये हैं 'कर्म-शास्त्र के अभ्यासी से यह बात छिपी हुई नहीं है' तथा 'यह बात कर्मशास्त्रियों को सुविदित है' किन्तु यह सुविदित है कि आपके द्वारा बनाये गये उपरोक्त दोनों नियम आगमविरुद्ध हैं।

आपके उपर्युक्त नियमों का खण्डन श्री धवल, जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों से भले प्रकार हो रहा है। बन्ध काल के समय या उसके पश्चात् ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं बनता कि अमुक काल में अमुक कर्म-प्रदेशों का ही उत्कर्षण होगा, अमुक प्रदेशों का अपकर्षण होगा, अमुक प्रदेशों की उदीरणा होगी। अमुक प्रदेशों का संक्रमण होगा, अमुक समय में अमुक प्रकृति का उदय होगा, अमुक समय में अमुक प्रकृति का बंध होगा। कुछ कर्म ध्रुव उदयी हैं, कुछ कर्म अध्रुव उदयी हैं, कुछ कर्मों का ध्रुवबंध होता है, कुछ कर्मों का अध्रुव बंध होता है।

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ।
सत्तेत्तालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा॥ 124॥
अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊणं।
समयो छावट्ठीणं बंधो तम्हा दुधा सेसा॥ 126॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड

अर्थात् 47 प्रकृतियों का ध्रुव बंध होता है। शेष 73 प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारकद्विक, चार आयु इन सात प्रकृतियों का जघन्य बंध काल अंतर्मुहूर्त है और 66 प्रकृतियों का एक समय है।

जयधवल पुस्तक 9 पृष्ठ 4-6 के निम्न प्रकरण से अपकर्षण आदि सम्बन्धी आपकी मान्यता का खण्डन हो रहा है—

सूत्र — पढमफड्ढयं ण ओकड्डिज्जदि। टीका — कुदो ? तत्थाइच्छावणाणिक्खेवाणमदंसणादो।

अर्थ—प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप नहीं देखे जाते।

सूत्र—विदियफड्ढयं ण ओकड्डिज्जदि। टीका — तत्थ वि अइच्छावणाणिक्खेवाभावस्स समाणत्तादो।

अर्थ—द्वितीय स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर भी अतिस्थापना और निक्षेप का अभाव पहले के समान पाया जाता है।

सूत्र—एवमणंताणि फड्ढयाणि जहण्णिया अइच्छवणा, तत्तियाणि फड्ढयाणिण ओकड्डिज्जंति।

अर्थ—इस प्रकार अनन्त स्पर्धक जो कि जघन्य अतिस्थापनाप्रमाण है, उतने स्पर्धक अपकर्षित नहीं होते।

सूत्र—अण्णाणि अणंताणि फड्ढयाणि जहण्णणिक्खेवमेत्ताणि च ण ओकड्डिज्जंति। टीका—आदीदो प्पहुडि जहण्णाइच्छावणामेत्तफद्ढयाणमुवरिमफडुयं ताव ण ओकड्डिज्जदि, तस्साइच्छावणसंमवे णिक्खेवस्स विसायादंसणादो। कि कारणं ? णिक्खेवविसयासंभवादो। एत्तो उवरि ओकड्डणाए पडिसेहो णत्थि त्ति पदुप्पायणट्ठ-मिदमाह—

अर्थ—जघन्य निक्षेप प्रमाण अन्य अनन्त स्पर्धक भी अपकर्षित नहीं होते। प्रारम्भ से लेकर जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धकों से आगे का स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि उसकी अतिस्थापना सम्भव होने पर भी निक्षेपविषयक स्पर्धक नहीं देखे जाते। उससे अनन्तर उपरिम स्पर्धक भी अपकर्षित नहीं होता। इस प्रकार जघन्य निक्षेपप्रमाण अनन्त स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता। इसका क्या कारण? क्योंकि निक्षेपविषयक स्पर्धकों का अभाव है। अब इससे ऊपर अपकर्षण का निषेध नहीं है, इस बात का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — जहण्णओ णिक्खेवो जहण्णिया अइच्छावणा च तेत्तियमेत्ताणि फड्ढयाणि आदीदो अयिच्छिदूण तदित्थफड्ढयमोकड्डिज्जइ। टीका — अइच्छावण-णिक्खेवाणमेत्थ संपुण्णत्तदंसणादो।....

अर्थ—प्रारम्भ से लेकर लघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापना प्रमाण जितने स्पर्धक हैं, उतने स्पर्धकों को उल्लंघकर वहाँ जो स्पर्धक हैं, वह अपकर्षित होता है; कयोंकि यहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप पूरे देखे जाते हैं।

सूत्र — तेण परं सव्वाणि फड्ढयाणि ओकड्डिज्जंति।

अर्थ—उससे आगे सब स्पर्धक अकर्षित हो सकते हैं।

ऊपर के प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धक में अपकर्षित होने की योग्यता है। किन्तु स्वगतयोग्यता होते हुए भी अतिस्थापना और निक्षेप के अथवा अकेले निक्षेप के अभाव के कारण पहले अनन्ते स्पर्धकों की अपकर्षणरूप से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अत: आपके इस सिद्धान्त का स्पष्टता खण्डन हो जाता है कि 'उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यता को लिये हुए उपादान होता है तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि उस योग्यता को लिये हुए उपादान हो, किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होने से रुक जाय।' क्योंकि यहाँ उपादान में अपकर्षण होने की योग्यता विद्यमान है, किन्तु अभावरूप अन्य कारण के हेतु से वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकता है, यदि योग्यता न होती तो आचार्य यही कहते कि इतने स्पर्धकों में योग्यता नहीं है। अत: वह अपकर्षित नहीं हो सकते हैं। किन्तु आचार्यों ने अतिस्थापना और निक्षेप का अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यता का अभाव कारण नहीं बतलाया है।

इसी तरह आपके इस दूसरे नियम का भी खण्डन हो जाता है कि 'बंध के समय जिस

कर्म में जिस समय जितने प्रमाण में जिन भावों को निमित्त करके अपकर्षण आदि होने की योग्यता पड़ गई है, वह उस समय उतने ही प्रमाण में उन्हीं भावों को निमित्त करके अपकर्षण आदिरूप परिणमन करेगा ही।' क्योंकि यहाँ आचार्य सब ही स्पर्धकों में समान योग्यता बतला रहे हैं। इसी कारण कहा है कि आगे के सब स्पर्धक अपकर्षित हो सकते हैं। यह नहीं कहा है कि सब स्पर्धक अपकर्षित होंगे ही, और वास्तव में सर्व स्पर्धक अपकर्षित होते भी नहीं है, किन्तु यही कहा कि हो सकते हैं अर्थात् उनमें अपकर्षित होने में कोई बाधा नहीं है। आगे इसी पुस्तक के पत्र 9 पर कहा है कि अन्तिम स्पर्धक से अनन्त स्पर्धक नीचे आकर जो स्पर्धक स्थित है, उन सबका उत्कर्षण हो सकता है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि बीच के अनन्त स्पर्धक ऐसे भी हैं, जिनके अपकर्षण तथा उत्कर्षण दोनों रूप से प्रवृत्ति होने की योग्यता भी है और कोई बाधा (निषेध) भी नहीं है। जब दोनों की योग्यता है और दोनों की बाधा का अभाव है तो आपके नियमानुसार यह निश्चय ही नहीं हो सकता है कि अपकर्षण हो या उत्कर्षण हो। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका स्पष्ट निर्णय हो सकता है कि जब जैसा निमित्त मिलेगा, तब वैसा परिणमन हो जायगा। इस प्रकार आपके दोनों नियम आगम विरुद्ध ही सिद्ध होते हैं।

उदीरणादिसम्बन्धी नियमों के लिये आपने एक यह हेतु दिया है कि 'उपरोक्त नियम वगैर उपशम, निधत्ति, निकाचितकरण नहीं बन सकते हैं, इनमें गड़बड़ी आ जायगी।'

यह बात सत्य है कि बंध के समय कुछ प्रदेशों का उपशम, निधत्ति, निकाचितरूप बंध होना सम्भव है। किन्तु कारणकलाप पाकर यह उपशम, निधत्ति, निकाचितबंध टूट भी जाता है। जैसा कि धवल पुस्तक 6, पृष्ठ 427-28 पर कहा है—

कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणि-काचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

अर्थ—इस प्रकार है—

शंका—जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है?

समाधान—जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचित का स्वमुख ही उदय होता है, ऐसा भी नियम नहीं है; क्योंकि उनकी स्थिति पूर्ण होने पर यदि उनके उदय के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल न हो, तो जाते-जाते वे भी अपनेरूप से फल न देकर, अन्य सजातीय प्रकृतिरूप से फल देने को बाध्य हो सकते हैं। इसी तथ्य को पण्डित फूलचन्दजी ने स्वयं तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ 157 (वर्णीग्रन्थमाला से प्रकाशित) पर स्वीकार किया है।

इस प्रकार उपशम, निधत्त और निकाचितरूप बंध प्रदेशों के विषय में भी कोई एकान्त नियम नहीं बन सकता, क्योंकि कारण कलापों के मिलने पर निधत्त, निकाचितबंध टूट जाता है और उन कर्मप्रदेशों का भी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण आदि होने लगता है।

जिन कर्मप्रदेशों में उपशम, निधत्त या निकाचित बंध नहीं होता है, उनके लिये मात्र इतना ही नियम है कि वे कर्मप्रदेश अपने बंध-समय से एक आवली तक अर्थात् बंधावली या अचलावली काल में उदीरणा आदि के योग्य नहीं होते हैं। उसके पश्चात् अपकर्षण आदि के योग्य हो जाते हैं।

श्री जयधवल पुस्तक 8 पृष्ठ 256 पर बंधावली के पश्चात् अपकर्षण तथा उत्कर्षण का विधान कहा है। श्री धवल पुस्तक 15 पृष्ठ 104 पर बंधावली पश्चात् कर्मों की उदीरणा कही है। श्री जयधवल पुस्तक 6 पृष्ठ 299 पर बंधावली के पश्चात् संक्रमण होना कहा है। इस प्रकार बंध काल से एक आवली पश्चात् ही कर्मों में उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण आदि होने लगते हैं। कालकृत नियम कोई नहीं रहता। अमुक घटी, मुहूर्त, दिवस आदि में ही निश्चितरूप से अपकर्षण आदि होंगे, अन्य घटी, मुहूर्त आदि में नहीं होंगे अथवा इतने काल पश्चात् अपकर्षण आदि होंगे, उससे पूर्व नहीं, ऐसा कालकृत कोई नियम नहीं रहता।

अमुक समय में अमुक कर्म का अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण अवश्य होगा, यदि ऐसा कोई नियम होता तो बजाय बंधावली में अपकर्षणादि की अयोग्यता बतलाने के यह ही कहा जाता कि बंधकाल में जिन कर्मप्रदेशों में जिस काल में उदीरणा आदि होने का नियम बन गया है, उन प्रदेशों में उसी काल में अवश्य उदीरणा आदि होगी, उस काल से पूर्व या पश्चात् वे कर्मप्रदेश उदीरणा आदि के अयोग्य है। किन्तु ऐसा किसी भी आगम में नहीं कहा है, धवल व जयधवल आदि में तो बंधावली का नियम दिया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 278 में भी यह कहा है कि जिस समय जिस प्रकृति का उदय होता है, उस समय उसकी उदीरणा भी होती है, किन्तु कहीं पर कुछ अपवाद भी है।

श्री जयधवल पुस्तक 8, पृष्ठ 256 पर बतलाया गया है कि बंधावली के अनन्तर ही कोई जीव अपकर्षण द्वारा अबाधाकाल में भी निषेक रचना करके, उसके अनन्तर समय में उत्कर्षण कर सकता है।

इससे सिद्ध है कि बंधकाल में कर्मप्रदेशों के उत्कर्षणादि सम्बन्धी कोई नियम नहीं बनता है, किन्तु बाह्य और अंतरंग निमित्तों के अनुसार उत्कर्षण, अपकर्षण संक्रमण, उदीरणादि होते रहते हैं। उदीरणादि का कोई नियत काल नहीं है।

उद्वेलना का उदाहरण देते हुए आपके द्वारा दूसरा हेतु यह दिया गया है कि 'उदीरणादि किस क्रम से होती है और कितने काल में होती है, कर्मशास्त्र की यह सब व्यवस्था बिगड़ जायेगी।'

यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व का उद्वेलना-संक्रमण मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में सबसे जघन्य काल रहकर जिसने सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है, उसके उद्वेलना-संक्रमण नहीं होता है। यदि अधिक काल तक मिथ्यात्व गुणस्थान में ठहर जाये और उद्वेलना-संक्रमण प्रारम्भ भी हो जाये, किन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर उद्वेलना-संक्रमण रुक जाता है और मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृति के कर्मप्रदेशों का सम्यक्त्व प्रकृतिरूप संक्रमण होने लगता है। सम्यग्दर्शन व मिथ्यात्व की प्राप्ति का कोई नियत काल नहीं है, फिर उद्वेलना-संक्रमण का काल नियत कैसे हो सकता है ?

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति की उदीरणा होती है और क्षयोपशम सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व प्रकृति की उदीरणा रुक जाती है और सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा होने लगती है। इस प्रकार सम्यक्त्व व मिथ्यात्व प्रकृतियों की उदीरणा का भी कोई नियत काल नहीं है।

गुणसंक्रमण व सर्व संक्रमण का भी किसी जीव के लिये काल का कोई नियम नहीं है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के पश्चात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है, उसके सम्यक्त्व प्रकृति का गुणसंक्रमण व सर्व संक्रमण नहीं होता है।

उपशम श्रेणी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर दो जीवों ने एक साथ आरोहण किया, अनिवृत्तिकरण में एक कालवर्ती सब जीवों के परिणाम समान होते हैं, अत: इन दोनों जीवों

के परिणाम भी समान चल रहे थे, किन्तु अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में एक की मृत्यु हो जाने पर चौथे गुणस्थान में चला जाता है और दूसरा जीव सूक्ष्म-सांपराय दसवें गुणस्थान में पहुँच जाता है, इस प्रकार पूर्व क्षणवर्ती एक ही परिणाम से उत्तर क्षण में दो प्रकार की उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाती है।

जयधवल पुस्तक 9, धवल पुस्तक 4 आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर यह लिखा गया है। कर्म निर्जरा सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की है। सविपाक निर्जरा तो सभी संसारी जीवों के होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा प्रयत्नपूर्वक सम्यक् तप के द्वारा होती है।

सयमेव कम्मगलणं इच्छारहियाण होइ सत्ताणं।
सविपाकणिज्जरा सा अविपक्वकउवायखवणादो॥ 158॥

— नयचक्र संग्रह, पृष्ठ 63, माणिकचन्द ग्रंथमाला

अर्थात् — जीवों के बिना इच्छा के जो कर्म गलन होता है, वह सविपाक निर्जरा है। उपायपूर्वक जो कर्मों का क्षय होता है, वह अविपाक निर्जरा है।

तप के लिये कोई काल नियत नहीं है, अत: अविपाक निर्जरा के लिये भी कोई काल नियत नहीं है।

करणानुयोगसम्बन्धी विषयों का विचार

इसके आगे जो हेतु दिये गये हैं, उनका उपरोक्त दोनों नियम अथवा नियति अपर नाम क्रमबद्धपर्याय के सिद्ध करने से कोई सम्बन्ध ही नहीं है अर्थात् प्रकृत विषय से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। न मालूम वे यहाँ इस प्रकरण में क्यों लिखे गये हैं ? इनसे तो कुछ ऐसा सिद्ध करने का आशय प्रतीत होता है कि सर्व कार्य मात्र उपादान से ही होते हैं, निमित्त तो अकिंचित्कर है। यदि ऐसा है तो यह हेतु निमित्त सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में लिखे जाने चाहिये थे। अप्रासंगिक होते हुये भी उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

हेतु नम्बर 3 व 4 :— एक ही परिणाम या योग निमित्तभूत होते हुये, भिन्न-भिन्न प्रकृतियों में भिन्न स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबन्ध का भेद कौन करता है ? इस प्रकार प्रश्न करके छोड़ दिये गये हैं। ये किस प्रकार हेतु है, स्पष्ट नहीं किया गया है।

इन दोनों प्रश्नों से यह आशय प्रतीत होता है कि एक ही निमित्तकारण होने से एक

ही कार्य होना चाहिये था, भिन्न-भिन्न नहीं। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक कारण से एक ही कार्य हो सकता है, भिन्न नहीं। एक ही कारण से भिन्न भी कार्य हो सकते हैं। जैसे एक घड़े पर एक लाठी मारी। लाठी लगनेरूप एक ही कारण होने पर भी भिन्न-भिन्न आकार के तथा भिन्न-भिन्न प्रमाण (पैमायश) के कपालों का उपपाद हो जाता है। एक ही अग्नि के निमित्त से ईंधन के जलने का, भात आदि पचने तथा प्रकाश होनेरूप भिन्न कार्य होते हैं।

कज्जणाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि इदि एदमवि ण धडदे, एयादो मोग्गरादो बहुकोडिकवालोवलंभा। — धवल पुस्तक 1, पृष्ठ 219

अर्थ—इस प्रकार है —

शंका—अनेक प्रकार के कार्य होने से उनके साधनभूत अनेक प्रकार के कारणों का अनुमान किया जाता है ?

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि एक मुद्गर से अनेक प्रकार के कपालरूप कार्य की उपलब्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि अन्य सहकारी कारणों से भी जीव के एक ही परिणाम व योग से भिन्न-भिन्न प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग बंध में भेद हो जाता है। इसके लिये आगम प्रमाण निम्न प्रकार है—

कधमेकसंकिलेसादो असंखेज्जलोगमेत्तअणुभागछट्ठाणाणं बंधो जुज्जदे ? ण एस दोसो, एक्कसंकिलेसादो असंखेज्जलोगमेत्तअणुभाबंधज्झवसाणट्ठाणसहकारि-कारणाणं भेदेण सहकारिकारणमेत्तअणुभागट्ठाणाणं बंधाविरोहादो। — *धवल पुस्तक 12, पृष्ठ 380*

अर्थ इस प्रकार है—

शंका—संक्लेश से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागसम्बन्धी छह स्थानों का बन्ध कैसे बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक संक्लेश से असंख्यात लोकप्रमाण छह स्थानों से सहित अनुभागबन्धाध्यवसानों के सहकारी कारणों के भेद से सहकारी कारणों के बराबर अनुभागबंधस्थान होने में कोई विरोध नहीं आता।

णाणावरणीएण सह जदि सेसछकम्मेहि उक्कस्सट्ठिदी पबद्धा तो णाणवरणीएण सह सेसछकम्माणि वि ट्ठिदिं पडुच्च उक्कस्साणि चेव होंति। जदि पुण विसेसपच्चएहि

सेसकम्माणि विगलाणि होंति तो णाणावरणट्ठिदीए उक्कस्सीए संतीए सेसकम्मट्ठिदी अणुक्कसा होदि। *— धवल पुस्तक 12, पृष्ठ 451*

अर्थ—ज्ञानवरणीय के साथ यदि शेष छह कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बाँधी गई है तो ज्ञानवरणीय के साथ शेष छह कर्म भी स्थिति की अपेक्षा उत्कृष्ट ही होते हैं। परन्तु यदि विशेष प्रत्ययों से शेष कर्म विकल होते हैं तो ज्ञानवरणीय की स्थिति के उत्कृष्ट होने पर भी शेष कर्मों की स्थिति अनुत्कृष्ट होती है।

तीसरी बात यह है कि कर्म-प्रकृति विशेष के कारण भी बन्ध में विभिन्नता हो जाती है।

हेतु नम्बर 5 भी प्रश्नरूप में ही है। यह नहीं बतलाया कि उससे क्या सिद्ध करना अभिप्रेत है ? प्रश्न है :— 'किस समय में विस्रसोपचय में से किन कर्मवर्गणाओं का कितने परिमाण में बंध होगा, यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्ध योग्य कर्मवर्गणाओं का ही बन्ध होता है, अन्य का नहीं, ऐसा फर्क क्यों पड़ता है ?'

यह कहना कि विस्रसोपचाय में से कुछ कर्मवर्गणायें बन्ध योग्य होती हैं तथा कुछ नहीं-युक्त नहीं है। क्योंकि कर्मवर्गणा का लक्षण ही यह है कि वह द्रव्यकर्मरूप परिणमन करने के योग्य हैं। द्रव्यकर्मरूप परिणमन करने का नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये हैं। श्री वीरसेनस्वामी ने श्री धवल पुस्तक 12 पृष्ठ 276-77 पर यह ही उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धों में समान शक्ति होते हुए भी, जीव में इतनी शक्ति नहीं है जो सर्व कर्मवर्गणाओं को एक समय में कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नहीं दिया कि जिन कर्मवर्गणाओं में योग्यता है, वही कर्मरूप परिणमती हैं, शेष योग्यता नहीं होने के कारण नहीं परिणमती हैं। प्रत्युत सबमें समान शक्ति (योग्यता) मानी गई है।

श्री धवल, पुस्तक 12, पृष्ठ 276-277 पर दिये गये निम्न शंका-समाधान से विषय स्पष्ट हो जाता है—

पाणादिवादो जदि णाणावरणीयबंधस्स पच्चओ होज्ज तो तिहुवणे ठिदकम्मइयखंधा णाणावरणीयपच्चएण अक्कमेण किण्ण परिणमंते, कम्मजोगत्तं पडि विसेसाभावादो ? ण, तिहुवणब्भंतर कम्मइखंधेहि देसविसयपच्चासत्तीए अभावादो।

अर्थ—शंका—यदि प्राणातिपात ज्ञानावरणीय के बंध का कारण हैं, तो तीनों लोकों में स्थित कार्मणस्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्याय स्वरूप से एक साथ क्यों नहीं परिणत होते हैं ? क्योंकि उनमें कर्मयोग्यता की अपेक्षा समानता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि, तीनों लोकों के भीतर स्थित कार्मणस्कन्धों में देशविषयक प्रत्यासत्ति का अभाव है।

नोट — यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्व कार्मणस्कन्धों में कर्मयोग्यता की अपेक्षा समानता कही गई है। समाधान में इसको अस्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि यह उत्तर नहीं दिया गया है कि जिनमें योग्यता है, वही बँध गई और शेष नहीं बँधी है।

जदि एयक्खेत्तोगाडा कम्मइयखंधा पाणादिवादादो कम्मपज्जाएण परिणमंति तो सव्वलोगगयजीवाणं पाणादिवादपच्चएण सव्वे कम्मइयखंधा अक्कमेण णाणावरणीयपज्जाएण परिणदा होंति। ण च एवं, विदियादिसमएसु कम्मइयखंधाभावेण सव्वजीवाणं णाणावरणीयवंधस्य अभावप्पसंगादो। ण च एवं, सव्वजीवाणं णिव्वाणगमणप्पसंगादो ? एत्थ परिहारो वुच्चदे-पच्चासत्तीए एगोमाहणविसयाए संतीए वि ण सव्वे कम्मइयक्खंधा णाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमंति, पत्तं दज्झं दहमाणदहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसतीए अभावादो।

अर्थ—शंका—यदि एक क्षेत्रावगाहरूप हुए कार्मणस्कंध प्राणातिपात के निमित्त से कर्म पर्यायरूप परिणमते हैं तो समस्त लोक में स्थित जीवों के प्राणातिपात प्रत्यय के द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीयरूप पर्याय से परिणत हो जाने चाहिये। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि वैसा होने पर द्वितीयादि-समयों में कार्मणस्कन्धों का अभाव हो जाने से सब जीवों के ज्ञानावरणीय का बन्ध न हो सकने का प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से समस्त जीवों के मुक्ति का प्रसंग अनिवार्य है।

समाधान—उपर्युक्त शंका का परिहार किया जाता है—एक अवगाहनविषयक प्रत्यासत्ति के होने पर भी कार्मण स्कंध एक समय में ज्ञानावरणीय स्वरूप से नहीं परिणमते हैं, क्योंकि प्राप्त ईंधन आदि दाह्य वस्तु को जलानेवाली अग्नि के समान **जीवों में उस प्रकार की शक्ति नहीं है।**

जीव में एक समय में अभव्यों से अनन्तगुणे तथा सिद्धों से अनन्तवें भागप्रमाण परमाणु बाँधने की शक्ति है। उसमें योग के निमित्त से यह भेद आता है कि कितने परिमाण

में कर्मवर्गणायें किसी एक समय में बँधेगी, जिस समय जिन वर्गणाओं से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है; उस समय यही वर्गणायें बँध जाती हैं। जैसे आहारवर्गणा, वचनवर्गणा एवं मनोवर्गणा तीनों वर्गणायें प्रत्येक समय में आती है, किन्तु जीव के प्रदेशों के परिस्पन्द का जिस समय इन तीनों में से जिस वर्गणा से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, उस समय वह ही योग कहलाता है।

उपरोक्त करणानुयोग का सर्व विषय छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। इसका आधार मात्र आगम प्रमाण है, जो युक्तियों व तर्क का विषय नहीं है। श्री धवल पुस्तक 14 पुस्तक 151 पर कहा है कि आगम तर्क का विषय नहीं है तथा पृष्ठ 359 पर लिखा है कि युक्ति के द्वारा सूत्र बाधित नहीं किया जा सकता है। जो प्रश्न यहाँ उठाये गये हैं, उन सबका समाधान श्री धवल, जयधवल आदि कर्म-ग्रन्थों में उपस्थित है। निमित्तकारण की मुख्यता से ही यह सर्व व्यवस्था, विशेषता या भेद बतलाये हैं। आश्चर्य इस बात का है कि फिर भी उन्हीं ग्रन्थों के टीकाकार ही उक्त प्रश्नों को उठाकर उन प्रमाणों के विरुद्ध यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सब व्यवस्था, विशेषता या भेद एकान्ततः मात्र उपादान की योग्यता के कारण ही होते हैं। इस एकान्त मिथ्यावाद को सिद्ध करने के लिये यह भी मान लिया गया है कि ऐसी भी कर्मवर्गणायें हैं, जो बंध योग्य नहीं है अर्थात् द्रव्यकर्मरूप परिणमन करने योग्य नहीं है। जो किसी भी प्रकार आगम सम्मत नहीं हो सकता है।

छठे का उत्तर आगे दिया गया है।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्त की निमित्तता कार्य के समय में मानी गयी है।' इतना लिखने के बाद आपने उपादान के कार्यरूप परिणत होते समय निमित्त में होनेवाले व्यापार के विषय में तीन आपत्तियाँ उपस्थित की है। वे निम्न प्रकार हैं—

पहली आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादान के कार्यरूप परिणत होते समय, निमित्त का व्यापार यदि उसकी अपनी परिणति के लिये होता है तो फिर उसने उक्त उपादान की कार्य परिणति में क्या किया?'

दूसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादान के कार्यरूप परिणत होते समय निमित्त का व्यापार यदि उपादान की परिणति के लिये होता है तो फिर उपादान में उपादान के व्यापार की तरह निमित्त का भी व्यापार दिखना चाहिये, साथ ही निमित्त का व्यापार निमित्त में नहीं दिखना चाहिये।'

तीसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादान की कार्यरूप परिणति होते समय निमित्त का व्यापार यदि उसकी अपनी परिणति तथा उपादान की परिणति दोनों के लिये होता है, तो फिर इस तरह निमित्त में एक साथ दो तरह के व्यापार मानना अनिवार्य हो जायेगा, जो कि जिनागम के विरुद्ध है।'

इन आपत्तियों का निराकरण आपने जो किया है, वह निम्न प्रकार है:—

'अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादान के कार्य के प्रति दूसरे एक या एक से अधिक जिन द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में निमित्त-व्यवहार होता है, वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसी का कार्य नहीं करता, परन्तु उन सब द्रव्यों के उस उस काल में उस उसरूप परिणमन की द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होता है और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनों की इस बाह्य व्याप्ति को देखकर ही उनमें निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध स्वीकार किया गया है, ऐसा मानना आगमानुकूल है।'

इस विषय में आगम की दृष्टि यह है कि उपादान की कार्य के साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत हुआ करता है। लेकिन जिसे लोक में या आगम में निमित्त कहा गया है, वह यद्यपि उस उपादानभूत अन्य वस्तु के कार्यरूप परिणत नहीं होता, फिर भी जब तक निमित्त अपना तद्नुकूल व्यापार नहीं करता है, तब तक उस उपादान की वह विवक्षित कार्यरूप परिणति नहीं होती है — ऐसा लोक में देखा भी जाता है और आगम में प्रतिपादित भी किया गया है, अत: इस प्रकार अन्वयव्यतिरिक के आधार पर उस उपादानभूत वस्तु की कार्यपरिणति के साथ उस निमित्तभूत वस्तु की कालप्रत्यसत्तिरूप कारणता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जिस क्षण में निमित्त का उपादानभूत वस्तु की कार्य-परिणति के अनुकूल व्यापार होता है, उस क्षण में ही उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है और उस निमित्तभूत वस्तु का उस उपादानभूत वस्तु के विवक्षित कार्य के अनुकूल जब तक व्यापार नहीं होता है या व्यापार बीच ही में रुक जाता है तो उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणति या तो होती नहीं, अथवा या फिर बीच में बन्द हो जाती है।

काल प्रत्यासत्ति का अर्थ यह है कि जिस काल में निमित्त अपना व्यापार करता है, उसी काल में उपादान अपने कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त की उस कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति इस तरह सिद्ध होती है कि निमित्त का कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्य होता है तथा निमित्त का कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार न होने पर

कार्य नहीं होता है। इसी तरह निमित्त की कार्योत्पत्ति के साथ बहिर्व्याप्ति पायी जाती है — इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि निमित्त के कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है, परन्तु निमित्त स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता है अथवा निमित्त के गुण-धर्म कार्य में नहीं प्रविष्ट होते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि निमित्त का कार्योत्पत्ति के अनुकूल जो भी व्यापार होता है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार उसके साथ उस समय निमित्त का नहीं होता है अर्थात् एक समय में एक ही व्यापार उसका होता है, परन्तु वही एक व्यापार स्वयं अपने में होनेवाले परिणमन का उपादान होता है और अन्य वस्तु के उसके साथ प्रतिनियत परिणमन में, वही निमित्त (सहायक) होता है। इस तरह निमित्त में अपना और पर का कार्य करने के लिये दो व्यापार एक साथ होते हैं, ऐसी मान्यता हमारी नहीं है। हमारी मान्यता तो यह है कि वही एक व्यापार अपने कार्य का उपादान होता है और पर के कार्य का वही निमित्त होता है। इसी तरह कार्य एक होकर भी अपने उपादानकारण की अपेक्षा उपादेय होता है और अपने निमित्त-कारण की अपेक्षा वही नैमित्तिक भी होता है। इस विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि आपने जो तीन आपत्तियाँ निमित्तों की कार्य में प्रयोजनभूत (सार्थक या उपयोगी) मानने में उपस्थित की है, वे नहीं आती हैं। जिनागम में यही तत्त्व प्रतिफलित किया गया है। हमारा विश्वास है कि आपका वह भय इस स्पष्टीकरण से दूर हो जायेगा, जिसके कारण आप निमित्तों को अकिंचित्कर मानने के लिये तैयार हुए हैं।

आपने लिखा है कि 'सब द्रव्यों के उस काल में उस उसरूप परिणमने की द्रव्यपर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है आदि'

आपके ऐसा लिखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सभी प्रकार के निमित्तों को आप एक ही आसन पर बिठला देना चाहते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि आप इस तरह प्रत्यक्ष, तर्क और आगम का अपलाप कर रहे हैं, क्योंकि आगम में प्रेरक और उदासीन दो प्रकार के निमित्त बतलाये गये हैं। जो वस्तु को उसकी अपनी कार्यपरिणति में प्रेरणा दें, वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। जैसे स्वर्ण का आभूषण बनने में स्वर्णकार और हथोड़ी आदि प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं तथा जो वस्तु को उसकी अपनी कार्य परिणति में प्रेरणा न देते हुए भी निमित्त हों, वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। जैसे आकाश, धर्म, अधर्म और काल, ये तो सामान्य उदासीन निमित्त हैं तथा जल, मछली के लिए विशेष उदासीन निमित्त है, रेल की

पटरी रेलगाड़ी के लिए विशेष उदासीन निमित्त है, छाया पथिक के लिए विशेष उदासीन निमित्त है — आदि। रेलगाड़ी के गमन में ऐंजन व ड्राइवर भी प्रेरक निमित्त ही होते हैं।

आगे आपने लिखा है—'शब्द विवक्षित वाक्यों का रूप लेकर सीमित अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं आदि।' और फिर इसके अन्त में आपने लिखा है कि 'प्रकृत में 321-322 गाथा में निश्चयनय की मुख्यता से लिखी गयी हैं। वह इसी से स्पष्ट है कि उससे अगली गाथा से '**एवं जो णिच्छयदो**' यह पाठ दिया गया है, हम इस गाथा में पठित '**णिच्छयदो**' पद को गौण कर दें और उनका अपने विकल्प के अनुसार अर्थ करें, यह उचित नहीं है।'

इस पर हमारा कहना यह है कि अर्थ करने की यह पद्धति है कि जहाँ पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन हो, वहाँ पर व्यवहारनय का कथन उसके प्रतिपक्षीपने के रूप में स्वीकार होता है। लेकिन आपके कथनानुसार यदि वह निश्चयनय का कथन है तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहारनय का कथन तो स्वीकार करना ही चाहिये, परन्तु जब आप व्यवहारनय के विषय को उपचरित, कल्पनारोपित, असद्भूत, मिथ्या आदि रूप मानते हैं तो फिर कैसे माना जाये कि आप व्यवहारनय के कथन को भी स्वीकार करते हैं।

हम कई जगह कह चुके हैं कि निश्चय और व्यवहार, ये दोनों वस्तु में विद्यमान सदात्मक अंश या धर्म ही हैं, उपचरित, कल्पित या असदात्मक नहीं हैं। इनमें से व्यवहार धर्मसापेक्ष निश्चय धर्म का प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान, निश्चयनय है और निश्चय धर्म सापेक्ष व्यवहार धर्म का प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान, व्यवहारनय है।

इस तरह आप वस्तु के वास्तविक वस्त्वंशरूप व्यवहाररूप धर्म को और उसके प्रतिपादक व ज्ञापक वास्तविक व्यवहारनयों को स्वीकार तो कर लीजिए, ताकि यह समझ में आ जाये कि आप निश्चय धर्म और निश्चयनय के साथ-साथ व्यवहार धर्म और व्यवहारनय को भी वास्तविक स्वीकार करते हैं। तभी तो निश्चयनय में अंशरूप नयात्मकता और उसमें व्यवहारनय सापेक्षता सिद्ध होगी, अन्यथा उसमें नयात्मकता तो आने से रही और उसमें प्रमाणात्मकता इसलिए नहीं आ सकती है कि वस्तु निश्चय मात्र ही नहीं है, क्योंकि वह व्यवहारात्मक भी है, अतः आपकी मान्यता प्रमाणाभास में ही गर्भित हो जायेगी।

एक बात और है आप स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 321 व 322 वीं गाथाओं में प्रतिपादित विषय को निश्चयनय का विषय मानते हैं, क्योंकि आप कहते हैं कि 323 वीं

गाथा में '**णिच्छयदो**' पद का पाठ है, लेकिन यह ख्याल कीजिए कि यह '**णिच्छयदो**' पद निश्चयनय का वाचक नहीं है, किन्तु असंशयित भाव या आस्तिक्यभाव अथवा ज्ञान की निर्णयात्मक स्थिति का ही बोधक है। इस पर आपको विचार करना चाहिये।

आगे आपने अपने अभीष्ट अर्थ को संपुष्ट करने के लिये पद्म-पुराण का '**यत्प्राप्तव्यं**' इत्यादि पद्य, पण्डित भैया भगवतीदासजी का '**जो जो देखी वीतराग ने**' इत्यादि पद्य और स्वयंभूस्तोत्र का '**अलंघ्यशक्तिः**' इत्यादि पद्य, इन सबका उद्धरण दिया है। चूँकि इनके विषय में पहले हम विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं, अतः यहाँ इनके विषय में कुछ नहीं लिखा जा रहा है। इतना ध्यान अवश्य ही आपको दिला देना चाहते हैं कि '**अलंघ्यशक्तिः**' पद से भवितव्यता को अटल शक्ति (जिसकी शक्ति को कभी टाला नहीं जा सकता है) मानकर आप उससे जो अपनी अभिलषित पुष्टि करना चाहते हैं, वह इस तरह हो नहीं सकती है। कारण '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का शक्ति को लाँघकर यानी शक्ति का अतिक्रमण करके — ऐसा अर्थ करके स्वामी समन्तभद्र उस पद्य से इतना ही भाव प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्राणी अशक्त है, असमर्थ है, इसलिए वह कोई कार्य भवितव्यता (होनहार) की शक्ति का अतिक्रमण करके कदापि नहीं कर सकता है। '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का अटल शक्ति अर्थ जैन संस्कृति की मान्यता के बिल्कुल विपरीत है, इसलिए स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक-शिरोमणि द्वारा जैन संस्कृति के विरुद्ध भी कथन किया जा सकता है, यह असंभव बात है।

आगे आपने लिखा है कि — पूर्वबद्ध आयुकर्म में जितना स्थितिबन्ध होता है, उसमें भोगकाल में उत्कर्षण तो संभव नहीं, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है। इस नियम को ध्यान में रखकर जिन जीवों में यह निषेक स्थिति अपकर्षण नहीं होता, उन जीवों का वह आयुकर्म इस नियम का अपवाद है — यह दिखलाने के के लिये तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 2, सूत्र 53 में नियम वचन आया है। उस पर से बहुत से बन्धु यह फलित करते हैं कि 'यह व्यवहार कथन न होकर, निश्चय कथन है आदि।'

आपके इस कथन से हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि आप कालमरण और जिसे अकलंक आदि आचार्यों के प्रमाणों के आधार पर हम अकालमरण कहते हैं, उसे भी निश्चयनय का विषय मानते हैं और इसके आधार पर आप हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं कि 'तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2, सूत्र 53 में जो नियम आया है, इस पर से बहुत से बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है।'

वास्तव में कालमरण और अकालमरण का जितना भी कथन आगम में पाया जाता है, वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने आप में अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप कालमरण को और अकालमरण को भी, कालमरण की ही संज्ञा देकर इसे भी निश्चयनय का ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यता की पुष्टि के लिये यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 के 53 वें सूत्र का कथन तथा अकलंकदेव आदि आचार्यों का इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनय का कथन है।

आपके इस विवेचन से हम यह समझे कि आप उसे निश्चयनय का कथन मानते हैं, जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और उसे व्यवहारनय का कथन मानते हैं, जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो। परन्तु निश्चयनय और व्यवहारनय की ये परिभाषायें आगम की परिभाषायें नहीं हैं। आगम की परिभाषा में तो ये है कि जिस कथन या ज्ञान का विषय वस्तु का निश्चयांश या निश्चयरूप धर्म होता है, वह तो निश्चयनय कहलाता है और जिस कथन या ज्ञान का विषय वस्तु का व्यवहारांश या व्यवहाररूप धर्म होता है, वह व्यवहारनय कहलाता है।

तात्पर्य यह है और जैसा कि इस तत्त्वचर्चा के प्रसंग में कई स्थानों पर आपको देखने के लिये मिलेगा कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी दो अंश या धर्म-युगल के रूप में अनन्त अंश या धर्मयुगल पाये जाते हैं। इनमें से प्रश्न नम्बर 17 के तृतीय दौर के हमारे प्रपत्र में कतिपय वैसे अंश या धर्मयुगलों का कथन आपको देखने के लिये मिलेगा। प्रत्येक वस्तु के इन अंश या धर्म-युगलों में से प्रत्येक अंश या धर्म-युगल का एक भाग निश्चयरूप अंश या धर्म का है और दूसरा भाग व्यवहाररूप अंश या धर्म का है। इस तरह वस्तु परस्पर विरोधी दो अंशो या धर्मों का समुदाय या आधार सिद्ध होती है। जैसे वस्तु सद्रूप है और असद्रूप भी है; वस्तु नित्यरूप है और अनित्यरूप भी है; वस्तु अभेदरूप है और भेदरूप भी है; वस्तु एकरूप है और अनेकरूप भी है; वस्तु तद्रूप है और अतद्रूप भी है; वस्तु द्रव्यरूप है और पर्यायरूप भी है; वस्तु गुणरूप है और पर्यायरूप भी है; वस्तु कार्यरूप है और कारणरूप भी है; वस्तु उपादानरूप है और निमित्तरूप भी है, इत्यादि परस्परविरोधी वस्तु के दो अंश या धर्मों को पकड़कर उनके युगल बनाते जाइये तथा इन अंश या धर्म-युगलों में से प्रत्येक अंश या धर्मयुगल के पूर्व पूर्व के भाग की शब्दरूप निश्चयनय का प्रतिपाद्य और ज्ञानरूप निश्चयनय का ज्ञाप्य तथा उन्हीं अंश या धर्म-युगलों में से प्रत्येक अंश या धर्म-युगल के

उत्तर के भाग को शब्दरूप व्यवहारनय का प्रतिपाद्य और ज्ञानरूप व्यवहारनय का ज्ञाप्य समझते जाईये।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि निश्चयनय की तरह व्यवहारनय का भी वाच्य या ज्ञेय वस्तु में अपने-अपनेरूप में विद्यमान अंश या धर्म ही होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कह सकते हैं कि निश्चयनय उसे कहते हैं, जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और व्यवहारनय उसे कहते हैं, जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो।

जहाँ तक हम आपकी दृष्टि को समझ सके हैं—यह है कि आपने जो निश्चयनय और व्यवहारनय की परिभाषायें निश्चित की हैं, उनके आधार पर ही आप व्यवहारनय को असत्यार्थ, असद्भूत, अवास्तविक, उपचरित, आरोपित, कल्पित, मिथ्या आदिरूप मान लेते हैं, क्योंकि आपकी दृष्टि से व्यवहारनय का प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य कोई विषय सत्यार्थ नहीं रहता है और इससे विपरीत निश्चयनय को सत्यार्थ, सद्भूत, वास्तविक, अनुपचरित, अनारोपित, अकल्पित, सत्य आदि रूप मान लेते हैं, क्योंकि आपकी दृष्टि से निश्चयनय का प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य विषय सत्यार्थ रहता है। परन्तु हम आपसे पूछ सकते हैं कि यदि द्रव्य वास्तविक है तो क्या पर्याय वास्तविक नहीं है। ध्रौव्य वास्तविक हे तो क्या उत्पाद और व्यय वास्तविक नहीं हैं? गुण वास्तविक है तो क्या उसकी पर्याय वास्तविक नहीं है। नित्यता वासतविक है तो क्या अनित्यता वास्तविक नहीं है, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि ये सभी वास्तविक हैं, लेकिन एक निश्चयरूप है और दूसरा व्यवहाररूप। चूँकि दोनों ही अंश या धर्म एक ही वस्तु के अंश या धर्म जैन संस्कृति में माने गये हैं, इसलिए प्रत्येक वस्तु को वहाँ पर (जैन संस्कृति में) अनेकान्तात्मक माना गया है।

अब प्रश्न उठता है कि जब उक्त प्रकार के एक-एक अंश या धर्म युगल में विद्यमान दोनों अंश या धर्म वास्तविक होते हुए परस्पर विरोधी हैं तो एक वस्तु में उनका रहना कैसे संभव है? तो इसका उत्तर जैन संस्कृति में स्याद्वाद के सिद्धान्त को अपनाकर दिया गया है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी दोनों वास्तविक अंशों या धर्मों की स्थिति की भिन्न-भिन्न अपेक्षायें हैं। यानी यद्यपि दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं, फिर भी इस आधार पर वे एक ही वस्तु में एक साथ रहते हैं कि उनके रहने में अपेक्षा भेद पाया जाता है अर्थात् जिस अपेक्षा से वस्तु नित्य है, उस अपेक्षा से वस्तु अनित्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूप में वस्तु नित्य है तो पर्यायरूप में वही वस्तु अनित्य है। अब यदि द्रव्य भी वास्तविक है और उसी पर्याय भी

वास्तविक हैं तो फिर वस्तु में पायी जानेवाली नित्यता की तरह, उसमें पायी जानेवाली अनित्यता भी वास्तविक ही सिद्ध होती है—उपचरित, कल्पित, आरोपित, मिथ्या, असद्भूत आदिरूप में उसे नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार की व्यवस्था उपादान और निमित्तकारणों के विषय में भी जानना चाहिये अर्थात् उपादान कार्य का निश्चय कारण है यानि कार्य का आश्रय वही है और निमित्त व्यवहार कारण है यानि उपादान की कार्यरूप परिणति में उपादान का वह सहायकमात्र है, आश्रय कारण नहीं है। क्योंकि जब एक वस्तु के गुण-धर्म दूसरी वस्तु में प्रविष्ट नहीं होते तो वह आश्रय कारण कैसे हो सकता है ? लेकिन यदि निमित्त कार्य का आश्रय नहीं है तो इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह कार्य में उपादान का सहयोगी या सहायक भी नहीं है, क्योंकि कार्यरूप परिणति में उपादान को उसकी (निमित्त की) सहायता तो अपेक्षित रहती ही है, यह बात अनुभव सिद्ध है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगमप्रसिद्ध भी है। अब आप ही बतलाइये कि इस स्थिति में निमित्त को अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह वस्तु अपने कार्य की उपादान होते हुए भी अन्य वस्तु के कार्य की निमित्त भी अन्वयव्यतिरेक के आधार पर हुआ करती है; परन्तु यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने की है कि वह वस्तु अपने जिस व्यापार से अपने कार्य की उपादान है, उसी व्यापार से अन्य वस्तु के कार्य की वह निमित्त (सहायक) है। इसलिए वस्तु में द्विक्रियाओं के एक साथ रहने की जो आपत्ति दी जाती है, वह नहीं जाती है।

हमारी आपसे प्रार्थना है कि उपर्युक्त तथ्य को पहिचानिये और जब आगम का सही अर्थ करने लग जाइये। इससे न केवल हमारा आपका विवाद समाप्त हो जायेगा, बल्कि हम और आप मिलकर भोले संसारी प्राणियों को ऐसा प्रकाश-पुंज दे सकेंगे, जिससे उनका कल्याणमार्ग प्रशस्त होगा।

आगे अपने लिखा है कि 'यह तो आगम के अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव प्रथम, द्वितीय और तृतीय समय में तथा अधिक-से-अधिक चौथे समय में उत्तरभव को अवश्य धारण कर लेता है' आदि।

इस विषय में हमारा कहना है कि आगमाभ्यासी व्यक्ति तो यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि बद्धायुष्क जीव का अकालमरण नहीं होता, क्योंकि उसका आबाधा काल निश्चित हो चुका है।

परभविआउए वद्धे पच्छा भुंजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि।

— धवल पुस्तक 10 पृष्ठ 237

अर्थ—परभवसंबंधी आयु के बँधने के पश्चात्, भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता।

तथा च जैसे नियत समय पर मरनेवाला अबद्धायुक्त जीव मरण से अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयु का बन्ध करता है और तदनुसार वह 1-2-3-4 समय में आयु के उदयानुसार यथास्थान में जन्म ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अकालमरण यानी उदीरणामरण करनेवाला जीव भी उदीरणा के पश्चात् मरने से अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयु का बन्ध करके उसके अनुसार वह भी 1-2-3-4 समय में आयु के उदयानुसार यथास्थान जन्म ग्रहण किया करता है। यह आगमानुसार जमी हुई व्यवस्था है।

आपने आगे इसमें लिखा है कि 'अकालमरण स्वीकार करने से अकालजन्म भी स्वीकार करना होगा।' सो आपको यह बात भी गलत है, कारण कि आगम में अकालमरण तो बतलाया गया है, परन्तु अकाल जन्म का विवेचन कहीं पर भी आगम में नहीं पाया जाता है। इसका कारण भी यह है कि भुज्यमान आयु की उदीरणा हो सकती है, अतः आगम में अकालमरण का कथन किया गया है, परन्तु बंध हुए बिना मरण होता नहीं और पूर्वबद्ध आयु के अनुसार ही जन्म होता है, अतः अकाल जन्म का प्रश्न ही पैदा नहीं होता और यही कारण है कि आगम में अकाल जन्म का कथन नहीं किया गया है।

आगे यह भी आपने लिखा है कि 'आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि तो जड़ हैं, ये जानते नहीं कि ऐसी अनिश्चित अवस्था के रहते हुए कहाँ इस जीव को ले जाया जाये? आदि।'

इसका उत्तर यह है कि कालमरण और अकालमरणवाले जीव के आगामी आयु का उदय एक समान होता है तो जिस प्रकार कालमरण करनेवाले जीव आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि जड़ कर्म के सहारे से यथास्थान पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार की व्यवस्था अकालमरण करनेवाले जीवों के विषय में भी जानना चाहिये। कृपया आगम का निम्न वचन देखिये—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ॥ 1-66॥

— परमात्मप्रकाश

अर्थ—यह आत्मा पंगु के समान है, अपने आप न कहीं जाता है और न आता है। तीनों लोक में इस जीव को कर्म ही ले आता है और कर्म ही ले जाता है।

वास्तविक बात यह है कि अकालमरण के प्रकरण में आपके प्रपत्र में विचारणीय बातें निम्नलिखित हैं—

(1) आप नियतिवादी हैं, इसलिये आपकी दृष्टि में कालमरण और अकालमरण में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अकालमरण का भी कालमरण के समान समय नियत है।

(2) यद्यपि आगम में अकालमरण का विवेचन पाया जाता है, परन्तु वह विवेचन व्यवहारनय से ही किया गया है।

(3) आपकी दृष्टि में हम अकालमरण को निश्चय पक्ष स्वीकार करते हैं ?

इन तीन बातों में से तीसरी बात के विषय में तो हम पहले ही कह चुके हैं कि हम न तो कालमरण को निश्चय पक्ष मानते हैं और न अकालमरण को ही निश्चय पक्ष मानते हैं, किन्तु हमारी दृष्टि में कालमरण और अकालमरण दोनों ही व्यवहार पक्ष है।

दूसरी बात के विषय में हम इस ढंग से विचार करेंगे कि आप भी अकालमरण को व्यवहार पक्ष स्वीकार करते हैं और हम भी अकालमरण को व्यवहार पक्ष मानते हैं, तब हमारे आपके मध्य अन्तर किस बात का है ?

जहाँ तक हमने इस विषय के आपके अभिप्राय को समझने का प्रयत्न किया है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि आप व्यवहारनय के पक्ष को असत्यार्थ मानते हैं, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि आगम की दृष्टि में व्यवहार पक्ष अपने ढंग से उतना ही सत्यार्थ है, जितना कि अपने ढंग से निश्चय पक्ष सत्यार्थ है। आगम के निश्चय पक्ष और व्यवहार पक्ष के सत्यार्थपने की स्वीकृतिरूप अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही हमने कालमरण और अकालमरण दोनों को व्यवहार पक्ष स्वीकार किया है। आप स्पष्ट नहीं कर सके कि आप अकालमरण को भी कालमरण मानकर, कालमरण और अकालमरण दोनों को किस आधार पर निश्चय पक्ष मान लेते हैं। कारण कि आत्मा जब अमर है तो आत्मा की अमरता ही निश्चय पक्ष मानने योग्य है। इस तरह अकालमरण के समान कालमरण को भी व्यवहारपक्ष ही मानना चाहिये।

एक बात और विचारणीय है कि व्यवहारनय के प्रतिपाद्य विषय को आप अयथार्थ मानते हैं, क्योंकि आपके मत से व्यवहारनय वही है, जिसका प्रतिपाद्य विषय सत्यार्थ नहीं

होता—मिथ्या या कल्पित ही होता है तो इस विषय में हमारा कहना यह है कि फिर आगम में व्यवहारनय के कथन की आवश्यकता ही क्यों समझी गयी ? कारण कि जिसका प्रतिपाद्य विषय ही कल्पित हो, वह नय कैसा ?

दूसरी भी बात यह विचारणीय है कि निश्चयनय भी तो कालमरण को व्यवहाररूप से प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार कि केवलज्ञान पदार्थों को व्यवहाररूप से जानता है अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञान द्वारा पदार्थों को जानना व्यवहार है, उसी प्रकार निश्चयनय द्वारा अकालमरण को प्रतिपादित करना भी तो व्यवहार ही माना जायगा। ऐसी स्थिति में निश्चयनय और निश्चयनय का विषय, ये दोनों भी अयथार्थ ही सिद्ध होंगे। इस तरह सम्पूर्ण तत्त्व ही अनिर्वचनीय हो जायेगा और इसका अन्तिम परिणाम सर्वशून्यतापत्ति ही होगा, जिसे संभव है आप भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होंगे। इसलिए जब निश्चयनय के विषय को आप सत्यार्थ मान लेते हैं तो फिर व्यवहारनय के विषय को भी आपके लिये सत्यार्थ ही मानना होगा। इस प्रकार व्यवहारनय अथवा व्यवहारनय के विषय को आपका मिथ्या या कल्पित आदि कहना असंगत ही है।

कुछ भी हो, हम तो आगम के प्रति श्रद्धावान् हैं, अतः इस प्रेरणा से अकालमरण के संबंध में निर्णय के लिये उपयोगी होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 के सूत्र 53 की तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका और उसका श्री पण्डित पन्नालालजी न्यायदिवाकर द्वारा किया गया हिन्दी अर्थ दोनों ही यहाँ दिये जा रहे हैं—

वार्तिक :—अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपर्वनाभाव इति चेत्, न, दृष्टवादाम्र-फलादिवत्।10।

अर्थ—प्रश्न-आयुबंध में जितनी स्थिति पड़ी है, ताका अंतिम समय आये बिना मरण की अनुपलब्धि है। जातें काल आये बिना तो मृत्यु होय नांही, ताते आयु के अपवर्तन का करना नांही सम्भवे है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नाही है। जातें आम्रफलादिक की ज्यों अप्राप्त काल वस्तु का उदीरणा करि परिणमन देखिये है। जैसे आम का फल पाल में दियें शीघ्र पके हैं, तैसे कारण के वशतें जैसी स्थिति को लिये आयुं बांध्या था, ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय पहिले ही मरण हो जाय है।

टीका—यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।

उत्तर—जैसे आम्र के पकने का नियमरूप काल है, तातें पहले उपाय ज्ञानकरि क्रिया का आरंभ होते संते आम्रफलादिक कें पकना देखिये, तैसें ही आयुबन्ध के अनुसार नियमित मरणकालतें पहले उदीरणा के बलतें आयुकर्म का अपवर्तन कहिये घटना होय है, ऐसा जानना।

वार्तिक — आयुर्वेदसामथ्र्याच्च ॥11॥

अर्थ—बहुरि आयुर्वेद कहिये अष्टांग चिकित्सा कहिये रोग के दूर करने में उपयोगी क्रिया ताका प्ररूपक वैद्यक शास्त्र ताकी सामर्थ्यतें अर्थात् कथनतें तथा अनुभवतें आयु का अपवर्तन सिद्ध होय है।

टीका—यथाष्टांगायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्याद-स्त्यकालमृत्युः।

अर्थ—जैसे अष्टांग आयुर्वेद कहिये वैद्यशास्त्र ताके जानने में चतुर वैद्य चिकित्सा में अतिनिपुण वायु आदि रोग का काल आये बिना ही पहिले वमन, विरेचन आदि प्रयोग करि, नहीं उदीरणा को प्राप्त भये जे श्लेष्मादिक, तिनका निराकरण करै है। बहुरि अकालमरण के अभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश करे है, प्रयोग करे है। ऐसा न होय तो वैद्यक शास्त्र के व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या है, नांही यातें वैद्यक शास्त्र के उपदेश की सामर्थ्यतैं अकालमृत्यु है, ऐसा सिद्ध होय है।

वार्तिक — दुःखप्रतीकारार्थ इति चेत् न, उभयथा दर्शनात् ॥12॥

अर्थ—प्रश्न-शिष्य बहुरि कहे है जो रोगतें दुःख होय ता दुःख के दूर करने के अर्थ वैद्यक शास्त्र का प्रयोग है, अकालमृत्यु के अर्थ नांही।

समाधान—ताकों कहिये, ऐसा कहना भी ठीक नांही, जातें वैद्यकशास्त्र का प्रयोग दोऊ प्रकार कर देखिये है। तातें दुःख होय ताका भी प्रतीकार करैं हैं। बहुरि दुःख नांही होय, तहाँ अकालमरण न होने के अर्थ भी प्रयोग करे हैं।

टीका—स्यान्मतम्-दुःखप्रतीकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति ? तन्न, किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात्। उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि चिकित्सादर्शनात्।

अर्थ—प्रश्न-दु:ख के दूर करने के अर्थ वैद्यक का प्रयोग है ?

समाधान—ताकों कहिये ऐसा नांही, क्योंकि जातें दोय प्रकार करि प्रयोग देखिये है। तहाँ वेदना जनित दु:ख होय, ताके दूर करने अर्थ भी चिकित्सा देखिये। अर वेदना के अनुदय में भी अकालमृत्यु के दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है। तातें अपमृत्यु सिद्ध होय है।

वार्तिक — कृतप्रणाशप्रसंग इति चेत्, न, दत्वैव फलं निवृत्ते: ॥13॥

अर्थ—प्रश्न-बहुरि शिष्य कहे हैं जो आयु होते ही मरण होय तो तहां कर्म का फल दिये बिना ही नाश का प्रसंग आवे है। ऐसे, क्रिया जो कर्म ताका फल दिये बिना ही नाश का प्रसंग होय है। तहाँ कृतप्रणाश अर अकृताम्यागम दोष आवे हैं ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नांही है; आयुकर्म भी जीवन्मात्र फल देकर ही उदीरणा करि निवृत्ति होय है।

टीका — स्यान्मतम्—यद्यकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाश: प्रसज्येत इति, तन्न, किं कारणम् ? दत्वैव फलं निवृत्ते:, नाकृतस्य कर्मण: फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफल-विनाश:, अनिर्मोक्षप्रसंगात्, दानादिक्रियारम्भाभावप्रसंगाच्च। किन्तु कृतं कर्मफलं दत्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्त: पाक इत्ययं विशेष:।

अर्थ—प्रश्न-शिष्य कहे है जो मरण का काल बिना आये मृत्यु होय तो किये कर्म का फल दिये बिना ही कर्म के नाश का प्रसंग प्राप्त होय है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नांही है, जातें कर्म है सो फल देकरि के ही निर्जरे हैं। तातें बिना किये कर्म का तो फल नांही भोगवे हैं। यातें तो अकृताभ्यागम दोष नांही होय है। बहुरि किये कर्म का फल दिये बिना नाश नांही होय है। यातें कृतप्रणाश नामा दोष नांही आवे है। भावार्थ—यहाँ कोई कहे जो आयुकर्म की उदीरणारूप क्षय है कारण जाको ऐसे अकालमरण को प्रतीकार कैसे संभवें ? ताकों कहिये जो असाता वेदनीय कर्म के उदय करि उत्पन्न भया जो दु:ख ताका प्रतीकार कैसे होय है। तहाँ असाता वेदनीय कर्म का उदयरूप अंतरंग कारण होते अर बाह्य वातादिक विकार के कारणतें प्रतिकूल वेदनारूप दु:ख होय है, ताके दूर करने के अर्थ औषधादिक का प्रयोग कीजिये, तब दु:ख मिट जाय है। तैसें ही आयु कर्म का उदय अंतरंग का कारण होतें, बाह्य जीवितव्य के कारण शुद्ध पथ्य आहारादिक तिनका विच्छेद होतें तथा दिन में सोवना, विषय में अधिक प्रवर्तना, मादक वस्तु का सेवन करना, प्रकृति विरुद्ध

भोजन का करना, विशेष व्यायाम करना आदि कारणतें आयु का उदीरणा हो जाय, तब मरण हो जाय है। **अर पथ्य आहारादिक बाह्य सामग्री का अनुकूल मर्यादारूप संयोग की प्राप्ति होते, उदीरणा न होय है, जीवतव्य रहे है,** तब अकालमरण न होय है, ऐसा जानना। बहुरि अकृत कर्म के फल कों यह आत्मा भोगे तो या जीव के मोक्ष के अभाव का प्रसंग आवे। जातें बिना किये कर्म के फल का उपभोगपणां मोक्ष आत्मा के ठहरे, तहां मोक्ष का अभाव होय। बहुरि किये कर्म फल दिये बिना ही नाश होय तो दान, व्रत, संयम, पूजन, भजन, अध्ययन, आचरण आदि क्रिया का आरम्भ मिथ्या ठहरे। तातें क्रिया कर्म कर्ता के अर्थ फल जो है ताहि देकर ही निर्जरे है। जैसे जलकरि आला वस्त्र चौड़ा करि ताप में सुखावे तो शीघ्र सूखे, तैसें आयु कर्म निमित्त के बलतें उदीरणा होय निर्जर जाय। ऐसे फल का विशेष है ऐसा जानना।

उपरोक्त आगम प्रमाण से करतलरेखावत् यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्यायों का कोई नियत काल नहीं होता है। पर्यायों का होना या न होना कारणों पर निर्भर करता है। जैसे यदि कुपथ्यादि या अतिवषय सेवन आदि कारण मिलते हैं तो आयु की उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। यदि उन कारणों को हटा दिया जाय और पथ्य आदि कारण मिलाये जायें तो आयु की उदीरणा तथा अकालमरण रुक जाय है।

स्व-काल

आपने क्रमबद्धपर्याय के समर्थन में अनेक बार 'स्वकाल' शब्द का प्रयोग किया है। वह 'स्वकाल' क्या वस्तु है, इस विषय पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

'स्व-काल' शब्द दो प्रकार से विचारणीय है — (1) स्वचतुष्टय की अपेक्षा स्वकाल, (2) द्रव्यों के परिणमन में निमित्तकारणभूत काल द्रव्य। इनमें से जब स्वचतुष्टयरूप स्वकाल का विचार किया जाता है, तब द्रव्य के प्रतिक्षण में होनेवाले परिणमनों का क्रम ही स्वकाल शब्द का वाच्य है। परिणमनरूप कार्य भी बिना कारणों के नहीं हो सकता, क्योंकि **'नैकं स्वस्मात् प्रजायते'** यानी कोई भी कार्य बिना कारण के (स्वयं) उत्पन्न नहीं होता। इस नियम के अनुसार वह परिणमन भी कारण व्यापार पर निर्भर (अधीन) है। चूँकि कारण व्यापार यथायोग्य नियत क्रम से भी होता है और अनियतक्रम से भी होता है, तब स्वकाल के बल पर क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त बनाना निराधार है।

(2) यदि परिणमन में निमित्तभूत कालद्रव्य को स्वकाल माना जावे तो वह कालद्रव्य

उदासीन कारण होने से द्रव्यों के अपने-अपने अक्रमिक या क्रमिक निमित्तकारणों के अनुसार होनेवाले क्रमिक तथा अक्रमिक दोनों प्रकार के परिणमन में समानरूप से सहायक होता है। अतः वह काल भी नियतक्रम का नियामक नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत प्रवचनसार की टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने 47 नय भंगों द्वारा वस्तु का विवेचन किया है। उसमें से 30 वें तथा 31 वें नयभंग का विवेचन यों है—

कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥30॥
अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥31॥

अर्थ—कालनय की अपेक्षा यथासमय परिणमन होता है। जैसे आम का फल ग्रीष्म ऋतु के दिनों के अनुसार पेड़ पर यथासमय पक जाता है॥30॥ अकालनय की अपेक्षा असमय में परिणमन होता है। जैसे कृत्रिम भूस आदि की गर्मी देकर कच्चे आम को समय से पहले पका लिया जाता है।

इन दोनों काल तथा अकाल नयों का विधान करके श्री अमृतचन्द्रसूरि पर्याय के एकान्त क्रमनियत काल का स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने 26-27 वें नय भंग में नियति तथा अनियतिनय का भी विधान किया है—

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि॥26॥

अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि॥27॥

इसका तात्पर्य है जो कारणनिरपेक्ष है, वह नियति है। जैसे अग्नि में उष्णता और जो कारणसापेक्ष है, वह अनियति है। जैसे जल में उष्णता।

इसी प्रकार एकान्तवाद का खण्डन करते हुए सूरिजी ने इस प्रकरण में स्वभाव-अस्वभाव, पुरुषार्थ-दैव आदि नयों का भी विधान किया है। इस पर यदि गम्भीर विचार किया जाय तो एकान्तवाद का परित्याग हो जायगा।

स्वकाल शब्द के समान आपने काललब्धि शब्द का प्रयोग भी क्रमबद्धपर्याय का एकान्त सिद्ध करने के लिये अनेक बार किया है। वह काललब्धि क्या वस्तु है, इस विषय को श्री पण्डित टोडरमलजी के शब्दों द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक में अवलोकन कीजिये—

काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं, जिस कालविषै कार्य बने सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। *— पृष्ठ 456 सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली*

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की '**कालाइलद्धिजुत्ता**' इत्यादि गाथा 219 की आचार्य शुभचन्द्रकृत टीका में '**रत्नत्रयादिकाललब्धिं**' पद से काललब्धि शब्द का अर्थ रत्नत्रय आदि रूप ही ग्रहण किया गया है, अत: काल की मुख्यता से कार्य की उत्पत्ति का कथन करना अयुक्त है।

श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री ने भी तत्त्वार्थसूत्र की टीका में 8 वें पृष्ठ पर इसी अभिप्राय को पुष्ट करते हुए लिखा है—

एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य का काल नियत है, उसी समय वह कार्य होता है, अन्य काल में नहीं। ऐसा जो मानते हैं, वे काल के सिवा अन्य निमित्तों को नहीं मानते। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में जैसे काल एक निमित्त है, वैसे अन्य भी निमित्त हैं। अत: कार्य की उत्पत्ति में केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।

इसी पुस्तक में पृष्ठ 400 पर श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री लिखते हैं—

कभी नियतकाल के पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत काल से बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है।

इस तरह काललब्धि का आश्रय लेकर भी क्रमबद्धपर्याय का एकान्त सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता।

दिव्यध्वनि का अनियत समय

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरने का नियत काल प्रात:, मध्याह्न, सन्ध्या तथा अर्द्धरात्रि है। किन्तु गणधर को किसी अन्य समय में कोई शंका होने पर तथा चक्रवर्ती के आ जाने पर अनियत काल में भी दिव्यध्वनि खिरने लगती हैं। इसके प्रमाण में हमने जयधवल पुस्तक 1 पृष्ठ 126 के वाक्य उल्लिखित किये थे, जिसमें '**इयरकालेसु**' (नियत समय के अतिरिक्त अनियत कालों में) स्पष्ट शब्द आया है।

इसके उत्तर में आपने दिव्यध्वनि के उस अनियत काल को 'नियत काल' बनाने की चेष्टा की है, किन्तु वह युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि न तो गणधर को शंका उत्पन्न होने का

कोई समय नियत है और न समवसरण में चक्रवर्ती के यथेच्छ आने का ही समय निश्चित है। इस प्रकार जब इतर काल में दिव्यध्वनि खिरने के ये दोनों निमित्त कारण अनियत है तो उनके निमित्त से खिरनेवाली दिव्यध्वनि का समय नियत कैसे बन सकता है? यदि आप इसको काललब्धि या स्वकाल मानते हैं तो यह अनियत कालरूप ही होगी। इसका अभिप्राय यही होता है कि दिव्यध्वनि का काल नियत भी है और अनियत भी है। आपको भ्रामक शब्दों द्वारा अनियत काल को नियतकाल नहीं सिद्ध करना चाहिये।

इसी प्रसंग में भगवान महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि 66 दिन तक गणधर के अभाव में न खिरने का जो आपने उल्लेख किया है, उससे केवलज्ञान सम्पन्न उपादानकारण से गणधररूप निमित्त के अभाव में दिव्यध्वनि कार्य का न होना प्रमाणित होता है। तथा च — इस घटना से आपकी इस मान्यता का भी खण्डन होता है कि 'उपादानकारण के होने पर निमित्तकारण उपस्थित हो ही जाता है।'

क्षयोपशमज्ञानी इन्द्र को जब परिस्थिति समझ में आयी — भगवान महावीर की दिव्यध्वनि गणधररूप निमित्त के बिना नहीं हो रही — तब इन्द्र को प्रयत्न करके निमित्त (इन्द्रभूति गौतम) समवसरण में लाना पड़ा और कारण सामग्री के पूर्ण हो जाने पर दिव्यध्वनिरूप कार्य हुआ, यही काललब्धि है। इस काललब्धि के विषय में हम पीछे अनेक प्रमाण देकर स्पष्ट कह चुके हैं कि कार्य की उत्पत्ति में सामग्री की पूर्णता ही काललब्धि है। इसके लिये हमने पूर्व में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की आचार्य शुभचन्द्र की टीका का प्रमाण दिया ही है और काललब्धि के विषय में श्री पण्डित फूलचनद्रजी की भी क्या दृष्टि है? इस बात को भी वहीं पर बतलाया है।

कर्मनिर्जरा और मुक्ति का अनियत काल

'पर्याय अक्रमिक भी होती है।' इस बात को सिद्ध करने के लिये हमने श्री अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय 1 सूत्र 3 पृष्ठ 24 पर लिखित वार्तिक '**कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥3॥**' का प्रमाण दिया था। आपने उसका कुछ भी उत्तर न देकर श्लोकवार्तिक पृष्ठ 70 पर लिखे एक अन्य विषय की चर्चा लिख डाली है, जिसका कि उक्त राजवार्तिक के उल्लिखित वार्तिक से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

तथाच—आपके द्वारा उपस्थित किये गये श्लोकवार्तिक के उल्लेख में भी सामग्री

द्वारा कार्य-उत्पत्ति का समर्थन मिलता है, जिसमें प्रतिबन्धक कारणों का अभाव तथा सहकारी कारणों के सद्भाव होने पर उपादानकारण का कार्यरूप परिणत होना प्रमाणित होता है, क्योंकि मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर भी अन्तर्मुहूर्त में जब तक ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म का क्षय नहीं हो जाता तथा उसके सहायक कारण अनन्तवीर्य के प्रतिबन्धक अन्तराय का क्षय नहीं हो जाता, तब तक केवलज्ञान और अनन्त बल का आविर्भाव नहीं होता।

एवं मोक्षमार्ग का प्रारम्भ करनेवाले सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का समय भी अनिश्चित है। जो व्यक्ति जब प्रयत्न करता है और जब उसके योग्य कारणसामग्री मिल जाती है, तब अनियत समय में सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह निर्जरा तथा मुक्ति का समय अनियत है।

तात्पर्य यह है कि —

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रपाविर्भावहेतुः न केवलः, तथा प्रतीतेः।

तथा—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 71 के ये वचन हैं। इन्हें ही आपने कार्य के स्वकाल की पुष्टि में पुष्ट प्रमाण माने हैं।

इनके विषय में पूर्व में बहुत कुछ लिखा जा चुका है अर्थात् स्वकाल या काललब्धि केवल वह काल नहीं, जिसमें कार्य उत्पन्न होता है; किन्तु वह कारणसामग्री है, जिससे कार्य उत्पन्न होता है। अतः यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ये सब कथन कर्मक्षपणप्रक्रिया की ही सूचना देनेवाला है। कारण कि काल स्वयं तो उदासीनकारण है तथा आत्मा का जो उत्तरोत्तर क्रमिक विकास होता है, वह तत्कर्म क्षपणपूर्वक ही होता है। '**कालादिसामग्रीकः**' और '**कालविशेषस्य सहकारिणः**' इन दोनों वचनों पर आपको तर्क के आधार पर विचार करना चाहिये, संस्कारवशात् अर्थ कर देने से तत्त्व फलित नहीं हो सकता है। यहाँ पर अदालत का केस जीतने का प्रश्न नहीं है, तत्त्वार्थ को फलित करने का ही प्रश्न है। फिर सहकारी शब्द स्व से अतिरिक्त पर का ही बोध करानेवाला है, इसलिए इससे तो निमित्त कारण ही सार्थकता ही सिद्ध होती है।

कर्म का अनियत परिपाक

अनियत पर्याय सिद्ध करने के लिये हमने अपने पत्रक में कर्म-परिपाक के अनियत होने का प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया और यह लिखकर उसे टाल दिया कि 'यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है, जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।' प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्य की पोषक न होने से, आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अत: हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्याय का समर्थन करता है।

श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री तत्त्वार्थसूत्र टीका के पृष्ठ 157 पर लिखते हैं—

नरक में तेतीस सागर की आयु भोगते हुए वहाँ के अशुभ निमित्तों की प्रबलता के कारण सत्ता में स्थित समस्त शुभकर्म, अशुभरूप से परिणमन करते रहते हैं। और देवगति में इसके विपरीत अशुभकर्म शुभरूप से परिणमन करते रहते हैं।

निधत्ति और निकाचितरूप कर्मों की स्थिति पूरी हो जाने पर यदि उनके उदय के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और काल न हो तो जाते-जाते वे भी अपने रूप से फल न देकर, अन्य सजातीय प्रकृतिरूप से फल देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

इस तरह कर्मों का परिपाक (फल देना) नियत नहीं है, अनियत है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका में 129 वें पृष्ठ पर भी श्री पण्डित फूलचन्द्रजी ने लिखा है—

किसी मनुष्य ने तिर्यञ्चायु का पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध किया। अब यदि उसे स्थितिघात के अनुकूल सामग्री, जिस पर्याय में आयु का बन्ध किया है, उसी पर्याय में ही मिल जाती है तो उसी पर्याय में वह आयु कर्म का स्थितिघात कर सकता है और यदि जिस पर्याय में आयु को भोग रहा है, उसमें स्थितिघात के अनुकूल सामग्री मिलती है, तो उस पर्याय में आयु-कर्म का स्थितिघात कर सकता है। स्थितिघात करने से आयु कम हो जाती है।

इस प्रकार आपके कथन के अनुसार भी बाँधे हुए निश्चित स्थितिवाले कर्म की दशा, अनियत पर्यायवाली हो जाती है। इस तरह आयु की उदीरणावाले मरण को आगम में अकालमरण या उदीरणा मरण कहा गया है।

हमने अपने द्वितीय प्रपत्र में जयधवला, प्रथम पुस्तक पृष्ठ 289 के '**पागभावस्स विणासो वि दव्व-काल-भवावेक्खाए जायदे**' देकर यह बतलाया था कि प्रागभाव का

विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा रखता है। इसका अर्थ यह है कि जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभाव के विनाश के अनुकूल होगा, वैसा ही उसका विनाश होगा। जैसे मिट्टी में घट, सकोरा आदि का प्रागभाव मौजूद है, अब यदि घटोत्पत्ति के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभाव का विनाश एक प्रकार का होगा और यदि सकोरा की उत्पत्ति के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभाव का विनाश उससे भिन्न प्रकार होगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न मिले, यह तो मौका कभी नहीं आयेगा। कारण कि खान में पड़ी हुई मिट्टी में भी विस्रसा मिलते हुए कारणों के सहयोग से परिणमन प्रतिसमय होता ही रहता है। परन्तु कभी किसी प्रकार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्राप्त हो और कभी किसी प्रकार का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त हो, कभी विस्रसा (अनायास) मिले तो कभी प्रायोगिक यानी पुरुषकृत प्रयत्न से प्राप्त हो; जैसा कि मिट्टी के दृष्टान्त से स्पष्ट है, तो यह असंगत भी नहीं है। इसलिए उक्त जयधवला का उक्त वचन हमारे पक्ष का समर्थन ही करता है।

इसी प्रसंग में आप लिखते हैं कि 'ऐसा मान लेने पर कि कर्म का उदय होने पर भी उदय के विरुद्ध साधन मिलने से उन कर्मों का फल नहीं मिलता' तो इस पर हमारा कहना है कि यह आशय आपने हमारे कौन से वाक्य का ले लिया, यह हमारी समझ में नहीं आया और फिर उसे आपने गम्भीर प्रश्न बना दिया, फिर अन्त में यह भी संकेत कर दिया कि 'विशेष प्रसंग आने पर अवश्य ही विचार करेंगे' आदि; आपकी ये सब बातें हमें व्यर्थ दिखाई देती हैं।

आगे आप लिखते हैं कि 'अतएव उपादान निश्चय पक्ष होने से और निमित्त व्यवहार पक्ष होने से यही मानना चाहिये कि दोनों का मेल होने पर कार्य होता है।'

यह तो ठीक है कि आपने उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्ष, इन दोनों के मेल से कार्य की उत्पत्ति स्वीकार कर ली। हम भी तो यही कहते हैं, परन्तु फिर आप निमित्त को अकिंचित्कर किसलिये कहते हैं? क्योंकि आपके उक्त कथन से निमित्त की सार्थकता ही सिद्ध होती है। यदि आप कहें निमित्त व्यवहार पक्ष होने से ही अकिंचित्कर रहता है तो फिर आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्त और उपादान दोनों के मेल से कार्य उत्पन्न होता है।'

आप कहते हैं कि 'निश्चय उपादान के प्राप्त होने पर, यतः उस समय जो अन्य द्रव्य

की पर्याय उसका निमित्त है, वह अपने परिणमन के लिये उसी समय निश्चय उपादान भी है' आदि। इस विषय में तथा निश्चय और व्यवहार के विषय में हम पूर्व में बहुत कुछ लिख चुके हैं, वहाँ आप देखने का कष्ट करें।

आपने लिखा है कि 'कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त इन दो का कारणरूप से उल्लेख किया गया है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो, इसलिए कार्य नहीं होता - ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है' आदि।

आपने कार्य की उत्पत्ति में आवश्यकतानुसार उपादान और निमित्त दोनों को कारण मान लिया, इससे हमारे आपके मध्य अभी तक आपकी 'कार्य तो केवल अपने उपादान से ही होता है, निमित्त वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करते हैं'—इस मान्यता को लेकर जो विवाद था, वह समाप्त हो जाता है। आप इसके पहले भी यह बात कह चुके हैं कि 'उपादान निश्चय पक्ष होने से और निमित्त व्यवहार पक्ष होने से यही मानना चाहिये कि दोनों का मेल होने पर कार्य होता है।' परन्तु आपका यह लिखना कि 'इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो, इसलिए कार्य नहीं होगा—ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है' आगम अभिप्राय के अनुसार सही नहीं है।

आगम का अभिप्राय यह है कि कोई भी स्वपरप्रत्यय कार्य उपादान और निमित्त दोनों प्रकार के कारणों के मेल से होता है। इसका अर्थ यह है कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त, उपादान की कार्यरूप परिणति में उसकी (उपादान की) सहायता करता है। आगम का अभिप्राय यह भी है कि उपादान में स्वप्रत्यय कार्य की तरह स्वपरप्रत्यय कार्य भी प्रति समय होता रहता है। कारण कि उपादान का तो परिणमन करने का स्वभाव स्वत:सिद्ध है और निमित्तों का योग उसे (उपादान को) प्रतिसमय मिलने में कोई बाधा आगम में नहीं बतलायी गयी है तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से भी आगम की इसी बात का समर्थन होता है। यहाँ तक तो हमारे ख्याल से हमारे और आपके मध्य कोई विवाद नहीं, परन्तु उपादान की उसकी अपनी कार्यरूप परिणति में निमित्त का क्या सहयोग मिलता है? इस प्रश्न के समाधान की खोज यदि आगम में की जाय तो मालूम होगा कि उपादान की कार्य परिणति में लोक को जो विलक्षणता दिखाई देने लगती है, वह विलक्षणता उपादान में निमित्त के सहयोग से ही आती है। जैसे पूर्व में हम कह आये हैं कि परिणमन करना मात्र आत्मा का स्वत:सिद्ध स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप से परिणमन करना आत्मा का

स्वत:सिद्ध स्वभाव नहीं है, अत: आत्मा के परिणमन में जो क्रोधादिरूपता देखी जाती है, वह यद्यपि आत्मा की परिणति में ही उत्पन्न होती है, परन्तु यदि क्रोधकर्म निमित्त उपस्थित होगा तो आत्मा के उस परिणमन में क्रोधरूपता आयगी और यदि मानादि कर्मों में से किसी एक का निमित्त उपस्थित होगा तो आत्मा के उस परिणमन में मानादि कर्मों के अनुसार ही मानरूपता, मायारूपता या लोभरूपता आयेगी। इसी प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक वस्तु के सभी स्वपरप्रत्यय परिणमनों के विषय में समझना चाहिये।

इस तरह यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन करने का स्वत:सिद्ध स्वभाव तो वस्तु का अपना ही स्वभाव है और जिस वस्तु का जो प्रतिनियत स्वभाव होता है, उसका परिणमन भी उसके अपने उस प्रतिनियत स्वभाव के दायरे में ही होता है, किसी भी वस्तु का कोई भी परिणमन उस वस्तु के अपने प्रतिनियत स्वभाव के बाहर कभी भी नहीं होता है। किन्तु प्रत्येक वस्तु का कोई भी परिणमन या तो स्वप्रत्यय होगा या फिर स्वपरप्रत्यय होगा। यदि वह परिणमन स्वप्रत्यय है, तब तो वह नियतक्रम से ही प्रतिसमय होगा। इसे आपका पक्ष और हमारा पक्ष दोनों ही स्वीकार करते हैं। विवाद हमारे आपके मध्य केवल स्वपरप्रत्यय परिणमन के नियतक्रम के विषय में है। यानी आपका कहना है कि वस्तु का स्वपरप्रत्यय परिणमन भी नियतक्रम से ही होता है, जबकि आगम का कहना है कि वस्तु का स्वपरप्रत्यय परिणमन नियतक्रम से भी होता है और अनियतक्रम से भी होता है। और इसका कारण आगम में यह स्वीकार किया गया है कि निमित्तों का समागम नियत नहीं है। निमित्तों का समागम दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो विस्रसा (अनायास या प्राकृतिक तरीके से) और दूसरा प्रायोगिक अर्थात् पुरुषकृत प्रयत्न से। दोनों ही प्रकार से निमित्तों का समागत नियतक्रम से और अनियतक्रम से देखने में आता है, आगम भी इसका विरोधी नहीं है। इस प्रकार से कार्य भी नियतक्रम और अनियतक्रम से देखने में आता है, आगम भी इसका विरोधी नहीं है। इस प्रकार से कार्य भी नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों ही प्रकार के हुआ करते हैं। इस विषय पर काफी लिखा जा चुका है तथा छठवें आदि प्रश्नों में आगे भी लिखा जायेगा, अत: विस्तार से यहाँ पर लिखना हम जरूरी नहीं समझते हैं।

निमित्त का अभाव होने पर कार्य रुक भी जाता है। प्रत्यक्ष देखा जाता है — मोटर चली जा रही है, पैट्रोल समाप्त हो गया, मोटर रुक जाती है। कार्यकारणभाव का ज्ञाता पैट्रोल डालकर मोटर को पुन: चालू कर अभीष्ट स्थान को पहुँच जाता है। यह विचार करनेवाला

कि मोटर अपने उपादान से चल रही थी, अपने उपादान से रुकी है। जब चलने का नियत काल आयेगा, पैट्रोल अपने आप हाजिर हो जावेगा। इस प्रकार विचारकर पैट्रोल नहीं डालता, वह अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकता। आगम में भी कहा है कि उपादान में शक्ति होते हुए भी निमित्त के अभाव में कार्य रुक जाता है।

मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वमावादूर्ध्वगत्युपरमोऽनुपपन्न इति? उच्यते, लोकान्तान्नोर्ध्वगतिर्मुक्तस्य। कुतः? धर्मास्तिकायाभावात्॥8॥ गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। *— राजवार्तिक, पृष्ठ 646, ज्ञानपीठ*

शंका—मुक्त जीव के तो स्वभावगति को रोकनेवाले कारणों का अभाव है, फिर लोक से ऊपर मुक्त जीवों की गति क्यों नहीं होती?

समाधान—लोकाकाश से आगे गति-उपग्रह में कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगति लोक से आगे नहीं होती। अर्थात् मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगमन की शक्ति होते हुए भी निमित्त के अभाव के कारण लोक के अन्त में पहुँचकर आगे गति रुक जाती है।

अनुभव तथा प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान भी यह बतलाता है कि यदि कार्य के अनुकूल प्रयत्न किया जायेगा तो कार्य सम्पन्न अवश्य होगा। इस तरह कार्यों की सम्पन्नता देखी भी जाती है। इसलिए जब जीवों का पुरुषार्थ भी कार्योत्पत्ति का साधक होता है, तो उन्हें अपने जीवनोपयोगी इहलोक और परलोकसम्बन्धी तथा मोक्षसम्बन्धी कार्यों की सम्पन्नता को ध्यान में रखते हुए उनके अनुकूल यथायोग्य अन्तरंग और बहिरंग प्रतिनियत कारणों को जुटाने के लिये पुरुषार्थ करने का उपदेश आगम में दिया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो कार्योत्पत्ति को लक्ष्य में रखकर तदनुकूल निमित्तों की उठाधरी करता है, वह सर्वज्ञता का विरोधी है, लेकिन इतनी बात अवश्य है कि यदि सर्वज्ञता के लोप के भय से अथवा सर्वज्ञता की आड़ लेकर कोई कार्योत्पत्ति के अनुकूल साधनों के जुटाने में पुरुषार्थहीन बनने की चेष्टा करता है, वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सर्वज्ञ के प्रति आस्था रखिये, उसके ज्ञान पर तथा वाणी पर भी आस्था रखिये, परन्तु उससे अपने कार्यों को सम्पन्न करने की प्रेरणा लीजिये, अपने इहलोक और परलोक को सुधारने का प्रयत्न कीजिये, मोक्षप्राप्ति के लिये पुरुषार्थ कीजिये।

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिसमय संकल्प और प्रवृत्तियों के आधार

पर पुरुषार्थ होता ही रहता है, वह तो तब तक नहीं रुक सकता, जब तक केवल दृष्टा और ज्ञाता की अवस्था को व्यक्ति नहीं प्राप्त हो जायेगा। अत: तब तक उसे अपने अनुकूल कार्यों की सम्पन्नता के लिये अन्तरंग और बहिरंगसाधनों को जुटाना चाहिये। ऐसे साधन नहीं जुटायेगा तो ऐसे साधन जुटेंगे जिनसे उसके इहलोक और परलोक में बिगाड़ पैदा होगा। जैन संस्कृति की यह मान्यता गलत नहीं है कि 'जैसा करोगे वैसा भरोगे।' प्रसन्नता की बात है कि आप भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जीव को अपनी सम्हाल करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु अपनी सम्हाल करने का क्या यही पुरुषार्थ ? कि प्रत्येक प्राणी अपने को ज्ञाता और दृष्टा मानने लग जाये और क्या इतने मानने मात्र से वह ज्ञाता-दृष्टा बन जायेगा ? यह ठीक है कि जानना और देखना मात्र ही आत्मा का स्वभाव है, परन्तु इसको कौन नहीं मानता है ? प्रश्न तो ज्ञाता-दृष्टा मात्र बन जाने का है। इसके लिये प्राणियों को पुरुषार्थ का उपदेश दिया गया है, जिससे वे ज्ञाता-दृष्टामात्र स्थिति को प्राप्त हो सकें। लेकिन इसका सही उपाय यही है कि इसके अनुकूल जो भी अन्तरंग और बहिरंग कारण है या हो सकते हैं, उन्हें समझा जाये, उन्हें अपनाया जाये और उनका ही उपदेश प्राणियों को दिया जाये। बहुत लिखा गया है, सम्पूर्ण प्रश्नों में हमारा यही लक्ष्य रहा है और यही प्रयत्न रहा है।

आपने उपादान और निमित्त की जो व्याप्ति बतलायी है, वह गलत है। उपादान और निमित्त को जो व्याप्ति आगम में बतलायी है, वह इस प्रकार नहीं है कि जिस समय जो कार्य होना होगा, उस समय उसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे ही; किन्तु निमित्त और उपादान को व्याप्ति जो आगम में बतलायी है, वह इस प्रकार है कि निमित्त के अनुकूल उपादान का समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादान के अनुकूल निमित्त का समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा। आप यह भी कहते हैं कि उपादान की तैयारी होगी तो निमित्त अवश्य मिलेंगे, परन्तु यह भी तो ख्याल कीजिये कि उपादान की तैयारी भी तो आवश्यकतानुसार तदनुकूल निमित्तों के सहयोग पर ही होती है। इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट किया जा चुका है और आगे दूसरे प्रश्नों में भी स्पष्ट किया जायेगा।

आपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिये जो '**यदप्यभिहितं-शक्तादशक्ताद् वा तस्याः प्रादुर्भाव**' इत्यादि। '**तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भावः।**' इत्यादि प्रमेयकमलमार्तण्ड का उद्धरण दिया है, उसमें आपने स्वयं शक्त का अर्थ समर्थ तथा अशक्त का अर्थ असमर्थ किया है। उसके विषय में आगम के आधार पर हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि उपादान में जो

सामर्थ्य आती है, वह केवल इतनी नहीं है कि वह कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जावे। किन्तु इसके साथ कारक सामग्री की पूर्णता व प्रतिबन्ध का भाव भी उसमें सम्मिलित है। इसका अर्थ यह है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षण में वस्तु के पहुँच जाने पर, उसके उत्तर क्षण में जो कार्य होगा, वह कार्य पूर्व पर्याय में पड़ी हुई अनेक सामर्थ्यों में से किसी एक रूप का होगा, जिसके अनुकूल समर्थ कारण सामग्री होगी। अर्थात् हम जो चाहें सो हो जायेगी, यह तो कोई नहीं मानता है, परन्तु उस कार्य की नियामक केवल वह पूर्व पर्याय ही नहीं है, किन्तु उसके साथ उस समय जो निमित्त सामग्री ही उपस्थित होगी, वह भी उसकी नियामक होगी। इसके साथ ही प्रतिबन्धक कारणों का अभाव भी उसका नियामक होगा। इस तरह कार्यजनक सम्पूर्ण सामग्री की प्राप्ति हो जाना व प्रतिबन्धक कारणों का अभाव हो जाना ही, उसकी समर्थता है। इस विषय में भी हम पूर्व में बहुत विस्तार से लिख चुके हैं।

आपने अपने द्वितीय दौर के प्रपत्र में 7 नम्बर पर लिखा है कि 'उपादान के कार्य और निमित्त की समव्याप्ति है, इस व्यवस्था के रहते हुए तथा उपादान का अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान कहते हैं, यह सुनिश्चित लक्षण के होने पर भी यह लिखना कि कार्य के प्रति जब जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं, तब कार्य होता है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता आदि।'

हमारी तरफ से इन सब बातों के विषय में बहुत कुछ विस्तार के साथ लिखा जा चुका है। दूसरे प्रश्नों में भी लिखा जायेगा, अतः अब तो हमारा आपसे कुछ और लिखने के बजाय इतना निवेदन करना ही पर्याप्त होगा कि आप उसे ध्यान से पढ़िये, गंभीरता के साथ मनन कीजिये और निष्कषायभाव से निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न कीजिये।

हम इतना अवश्य पुनः स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु में सिर्फ एक नियत योग्यता ही नहीं पायी जाती है, किन्तु उस वस्तु में उस समय भी नाना योग्यताऐं अनन्तर उत्तर क्षण में कार्यरूप से परिणत होने के लिये तैयार बैठी रहती हैं, इस बात को ध्यान में रखकर ही आगम में यह बतलाया गया है कि वह योग्यता ही कार्यरूप से विकसित होगी, जिसके अनुकूल कारण सामग्री की पूर्णता विद्यमान होगी व प्रतिबन्धक कारणों का अभाव भी विद्यमान होगा। कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु में अननतर उत्तर क्षण में कौन सा कार्य उत्पन्न होगा ? यह प्रश्न तभी उस सकता है, जबकि उक्त प्रकार की वस्तु में उत्तर क्षण की कार्योत्पत्ति के अनुकूल नाना योग्यताऐं रह रही

हों और आगम में इस प्रश्न का समाधान करने के लिये कारण सामग्री की पूर्णता व प्रतिबन्ध कारणों के अभाव को जो कार्योत्पत्ति का नियामक बतलाया गया है, इसी से यह बात सिद्ध होती है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु में अनन्तर उत्तरक्षण में नाना कार्यों के उत्पन्न होने की सम्भावना है—ऐसी संभावना उसी हालत में हो सकती है, जबकि उस वस्तु में उस समय नाना योग्यताऐं विद्यमान हों।

यह बात हम पूर्व में ही लिख चुके हैं कि वस्तु स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली होने के कारण उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय होता रहता है, परन्तु वस्तु में ऊपर लिखे प्रकार नाना योग्यताओं में से किस योग्यता के अनुसार कार्य की उत्पत्ति हो, केवल इसकी नियामक निमित्त सामग्री हुआ करती है, कार्योत्पत्ति का सर्वथा निषेध तो हमने किया नहीं है और न कार्योत्पत्ति का सर्वथा निषेध हो ही सकता है, क्योंकि कोई न कोई निमित्त सामग्री की प्रत्येक समय प्राप्ति रहती ही है। इसलिए आपका यह लिखना ठीक नहीं है कि 'यदि निमित्ताधीन कार्य की व्यवस्था होती तो द्रव्य को जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है, वह नहीं बन सकता।' और इसीलिए आपका 'क्या ऐसा है कि किसी द्रव्य को किसी समय अनुकूल निमित्त नहीं मिले, इसलिए उस समय उसने आना कार्य नहीं किया' इत्यादि यह लिखना भी ठीक नहीं है।

निमित्त तथा उपादान के निरुक्त्यर्थ पर ध्यान देने से भी निमित्तों की सार्थकता ही सिद्ध होती है। जैसे 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक 'अ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से 'उपादीयते अनेन' इस विग्रह के आधार पर कर्ता के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर उपादान शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो वस्तु परिणमन को स्वीकार करे या ग्रहण करे अथवा जिसमें परिणमन हो, वह उपादान कहलाता है। इसी प्रकार 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से कर्ता के अर्थ में ही 'निमेद्यति' इस विग्रह के आधार पर 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमन करनेवाली वस्तु को उसके उस परिणमन में मित्र या तेल के समान स्नेहन करे अर्थात् सहायता करे, वह निमित्त कहलाता है।

यहाँ पर हमने मित्र और तेल की समानता निमित्त में प्रदर्शित की है, उसका कारण यह है कि स्नेह अर्थ तेल का होता है, 'मिद्' धातु भी स्नेहार्थक है। तेल से जिस प्रकार शरीर आदि में चिक्कणता आ जाती है, उसी प्रकार निमित्त से उपादान में बलाधानरूप चिक्कणता

आ जाती है। इस प्रकार 'मिद्' धातु से ही मित्र शब्द भी बनता है, तो जिस प्रकार मित्र किसी का हर एक अवस्था में मददगार रहता है, उसी प्रकार निमित्त भी उपादान का कार्योत्पत्ति में मददगार ही रहा करता है। उपादान और निमित्त का यहाँ पर निरुक्त्यर्थ किया है, उस पर छठवें आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए भी ध्यान रखने की कृपा करें।

हमने यह जो निमित्त और उपादान का लक्षण बतलाया है, इससे भी निमित्त की कार्य के प्रति सार्थकता ही सिद्ध होती है और चूँकि निमित्तों की नियतक्रमता तथा अनियतक्रमता प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगम से प्रसिद्ध भी है, अत: वस्तु की कार्यरूप परिणति में नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनों बातें आगम में स्वीकार की गयी हैं। ऐसी स्थिति में आपका यह लिखना कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' गलत ही है।

आपने उपचरित और अनुपचरित कारणों पर विचार करते हुए पण्डित प्रवर बनारसीदासजी का एक पद्य उद्धृत किया है—

पदस्वभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥ 42॥

इसका अर्थ आपने यह किया है कि 'पदार्थ का स्वभाव, पूर्व का उदय (निमित्त), निश्चय (उपादान), उद्यम (पुरुषार्थ) और काल ये पाँच कारण हैं। इनके समवाय में कार्य की उत्पत्ति होती है। इनमें से किसी एक का पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् संसार का मार्ग है और सबके सद्भाव में कार्य को स्वीकार करना मोक्षमार्ग है।'

आगे आप लिखते हैं — 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड में काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव, इन पाँच एकान्तों का निर्देश किया गया है, वह इसी अभिप्राय से किया गया है।'

अब देखना यह है कि श्री पण्डित बनारसीदासजी के कथनानुसार आपकी दृष्टि में पदार्थ का स्वभाव, पूर्व का उदय, निश्चय, उद्यम और काल ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं और गोम्मटसार कर्मकाण्ड के कथनानुसार आपकी दृष्टि में काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं।

श्री पण्डित बनारसीदासजी के पद्य में आपने पूर्व के उदय का अर्थ निमित्त किया है,

निश्चय का अर्थ उपादान किया है और उद्यम का अर्थ पुरुषार्थ किया है। इसी प्रकार गोम्मटसार में ईश्वर का अर्थ निमित्त किया है। इस तरह यदि दोनों का समन्वय किया जाये तो आपकी दृष्टि से वह निम्न प्रकार होगा—

	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	श्री पं० बनारसीदासजी का पद्य
	काल	काल
(ईश्वर)	निमित्त	निमित्त (पूर्व का उदय)
	आत्मा	पुरुषार्थ (उद्यम)
	नियति	उपादान (निश्चय)
	स्वभाव	स्वभाव

इस तरह आपका आशय यदि आत्मा से पुरुषार्थ का और नियति से उपादान का हो तो दोनों का समन्वय समानरूप से हो सकता है।

परन्तु जब आप 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इन सिद्धान्तों के माननेवाले हैं तो कार्योत्पत्ति में फिर इन पाँच के समवाय की आपकी दृष्टि में क्या आवश्यकता है ? और उक्त पाँचों का समवाय कार्योत्पत्ति में आपकी दृष्टि में यदि उपयोगी है 'यानी कार्योत्पत्ति के लिए अनिवार्यरूप से आवश्यक है' तो फिर 'सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं, आपको इन मान्यताओं की क्या स्थिति रह जाती है ? इन विकल्पों के आधार पर पूर्व में हम काफी विस्तार के साथ विवेचन कर चुके हैं, कृपया उस पर गहराई के साथ विचार करें। आपने उपर्युक्त पाँच कारणों का जो विवेचन किया है, उसमें आपने यह स्पष्ट नहीं किया कि इन सबको आप उपचरित कारण मानते हैं या सभी को अनुपचरित कारण मानते हैं ? अथवा कुछ को उपचरित और कुछ को अनुपचरित स्वीकार करते हैं — ये सभी बातें आपको स्पष्ट करनी थीं, परन्तु नहीं की। इनके विषय में जितना कुछ विवेचन आपने किया, उससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि आप क्या कहना चाहते हैं ? क्या कह रहे हैं ? और क्यों कह रहे हैं ? यदि आगे इन बातों पर आप विवेचन करें तो कृपया इन सब मुद्दों को स्पष्ट करते हुए विवेचन करें, ताकि गोरखधन्धा जैसी स्थिति समाप्त हो और आपका पक्ष हमें ठीक-ठीक तरह से उपर्युक्त पाँच कारणों के विषय में समझ में आवे। कृपया इनके बारे

में निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इन नयों के विषयभूत निश्चय और व्यवहार के विषय में आपकी दृष्टि क्या है ? यह भी स्पष्ट करें।

इन्हीं पाँच कारणों के विवेचन के सिलसिले में आपने लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक कार्य उक्त पाँचों के समवाय की अपेक्षा क्रमनियत होता है, अनियतक्रम से नहीं होता—ऐसे अनेकान्त को स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।'

आपके इस कथन को पढ़कर हमें आश्चर्य तो हुआ ही, साथ में दु:ख भी हुआ कि अनेकान्त की जो परिभाषा इसमें आपने बतलायी है, उसके बतलाने में थोड़ा भी संकोच आपको नहीं हुआ। जैन संस्कृति के योग्यतम विद्वान होते हुए भी क्या वास्तव में अनेकान्त का ऐसा ही स्वरूप आपने समझ रखा है ? या फिर केवल अपनी मतपुष्टि के लिये जानबूझकर ऐसा लिख गये हैं। कृपया इसे भी स्पष्ट कीजिये कि 'प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक कार्य उक्त पाँच के समवाय की अपेक्षा नियतक्रम से होता है, अनियतक्रम से नहीं होता' इसमें अनेकान्त कैसे हो गया ? कारण कि अनेकान्त की जो परिभाषा समयसार की आत्मख्याति टीका के आधार पर हम पूर्व में बतला आये हैं, उससे इसका मेल नहीं बैठता है। समयसार की टीका आत्मख्याति के अनुसार एक ही वस्तु में उसके वस्तुत्व का प्रतिपादन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्ति द्वय का प्रकाशन ही अनेकान्त माना गया है, तो जिस प्रकार अनेकान्त यहाँ पर प्रतिपादित किया है, उसमें अनेकान्त का समयसार की आत्मख्याति टीकावाला लक्षण घटित कैसे होता है ? कृपया विचार तो कीजिये।

तात्पर्य यह है कि जैन संस्कृति में विधिरूप और निषेधरूप दो परस्पर विरोधी धर्म वस्तु के स्वीकार किये गये हैं। अब आप ही बतलाइये कि उपर्युक्त पाँच समवायों में तथा नियतक्रम से होता है और अनियतक्रम से नहीं होता, इसमें कौन से परस्पर विरोधी दो धर्मों का वस्तु में सद्भाव सिद्ध होता है। यहाँ तो प्रकारान्तर से एक ही धर्म का अस्तित्व वस्तु में सिद्ध होता है, तो इसमें अनेकान्तता कैसे आ गयी ? यह बात आपको सोचना है। आपके लिखे अनुसार तो अनेकान्त बोगस सिद्धान्त मालूम देने लगता है, जबकि वह अपने ढंग का महत्त्वपूर्ण अद्वितीय सिद्धान्त है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव के विवेचन में ईश्वर का अर्थ निमित्त कौन आधार पर आपने किया, इसी प्रकार श्री पण्डित बनारसीदासजी के पद्य में '**पूरव उदय**' इसका अर्थ निमित्त किस आधार पर आपने किया, यह विचारणीय

है। यह भी विचारणीय है कि 'पूर्व उदय' शब्द को, जबकि यह कथन आत्मा के विषय में ही किया गया मालूम होता है तो आपने वस्तु सामान्य के कार्यकारणभाव का अंग कैसे माना लिया ? स्वयं बनारसीदासजी ने नम्बर 45 के पद्य में इसका संकेत दिया है। वह पद्य निम्न प्रकार है—

निहचै अभेद अंग, उदै गुण की तरंग, उद्यम की रीति लिये उद्धता सकती है।
परजाई रूप कौ प्रवान सूच्छम सुभाव, काल की सी ढाल परिणाम चक्रगति है॥
याही भाँति आत्मद्रव्य के अनेक अंग, एक माने एक को न माने सो कुमति है।
टेक डारि एक में अनेक खोजे सो सुबुद्धि खोजी जीवें वादी मरै सांची कहवति है॥ 45॥

उक्त 42 वें पद्य में बतलायी गयी पाँचों बातों का क्या अर्थ है और उनका संबंध किससे किन रूप में है, यह बात इस पद्य से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। उक्त 42 वां पद्य कार्यकारणभाव का प्रतिपादक नहीं है, यह बात भी इस 45 वें पद्य से ज्ञात होती है।

इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों की गणना करते हुए आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव, इनमें से एक-एक आधार से कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है, इस पर आपके द्वारा वह सिद्धान्त स्थिर किया मालूम देता है कि यदि ईश्वर आदि पाँच में से एक-एक से कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं तो इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानने का सिद्धान्त सही है। यही कारण है कि आप स्वभाव आदि पाँच के समवाय को कार्यात्पत्ति में कारण मान लेते हैं। और चूँकि जैन संस्कृति में ईश्वर को कर्ता नहीं माना गया है, अत: ईश्वर का अर्थ आप निमित्त कर लेते हैं और जब आप श्री पण्डित बनारसीदासजी के पद्य के साथ गोम्मटसार में कहे गये स्वभाव आदि पाँच का समन्वय करते हैं तो और भी परिवर्तन इनके अर्थ में आपको करना अनिवार्य हो जाता है। फिर एक बात और विचारणीय हो जाती है कि कर्मकाण्ड में तो काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव के आगे अलग से पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद तथा लोकवाद आदि का कथन करते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने अन्त में —

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥ 894॥

अर्थ—जितने वचन के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं।

आपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आये हुए काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव का जो अर्थ किया है, उनके विरुद्ध ही कालादि का अर्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में किया गया है। कृपया गोम्मटसार के अर्थों को आचार्य श्री नेमिचन्द्र के शब्दों में ही पढ़िये—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विण्णस्सदे भूदं।
जागति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो॥ 879॥

अर्थ—काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका विनाश करता है। सोते हुए को काल ही जगाता है, इस तरह काल को ठगने में कौन समर्थ है ?

अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि॥ 880॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानरहित है, अनाथ है, अर्थात् कुछ भी करने में असमर्थ है, उस आत्मा के सुख-दुःख, स्वर्ग तथा नरक में गमन इत्यादि सब ईश्वर द्वारा किया हुआ ही होता है।

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवा य सव्ववादी य।
सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो॥ 881॥

अर्थ—संसार में एक ही महान आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, वही सर्वव्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है।

जतु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ 882॥

अर्थ—जो भी जब जिससे जैसे और जिसके नियम से होता है, वह तब उससे उसी प्रकार उसके होता है—इस तरह की मान्यता को नियतिवाद कहा जाता है।

को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहावो इदि सव्वेवि य सहाओ त्ति॥ 883॥

अर्थ—काँटों को तीक्ष्ण कौन करता है, मृगादि पशुओं और पक्षी आदि के विविध भेदों को कौन निर्मित करता है, इसका उत्तर एक ही है कि यह सब स्वभाव से ही होता है।

अब आप देखेंगे कि आपके अभिप्राय का समर्थन इन गाथाओं से कदापि नहीं होता है। कृपया गंभीरता पूर्वक विचार करें।

'जावदिया वयणवहा' इत्यादि गाथा द्वारा परसमयों की जो गणना कर दी है, इससे तो यह सिद्ध होता है कि आपके द्वारा केवल स्वभाव आदि पाँच के समवाय में कार्योत्पत्ति के प्रति कारणता को सीमित किया जाना युक्तिसंगत नहीं है।

इस विवेचन का सार यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड के कथन में आचार्य श्री नेमिचन्द्र की दृष्टि यह नहीं रही है कि ईश्वर आदि एक-एक के आश्रय से कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। उनकी दृष्टि तो इस कथन में सिर्फ इतनी है कि कौन परसमयवादी किस आधार पर कार्योत्पत्ति मानता है? और उसकी वह मान्यता सही है या गलत है। एक बात और है कि यदि आचार्यश्री नेमिचन्द्र की दृष्टि ईश्वर आदि पाँच के समवाय से कार्योत्पत्ति स्वीकार करने की होती तो वे अपने उक्त कथन में ईश्वरवाद या आत्मवाद को किसी भी प्रकार स्थान नहीं दे सकते थे, क्योंकि जैन संस्कृति ने तो ईश्वर को कार्योत्पत्ति में कर्ता स्वीकार किया गया है और न समस्त कार्यों में आत्मा को ही कारण माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वभाव आदि पाँच को कार्योत्पत्ति में स्थान देने और उसका समर्थन आगम से करने में आपको कितनी खींचातानी करनी पड़ी है और फिर भी आप अपने उद्देश्य में असफल ही रहे हैं।

यदि कार्यकारण व्यवस्था में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और निमित्त का अर्थ निम्न प्रकार करें तो इनकी भी उपयोगिता हो सकती है, किन्तु पण्डित बनारसीदासजी के दोहे से अथवा गोम्मटसार कर्मकाण्ड से इनका संबंध जोड़ना उचित नहीं है। इनमें से स्वभाव का अर्थ वस्तु को स्वतःसिद्ध परिणमन शक्ति लेना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तु को स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली नहीं माना जायेगा तो फिर कोई भी अन्य वस्तु उसमें परिणमन कराने में सर्वदा असमर्थ ही रहेगी। इसी प्रकार नियति के विषय में यह निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन इस रूप से नियत होता है कि प्रत्येक वस्तु से सभी वस्तुओं में होनेवाले सभी परिणमन उत्पन्न नहीं होते हैं, प्रत्येक वस्तु के परिणमनों की मर्यादा नियत है अर्थात् अमुक वस्तु में अमुक-अमुक प्रकार का ही परिणमन होगा और अमुक प्रकार का परिणमन कदापि नहीं होगा। काल के विषय में यह है कि जब भी कार्योत्पत्ति होगी तो वह क्रम से ही होगी। कारण कि एक ही वस्तु में एक ही आधार पर एक साथ दो पर्यायें कभी उत्पन्न नहीं होती हैं। पुरुषार्थ शब्द कार्योत्पत्ति में आत्मा के प्रयत्न करने का सूचक है और

निमित्त से उस-उस कार्य के अपने-अपने उपादान से अतिरिक्त सहयोगियों का अर्थ बोध होता है। इस तरह कार्योत्पत्ति में इन पाँच की आवश्यकता का मूल्य है, लेकिन जितने स्वप्रत्यय परिणमन होते हैं, उनकी उत्पत्ति में तो स्वभाव, नियति और काल (क्रम) इन तीन की ही आवश्यकता रहती है और स्वपरप्रत्यय परिणमनों में से किन्हीं-किन्हीं स्वपरप्रत्यय परिणमनों में तो स्वभाव, नियति, काल (क्रम) और निमित्त (सहयोगी) इन चार की तथा किन्हीं-किन्हीं स्वपरप्रत्यय परिणमनों में स्वभाव, नियति, काल (क्रम), निमित्त (सहयोगी) और पुरुषार्थ (आत्मप्रयत्न) इन पाँचों की भी आवश्यकता रहती है। आशा है आप कार्यकारणभाव के इस सम्पूर्ण विवेचन पर गम्भीरता के साथ विचार करेंगे।

इस प्रकार आपके द्वितीय दौर के प्रपत्र पर हमने विस्तार से सर्वांगीण विचार किया है। यद्यपि इससे लेख का कलेवर अवश्य बढ़ गया है, परन्तु जब दोनों पक्षों के सामने सत्यार्थ तत्त्व को फलित करने का ही लक्ष्य है तो लेख का कलेवर बढ़ जाना, अखरनेवाली बात नहीं है।

●

शंका 5 और उसका समाधान

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 5

मूल प्रश्न 5 — द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं या अनियतक्रम से भी?

प्रतिशंका 3 का समाधान

प्रथम उत्तर में इस प्रश्न का समाधान हमने दो प्रकार से किया है — एक तो केवलज्ञान की अपेक्षा और दूसरे आगम में स्वीकृत उपादान के सुनिश्चित लक्षण की अपेक्षा। इन दोनों अपेक्षाओं से समाधान करते हुए यह सिद्ध कर आये हैं कि द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती है। साथ ही इसे आलम्बन बनाकर प्रतिशंका 2 में विरोधस्वरूप जो प्रमाण और तर्क उपस्थित किये गये हैं, उनका भी सांगोपांग विचार उसके उत्तर में कर आये हैं। तत्काल प्रतिशंका 3 के आधार से विचार करते हैं—

1. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्य का स्वकाल में होना स्वीकार

इसका प्रारम्भ करते हुए अपर पक्ष ने सर्व प्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तर में उल्लिखित जिन पाँच आगमप्रमाणों के आधार से यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है', इसकी हमें प्रसन्नता है। हमें विश्वास है कि समग्र जैन परम्परा इसमें प्रसन्नता का अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है', यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्था का प्राण है। इसे अस्वीकार करने पर न तो केवलज्ञान की सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्था के अनुरूप कार्य-कारणपरम्परा ही सुघटित हो सकती है। अपर पक्ष ने प्रतिशंका 3 में जिन शब्दों द्वारा स्वकाल में कार्य का होना स्वीकार किया है, वे शब्द इस प्रकार हैं—

यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य के उत्पन्न होने

का समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञान में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का केवलज्ञानी जीवों को युगपत् ज्ञान कराने की सामर्थ्य जैनसंस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति उसी काल में होती है, जिस काल में उसकी उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी जीव के केवलज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है।

2. केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्य की स्वीकृति के बाद अपर पक्ष की ओर से जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि—

'परन्तु किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस काल में होती है, उस काल में वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस काल में उस कार्य की उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है, क्योंकि वस्तु की जिस काल में जैसी अवस्था हो, उस अवस्था को जानना मात्र केवलज्ञान का कार्य है, उस कार्य का होना केवलज्ञान का कार्य नहीं है।'

सो यह कथन भी आगम परम्परा के अनुरूप होने से स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्ष के इस कथन में इतना हम और जोड़ देना चाहेंगे कि—**'जिस प्रकार जिस काल में जो कार्य होता है, उसे केवलज्ञान यथावत् जानता है, उसी प्रकार उसकी कारक सामग्री को भी वह जानता है।'** केवलज्ञान किसी कार्य का कारक न होकर ज्ञापकमात्र है, इसमें किसी को विवाद नहीं। अपर पक्ष ने केवलज्ञान ज्ञापक है, इस अभिप्राय की पुष्टि में 'जैनतत्त्वमीमांसा' के केवलज्ञान स्वभाव मीमांसा प्रकरण का उल्लेख उपस्थित किया है, सो उस उल्लेख से भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। अस्तु,

3. कारकसाकल्य में पाँच का समवाय स्वीकृत है

आगे प्रतिशंका 3 में हमारे पिछले उत्तरों के आधार पर जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि हम केवल स्वकाल के प्राप्त होने पर ही सभी कार्यों की उत्पत्ति मानते हैं, सो हमारे उन उत्तरों से ऐसा निष्कर्ष फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि मूल प्रश्न में 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं या अनियतक्रम से भी?' यह पृक्छा की गई थी और उसी के उत्तरस्वरूप पिछले उत्तरों द्वारा असंदिग्धरूप से यह सिद्ध किया गया है कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत (निश्चित) क्रम से ही होती हैं, अनियत (अनिश्चित) क्रम से त्रिकाल में नहीं होतीं।' अतएव प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति अपने-अपने स्वकाल के

प्राप्त होने पर होती हुई भी कारकसाकल्य से ही होती है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। हमने कार्योत्पत्ति का कारण केवल स्वकाल को न तो कहीं लिखा है और न है भी। **जिस प्रकार अन्य उपादान-निमित्त सामग्री कार्योत्पत्ति में स्वीकार की गई है, उसी प्रकार उसमें स्वकाल को भी उस (सामग्री) का अभिन्न अंग होने से स्थान मिला हुआ है,** इतना ही हमारा कहना है। जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ 65-66 में इसका स्पष्टरूप से विवेचन किया गया है, जो प्रकृत में उपयोगी होने से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ये पाँच कारण नियम से होते हैं—स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (परपदार्थ की अवस्था)। यहाँ पर स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है, पुरुषार्थ से उसका बल-वीर्य लिया गया है, काल से स्वकाल का ग्रहण किया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है और कर्म से निमित्त का ग्रहण किया है। इन्हीं पाँच कारणों को सूचित करते हुए पण्डितप्रवचर बनारसीदासजी नाटक-समयसार सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकार में कहते हैं—

पदसुभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है। उसका आशय इतना ही है कि जो उनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँचों के समवाय को स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने उक्त पद द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृष्ठ 257 में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसके सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोक में भवितव्यता को मुख्यता दी गई है। भवितव्यता क्या है? जीव की

समर्थ उपादान शक्ति का नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यता की व्युत्पत्ति है—**भवितुं योग्यं भवितव्यं तस्य भावः भवितव्यता।** जो होने योग्य हो, उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं, उसी का दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्य की समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूप से परिणत होने के योग्य होती है, इसलिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता और योग्यता—ये तीनों एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादान को भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है, सो प्रकरण के अनुसार उसका उक्त अर्थ करने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यता से उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोक में भवितव्यता को प्रमुखता दी गई है और साथ में व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्री का भी सूचन किया है, सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणों का समवाय होने पर कार्य की सिद्धि होती है, यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादान की विशेषता होने से भवितव्यता में गर्भित है ही।'

कारकसाकल्य के होने पर कार्य होता है, इस तथ्य की पुष्टि करनेवाला यह जैनतत्त्वमीमांसा का उल्लेख हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हम यह कभी भी स्वीकार नहीं करते कि केवल स्वकाल से कार्य की उत्पत्ति होती है। हाँ, स्वकाल को कारणरूप से स्वीकार करने में अपर पक्ष अवश्य ही हीला-हवाला करता आ रहा है, जैसा कि उसका यह अभिप्राय प्रतिशंका 2 से स्पष्ट ज्ञात होता है। अब उसकी ओर से स्वकाल को भी एक कारण के रूप में प्रतिशंका 3 में स्वीकार कर लिया गया है, जो इष्ट है।

यहाँ पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अपर पक्ष ने प्रतिशंका 3 में स्वामिकार्तिकेय के '**जं जस्स**' इत्यादि कारिकाओं का तथा भैया भगवतीदास के '**जो जो देखी**' इत्यादि दोहे का जो आशय व्यक्त किया है, वह हमारे उक्त कथन के अनुरूप होने से हमें मान्य है। इससे हमें आशा है कि उसकी ओर से प्रतिशंका 2 में '**जं जस्स**' इत्यादि कारिकाओं का जो विपरीत आशय व्यक्त किया गया है, उससे वह विरत हो जायेगा।

4. अलंघ्यशक्ति पद का वास्तविक अर्थ

इसी प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि अपर पक्ष ने '**अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं**' इत्यादि श्लोक में पठित '**अलंघ्यशक्तिः**' पद का अर्थ करते हुए जो कुछ भी लिखा है, वह पढ़ने में सुहावना लगते हुए भी विचारणीय है। बात यह है कि

— प्रत्येक कार्य के प्रति प्रतिसमय कारकसाकल्य का सहज योग जैनदर्शन में स्वीकार किया गया है, इसलिए यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि अन्तरंग-बहिरंग सामग्री किसी के आधीन होकर कार्य के प्रति कारण होती है। जिसे **भवितव्यता** कहते हैं, वह उस सामग्री से सर्वथा भिन्न हो, ऐसा नहीं है। अपर पक्ष वस्तु में विद्यमान कार्योत्पत्ति की आधारभूत स्वतःसिद्ध योग्यतारूप से जिस भवितव्यता का उल्लेख करता है, वह सामान्यरूप से द्रव्यशक्ति के सिवाय और क्या हो सकती है अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं हो सकती। किन्तु ऐसी द्रव्यशक्ति जब भिन्न-भिन्न पर्यायशक्ति से युक्त होकर पृथक्-पृथक् समर्थ या निश्चय उपादान संज्ञा को प्राप्त होती है, तब बहिरंग सामग्री को निमित्तकर नियम से विवक्षित कार्य को उत्पन्न करती है। कार्यकारणपरंपरा का प्रवाह प्रत्येक समय में अनादिकाल से इसी क्रम से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। यहाँ न तो कारण, कार्य के आधीन है और न कार्य, कारण के आधीन है। यह वस्तु स्वभाव है कि '**ऐसा होने पर ऐसा होता है।**'—इसी को जैनदर्शन में कारण-कार्य परम्परा के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि **किसी को किसी के आधीन मानने पर वस्तु का स्वतःसिद्ध स्वरूप विघटित हो जाता है, जो युक्त नहीं है,** अतएव '**अलंघ्यशक्तिः**' पद को लक्ष्य में रखकर भट्टाकलंकदेव के उल्लेखानुसार जो यह अर्थ किया जाता है कि जैसी भवितव्यता होती है अर्थात् जब जैसी पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति होती है, उस काल में उसी के अनुरूप कार्य करने का विकल्प होता है, व्यवसाय भी उसी के अनुरूप होता है और निमित्त भी वैसे ही मिलते हैं। सो जहाँ ऐसा अर्थ करना संगत है, वहाँ उक्त पद को ध्यान में रखकर '**अलंघ्यशक्तिः**' इत्यादि पद के अनुसार यह अर्थ करना भी संगत है कि हेतुद्वय से जो कार्य उत्पन्न होता है, वह इस बात का सूचक है कि वह कार्य द्रव्यस्वभाव को लांघकर कभी भी नहीं हो सकता। कार्य में उसकी मर्यादा का उल्लंघन होना त्रिकाल में अशक्य है, यह अटल सिद्धान्त है। दोनों अर्थ अपने में स्पष्ट हैं और अपनी अपनी जगह ठीक हैं।

अपर पक्ष ने जहाँ 'भवितव्यता' पद के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है, वहाँ वह यदि इसके साथ यह स्पष्ट कर देता कि इस पद द्वारा वह किसको ग्रहण कर रहा है—द्रव्यशक्ति को या पर्यायशक्ति को या दोनों को तो बहुत संभव था कि उसे भाषा प्रयोग की जटिलता में प्रवेश किये बिना '**अलंघ्यशक्तिः**' इत्यादि पद के अर्थ को स्पष्ट करने में सुगमता जाती। अस्तु, इससे प्रकृत में उक्त पद का अर्थ जो अभिप्रेत है, उसका सहज ज्ञान हो जायेगा।

5. प्रत्येक कार्य में अन्तरंग-बहिरंग सामग्री की स्वीकृति

प्रत्येक समय में जो भी कार्य होता है, उसमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता का होना अनिवार्य है। इसमें स्वकाल, भवितव्यता आदि सबका परिग्रह हो जाता है। **किसी कारण की प्रधानता और अप्रधानता विवक्षा में होती है, कार्य में नहीं। कार्य के प्रति तो जिसकी जिस रूप में (उपचरित या अनुपचरितरूप में) कारणता है, उसका वहाँ उसरूप में होना अनिवार्य है। तभी कार्य के प्रति अन्तरंग-बहिरंग कारणों की समग्रता मानी जा सकती है।** अतएव हमारा सिद्धान्त बतलाकर अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि—

'चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्ति के स्वकाल को अर्थात् जिस काल में उत्पन्न होता है, उस काल को प्रधान कारण मानने का है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्ति का काल आ जाने पर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है।' सो अपर पक्ष का यह कहना ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि **कथन के समय प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर किसी कार्य में भले ही किसी एक कारण को मुख्यता और दूसरे कारणों को गौणता प्रदान की जाये, परन्तु कार्य के प्रति जितने भी कारण हैं, उन सबका अपने-अपनेरूप में होना आवश्यक है।** वस्तुत: अपर पक्ष की ओर से मूल प्रश्न जिस प्रकार का उपस्थित किया गया था, उसी को ध्यान में रखकर पूर्व में उस प्रश्न का उत्तर दिया गया और इस कारण स्वकाल के विवेचन की मुख्यता हो गई, यह बात दूसरी है। अतएव अपर पक्ष के द्वारा हमारा सिद्धान्त बतलाकर न तो कार्य के प्रति स्वकाल की मुख्यता का लिखा जाना ही ठीक है और न ही अपना सिद्धान्त बतलाकर यह लिखना ही ठीक है कि—

'और हमारा सिद्धान्त काल को तो कार्योत्पत्ति में प्रधानता नहीं देता है, किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरंग हेतु-उपादान कारण से उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ अन्तरंग हेतु को ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरंग और बहिरंग (उपादान और निमित्त) दोनों कारणों से उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ उपादान और निमित्त दोनों को ही प्रधानता देता है। अर्थात् कार्योत्पत्ति तो अपने प्रतिनियत कारणों से ही होती है, लेकिन जिस काल में वह होती है, वही उसका स्वकाल कहलाने लगता है।'

क्योंकि जैसा कि हम पूर्व में लिख आये हैं कि किसी भी कार्य के प्रति किसी भी कारण की प्रधानता और अप्रधानता नहीं हुआ करती। प्रत्येक कार्य के प्रति काल भी एक कारण है, अतएव जिस प्रकार उसके प्रति अन्य निमित्तों की यथायोग्य कारणता मानी गई है,

उसी प्रकार काल को भी कारण मानना आगम संगत है। **'किसी काल में कोई कार्य हुआ' मात्र इतना अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रत्येक कार्य में व्यवहार से बलाधायकरूप से काल की हेतुकर्तृता आगम में स्वीकार की गई है।** यत: प्रत्येक द्रव्य पर्यायरूप से ही निमित्त होता है, अतएव काल को भी इसी रूप में निमित्त मानना चाहिये और ऐसी अवस्था में अपने-अपने समय में होनेवाले कार्यों का उस-उस काल के साथ योग बनता जाता है और इस प्रकार सभी द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें अपने-अपने काल में नियत क्रम से ही होती है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार उक्त तथ्य के सिद्ध हो जाने पर यहाँ इस बात का विचार करना है कि क्या कोई ऐसे भी कार्य हैं जो मात्र अंतरंग (उपादान) कारण से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अपर पक्ष का पूर्व में जो उल्लेख उपस्थित कर आये हैं, उसमें स्पष्ट शब्दों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि जो कार्य केवल अंतरंग हेतु — उपादानकारण से उत्पन्न होते हैं, उनमें केवल अंतरंग हेतु की प्रधानता है, इसलिए प्रकृत में इस बात का सांगोपांग विचार करना आवश्यक हो जाने से, इस पर विशेष प्रकाश डाला जाता है—

6. निश्चयनय से कर्ता-कर्म की व्यवस्था

यह तो सुविदित सत्य है कि जैनदर्शन में छह द्रव्य स्वीकार किये गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, और आकाश। इन छहों द्रव्यों में समानरूप से घटित हो ऐसे लक्षण ाको स्वीकार करते हुए सब द्रव्यों का लक्षण 'सत्' किया है—**'सद् द्रव्यलक्षणम्'** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 29)। सत् किसे कहा जाये, इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि जो स्वभाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह सत् है—**'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 30)। दूसरे शब्दों में इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो गुण-पर्यायवाला है, वह द्रव्य है—**'गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्'** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 38)। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य जहाँ स्वभाव से ध्रौव्य है, वहाँ वह उत्पाद-व्ययस्वभाववाला भी है, यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार उक्त लक्षणवाले सब द्रव्यों के सिद्ध हो जाने पर उनके उत्पाद और व्यय को लक्ष्य में रखकर लिखा है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपने ध्रौव्य स्वभाव को लिये हुए, स्वभाव से उत्पाद-व्ययपर्यायरूप से परिणमता है। पर्यायरूप से उसका उत्पाद-व्ययरूप से परिणमना, यह उसका स्वत:सिद्ध स्वरूप है, इसलिए **कार्य-कारण की दृष्टि से**

विचार करने पर अपनी प्रत्येक पर्याय का वह स्वयं कर्ता है और वह स्वयं कर्म है। न तो अन्य कोई उसका कर्ता है, और न अन्य कोई उसका कर्म है। यह निश्चयपक्ष है। आगम में इसी की 'भूतार्थ' संज्ञा है। 'भूतार्थ' पद का अर्थ करते हुए मूलाचार के पञ्चाचाराधिकार की गाथा 6 की टीका में लिखा है—

भूदत्थेण—भूतश्चासावर्थश्च भूतार्थस्तेन। यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाच-जीव-सत्य-पृथिव्याद्यने-कार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते। तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थ-प्रयोजन-स्वरूपाद्यर्थे वर्तते तथापि स्वरूपार्थे वर्तमानः परिगृहीतः, अन्यार्थ-वाचकेन प्रयोजनाभावात्। भूतार्थेन सत्यरूपेण याथात्म्येन।

भूतार्थरूप से—भूत जो अर्थ भूतार्थ, उस रूप से। यद्यपि यह 'भूत' शब्द पिशाच, जीव, सत्य और पृथ्वी आदि अनेक अर्थों में विद्यमान है, तथापि यहाँ पर 'सत्यवाची' भूत शब्द का ग्रहण किया है। तथा 'अर्थ' शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन और स्वरूप आदि अनेक अर्थों में विद्यमान है, तथापि 'स्वरूप' अर्थ में लिया गया है, क्योंकि अन्य अर्थ के वाचक उक्त शब्दों का प्रकृत में योजन नहीं है। भूतार्थ से अर्थात् सत्यस्वरूप से अर्थात् यथार्थरूप से।

इस प्रकार मूलाचार के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि निश्चयनय से की गई कर्ता-कर्म की प्ररूपणा सत्यस्वरूप अर्थात् यथार्थ है। इसी प्रकार निश्चयनय से की गई करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण की प्ररूपणा को भी यथार्थ ही जानना चाहिए।

ऐसी प्ररूपणा में जब अभेद की विवक्षा रहती है, तब वह द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय की प्ररूपणा कहलाती है और जब कर्ता-कर्मरूप से भेद की विवक्षा होती है, तब उसी को पर्यायार्थिक निश्चयनय की प्ररूपणा कहते हैं। यतः यह प्ररूपणा एक द्रव्य के आश्रय से होनेवाली परमार्थरूप प्ररूपणा है, अतः भेद विवक्षा में कर्म की अपेक्षा कर्ता और कर्ता की अपेक्षा कर्म, ऐसा व्यवहार करने पर, यही सद्भूतव्यवहार की प्ररूपणा कहलाती है।

भगवान् कुन्दकुन्द ने समयसार में एक द्रव्य के आश्रय से कर्ता-कर्म की सिद्धि करते हुए लिखा है—

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण सो होइ॥ 310॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा॥ 311॥

इन दोनों गाथाओं की अर्थप्ररूपणा करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्दजी लिखते हैं—

जिस कारण वह आत्मा किसी से भी नहीं उत्पन्न हुआ है, इससे किसी का किया हुआ कार्य नहीं है और किसी अन्य को भी उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह किसी का कारण भी नहीं है, क्योंकि कर्म को आश्रय कर तो कर्ता होता है और कर्ता को आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा नियम है; अन्य तरह कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती ॥310-311॥

इन गाथाओं के भावार्थ में वे लिखते हैं—

सब द्रव्यों के परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने-अपने परिणामों के सब कर्ता हैं। वे उनके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयकर किसी का किसी से भी कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं है। इस कारण जीव अपने परिणामों का कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसी तरह अजीव अपने परिणामों का कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इस तरह जीव अन्य के परिणामों का अकर्ता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में जो निश्चय से परमार्थभूत कर्ता, कर्म आदि की व्यवस्था है, वह अपने-अपने स्वरूप को लिये हुए स्वत:सिद्ध है, क्योंकि किसी एक धर्मी या धर्म, कर्ता या कर्म आदि का स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से हो, ऐसा नहीं है। यदि वह स्वत:सिद्ध न माना जाये तो उनमें धर्म की अपेक्षा धर्मी और धर्मी की अपेक्षा धर्म या कर्ता की अपेक्षा कर्म या कर्म की अपेक्षा कर्ता आदिरूप व्यवहार नहीं बन सकता है। अत: इनके स्वरूप को स्वत:सिद्ध स्वीकार करके ही इनके व्यवहार को परस्पर सापेक्ष जानना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृष्ठ 233 में लिखते हैं—

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसंगात् नापि कर्तृत्वव्यवहार: कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्ष्य:, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।

कर्ता का स्वरूप कर्मसापेक्ष नहीं है। इसी प्रकार कर्म का स्वरूप कर्तासापेक्ष नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर दोनों के अभाव का प्रसंग आता है। परन्तु कर्तृत्वव्यवहार और कर्मत्वव्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं है, क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक कर्तृत्व का ज्ञान होता है और कर्ता के ज्ञानपूर्वक कर्मत्व का ज्ञान होता है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 16 में यह वचन लिखा है—

कयमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः।

कैसे भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय की अपेक्षा सभी द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की विस्रसा अवस्थिति है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 86 की टीका में कर्त्ता, कर्म और क्रिया के यथार्थ स्वरूप पर जो प्रकाश डाला है, वह इसी दृष्टि से ही। वे लिखते हैं—

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया॥ 51॥

जो परिणमता है, वह कर्त्ता है; जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। ये तीनों ही वस्तुपने से भिन्न नहीं है॥51॥

यह निश्चय से कर्ता-कर्म की व्यवस्था है।

7. दो प्रश्न और उनका समाधान

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाने पर कि कर्ता और कर्म, ये स्वरूप से स्वतःसिद्ध होने पर भी इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, प्रकृत में यह विचार करना है कि दो द्रव्यों के आश्रय से जो कर्ता और कर्म की प्ररूपणा आगम में की गई है, वह भी क्या उक्त प्रकार से निश्चय और सद्भूतव्यवहार संज्ञा को प्राप्त होती है या उसे स्वीकार करने का कोई अन्य प्रयोजन है। साथ ही दो द्रव्यों के आश्रय से उक्त प्रकार की प्ररूपणा जो आगम में उपलब्ध होती है, वह किन-किन द्रव्यों पर किस-किस प्रकार लागू होती है, इसका भी प्रकृत में विचार करना है, क्योंकि अपर पक्ष सब द्रव्यों के षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि कार्य में दो द्रव्यों के आश्रय से कर्ता, कर्म की व्यवस्था को स्वीकार न कर, मात्र एक द्रव्य के आश्रय से ही उसे स्वीकार करता है। ये दो प्रश्न है, जिन पर यहाँ क्रमशः सांगोपांग विचार किया जाता है—

(1) जैसा कि हम पूर्व में कई प्रमाण देकर स्पष्ट कर आये हैं, उनसे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य में कर्ता-कर्म आदि धर्म स्वरूप से स्वतःसिद्ध है। जिस प्रकार जीवद्रव्य में ये स्वरूप से स्वतःसिद्ध हैं, उसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्यों में भी जानना चाहिए। दो द्रव्यों की तो बात छोड़िये, एक ही द्रव्य में इन धर्मों का स्वरूप एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है, इसे आगम स्वीकार नहीं करता। इसी कारण इन धर्मों को आचार्य अमृतचन्द्र ने वस्तुपने से अभिन्न कहा है।

(2) फिर भी एक ही वस्तु में कर्ता धर्म के स्वीकार करने पर, किसका कर्ता, यह जिज्ञासा होती है और इसी प्रकार उसी वस्तु में कर्मधर्म को स्वीकार करने पर, किसका कर्म यह जिज्ञासा होती है, इसलिए आगम में इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष बतलाया गया है।

(3) वस्तुस्थिति यह है कि ये कर्ता आदि धर्म प्रत्येक वस्तु में एकाश्रयवृत्ति होने के कारण तथा धर्मी और धर्म की एक सत्ता होने के कारण पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं होते, इसलिए तो अभेद है और संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है। यहाँ अभेद विवक्षा में '**यः करोति स कर्त्ता**' इस प्रकार जीवादि-द्रव्य अपने कार्यों के स्वयं कर्त्तारूप से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं और भेद विवक्षा में '**येन क्रियते तत्करणम्**' इस प्रकार अपने-अपने सब कार्यों का करणधर्म भेदरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी यथायोग्य उनका स्वरूप घटित कर लेना चाहिए।

(4) यह सब कथन पर की अपेक्षा लगाये बिना, वस्तु स्वरूप का उद्घाटन करनेवाला होने से अभेद विवक्षा में द्रव्यार्थिक निश्चयसंज्ञा को और भेद विवक्षा में उस-उस धर्म की अपेक्षा पर्यायार्थिक निश्चयसंज्ञा को प्राप्त होता है। यतः द्रव्यार्थिक निश्चय की दृष्टि में पर्यायार्थिक निश्चय भी व्यवहार है, इसलिए यह व्यवहार सद्भूत होने से सद्भूत व्यवहार संज्ञा को प्राप्त होता है।

(5) यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में अब दो द्रव्यों के आश्रय से जो कर्ता आदि की व्यवस्था आगम में उपलब्ध होती है, उसका विचार करते हैं। यह तो सुविदित सत्य है कि '**आत्माश्रितो निश्चयनयः**' (समयसार गाथा 272 टीका) निश्चयनय आत्मा के (स्व के) आश्रित हैं, इस नियम के अनुसार आगम में जो दो द्रव्यों के आश्रय से कर्ता आदि की व्यवस्था का विधान उपलब्ध होता है, वह न तो द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय की अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है और न ही पर्यायार्थिक निश्चयनय की अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है। इस प्रकार जबकि दो द्रव्यों के आश्रय से आगम में प्रतिपादित कर्त्ता आदि की व्यवस्था उक्त दोनों प्रकार से निश्चयनय या भूतार्थ संज्ञा को प्राप्त न होने के कारण अपरमार्थभूत सिद्ध होती है, ऐसी अवस्था में आगम में उसकी स्वीकृति का प्रयोजन कोई दूसरा होना चाहिए।

(6) बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य विस्रसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव होने पर भी, उसके प्रत्येक समय में परिणमन में अपनी-अपनी मर्यादा के भीतर जो भेद परिलक्षित होता

है, वह अपने-अपने निश्चय उपादानगत योग्यता के अनुरूप स्वयंकृत होकर भी व्यवहार से अन्य द्रव्य की जो पर्याय उस परिणाम के अनुकूल होती है, उसके सद्भाव में उत्पन्न होता है, इसलिए व्यवहार से अन्य द्रव्य के जिस परिणाम के सद्भाव में वह परिणाम उत्पन्न होता है, उसमें कर्ता आदि रूप से निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसके लिए एक शास्त्रीय उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा। यथा—एक द्व्यणुक है, जिसमें ऐसे दो परमाणु लीजिये जिनमें एक परमाणु दो स्निग्ध या दो रूक्षगुणवाला है और दूसरा परमाणु चार स्निग्ध या चार रूक्ष गुणवाला है। यतः दो गुणवाले परमाणु के लिए उक्त चार गुणवाला परमाणु वयवहार से परिणमन के अनुकूल है, इसलिए उसका सम्पर्क करके उक्त दो गुणवाला परमाणु, परिणमन के अनुरूप अपनी उपादानगत योग्यता के कारण उक्त दूसरे परमाणु के अनुरूप परिणमनकर बन्ध को प्राप्त हो जाता है। यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणु का उक्त चार गुणवाले परमाणु के अनुरूप परिणमन स्वयंकृत है। उसे उक्त चार गुणवाले परमाणु ने उत्पन्न नहीं किया है। फिर भी उसके सद्भाव में अपने बन्धरूप परिणामवश इस कार्य को उसने किया है, इसलिए उस परिणाम का निश्चयकर्ता वह दो गुणवाला परमाणु होने पर भी, उस परिणाम का व्यवहारकर्ता चार गुणवाला परमाणु कहा जाता है। इसी तथ्य को आचार्य गृद्धपिच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5 के '**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥37॥**' इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया है।

यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणु की उक्त चार गुणवाले परमाणु के साथ काल प्रत्यासत्ति है, इसलिए इस सूत्र में उक्त बात को ध्यान में रखकर चार गुणवाले को, दो गुणवाले परमाणु को परिणमानेवाला कहा गया है। वस्तुतः देखा जाये तो जिस प्रकार दो गुणवाले परमाणु ने उस समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है, उसी प्रकार चार गुणवाले परमाणु ने भी उसी समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है, उस समय दोनों अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। यद्यपि चार गुणवाला परमाणु उस समय दो गुणवाले परमाणु को नहीं परिणमा रहा है अर्थात् चार गुणवाला परमाणु उस समय अपने व्यापार को छोड़कर दो गुणवाले परमाणु के व्यापार में क्रियाशील नहीं हुआ है, फिर भी लोक में उक्त प्रकार का व्यवहार होता अवश्य है, सो ऐसे व्यवहार का कारण जिसकी कालप्रत्यासत्ति होने पर यह परिणाम हुआ है, उसका ज्ञान कराना मात्र है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सयमसार के बन्धाधिकार में '**जह फलहमणी सुद्धो**' इत्यादिरूप से 278 व 279 संख्याक गाथाऐं लिखकर इसी तथ्य का ज्ञान कराया है और आचार्य अमृतचन्द्र ने भी उन दोनों गाथाओं की टीका में '**न जातु**

रागादि' इत्यादि कलश लिखकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। यह एक शास्त्रीय उदाहरण है। लोक में इस प्रकार के जितने भी कार्य होते हैं, उन सबके विषय में यह नियम जान लेना चाहिए।

(7) अन्य एक या एक से अधिक जिन द्रव्यों का, उससे भिन्न दूसरे द्रव्य के जिस कार्य के अनुकूल व्यापार होता है, वह व्यवहार हेतु कहा जाता है। इस तथ्य को आचार्य अमृतचन्द्र ने श्री समयसार गाथा 84 की टीका में '**बहिर्व्याप्य-व्यापकभावेन कलश-सम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः**' इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है। इस वाक्य में आया हुआ '**अनुकूलम्**' शब्द उक्त आशय की सूचना स्पष्टरूप से कर रहा है। इससे तीन बातों का स्पष्ट ज्ञान होता है—

एक तो इस बात का ज्ञान होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक कार्य की अपने समर्थ (निश्चय) उपादानरूप कर्ता के साथ नियम से अन्तर्व्याप्ति होती है, उसी प्रकार उसकी जिनमें व्यवहारीजन कर्ता आदि व्यवहार करते हैं, ऐसी दूसरे एक या एक से अधिक द्रव्यों की पर्यायों के साथ नियम से बाह्य व्याप्ति होती है। इन दोनों का एक काल में होने का नियम होने से इनमें काल प्रत्यासत्ति होती है और इसलिए ऐसा योग इनमें विस्रसा या प्रयोग से सहज ही बनता रहता है।

दूसरे, इस बात का भी ज्ञान होता है कि जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, ऐसे दूसरे एक या एक से अधिक द्रव्यों का वह व्यापार प्रत्येक समय के विवक्षित कार्य से पृथक् ही होता है। निमित्त संज्ञा को प्राप्त होनेवाले वे पदार्थ प्रत्येक समय के उस विवक्षित कार्य में व्यापार नहीं करते, यह उक्त कथन का आशय है।

तीसरे, इस बात का भी ज्ञान होता है कि उपादान कर्ता के अपने कार्य के प्रति व्यापारवान् होने पर जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, ऐसे एक या एक से अधिक द्रव्यों का उस-उस समय होनेवाला वह व्यापार, व्यवहार से अनुकूल ही होता है। दूसरे शब्दों में यदि इसी बात को प्रकट किया जाये तो इससे यह अनुमान होता है कि इस समय इस कार्य का यही समर्थ उपादानकर्ता है।

(8) इस प्रकार सब द्रव्यों के प्रत्येक समय के कार्य के अनुकूल प्रत्येक समय में उपादान और निमित्त का सहज योग बनता रहता है और सब द्रव्यों का प्रत्येक समय में यथासम्भव विभाव या स्वभावरूप कार्य भी होता रहता है अर्थात् संसारदशा में जीव का और

बद्धदशा में पुद्गल का विभावरूप कार्य होता है और स्वभावदशा में जीव का, परमाणुदशा में पुद्गल का तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल का सर्वदा स्वभावरूप कार्य होता रहता है। आगम में अनेक स्थलों पर कहीं उपादान की अपेक्षा और कहीं निमित्तों की अपेक्षा जो यह वचन दृष्टिगोचर होता है कि **'सर्वत्र कारणानुविधायि कार्यं भवति'** सो उसका कारण यही है कि जिस समय जो भी कार्य होता है, उसमें निश्चय से उपादान की और व्यवहार से निमित्तों की अनुकूलता दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि अन्य द्रव्य की जो पर्याय व्यवहार से कार्य के अनुकूल होती है, उसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि **जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, वह व्यवहार से कार्य के अनुकूल होता है और कार्य व्यवहार से उसके अनुरूप होता है।**

(9) अब प्रश्न यह है कि जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, उनका प्रायः व्यवहार से कार्यों के अनुकूल और कार्यों का व्यवहार से उनके अनुरूप होना आवश्यक है तो निष्क्रिय धर्मादि द्रव्य तथा क्रियावान जलादि पदार्थ जीव-पुद्गलों के गमनादि में निमित्त कैसे हो सकेंगे ? यह प्रश्न आचार्यों के समक्ष था। उन्होंने द्वादशांग वाणी को लक्ष्य में रखकर इस प्रश्न का जो समाधान किया है, उसके प्रकाश में सर्वार्थसिद्धि अध्याय 5 सूत्र 7 के इस वचन को हृदयंगम कीजिए —

ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीव-पुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते। जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति। नैष दोषः, बलाधान-निमित्तत्वाच्चक्षुर्वत्। यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्तमिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय है तो इनकी जीव-पुद्गलों की गति आदि में हेतुता नहीं बनती, क्योंकि जलादिक क्रियावान होकर ही मछली आदि की गति आदि में निमित्त देखे गये हैं ?

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु के समान ये बलाधान में निमित्तमात्र हैं। जैसे रूप के जानने में चक्षु निमित्त है, फिर भी व्याक्षिप्त मनवाले के रूप के जानने में वह निमित्त नहीं होता, वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिए।

यह आगम वचन है। इससे और पूर्वोक्त कथन से हमें जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, उनकी कार्यों के प्रति व्यवहारहेतुता दो प्रकार से ज्ञात होती है—एक तो बलाधान में हेतु होनेरूप से और दूसरे कार्यों के अनुकूल परिणमनरूप से। लोक में जिन्हें उदासीन

निमित्त कहते हैं, उनकी प्रथम प्रकार में परिगणना होती है और जिन्हें प्रेरक, निर्वर्तक या प्रयोजक निमित्त कहते हैं, उनकी दूसरे प्रकार में परिगणना होती है।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि पर वस्तु स्वभाव से निमित्त नहीं है। किन्तु जिस कार्य में जो जिस प्रकार से व्यवहारहेतु होता है, उस अपेक्षा उसमें उस प्रकार से निमित्तव्यवहार किया जाता है। आगम में इसका स्वतन्त्ररूप से विचार किया है। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 22 में परिणाम क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोग-विस्रसालक्षणः विकारः परिणामः ।10। द्रव्यस्य चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोग-विस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारः, तनदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा। तत्र परिणामो द्विविधः-अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। अचेतनमृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्र धनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः। तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्यः।

द्रव्य का अपनी जाति का परित्याग किये बिना, प्रयोग और विस्रसालक्षण विकार परिणाम है।10। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा न होने से तिर्यग्भूत अपनी द्रव्य जाति को न छोड़ते हुए चेतन-अचेतन द्रव्य का पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से प्रधानता को प्राप्त किसी एक पर्यायरूप से उत्पन्न होना अर्थात् पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक प्रयोग-विस्रसालक्षण विकार का होना परिणाम है, ऐसा जानना चाहिए। वहाँ प्रयोग का अर्थ पुद्गलविकार है। उसकी अपेक्षा किये बिना विक्रिया विस्रसा है। प्रकृत में परिणाम दो प्रकार का है—अनादि और सादि। लोकसंस्थान और मन्दराकारादि अनादि परिणाम है। सादि परिणाम प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से चेतन के कर्मों के उपशमादि सापेक्ष होनेवाले औपशमिकादिक भाव अपौरुषेय होने से वैस्रसिक कहे जाते हैं। ज्ञान, शील, भावनादि आचार्यादि पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होने के कारण प्रयोगज है। अचेतन मिट्टी आदि का घटसंस्थान आदि परिणाम कुम्हार आदि पुरुषप्रयोग के निमित्त से होने के कारण प्रयोगज है। इन्द्रधनुष आदि नाना परिणाम वैस्रसिक है। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों का परिणाम भी जान लेना चाहिए।

यह तत्त्वार्थवार्तिक का वचन है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के इसी सूत्र में भी परिणाम के इन्हीं सब भेद-प्रभेदों का विशेष व्याख्यान किया है। उक्त उल्लेख में यद्यपि 'प्रयोग' का अर्थ 'पुद्गल विकार' किया है। किन्तु इसका दूसरा अर्थ पुरुष का प्रयत्न भी है, जैसा कि उसी उल्लेख में की गई आगे की व्याख्या से ज्ञात होता है। इस अभिप्राय को भट्टाकलंकदेव ने इसी अध्याय के 24 वें सूत्र की व्याख्या में और भी स्पष्ट कर दिया है। इन उल्लेखों में सब प्रकार के परिणामों (कार्यों) का विचार किया गया है। उनमें से जीवों और पुद्गलों के सादि परिणामों का विचार करते हुए जो कुछ लिखा है, उससे ये तथ्य फलित होते हैं—

(अ) जीव के औपशमिक आदि भाव सादि वैस्रसिक परिणाम हैं।

(आ) दान, शील, व्रतग्रहण और भावना आदि जीव के प्रयोगज परिणाम हैं।

(इ) कर्मों के उपशम आदि, द्वयणुक स्कन्ध आदि तथा मेघगर्जन, उल्कापात, इन्द्रधनुष आदि पुद्गल के सादि वैस्रसिक परिणाम हैं।

(ई) घटनिर्माण आदि, यन्त्रादि की गति आदि, भूखनन, जतु-काष्ठबन्ध आदि पुद्गल के सादि प्रयोगज परिणाम हैं।

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, उनके होने में व्यवहार से कहीं पुरुष का प्रयत्न और कहीं अन्य सामग्री निमित्त अवश्य होती है। आगम में आकाश की अवगाहना और कालद्रवय का प्रति समय का समय परिणाम, ये दो कार्य ऐसे अवश्य बतलाये हैं। जिनके होने में व्यवहार से अन्य किसी को निमित्तरूप से नहीं स्वीकार किया गया है। 'देखो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 12, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 22। इनके सिवाय आगम में ऐसा अन्य एक भी कार्य नहीं स्वीकार किया गया है, जिसके होने में व्यवहार से बहिरंग हेतु न स्वीकार किया गया हो। अपर पक्ष उक्त दो कार्यों में केवल अन्तरंग हेतुओं का निर्देश करता, तब तो कोई बात नहीं थी। परन्तु उसकी ओर से इनका उक्त प्रकार से होने का तो कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया, मात्र वह अनन्त अगुरुलघुगुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की षट्गुणी हानि-वृद्धि को अवश्य ही केवल स्वप्रत्यय मानने का आग्रह स्थान-स्थान पर करता है, जो सर्वथा आगम के विपरीत है। इसका विशेष विचार तो हम 11 वें प्रश्न का अन्तिम उत्तर लिखते समय ही करेंगे। यहाँ मात्र इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि जिन्हें अपर पक्ष अगुरुलघु नामक अनन्त गुण मान रहा है, वे वास्तव

में गुण न होकर अविभागप्रतिच्छेद ही हैं। तभी तो आगम में उनकी हानि-वृद्धि स्वीकार की गई है। कोई भी गुण त्रैकालिक यावत् द्रव्यभावी होता है, इसलिए उसकी हानि-वृद्धि सम्भव नहीं। हानि और वृद्धि पर्यायों में ही होती है, गुणों की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि गुणों की वृद्धि मानने पर नये गुणों की उत्पत्ति और उनकी हानि मानने पर उनके नाश का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि अपर पक्ष कहे कि कुछ पुराने गुणों का नाश होता है और कुछ नये गुण उत्पन्न होते हैं, सो यह कहना बनता नहीं; क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्याय का होता है, गुणों का या द्रव्य (सामान्य) का नहीं। अतएव आगम में जहाँ भी सामान्य से अनन्त अगुरुलघुगुणों की हानि-वृद्धि स्वप्रत्यय बतलाई है, वहाँ मात्र स्वभावपर्याय के कथन की मुख्यता होने से ही वैसा प्रतिपादन किया गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार इस प्रकरण के प्रारम्भ में हमने जिन दो प्रश्नों का उल्लेख किया था, उनका यह सम्यक् समाधान है। इस समाधान से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्यों के आश्रय से जो कर्ता-कर्म की प्ररूपणा आगम में उपलब्ध होती है, वह असद्भूत व्यवहारनय की मुख्यता से ही की गई है। वह प्ररूपणा उपचरित होने से निश्चय तथा सद्भूत व्यवहार संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकती। साथ ही इस समाधान से यह भी ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्यों के आश्रय से की गई वह प्ररूपणा किन-किन द्रव्यों पर किस-किस प्रकार लागू होती है। इसके सिवाय इस समाधान से हम यह भी जान लेते हैं कि आगम में जहाँ भी अनन्त अगुरुलघुगुणों की षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्याय का निर्देश किया है, वहाँ वह स्वभावपर्याय का स्वरूपनिर्देश करने की दृष्टि से ही किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसके होने में व्यवहार से कालद्रव्य की भी निमित्तता नहीं है।

8. समस्याओं का मुख्य हेतु अज्ञान भाव, श्रुतज्ञान नहीं

इतने विवेचन के बाद अब हम मुख्यरूप से इस बात पर आते हैं कि अपर पक्ष यद्यपि केवलज्ञानी की अपेक्षा सब कार्यों का स्वकाल में होना नियत मानता है और श्रुतज्ञानी जीवों को वैसी श्रद्धा करने की सूचना भी करता है। फिर भी वह श्रुतज्ञानी जीवों की समस्त समस्याओं का हल उसमें न देखकर कार्य-कारणपरम्परा को उससे भिन्न मानना चाहता है, सो उस पक्ष की ऐसी मान्यता कहाँ तक ठीक है, यही यहाँ पर विचार करना है। विचार करने पर तो यद्यपि उस पक्ष का यह कथन परस्पर विरुद्धता को लिए हुए ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें प्रथम विसंगति तो यह है कि अपर पक्ष केवलज्ञान के विषय को भिन्न मानता है और

कार्य-कारण की दृष्टि से श्रुतज्ञान के विषय को उससे सर्वथा भिन्न मानता है। तथा दूसरी विसंगति यह आती है कि अपर पक्ष सम्यक् श्रद्धा तो केवलज्ञान के विषय के अनुसार करने को कहता है और सम्यक्श्रद्धा विहीन श्रुतज्ञान के द्वारा कार्य-कारण की स्थापना करके, उसे फिर भी प्रामाणिक मानता है और साथ ही केवलज्ञान के अनुसार प्रवृत्त हुई द्वादशांग वाणीस्वरूप आगम से उसका समर्थन करने का उपक्रम भी करता है। है तो यह सब कल्पित विचारसरणी, फिर भी उस पक्ष की ओर से जो कुछ लिखा गया है, उस पर सांगोपांग विचार तो करना ही है। अपने पक्ष के समर्थन में उस पक्ष का कहना है—

'जैन संस्कृति के आगम ग्रन्थों में कार्योत्पत्ति के विषय में श्रुतज्ञानी जीवों के लिये दो प्रकार से विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा दृष्टि से और दूसरी श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्यदृष्टि से। '**जं जस्स जम्मि देसे**' इत्यादि आगम वाक्यों में पहली दृष्टि की उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्य के स्वप्रत्यय स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्य-कारणभाव पद्धति का जो जैन संस्कृति के आगम ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन पाया जाता है, वह सब श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्य की दृष्टि से ही किया गया है।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवों के लिए क्यों किया गया है ? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव, केवलज्ञानी जीवों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशा में विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृत्यकृत्य हैं, वहाँ श्रुतज्ञानियों के सामने हमेशा कृत्यों (कार्यों) के करने की समस्या खड़ी ही रहती है; जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तु के और उनके प्रत्येक क्षण में होनेवाले व्यापारों के केवल ज्ञाता-दृष्टामात्र बनकर रह रहे हैं, वहाँ कार्योत्पत्ति के लिए श्रुतज्ञानी जीवों को अपनी मौजूदा हालतों में अनुभव में आनेवाली जोड़-तोड़ बिठलाने की आवश्यकता है। अत: श्रुतज्ञानियों के लिये कार्योत्पत्ति की कार्य-कारणभाव पद्धति को अपनाने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवलज्ञान में सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय होने के कारण यथा-योग्य केवल उपादानकारण से अथवा उपादान-निमित्तरूप दोनों कारणों से ही उत्पन्न होते हुए अनुभव में आ रहे हैं। चूँकि श्रुतज्ञानी जीव को केवलज्ञान का विषय केवल आस्था का है, अत: उस पर केवल आस्था रखने का ही उसे आदेश दिया

गया है और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवों के लिए उपयोगी नहीं हो सकती है। अत: उनके लिए कार्य-कारणभाव पद्धति को अपनाने का भी उपदेश दिया गया है। इसलिए जिसने कार्योत्पत्ति के लिये कार्य-कारणभाव पद्धति के मार्ग को समाप्त करने का प्रयत्न किया, वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायेगा। अत: केवलज्ञानी ने जैसा देखा है, वैसा ही कार्य होगा, उस पर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीव का कर्तवय है, कारण कि इस तरह की श्रद्धा करने से अपने पुरुषार्थ द्वारा होनेवाली कार्य की सफलता से उसके अन्त:करण में अहंकार पैदा नहीं होगा और असफलता मिलने पर कभी दु:ख पैदा नहीं होगा। अपनी उक्त प्रकार की श्रद्धा के आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्व के प्रभाव से उसका अनन्त संसार में परिभ्रमण होने के सिवाय और क्या हो सकता है? इस प्रकार श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें तो नियतक्रम से ही होती है और प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें अनियत क्रम से भी होती हैं। इस तरह द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही हैं, अनियतक्रम से नहीं, आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नहीं है। आप यह तो कह नहीं सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है, अत: आपके सिद्धान्त पर हमारे लिए विचार करना आवश्यक हो गया।'

यह अपर पक्ष के प्रकृत प्रतिशंका सम्बन्धी कथन का कुछ अंश है। इसमें उस पक्ष के पूरे वक्तव्य का सार आ जाता है। किन्तु यह सब कथन स्वयं में कितना भ्रामक है, इसे समझने के लिए हमें 'केवलज्ञान के अनुरूप ही श्रुतज्ञान का विषय होता है या अन्य प्रकार का' यह सर्व प्रथम जानना होगा। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का निर्देश करते हुए स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ 105॥

स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान सब तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं। उनमें साक्षात् और असाक्षात् का ही भेद है। जो इन दोनों का विषय नहीं है, वह अवस्तु है॥ 105॥

पूर्वोक्त कारिका द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि उक्त कारिका की व्याख्या के प्रसंग से अष्टसहस्री में लिखते हैं—

यथैव हि आगम: परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपि, न विशेष:, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य।

जिस प्रकार आगम दूसरे के लिये अशेष जीवादि तत्त्व का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार केवली भी; इस दृष्टि से इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि भेद है तो साक्षात् जानने और असाक्षात् जानने का भेद है, क्योंकि यह भेद तत्त्वपरिच्छितितहेतुक है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखते हैं—

सुद-केवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥ 369॥

ज्ञान की अपेक्षा अर्थात् जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सदृश है। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है॥ 369॥

श्रुतज्ञान संशय आदि दोषों से रहित होकर अनेकान्त स्वरूप सब पदार्थों को प्रकाशित करता है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्मिकेय द्वादशानुप्रेक्षा में लिखते हैं—

सव्वं पि अणेयंतं परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि संसयपहुदीहिं परिचत्तं॥ 262॥

इस प्रकार आगम के उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो केवलज्ञान का विषय है, वही श्रुतज्ञान का भी विषय है। विषय की अपेक्षा इन दोनों ज्ञानों में कोई भेद नहीं है। यदि भेद है भी तो प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से जानने की अपेक्षा ही इन दोनों में भेद है **अर्थात् कार्यकारणभाव पद्धति के जो नियम केवलज्ञान में झलके हैं, उन्हीं नियमों को श्रुतज्ञानी उसी प्रकार से अपने ज्ञान द्वारा जानता है। इसी प्रकार सभी कार्य केवलज्ञान में नियतक्रम से होते हुए ही झलके हैं। अतः श्रुतज्ञानी भी सभी कार्यों को नियतक्रम से होता हुआ ही आगम के बल से जानता है। कारण** यह है कि केवली भगवान के ज्ञान में छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, उनके गुण-पर्याय, जीवादि नौ पदार्थ और कार्य-कारणभाव जिस रूप में प्रतिभासित हुए, दिव्यध्वनि द्वारा उनका उसी रूप में कथन हुआ; जिस रूप में कथन हुआ, उनको गणधर देवों ने अपने सम्यक् श्रुतज्ञान के बल से उसी रूप में ग्रहण किया; जिस रूप में गणधरदेवों ने उनको ग्रहण किया, उनको उसी रूप में द्वादशांग श्रुत में निबद्ध किया और जिस रूप में वे द्वादशांग श्रुत में निबद्ध हुए, आरातीय आचार्यों ने उनका उसी रूप में प्ररूपण किया। जिस प्रकार क्षीर-सागर का जल घट में भर लिया जाता है, अतएव वह क्षीरसागर का ही जल ठहरता है, उसी प्रकार आरातीय आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र अर्थरूप से ही हैं, इसलिए वे केवलज्ञान ओर उनकी दिव्यध्वनि के समान ही प्रमाण हैं।

— सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 20 के आधार से

अब विचार कीजिए कि जब केवलज्ञान में यह भाषित हुआ है कि सब द्रव्य अनादिकाल से प्रत्येक समय में अपने प्रतिनियत उपादान से अन्य द्रव्यों की प्रतिनियत पर्यायों को निमित्तकर प्रतिनियत कार्यों को ही जन्म देते हैं, तो क्या श्रुतज्ञान केवलज्ञान के इस विषय से विपरीत निर्णय करेगा और यदि विपरीत निर्णय करेगा तो क्या उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कहा जा सकेगा ? अर्थात् नहीं कहा जा सकेगा। अपर पक्ष ने जब यह स्वीकार कर लिया है कि 'केवलज्ञान में सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं' और वह पक्ष उसके अनुसार दूसरों को ऐसी श्रद्धा करने की प्रेरणा भी करता है। ऐसी अवस्था में सम्यक् श्रुतज्ञान में उक्त प्रकार का ही निर्णय होना चाहिए कि दूसरे रूप में, इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। अपर पक्ष केवलज्ञान के अनुसार पदार्थ व्यवस्था और कार्य-कारण परम्परा को स्वीकार करके भी श्रुतज्ञान के विषय को उससे अन्य प्रकार से मानना चाहता है, इसका हमें आश्चर्य है। स्वामी कार्तिकेय ने '**जं जस्स जम्मि देसे**' इत्यादि (321-322) दो गाथायें लिखकर जो '**एवं जो णिच्छयदो**' (323) गाथा लिखी है, उसमें पठित '**जाणदि**' पद ध्यान देने योग्य है। इस पद द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि केवली जिनने सब जीवों का जिस काल में जिस विधि से जैसा जन्म अथवा मरण जाना है, वह उसी प्रकार होगा, अन्य प्रकार नहीं होगा, ऐसा जो श्रुतज्ञानी जीव अपने श्रुतज्ञान से निश्चयपूर्वक जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। तथा जो इससे विपरीत कल्पना करता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। अब विचार कीजिए कि स्वामी कार्तिकेय का यह लिखना क्या केवल श्रद्धा के लिये है या जानने के लिए भी है। एक ओर तो सभी आचार्य यह लिखते हैं कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है और दूसरी ओर अपर पक्ष कहता है कि विषय की अपेक्षा इन दोनों ज्ञानों में बड़ा भेद है, तो बतलाइये कि आगम वचनों का श्रद्धान किया जाये या आप सब अपर पक्ष के वचनों का। हमारी नम्र राय में आगम की ऐसी उपेक्षा कर उससे अपने अभिमत की पुष्टि करना उचित नहीं है।

अपर पक्ष संसारी जीवों के सामने उपस्थित अनेक समस्याओं का उल्लेख करता है, सो इस बात को हम भी अच्छी तरह जानते हैं कि संसारी जीवों के सामने अनेक समस्यायें हैं। उनके सामने जीवन-मरण की समस्या है, सांसारिक सुख-दुःख की समस्या है, कुटुम्ब की और अपनी आजीविका की समस्या है, किस काल में किस उपादान से किसको निमित्तकर क्या कार्य होगा, इसकी अजानकारी या मिथ्या जानकारीवश जोड़-तोड़ बिठलाते

रहने की भी समस्या है, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक और भी अनेक प्रकार की समस्याऐं हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर उन सबका कारण क्या है, इस ओर भी अपर पक्ष का सम्यक् प्रकार से क्या कभी ध्यान गया? वास्तव में देखा जाये तो इसका कारण केवल राग, द्वेष और मोह ही तो है; श्रुतज्ञान नहीं। श्रुतज्ञान को पराधीन बतलाकर व्यर्थ में लांछित मत कीजिए। जब तक यह जीव रागी, द्वेषी और मोही होकर प्रवर्तता है, तब तक इस संसारी जीव के लिए ये समस्याऐं वस्तुतः समस्याऐं बनी रहेंगी। चाहे हम हों या अन्य कोई, समस्याऐं व्यक्ति का पीछा नहीं करतीं, क्योंकि उनकी जननी राग, द्वेष और मोह भाव ही तो हैं। जब तक राग, द्वेष और मोह के कारण यह प्राणी आकुलित बना रहेगा, तब तक वह मृग-मरीचिका के समान उनमें भटकता ही रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश में कहते हैं—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्च-
कैर्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेऊ विलयं यद्येकवारं ब्रजेत्तत्किं
ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः॥ 55॥

इस जगत में 'परद्रव्य को मैं करता हूँ'—ऐसा अत्यन्त दुर्निवारक परद्रव्य कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार मोही जीवों के अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! भूतार्थनय को ग्रहण करने से यदि वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता॥ 55॥

यह आगम वचन है। इसमें संसारी जीवों के समक्ष जो भी समस्याऐं खड़ी रहती हैं, उन सबका मूल निदान करके उनका परमार्थरूप सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है। अतएव श्रुतज्ञान के आधार पर केवलज्ञान के विषय से भिन्न यह निष्कर्ष निकालना तो ठीक नहीं है कि 'श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें तो नियतक्रम से ही होती हैं और प्रत्येक वस्तु की कोई पर्यायें अनियतक्रम से भी होती हैं। और इस आधार पर हमारे 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं, अनियतक्रम से नहीं' इस सिद्धान्त को आगम विरुद्ध ठहराना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः किसी भी द्रव्य में यदि कोई कार्य हमें अनियत क्रम से होता हुआ प्रतिभासित होता है तो ऐसे प्रतिभास को मोह का ही साम्राज्य समझना चाहिए। मोही जीव ही अंतरंग प्रतिनियत उपादान का विचार किये बिना और

प्रतिनियत बाह्य सामग्री को लक्ष्य में लिये बिना, केवल अपनी कल्पनाओंवश बाह्य साधनों के आधार पर किसी भी कार्य के कभी भी होने की सोचता है और अंतरंग-बहिरंग प्रतिनियत सामग्री के अभाव में सोची गई तरकीब के अनुसार उस कार्य के न होने पर, जो वास्तव में उस कार्य के हेतु नहीं थे, ऐसे दूसरे केवल बाह्य साधनों को ही दोषी ठहराता है, ज्ञानी जीव नहीं। स्पष्ट है कि जो केवलज्ञान का विषय है, वही श्रुतज्ञान का भी विषय है। अतएव केवली जिन अपने समस्त विषयों को जिस प्रकार प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी जीव भी आगम के बल से उक्त प्रकार निर्णयकर उनको उसी रूप में जानते हैं। यदि कोई श्रुतज्ञानी इससे भिन्न प्रकार से जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। उसकी मिथ्या श्रुतज्ञान में ही परिगणना होगी।

9. सर्वज्ञवचन का श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नहीं होता

अब रहा अपर पक्ष का यह कथन कि 'उक्त प्रकार की श्रद्धा के आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्व के प्रभाव से उसका अनन्त संसार में परिभ्रमण होने के सिवाय और क्या हो सकता है ?' सो पता नहीं कि अपर पक्ष ने ऐसा मिथ्या विधान करने का साहस कैसे किया ? यदि अपर पक्ष यह लिखता कि 'जो जीव सर्वज्ञ के उक्त प्रकार के कथन की श्रद्धा छोड़कर पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है, वह मिथ्यात्व के कारण अनन्त संसार का भागी होता है' तब तो बात दूसरी होती। किन्तु यहाँ तो अपर पक्ष उक्त प्रकार की श्रद्धा के आधार पर ही इस जीव को पुरुषार्थहीन और कृतघ्नी बनाकर मिथ्यादृष्टि और अनन्त संसारी घोषित कर रहा है, सो उसकी ऐसी घोषणा को विपरीत मान्यता का फल ही कहना चाहिए।

वस्तुतः मूल प्रश्न के अनुसार तो प्रकृत में विचार इस बात का होना था कि 'द्रव्यों की सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती हैं या अनियतक्रम से भी'। चूँकि अपर पक्ष शंकाकार पक्ष है, इसलिए उसकी ओर से हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तर में 'सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं' इसके समर्थन में जो कुछ तर्क और आगम प्रमाण उपस्थित किये गये थे, वे कैसे ठीक नहीं हैं, यह शंकारूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। परन्तु अपनी प्रतिशंका के प्रारम्भ में यह सब कुछ न कर, उसकी ओर से यहाँ कुछ ऐसी बातों का विधान किया गया है, जिनका आगम और आगमानुसार तर्कों से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या कोई वीतराग मार्ग का सच्चा श्रद्धानी यह मान सकता है कि जो कोई सर्वज्ञदेव के वचनों पर श्रद्धा करता है, वह

पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है। यदि विचारकर देखा जाये तो ऐसा जीव जो कि सर्वज्ञदेव के वचनों पर श्रद्धान करता है, अनन्त-पुरुषार्थी होगा; क्योंकि अनन्त-पुरुषार्थ को प्रकट किये बिना किसी भी जीव को सर्वज्ञदेव के वचनों पर श्रद्धा हो ही नहीं सकती। हाँ, जो जीव उक्त प्रकार की श्रद्धा का त्याग कर देगा, वह अवश्य ही पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जायगा। सर्वज्ञदेव के वचनों पर श्रद्धा करनेवाला जीव कार्यकारणभाव में स्वीकृत उपादान और बाह्य निमित्त के लक्षण जाने या न जाने, पर वह यह अवश्य जानता है कि 'जिस काल में जिस विधि से जिस वस्तु का जो होना होगा, वही होगा' उसमें फेर-फार इन्द्र और चक्रवर्ती की बात तो छोड़िये, स्वयं तीर्थंकर भी नहीं कर सकते। वस्तुत: देखा जाये तो इस कथन में कार्य-कारणभाव के सभी सिद्धान्त निहित हो जाते हैं। यह दृष्टि की बात है कि श्रुतज्ञानी जीव कब किस कार्य को किस रूप में देखता-परखता है। अनन्त आकुलताओं से बचने का तो यह मार्ग है ही, सम्यक् आत्मपुरुषार्थ को जागृत कर अपने स्वरूप में स्थित होने का भी यही मार्ग है, क्योंकि **आकुलता ही दु:ख की खान है और निराकुलता सुख की जननी है।** इसलिए प्रकृत में ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिसने सर्वज्ञ के वचनों में यथार्थ श्रद्धा की, उसने उनके स्वरूप को जान लिया और जिसने उनके स्वरूप को जान लिया, उसने अपने आत्मा के स्वरूप को जान लिया और जिसने अपने आत्मा के स्वरूप को जान लिया, उसे अपने यथार्थ कर्तव्य का भान हो गया। (देखो प्रवचनसार गाथा 80)।

वीतराग सर्वज्ञ ने सम्यक् श्रद्धानुसारी चारित्र (कर्तव्य) को ही सच्चा चारित्र कहा है, इसलिए जैनधर्म के आगम ग्रन्थों की प्ररूपणा में अपर पक्ष के द्वारा ऐसा भेद का किया जाना उचित नहीं है कि 'कार्योत्पत्ति के विषय में श्रुतज्ञानी जीवों के लिए दो प्रकार की विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा श्रद्धादृष्टि से और दूसरी श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कर्तव्यदृष्टि से।' मालूम पड़ता है कि आगमग्रन्थों की प्ररूपणा में ऐसे विभाग की दृष्टि बनाने से ही अपर पक्ष के सामने जटिलता उपस्थित हुई है और इसीलिए वह उपादान के स्वरूप की ओर ध्यान दिये बिना, केवल बाह्य सामग्री के बल पर कार्य-कारणभाव की स्थापना करना चाहता है। एक ओर तो वह कार्य-कारणभाव की प्ररूपणा को केवलज्ञान के विषय से बहिर्भूत करता है और दूसरी ओर वह अनन्त अगुरुलघु गुणों की षड्गुणी हानि-वृद्धि में बाह्य द्रव्य की निमित्तता का निषेध कर, इसे अनुभवगम्य बतलाता है, जबकि आचार्यों ने अनन्त अगुरुलघुगुणों की स्वीकृति ही आगमप्रमाण से मानी है। यदि

अपर पक्ष केवलज्ञान के विषय से भिन्न श्रुतज्ञान का विषय क्या है ? क्या जो मात्र पाँच इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है, वह श्रुतज्ञान का विषय है या और कुछ, इसका स्पष्टीकरण करने के बाद अपने पक्ष को उपस्थित करता तो अधिक उपयुक्त होता। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है कि श्रुतज्ञानी जीवों के सामने जो भी सांसारिक समस्याऐं हैं, उनका एकमात्र हल केवलज्ञान के विषय के अनुसार श्रद्धा कर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही है, अन्य दूसरे सब उपाय झूठे हैं। कार्य-कारणभाव की समस्या का सम्यक् समाधान प्राप्त करने का भी यही उपाय है, क्योंकि जिनागम में वस्तुस्वरूप के विवेचन के प्रसंग से कार्य-कारणभाव का स्पष्ट निर्देश किया ही है।

10. क्रमबद्ध या नियतक्रम पद का अर्थ

अब उक्त प्रतिशंका के उस भाग पर विचार करते हैं जिसमें 'क्रमबद्ध' पद का अर्थ करके अपर पक्ष द्वारा श्रुतज्ञान की दृष्टि से वस्तु की द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों के नियतपने और अनियतपने की स्थापना की गई है। 'क्रमबद्ध' पद का अर्थ करते हुए अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि 'सामान्यतः क्रम शब्द का प्रयोग कालिकसम्बन्ध के आधार पर हुआ करता है।' सो इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना है कि 'क्रम' शब्द का प्रयोग दैशिक क्रम, कालिक क्रम और गणनाक्रम आदि अनेक अर्थों में होता है। इतना अवश्य है कि प्रकृत में एक द्रव्य या एक गुणसम्बन्धी पर्यायें विवक्षित होने से यहाँ कालिक क्रम ही लिया गया है। किन्तु पर्यायें एक के बाद एक होती हुई, वे अपने-अपने स्वकाल के अनुसार नियतक्रम से ही होती हैं या उनका अपना-अपना कोई स्वकाल न होने से वे अनियत क्रम से भी होती हैं, इस बात का यहाँ विचार करना है। अपर पक्ष केवलज्ञान की अपेक्षा तो उनका अपने-अपने स्वकाल में नियतक्रम से होना मानकर भी श्रुतज्ञान की अपेक्षा उनका नियत और अनियत दोनों प्रकार से होना मानना चाहता है। इस तरह वह केवलज्ञान के विषय से श्रुतज्ञान के विषय में भेद करके अपने अभिमत की सिद्धि करना चाहता है। यहाँ अपर पक्ष ने कुछ पर्यायों में श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनियतक्रम और नियतक्रम की कल्पना कर उनके कुछ उदाहरण देकर लिखा है—

'जैसे जीव की क्रोध पर्याय के बाद क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायों में से यथासम्भव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसी प्रकार मानादि पर्याय के बाद भी उक्त चारों पर्यायों में से कोई भी एक पर्याय हो सकती है, नियत कोई एक पर्याय नहीं। इसी प्रकार की व्यवस्था यथासम्भव मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्यायों के बारे में भी समझना

चाहिए। इन सब पर्यायों में एक के बाद एकरूप क्रम तो रहता है, परन्तु नियत क्रम नहीं रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्यपर्याय के बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देवपर्याय के बाद सिर्फ तिर्यंच अथवा मनुष्यपर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारकपर्याय से सिर्फ तिर्यंच पर्याय तथा किसी-किसी देवपर्याय से केवल मनुष्यपर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्यपर्याय भी ऐसी होती है, जिसके बाद केवल मनुष्य या देवपर्याय और कोई-कोई मनुष्यपर्याय से केवल देवपर्याय ही सम्भव होती है। तिर्यंचपर्याय के बाद भी आगम सम्मत अपने ढंग की ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवलक्रम (अनियत-क्रम) पर्यायों में यथायोग्य समझना चाहिए।' इत्यादि।

श्रुतज्ञान की अपेक्षा पर्यायों में नियतक्रम और अनियतक्रम किस प्रकार है, इस बात से सम्बन्ध रखनेवाला यह अपर पक्ष का कथन है। अपर पक्ष ने इस कथन में एक स्थल पर 'आगम सम्मत अपने ढंग की ऐसी ही व्यवस्था है।' यह उल्लेख भी किया है। इससे इतना तो सुनिश्चित ज्ञात होता है कि अपर पक्ष आगम-सम्मत व्यवस्था के अनुसार ही यह सब लिख रहा है और आगम की रचना सर्वज्ञ वीतराग की दिव्यध्वनि के अनुसार ही हुई है। ऐसी अवस्था में पर्यायों सम्बन्धी इस व्यवस्था को केवलज्ञान के विषय के अनुसार मानना ही उचित होगा। और इस तथ्य को तो अपर पक्ष ने ही स्वीकार किया है कि केवलज्ञान में सब पर्यायें नियत-क्रम से होती हुई ही झलकती है, अनियतक्रम से होती हुई नहीं। ऐसी अवस्था में आगम के अनुसार प्रवृत्त हुए श्रुतज्ञान में भी उन सब पर्यायों का एकमात्र नियतक्रम से होना अपर पक्ष को निश्छल भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए। **श्रुतज्ञान में यदि नियतक्रम से कब कौन पर्यायें उत्पन्न होंगी, यह पर्यायों के परोक्ष होने के कारण ज्ञात नहीं हो पाता तो इतने मात्र से उनका अनियतक्रम से होना स्वीकार नहीं किया जा सकता।**

वस्तुतः अपर पक्ष ने जिस ढंग से पर्यायों के नियतक्रम और अनियतक्रम से होने के विषय में अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत की है, वह ढंग मूल प्रश्न को स्पर्श नहीं करता, क्योंकि क्रोध, मान, माया या लोभ या नारकादि चारों पर्यायें किस क्रम से हों तो नियतक्रम समझा जाये और उस क्रम से न हों तो अनियतक्रम समझा जाये, ऐसी व्यवस्था आगम में नहीं की गई है। अतएव अपर पक्ष ने पर्यायों के नियतक्रम और अनियतक्रम के विषय में जो भाष्य किया है, वह प्रकृत में लागू नहीं होता। प्रकृत में प्रश्न ही दूसरा है, जिसे दृष्टि ओझल करके अपर पक्ष जिस किसी प्रकार श्रुतज्ञान के नाम पर अपने कथित अभिप्राय की पुष्टि करना

चाहता है। क्रोध के बाद दूसरे क्षण में अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्तकर क्रोधादि चारों में से एक कोई भी हो इसमें बाधा नहीं है। यहाँ देखना तो यह है कि जब क्रोध के बाद अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार जो पुनः क्रोध होता है, तब उसके स्थान में क्रोध न होकर बाह्य सामग्री के बल पर मानादि तीन में से क्या अन्य कोई हो सकता है? इस सम्बन्ध में आगम के अनुसार हमारा कहना तो यह है कि क्रोध के बाद पुनः क्रोध होता है, तब वह अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार स्वकाल में ही होता है; बाह्य सामग्री के बल से उसमें फेर-बदल नहीं हो सकता। अतीत काल की सभी पर्यायें प्रत्येक समय के अपने-अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार इसी नियतक्रम से होती आई हैं और भविष्य में भी प्रत्येक समय के अपने-अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार इसी नियतक्रम से होती रहेंगी। प्रत्येक द्रव्य में अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पर्यायें प्रत्येक समय में अपने-अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार अपने-अपने काल में पाँच समवाययुक्त कारक साकल्य के साथ नियतक्रम से ही हुई हैं, होगीं और होती हैं। प्रत्येक द्रव्य तीनों कालों की पर्यायों का पिण्ड है, यह वचन आगम में इसी आधार पर कहा गया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है—

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं॥ 582॥

एक द्रव्य में त्रिकालसम्बन्धी जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं, उतना ही द्रव्य है॥ 582॥

द्रव्य का लक्षण तभी बनता है, जब जितने काल के समय हैं, पर्यायदृष्टि से तत्प्रमाण प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप को स्वतःसिद्ध स्वीकार कर लिया जाये और इस आधार पर जिस प्रकार लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आधार-आधेयभाव (निमित्त-नैमित्तिकभाव) से एक-एक कालाणु अवस्थित है, उसी प्रकार काल के एक-एक विवक्षित समय के साथ पर्यायदृष्टि से प्रत्येक द्रव्य का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार करना उचित ही है। केवलज्ञान तो ऐसे नियतक्रम को प्रत्यक्षरूप से जानता ही है, श्रुतज्ञानी भी आगम के बल से ऐसा ही निश्चय करता है। यही कारण है कि कार्य-कारणभाव में काल को भी स्थान मिला हुआ है। प्रत्येक कार्य के प्रति प्रतिनियत कारणरूप से जिन पाँच का समवाय निश्चित है, उसका निर्देश इसी प्रत्युत्तर में हम पहले कर ही आये हैं। अणुरूप से काल द्रव्य को पृथक्-

पृथक् क्यों माना गया है, इसका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 399 का यह कथन दृष्टव्य है—

नानाद्रव्यं कालः, प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद् व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। तत्र दिवसादिभेदताः पुनः क्रियाविशेषभेदान्नैमित्तिकानां लौकिकानां च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्य कालद्रव्यमन्तरेण नोपपद्येत। यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितसत्त्वमिति प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालद्रव्यभेदसिद्धिः, तत्साधनस्यानवद्यत्वात्, अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः।

कालद्रव्य नाना हैं, अन्यथा आकाश के प्रत्येक प्रदेश के प्रति व्यवहार काल का भेद नहीं बन सकता है। उसमें दिवसादि के भेद से तथा क्रियाविशेष के भेद से नैमित्तिक और लौकिकजनों में व्यवहार काल का भेद प्रसिद्ध ही है। और दूसरों के द्वारा स्वीकार किया गया, वह व्यवहार काल का भेद गौण है जो कि मुख्य कालद्रव्य के बिना नहीं बन सकता। जिस प्रकार मुख्य सत्त्व के बिना कहीं पर उपचरित सत्त्व नहीं बनता, इसलिए लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालद्रव्य के भेद की सिद्धि होती है। अन्यथा व्यवहार काल नहीं बन सकता, इससे निश्चय काल की सिद्धि निर्दोष है।

यह उल्लेख स्वयं में बहुत स्पष्ट है। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि काल के विवक्षित समय को निमित्त कर जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसका वही स्वकाल है। उस समय वह उत्पन्न न हो या उसे टालकर उत्पन्न हो, यह नहीं हो सकता। इस प्रकार मणियों की माला के समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुण की तीनों काल सम्बन्धी पर्यायों के मणि सूत्र के समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुण में नियतक्रम से गुम्फित हैं। जिस प्रकार सूत्र में गुम्फित मणियों को अपने-अपने स्थान से च्युत नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुण में गुम्फित तीनों काल सम्बन्धी पर्यायों को उस-उस काल समय से अलग नहीं किया जा सकता। कोई इसे माने या न माने, प्रत्येक वस्तु तो स्वरूप से स्वतःसिद्ध ऐसी ही है। इसमें अन्य किसी का दखल नहीं। इसलिए प्रत्येक द्रवय या गुण की सभी पर्यायें अपने-अपने काल में नियतक्रम से ही होती हैं, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए (देखो प्रवचनसार गाथा 99 की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृत टीका)।

इस प्रकार उक्त विवेचन से प्रकृत में क्रमबद्ध या नियतक्रम पद का क्या अर्थ इष्ट हैं, उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

11. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 323 की संस्कृत टीका

अब हम प्रकृत प्रतिशंका के उस भाग पर विचार करेंगे, जिसमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 323 की संस्कृत टीका में उद्धृत '**त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं**' इत्यादि प्रसिद्ध पद के आधार पर अपर पक्ष ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में अपर पक्ष का वक्तव्य है कि —

''उस टीका में उद्धृत '**त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं**' इत्यादि पद प्रकृत विषय की मर्यादा के बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्ष की पुष्टि के लिए करने का प्रयत्न किया है, जो मालूम पड़ता है कि प्रकृत प्रश्न के महत्त्व को पाठकों की दृष्टि में कम करने के उद्देश्य से ही आपने किया है।''

सो अपर पक्ष का यह वक्तव्य हमें बड़ा ही उपहासास्पद प्रतीत हुआ, क्योंकि उक्त पद एक तो संकृत टीका में जहाँ जैसा निबद्ध था, हमने उस टीका के साथ वैसा उद्धृत कर दिया है और संस्कृत टीका के अर्थ के साथ उसका भी अर्थ लिख दिया है। हमने उक्त पद के आधार पर जब किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी ही नहीं की, ऐसी अवस्था में हमने उसका उपयोग अपने पक्ष की पुष्टि के लिए किया है या हम पाठकों की दृष्टि में प्रकृत प्रश्न का महत्त्व घटाना चाहते हैं, अपर पक्ष की ओर से ऐसा लिखा जाना मात्र पक्षपातपूर्ण दृष्टि का सूचक प्रतीत होता है।

दूसरे प्रकृत में उक्त पद का उपयोग ही नहीं है, यह लिखना न केवल हमें लांछित करता है, अपितु संस्कृत टीकाकार को भी लांछित करनेवाला है। टीकाकार ने उसे उद्धृत किया और बुद्धिपूर्वक उसे उद्धृत किया, क्योंकि स्वामी कार्तिकेय की '**एवं जो णिच्छयदो**' इत्यादि 323 संख्याक गाथा के द्वितीय चरण के अन्त में '**दव्वाणि सव्वपज्जाए**' पाठ पठित है। इसलिए इस पाठ के आधार पर वे द्रव्य और सब पर्यायें कौन हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिये ही टीकाकार ने '**त्रैकोल्यं द्रव्यषट्कं**' इत्यादि पद उद्धृत किया है। इसलिए प्रकृत में उक्त पद का उद्धृत किया जाना न केवल उपयोगी है, किन्तु आवश्यक भी है। इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह कायिक जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्र के भेद आदि जो भी सब द्रव्य और सब पर्यायें जिनागम में कहे गये हैं, वे सब नियत और क्रमनियत ही होते हैं। द्रव्य नियत होते हैं और पर्यायें क्रमनियत ही होती हैं, क्योंकि नियतरूप द्रव्य के साथ पर्यायों का

बननेवाला क्रम क्रमनियत ही होगा। अन्यथा द्रव्य, गुण और पर्यायों की एक सत्ता नहीं बन सकती। वस्तुतः अपर पक्ष को उक्त श्लोक का संस्कृत टीका में उद्धृत किया जाना खटका, इसलिए उसकी ओर से उक्त श्लोक को आलम्बन कर गलत ढंग से यह टीका-टिप्पणी की गई है।

12. सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है

इस टीका-टिप्पणी के बाद अपर पक्ष ने विस्तार के साथ यह दिखलाने का पुनः प्रयत्न किया है कि क्या नियत है और क्या अनियत है और अन्त में आप्तमीमांसा की कारिका 105 '**स्याद्वाद-केवलज्ञाने**' उद्धृत करने के पूर्व यह वक्तव्य निबद्ध किया है—

'यदि कार्य के स्वदेश और स्वकाल का अभिप्राय, जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 321 और गाथा 322 में प्रगट किया गया है, वैसा गृहीत किया जावे तो वह भी इस प्रकार से सही होगा कि केवलज्ञान में सभी कार्य प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं, लेकिन केवलज्ञान में यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान की तरह ही कार्य झलकना चाहिए—यह अभिप्राय उन गाथाओं का नहीं है, कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियों का ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्व में बतलाया जा चुका है, अतः स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 323 द्वारा श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान के विषय के प्रति मात्र श्रद्धा करने का उपदेश देते हुए ऐसा श्रद्धावान व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया है।'

यह अपर पक्ष का प्रकृत विषय में उपसंहारात्मक वक्तव्य है। आचार्य समन्तभद्र ने तो '**स्याद्वाद-केवलज्ञाने**' इत्यादि 105 संख्याक कारिका द्वारा केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में यथावस्थित पदार्थों को मात्र प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से जानने की अपेक्षा भेद बतलाया है—सब द्रव्यों और उनकी पर्यायों को केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से जैसा जानता है, श्रुतज्ञान उनको परोक्षरूप से वैसा ही जानता है। केवलज्ञान एक ही ज्ञेय को किसी दूसरे प्रकार से जाने और श्रुतज्ञान उसी ज्ञेय को किसी दूसरे प्रकार से जाने, ऐसा भेद इन ज्ञानों में नहीं है और न उक्त कारिका का यह आशय ही है। आचार्य विद्यानन्दि ने भी इसकी टीका अष्टसहस्री में '**साक्षादसाक्षाच्च तत्परिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य**' इस वचन द्वारा यही प्रगट किया है कि केवलज्ञान में जो पदार्थ जिस रूप में प्रत्यक्षरूप से झलकते हैं, श्रुतज्ञान में वे ही पदार्थ

उसी रूप में आगम के बल से परोक्षरूप में झलकते हैं। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष इन दोनों ज्ञानों में अन्य किस प्रकार से अपने कल्पित भेद को प्रसिद्ध करना चाहता है। अपर पक्ष द्वारा ऐसा लिखा जाना तो पूरे जिनागम का अपलाप करने के समान है। इसका न केवल हमें आश्चर्य है, किन्तु समस्त जैन परम्परा इसमें आश्चर्य का अनुभव करेगी। अब तक तो पूरी जैन परम्परा यह जानती और श्रद्धान करती आई कि सब पदार्थ केवलज्ञान में जैसे झलके हैं, वैसा प्रत्येक जैन को आगमानुसार श्रद्धान करना चाहिए और जानना भी वैसा ही चाहिये। प्रवचनसार में साधु को '**आगमचक्षु**' (गाथा 234) इसी अभिप्राय से कहा है। और साधु श्रुत-संयमधर ही होते हैं, इसलिए श्रुत के आधार से साधु जैसा उपदेश दें, श्रावकों भी वैसा ही मानना चाहिए और श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु जब अपर पक्ष अपने नये विचारों को जैन परम्परा में प्रस्थापित करने के अभिप्राय से केवलज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय में भेद बतलाकर ऐसा मत प्रकट करने का साहस करता है कि केवलज्ञान में जिस प्रकार सब कार्य क्रमनियतरूप से झलकते हैं, उस प्रकार श्रुतज्ञान में सब कार्य क्रमनियतरूप से नहीं झलकते, इसलिए श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कुछ कार्य क्रम-नियत है और कुछ कार्य क्रम-अनियत हैं।

अपर पक्ष ने इस कथन के आधार पर विचार यह करना है कि यदि किसी श्रुतज्ञान में सब कार्य अपने प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में नियतक्रम से होते हुए नहीं झलकते हैं तो यह किसका दोष है—केवलज्ञान का या आगम का या उस श्रुतज्ञान का? केवलज्ञान का तो यह दोष माना नहीं जा सकता, क्योंकि यह तो अपर पक्ष ने ही स्वीकार कर लिया है कि—**'केवलज्ञान में सभी कार्य प्रतिनियत कारणों से स्वकाल में उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं।'**

आगम का भी यह दोष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जैन परम्परा में आगम उसी को स्वीकार किया गया है, जिसकी रचना केवलज्ञानी वीतराग जिनकी द्वादशांग वाणी के अनुसार हुई है। इसलिए ऐसे आगम में वही बात प्रतिपादित की गई होगी, जो केवलज्ञान में झलकी होगी। केवलज्ञान में कुछ दूसरी बात झलकी हो और आगम में कोई दूसरी बात लिपिबद्ध की गई हो, यह त्रिकाल में नहीं हो सकता। ऐसा मानना और लिखना तो पूरे जिनागम को ही अप्रमाण ठहराना है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक तो विचार करेगा ही। साथ ही वह अपने कल्पित अभिमत की पुष्टि में जो आगम वाक्यों का विपर्यास कर रहा है, उससे विरत होने की भी चेष्टा करेगा।

अब रह गया तीसरा विकल्प, सो इसका अपर पक्ष को ही निश्चय करना है कि जो श्रुतज्ञान केवलज्ञान में झलकनेवाले विषय को आगमानुसार उसी रूप में न जानकर, उससे विपरीतता को लिये हुए जानता है, उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कैसे कहा जा सकता है, वह तो मिथ्या श्रुतज्ञान ही ठहरेगा।

इसलिए सिद्ध हुआ कि यदि मिथ्या श्रुतज्ञान की अपेक्षा अपर पक्ष सभी कार्यों का नियतक्रम और अनियतक्रम से होना सिद्ध करना चाहता है तो भले करे, उसकी इच्छा। परन्तु उस पक्ष का यह प्रयास आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञान के अनुसार किया गया उपक्रम तो नहीं माना जा सकता, **क्योंकि आगमानुसारी सम्यक् श्रद्धापूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है, आगम में उसे ही सम्यक् श्रुतज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है।**

इस प्रकार इस विवेचन के प्रकाश में जब हम उन बातों पर विचार करते हैं, जिनके द्वारा विविध उदाहरण उपस्थित कर कुछ कार्यों को क्रमनियत और कुछ कार्यों को क्रमअनियत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सब कथन सम्यक् श्रुतज्ञान या केवलज्ञान के विषय के अनुसार प्रतिपादन करनेवाले परमागम की प्रतिष्ठा करने के अभिप्राय से नहीं किया गया है, किन्तु केवल बाह्य इन्द्रियज्ञान और मानसिक कल्पनाओं की पुष्टि में उसका विपरीत ढंग से उपयोग किया गया है। अपर पक्ष के उक्त कथन में निहित अभिप्राय के पीछे न तो परमागम का ही बल है और न ही केवलज्ञान के अनुसार पदार्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में हुई श्रद्धा का ही बल है। अतएव सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है, क्योंकि दीपक और प्रकाश के समान सम्यग्दर्शन कारण हैं और सम्यग्ज्ञान कार्य हैं। (देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक 34) ऐसा समझ कर यही निर्णय करना चाहिए कि सब पदार्थ केवलज्ञान में जिस प्रकार झलकते हैं, श्रुतज्ञान में भी वे सब पदार्थ आगम के बल से उसी प्रकार झलकते हैं। इसमें अवस्था भेद और ज्ञानभेद बाधक नहीं हैं।

13. प्रकृत प्रतिशंका के कतिपय कथनों का खुलासा

अब इसी बात को उक्त वक्तव्य के कतिपय कथनों के माध्यम से थोड़ा आगम और तर्क की कसौटी पर कसकर देख लेना चाहते हैं।

: 1 :

अपर पक्ष की ओर से उपस्थित की गई प्रतिशंका में एक बात मुक्त जीवों के अवस्थान को लक्ष्य में रखकर लिखी गई है। उस पक्ष का कहना है कि—

'मुक्त जीवों का लोक के अग्रभाग में अवस्थान स्वभावतः नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन करने का ही है, परन्तु गमन करने के लिए उन्हें चूँकि धर्मद्रव्य का अवलम्बन आगे प्राप्त नहीं है; अतः लोक के अग्रभाग में ही उनका अवस्थान हो जाता है।'

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। यहाँ सर्व प्रथम विचार यह करना है कि जो भी कार्य होता है, वह स्वभाव की परिधि में होकर भी समर्थ उपादान के अनुसार स्वकाल में अन्य द्रव्य को निमित्त कर होता है या उपादान के बिना केवल स्वभाव के अनुसार अन्य द्रव्य को निमित्त कर होता है? द्वितीय पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में कहीं भी उपादान के बिना केवल स्वभाव से अन्य द्रव्य को निमित्तकर कार्य की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की गई है। रह गया प्रथम पक्ष, सो उसे स्वीकार करने पर तो यही मानना उचित है कि मुक्त जीवों का उपादान ही लोकान्त तक गमन करने का होता है, इसलिए उनकी लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगति होती है और लोकान्त में स्थित होने का उपादान होने से, वहाँ वे स्थित हो जाते हैं। इस गति और स्थिति में बाह्य द्रव्यों का आलम्बन भी तदनुकूल होता है, इसलिए जैसे उनकी स्वभाव ऊर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार लोकान्त में स्वभाव स्थिति भी होती है। मुक्त जीवों की ये दोनों गति और स्थिति स्वभावरूप ही है। यदि मुक्त जीवों का लोकान्त में अवस्थान स्वभावतः नहीं माना जाता है तो वहाँ उस विभावरूप स्थिति का विभावरूप उपादान और उनके अनुकूल निमित्त भी स्वीकार करना होगा। किन्तु इसका स्वीकार किया जाना न तो आगम संगत है और न ही तर्क संगत है। उदाहरणार्थ एक पुद्गल परमाणु को लीजिए। इसमें लोकान्तप्रापिणी द्रव्ययोग्यता के रहते हुए भी, अपने उपादान के अनुसार उसकी एक प्रदेश, दो प्रदेश आदि तक ही स्वभावगति होती है और अपने उपादान के अनुसार वह नियत प्रदेश तक गमनकर स्वभाव स्थिति कर लेता है। श्री तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 17 में लिखा है—

जीव-पुद्गलानां स्वयमेव गतिपरिणामिनां तदुपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मास्तिकायः। तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दतां बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकायः।

स्वयं गति करनेवाले जीव और पुद्गलों की गति में उपग्रहकारणरूप से अनुमान किया गया धर्मास्तिकाय है तथा स्वयं ही स्थिति को धारण करनेवाले उन्हीं की स्थिति में बाह्य उपग्रह कारणरूप से अनुमान किया गया अधर्मास्तिकाय है।

इसमें स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया गया है कि जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं और स्वयं स्थित होते हैं। अब यदि अपर पक्ष के कथनानुसार सिद्ध जीवों का लोकाग्र में अवस्थान स्वभावतः न माना जाये तो उनका वहाँ अवस्थित होना, स्वयं ही स्थित होना कैसे कहलायेगा। धर्मद्रव्य तो गति का निमित्त है, इसलिए यह कार्य उसका तो माना नहीं जा सकता और अधर्मद्रव्य उदासीन निमित्त है, इसलिए ठहरनेरूप क्रिया का कर्ता उसे भी नहीं माना जा सकता। और ऐसा माना नहीं जा सकता, कि सिद्ध जीव लोकाग्र भाग में स्थित नहीं होते, क्योंकि ऐसा मानने में आगम से विरोध आता है। अतः प्रकृत में यही मानना उचित है कि सिद्ध जीवों की गति और स्थिति अपने उपादान के अनुसार स्वभाव से होती है। उनके मुख्य कर्ता सिद्ध जीव ही हैं, धर्म-अधर्मद्रव्य नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 17 में लिखा है—

उपकारो बलाधानं अवलम्बनं इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति।

उपकार, बलाधान और अवलम्बन, ये एकार्थवाची शब्द हैं। इससे धर्म और अधर्म द्रव्य का गति और स्थिति के करने में प्रधान कर्तापन का निरसन हो जाता है।

आगम में एक प्रश्न उठाया गया है कि आलोकाकाश में कालद्रव्य का अभाव होने से वहाँ उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय का बाह्य कारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वहाँ बतलाया है कि लोकाकाश और अलोकाकाश, यह प्रयोजन विशेष से किया गया विभाग है; वस्तुतः स्वयं आकाश में ऐसा भेद नहीं है, इसलिए सर्वत्र आकाश की उत्पाद-व्ययरूप पर्याय में कालद्रवय की निमित्तता बन जाती है। इसी न्याय से यदि सिद्ध जीव लोकाग्र को लांघकर ऊर्ध्वगति कर जावें, मात्र अधोभाग के कुछ आत्मप्रदेश लोकाकाश की ऊर्ध्व सतह को स्पर्श किये रहें तो उनकी उस गति में धर्मद्रव्य की निमित्तता बन जाने से कोई बाधा नहीं आती। फिर ऐसा क्यों नहीं होता ? किन्तु ऐसा होता नहीं, यह तो आगम से ही स्पष्ट है। इससे विदित होता है कि सिद्ध जीवों की लोक के अग्रभाग तक गति और वहाँ स्थिति तत्त्वतः अपने उपादान के अनुसार ही होती है, धर्म और अधर्मद्रव्य तो उनकी गति और स्थिति में निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त समग्र विवेचन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सिद्ध जीवों की विभाव के कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्री के अभाव में

स्वभावगति होती है, उसी प्रकार विभाव के कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्री के अभाव में उनकी स्वभाव स्थिति भी होती है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि सिद्धों की ऊर्ध्वगति स्वाभाविकी होती है, इसे सब आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

मुक्तस्योर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम्। *— पंचास्तिकाय, गाथा 73 टीका*

तथा स्थिति का अन्तर्भाव परिणाम में होने से वह स्वाभाविकी है ही। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 22 में '**स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति**' ऐसा कहा भी है। अत: अपर पक्ष का न तो यह लिखना ही ठीक है कि 'सिद्ध जीवों का लोक के अग्रभाग में अवस्थान स्वभावत: नहीं है और न यह लिखना ही ठीक है कि 'केवल धर्मास्तिकाय के अभाव में सिद्ध जीव लोकाग्र से आगे गमन नहीं करते।' लोकाग्र में आगे सिद्ध जीव गमन नहीं करते, यह नयवचन है जो गति के मुख्यकर्ता निश्चय उपादान का सूचन करता है। इसलिए '**धर्मास्ति-कायाभावात्**' (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 10, सूत्र 8) इस वचन को व्यवहारनय का वचन मानकर व्याख्यान करना उचित है।

सिद्ध जीवों का ऊर्ध्वगमन होता है, यह भी नयवचन है जो इस बात का सूचित करता है कि मुक्त जीवों का ऊपर को ही गमन होता है, दिगन्तर गमन नहीं होता, ऐसा स्वभाव है; **ऊर्ध्वगमन करते ही रहना ऐसा उनका स्वभाव नहीं है।** तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 10, सूत्र 8 में इस तथ्य को ध्यान में रखकर लिखा भी है—

मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभाव:, नोर्ध्वगमनमेवेति।

यदि स्वभाव की दृष्टि से विचार किया जाये तो स्वभाव से ही सब द्रव्य लोक में अवस्थित हैं, अन्य के कारण नहीं। और इसी कारण '**यत्र षड्द्रव्याणि लोक्यन्ते स लोक:**' जहाँ छह द्रव्य देखे जाते हैं, वह लोक है, यह कथन किया गया है।

: 2 :

अपर पक्ष ने दूसरी जिस बात का उल्लेख किया है, वह द्रव्ययोग्यता से सम्बन्ध रखती है। केवलज्ञान में जो अपरिमित सामर्थ्य (योग्यता) का आगम में वर्णन आता है, या सर्वार्थसिद्धि के देवों में सातवें नरक तक गमन करने की सामर्थ्य का वर्णन आता है, या देवेन्द्र का जम्बूद्वीप को पलटनेरूप सामर्थ्य का वर्णन आता है, या कुम्हार में निमित्तपने की अपेक्षा विविध प्रकार के मिट्टी के घट आदि बनाने की सामर्थ्य का वर्णन आता है, या मिट्टी में छोटे-

बड़े अनेक घटादि कार्यरूप परिणमने की सामर्थ्य का वर्णन आता है, या अध्यापक और शिष्य में क्रम से निमित्त-उपादान की अपेक्षा अनेक शास्त्रों के पढ़ाने-पढ़नेरूप सामर्थ्य का वर्णन आता है, सो यह सब कथन द्रव्यार्थिक दृष्टि से किया गया है या पर्यायार्थिक दृष्टि से, इस तथ्य पर यदि अपर पक्ष का ध्यान जाता तो उसने जिस अभिप्राय की पुष्टि में वह सब वक्तव्य लिखा है, उसके लिखने का प्रयोजन ही नहीं रहता। प्रश्न तो यह है कि प्रत्येक समय में जो कार्य होता है, वह कैसे होता है ? क्या जो द्रव्य-पर्यायशक्तियुक्त मिट्टी घटपर्यायरूप परिणम रही है, वह उसी समय गाय आदि खिलौनारूप परिणम सकती है ? द्रव्यदृष्टि से तो प्रत्येक द्रव्य में जितनी त्रैकालिक पर्यायें सम्भव हैं, वे सब योग्यतारूप में विद्यमान है। परन्तु प्रत्येक समय में जो एक-एक पर्याय होती है, उसका कारण क्या ? आचार्यों ने तो इसका अन्तरंग (वास्तविक) कारण पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य को बतलाया है। जिस समय जिसका जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य उपादान होता है, उसी के अनुसार उससे दूसरे समय में कार्य होता है और दूसरे समय में जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य पदार्थ उपादान होता है, उसके अनुसार उसके तीसरे समय में कार्य होता है। इसी प्रकार सब समयों की अपेक्षा सब द्रव्यों में कार्यकारणभाव को जान लेना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रकृत में द्रव्य-योग्यताओं का उल्लेख कर किन्हीं कार्यों को नियत (निश्चित) और किन्हीं को अनियत (अनिश्चित) सिद्ध करना ठीक नहीं है।

: 3 :

अपर पक्ष ने नियत (निश्चित) योग्यतारूप से तीसरी जिस बात का उल्लेख किया है, वह पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्ययोग्यता से सम्बन्ध रखती है। मिट्टी, तभी मिट्टी कहलाती है, जब वह पुद्गल की विवक्षित पर्यायरूप से परिणमती है, इसलिए इसकी कालक्रम से पर्यायशक्तियुक्त द्रव्ययोग्यताऐं भी सीमित हैं। वस्त्र वानस्पति पर्याययुक्त पुद्गल से बनता है, मिट्टी पर्याययुक्त पुद्गल से नहीं। इसलिए यह उदाहरण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विवक्षित पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही विवक्षित कार्य को जन्म देता है। उससे बाह्य सामग्री के बल पर अन्य कार्य त्रिकाल में नहीं हो सकता, यह सुतराम सिद्ध हो जाता है। यदि इसी नियत (निश्चित) योग्यतायुक्त मिट्टी को उदाहरण बनाकर अपर पक्ष कार्य-कारणभाव को लक्ष्य में ले तो सभी कार्य अपने-अपने प्रतिनियत उपादान के अनुसार नियत समय में ही होते हैं, यह सिद्धान्त उसकी समझ में आने में देर न लगे।

: 4 :

अपर पक्ष ने चौथी बात यह लिखी है कि 'प्रत्येक वस्तु की त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्ति के लिहाज से उतनी ही संख्या में मानी जा सकती हैं, जितने त्रिकाल के समय निश्चित है परन्तु इससे वस्तु की पर्यायों के उत्पन्न होने की योग्यताऐं निश्चित नहीं की जा सकती हैं।' साथ ही अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में अपर पक्ष ने पुनः केवलज्ञान को उदाहरणरूप में उपस्थित किया है, सो इस सम्बन्ध में यही निवेदन है कि प्रत्येक द्रव्य में पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य कार्यकारी माना गया है, अतएव आगम में उसी की उपादान संज्ञा है। यतः आगम में प्रत्येक द्रव्य की सब पर्यायें काल के सब समयों के बराबर होती है, न कम होती हैं और न अधिक होती हैं। इसलिए सब द्रव्यों में उतनी ही पर्यायें होती हैं और उतने ही उनके उपादान होते हैं। योग्यता की दृष्टि से द्रव्यशक्तियाँ चाहे जितनी माने जाये, परन्तु उससे कार्यों की पूर्वोक्ति व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि जो वर्तमान में पर्याय शक्ति है, वह स्वयं द्रव्यशक्ति के साथ उपादान बनकर अगले समय के कार्य का नियमन करती है। यही क्रम सब द्रव्यों की सब पर्यायों में जान लेना चाहिए। इस विषय की पुष्टि में अष्टसहस्री पृष्ठ 226 का यह वचन द्रष्टव्य है—

न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत्। पर्यायो वा न केवलोऽर्थक्रियाहेतुः, तत एव केवल द्रव्यवत्।

केवल द्रव्य अर्थक्रिया का हेतु नहीं है, क्योंकि क्रमयौगपद्य का विरोध है, केवल पर्याय के समान। अथवा केवल पर्याय अर्थक्रिया का हेतु नहीं है, उसी कारण से, केवल द्रव्य के समान।

अतएव अनेक द्रव्यशक्तियों के आधार पर उपादान को अपने-अपने कार्य के प्रति अनिश्चित सिद्ध करना उचित नहीं है। स्पष्ट है कि द्रव्यशक्तियाँ कितनी ही क्यों न हों, किन्तु एक काल में वे सब कार्योत्पत्ति के सन्मुख न होकर, जो पर्यायशक्ति जिस कार्य का उपादान होती है, उसी कार्य के अनुकूल द्रव्यशक्ति कार्य के सन्मुख होती है।

: 5 :

आगे अपर पक्ष ने कार्य-कारण परम्परा के अनुसार पहले तो उपादान के अनुसार कार्य का होना स्वीकार कर लिया है। परन्तु इससे अपने पक्ष की हानि होती हुई देखकर यह भी लिख दिया है कि—

'यहाँ पर वस्तु की जिस पर्याय के अनन्तर जिस पर्याय का होना सम्भव हो, इस वाक्य में 'सम्भव हो' के स्थान में 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि कार्य के अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्याय के अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी, यह नियम नहीं बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्याय के अनन्तर उपादानगत योग्यता के आधार पर भिन्न-भिन्न निमित्तों का योग मिलने पर विविध प्रकार की पर्यायों में से कोई एक पर्याय का होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्याय का होना ही सम्भव नहीं है।' आदि।

सो इस सम्बन्ध में पृच्छा यह है कि आगम में जो उपादान का लक्षण किया है, वह सम्भावना को ध्यान में रखकर किया है या कार्य का नियमन करने की दृष्टि से किया है? आचार्य समन्तभद्र तो '**यद्यसत्सर्वथा कार्यं**' (42) आप्तमीमांसा इत्यादि कारिका द्वारा उपादान को कार्य का नियामक बतला रहे हैं और अपर पक्ष उसे सम्भावना में मान रहा है, सो यह क्या बात है? मालूम पड़ता है कि अपने द्वारा माने हुए जिस श्रुतज्ञान के द्वारा कार्य-कारण भाव की व्यवस्था की जाने की अपर पक्ष ने पूर्व में प्रतिज्ञा की है, उसी को आधार बनाकर अपर पक्ष के द्वारा यह सब लिखा जा रहा है, आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञान के आधार पर नहीं। आगम में जहाँ-जहाँ उपादान का सुनिश्चित लक्षण लिपिबद्ध हुआ है, वहाँ-वहाँ या अन्यत्र कहीं भी आगम में ऐसा एक भी वाक्य दृष्टिगोचर नहीं हो सका जिससे इस बात की पुष्टि हो कि उपादान का सुनिश्चित लक्षण सम्भावना की दृष्टि से लिखा जा रहा है। उपादान के लक्षण में द्रव्य के पूर्व दो विशेषण दिये हैं। प्रथम विशेषण तो है 'पर्याययुक्त' पद, और कैसी पर्याययुक्त द्रव्य होना चाहिए, इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए कहा है कि 'जो द्रव्य अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त होता है', वही अपने अगले समय के कार्य का उपादान होता है; अन्य नहीं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादान का यह लक्षण सम्भावना की दृष्टि से न लिखा जाकर, उपादान के अन्तरंग स्वरूप पर प्रकाश डालने के अभिप्राय से ही लिखा गया है। यह उपादान का आत्मभूत लक्षण है। आगम में जिन-जिन वस्तुओं के जो-जो आत्मभूत लक्षण लिखे गये हैं, वे सब उन-उन वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालने के अभिप्राय से ही लिखे गये हैं। उपादान के इस लक्षण को भी उसी प्रकार का समझना चाहिए।

आगम में जिसकी प्रागभाव संज्ञा है, उसी को उपादान संज्ञा है। ये दोनों विधि-निषेध मुख से एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। यतः प्रागभाव किसी नियत कार्य का ही माना जा

सकता है, इससे भी यह सिद्ध होता है कि उपादान का उक्त लक्षण नियत कार्य की दृष्टि से ही आगम में स्वीकार किया गया है। यदि पर्यायशक्ति को अगले कार्य का उपादान न मानकर, केवल अनेक द्रव्यशक्तियों को ही उपादानरूप से स्वीकार किया जाता है तो कार्योत्पत्ति के समय अनन्तर पूर्व पर्याय का प्रध्वंसाभाव नहीं बनेगा, क्योंकि विवक्षित कार्य के प्रति अनन्तर पूर्व पर्याय तो कार्यकारी हुई नहीं, केवल कोई एक द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी हुई, ऐसी अवस्था में अनन्तर पूर्व पर्याय कार्य के काल में तद्वस्थ ही बनी रहेगी। उसका प्रध्वंसाभाव नहीं होगा और इस प्रकार केवल द्रव्यशक्ति से कार्य की उत्पत्ति मानने पर प्रत्येक कार्य के काल में अतीत सब पर्यायों के स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यह तो बड़ी भारी आपत्ति उपस्थित होती ही है। इसके साथ और भी अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जिनका विशेष विचार प्रसंगानुसार प्रतिशंका का छह के उत्तर में करेंगे। मात्र यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि यदि अपर पक्ष के कथनानुसार उपादान में अनेक योग्यताऐं मानकर निमित्तों के अनुसार कार्य की उत्पत्ति मानी जावे तो जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, उसमें भी अनेक योग्यताऐं होने से एक तो कार्य की उत्पत्ति ही नहीं बन सकेगी, क्योंकि जैसे उपादान में अनेक योग्यताऐं होने से कौन योग्यता कार्यरूप से परिणत हो, यह निश्चित नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार सहकारी सामग्री में भी अनेक योग्यताऐं होने से कौन योग्यता उस कार्य के लिए निमित्त हो, यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा। और ऐसी अवस्था में किसी भी द्रव्य से कोई भी कार्य नहीं उत्पन्न हो सकेगा। और कार्य के न उत्पन्न हो सकने से द्रव्य अपरिणामी हो जायेगा। और इस प्रकार अन्त में सब द्रव्यों का अभाव ही मानना पड़ेगा। यत: किसी भी द्रव्य का अभाव न हो, अत: नियत उपादान से ही नियत कार्य की उत्पत्ति मान लेना, यही कार्य-कारणभाव की सम्यक् व्यवस्था है। साथ ही उसका नियत निमित्त भी मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य के प्रति इन दोनों का सुमेल (मैत्री) है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक कार्य के प्रति आभ्यन्तर और बाह्य उपाधि की समग्रता बनती रहती है। कहीं यह समग्रता विस्रसा बनती है और कहीं पुरुषप्रयत्नसापेक्ष बनती है। कार्यकारण की परम्परा में क्रमानुपातीरूप से दोनों का यह योग बनता रहता है, इतना सुनिश्चित है।

हमें इस बात का अत्यन्त खेद है कि अपर पक्ष ने भगवान समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की कारिकाऐं 105 और 101 अपने गलत अभिप्राय की पुष्टि में उपस्थित कीं। कहाँ तो

समन्तभद्रस्वामी उन कारिकाओं द्वारा आगमानुसारी श्रुतज्ञान को केवलज्ञान के समान बतलाकर दोनों के मध्य प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद होते हुए भी दोनों का विषय एक बतला रहे हैं और कहाँ अपर पक्ष अपने सम्यक्श्रद्धाविहीन श्रुतज्ञान की पुष्टि में उनका उपयोग करना चाहता है। इसे आगम का दुरुपयोग करने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। यदि कारिका 101 में केवलज्ञान के सिवाय शेष चारों ज्ञानों को क्रमभावी कहा भी है तो वह दूसरे अभिप्राय से ही कहा है। फिर मालूम नहीं कि अपर पक्ष ने उक्त कारिका में आये हुए 'क्रमभावि' पद से अपने अभिप्राय की पुष्टि करने का कैसे साहस किया। अथवा क्रम शब्द के साथ सर्वत्र आया हुआ 'अक्रम' शब्द युगपत्वाची है, इसलिए भी अपर पक्ष के अभिमत की सिद्धि नहीं होती। विशेष विचार आगे करनेवाले हैं ही।

14. आगम पठित क्रम-अक्रम पद का सही अर्थ

आगे अपर पक्ष ने धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 346 से '**सइं भयवं**' इत्यादि मूल सूत्र उद्धृत कर धवला टीका में आये हुए अनुभाग का लक्षण लिखकर, उसमें पठित '**कमाकमेहि**' पद से अपने अभिप्राय के अनुसार नियतक्रमता (निश्चितक्रमता) और अनियतक्रमता (अनिश्चितक्रमता) रूप अर्थ फलित करने की चेष्टा की है। सो अपर पक्ष द्वारा उक्त कथन से यह अर्थ फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर आया हुआ 'अक्रम' शब्द 'युगपत्' अर्थ का वाची है, 'अनियतक्रमता' अर्थ का वाची नहीं। जैनदर्शन के ग्रन्थों में यह पद '**क्रमाक्रमाभ्याम्**' या '**क्रमयौगपद्याभ्याम्**' इस रूप में अनेक स्थलों पर आता है और वहाँ पर 'क्रम' पद से क्रमानुपाती पर्यायों का तथा 'अक्रम' पद से एकसाथ होनेवाली पर्यायों का ग्रहण हुआ है, इस बात को प्रत्येक दर्शनशास्त्र का अभ्यासी अच्छी तरह से जानता है। प्रकृत में 'अक्रम' पद का अर्थ ही 'न क्रम-अक्रम अर्थात् युगपत' होता है। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ने 'अक्रम' पद का अर्थ 'अनियतक्रमता' कैसे कर लिया, इसका हमें आश्चर्य है। अनगारधर्मामृत, अध्याय 2 पृष्ठ 102 में '**जीवे नित्येऽर्थसिद्धिः**' इत्यादि श्लोक में '**क्रमादक्रमाद्वा**' इस पाठ के साथ 'क्रम' और 'अक्रम' ये शब्द आये हैं। वहाँ इनका अर्थ करते हुए लिखा है—

क्रमात् कालक्रमेण देशक्रमेण च। न केवलम्, अक्रमाद्वा अक्रमेण च यौगपद्येन,

पर्यायें क्रमवृत्त भी होती हैं और युगपत्वृत्त भी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 4 सूत्र 42 पृष्ठ 259 का यह वचन अवलोकन करने योग्य है—

स च पर्यायो युगपद्वृत्तः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-बाल्याद्यवस्थालक्षणः।

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोध से एक साथ होनेवाली जीव की पर्याय एकसाथ होने के कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि अवस्थालक्षण क्रमवर्ती पर्याय है।

भट्टाकलंकदेव जैनदर्शन के प्रभावक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अपने लघीस्त्रय में भी क्रम और अक्रम शब्दों का प्रयोग क्रम और युगपत् के अर्थ में किया है। वे लिखते हैं—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥

सर्वथा नित्य पक्ष और सर्वथा क्षणिक पक्ष में क्रम और यौगपद्यरूप से अर्थक्रिया नहीं बन सकती, किन्तु वह (अर्थक्रिया) पदार्थों की लक्षणरूप से स्वीकार की गई है।

प्रकृत कारिका में आये हुए क्रम और अक्रम पद का उक्त अर्थ हमने ही किया हो, यह बात नहीं है। उक्त कारिका के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्र ने भी इन पदों का यही अर्थ किया है।

आचार्य विद्यानन्दि ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 38 में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त का उल्लेख कर, दो ही प्रकार के अनेकान्त बतलाये हैं। वे लिखते हैं—

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये॥ 2॥

गुणवाला द्रव्य है, यह सहानेकान्त की सिद्धि के लिए कहा है और पर्यायवाला द्रव्य है, यह क्रमानेकान्त की जानकारी के लिए कहा है॥ 2॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सभी पर्यायें अपने नियत क्रम को लिए हुए स्वकाल में ही होती हैं। इसलिए धवला के उक्त कथन में आये हुए '**क्रमाकमेहि**' पद का अर्थ नियतक्रम और अनियतक्रम न होकर, क्रम और युगपत् ही होता है। अतएव उक्त पद के आधार से प्रकृत में यही अर्थ करना उचित है कि केवली भगवान का ज्ञान, सूत्र पठित सब

बातों के ज्ञान के साथ-साथ द्रव्यों के क्रम से और युगपत् होनेवाले सभी परिणमनों को भी जानता है। अत: अपर पक्ष के द्वारा धवला के उक्त पद के आधार से यह अर्थ फलित किया जाना उचित नहीं है कि—

'नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनों वस्तु-परिणमन के ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणों से ही उनमें सम्पन्न होते हैं। और चूँकि पदार्थ की जैसी स्थिति हो, वैसी ही केवलज्ञानी के ज्ञान में झलकती है; अत: वस्तु परिणमन में पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमतारूप दोनों धर्म केवलज्ञान के भी विषय होते हैं।' आदि।

क्योंकि अपर पक्ष द्वारा अपनी कल्पना के आधार पर धवला में आये हुए उक्त पद का नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप अर्थ करने पर न तो केवलज्ञान की ही सिद्धि होती है और न ही पदार्थव्यवस्था बन सकती है। साथ ही अपर पक्ष द्वारा पूर्व में स्वीकृत केवलज्ञान के स्वरूप और उसके विषय के साथ जो विरोध आता है, वह भी एक विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतएव सभी आचार्यों ने क्रम और अक्रम पद का जो क्रमनियत और युगपत् अर्थ किया है, वही यहाँ लेना चाहिए। इससे सभी व्यवस्था सुघटित बन जाती है।

इसके बाद पूर्वोक्त पूरे कथन का पिष्टपेषण करते हुए अपर पक्ष ने अन्त में जो यह लिखा है कि—

'इस प्रकार कार्यसिद्धि के लिए कार्य-कारणभाव को समझिए, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तों को भी जुटाइए, लेकिन इसमें अहंकारी मत बनिये, अधीरता मत दिखाइये, असफलता से दुखी मत हूजिये; विवेकी, गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ़ श्रद्धा के साथ कर्तव्य पथ पर डट जाइए, डट जावें तो फिर डटे रहिए, उस कर्तव्यपथ से च्युत नहीं हूजिये—यह सम्यक का चिह्न है, इसी में आस्तिक्य भाव झलकता है, इसी में अनेकान्तवाद का प्रकाशपुंज आपको मिलेगा और निर्वेदभाव, अनाशक्तिभाव की छाया इसी में प्राप्त होगी।'

सो एक ओर जब अपर पक्ष के पिछले कथन के विरुद्ध अतएव अटपटे इस कथन को पढ़ते हैं और दूसरी ओर ऐसा लिखनेवाले अपर पक्ष के उस सिद्धान्त पर दृष्टिपात करते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि उपादान में अनेक योग्यताऐं हैं। उनमें से कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे, यह निमित्तों के आधीन हैं।' तो हम दंग रह जाते हैं। कहाँ एक ओर तो

स्वावलम्बन की मुख्यता से लिखे गये उक्त वचन और कहाँ दूसरी ओर कार्य-कारण में पराधीनता स्वीकार करानेवाले दूसरे वचन। मालूम पड़ता है कि स्वालम्बन क्या वस्तु हैं और परावलम्बन क्या वस्तु है ? इनके सम्यक् स्वरूप की ओर ध्यान न देने के कारण ही अपर पक्ष ने यह परस्पर विरुद्ध कथन किया है। गीता में आये हुए '**कर्मण्येव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' इस वचन की उक्त वचनों को कापी कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं हेगी। गीता भी तो यही कहती है कि फल अर्थात् कार्य में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं, वह ईश्वर के आधीन है। अपर पक्ष का भी यही कहना है कि किस उपादान से क्या कार्य हो, यह उपादान के आधीन नहीं, यह सब निमित्त के आधीन है। इस प्रकार जबकि गीता और पर पक्ष दोनों के अभिप्राय से कार्य निमित्तों के आधीन हो गया तो विचार कीजिए कि कर्म में उपादान का अधिकार कहाँ रह गया। अपर पक्ष के कथनानुसार उपादान का कार्य है कि वह प्रत्येक समय में मात्र उपस्थित रहे। निमित्त को उसमें जैसी रचना करना होगी, करेगा। उपादान इनमें ननु न च नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में इसका विचार अपर पक्ष ही करे कि उसकी ओर से जो 'पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तों को भी जुटाईए' इत्यादिरूप से प्रेरणाप्रद वचन लिखे गये हैं, उनका क्या प्रयोजन रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। हम नियतिवादीरूप से इसलिए लांछित किये जाते हैं, क्योंकि हम प्रत्येक कार्य के नियत उपादान को स्वीकार करने के साथ, उसकी बाह्य सामग्री को भी नियतरूप से स्वीकार करते हैं और अपर पक्ष अपने को नियतिवादी इसलिए नहीं स्वीकार करना चाहता, क्योंकि प्रत्येक कार्य की बाह्य उपाधि को नियत मानकर भी उसके उपादान को नियत मानने में उसे नियतवाद की गन्ध आती है।

वस्तुतः जिस प्रकार केवल नियतिवाद को माननेवाले एकान्ती हैं, अतएव वे अनेकान्तवाद के प्रकाशपुंज से वंचित रहते हैं; उसी प्रकार बाह्य उपाधि के आधार से उपादान में कार्य की व्यवस्था बनानेवाले भी अनेकान्त के सम्यक् स्वरूप के ज्ञाता नहीं माने जा सकते। प्रत्येक कार्य के प्रति बाह्य उपाधि तो नियत हो और जो उपादान उस कार्य का निश्चय कर्ता है, वह नियत न हो, यह कैसा अनेकान्त है ? उसे तो अनेकान्त का उपहास ही कहना चाहिए। जबकि प्रत्येक द्रव्य अपनी एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय का उत्पाद अपने अन्तरंग बल से ही करता है। बाह्य उपाधि का कार्य तो मात्र उसका ज्ञान करा देने तक ही सीमित है। ऐसी अवस्था में वह कार्य अपने आप हो जाता है, यह कैसे कहा जा सकता

है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है। अतएव प्रकृत में क्रम और अक्रम पद का अर्थ जो अपर पक्ष ने नियतक्रमता और अनियतक्रमता किया है, वह ठीक न होकर उन शब्दों का क्रम से क्रमभावी और युगपद्भावी अर्थ करना ही ठीक है, आगम का भी यही अभिप्राय है।

15. निमित्तवादी पुरुषार्थी नहीं हो सकता

हम देखते हैं कि लोक में जड़-चेतन अनन्त पदार्थ है और वे प्रत्येक समय में अपना-अपना कार्य करते हैं, क्योंकि अर्थक्रिया पदार्थ का लक्षण है। उनमें से किन्हीं कार्यों में पुरुष का प्रयत्न निमित्त है और किन्हीं में नहीं। **सब कार्य पुरुष के प्रयत्न को ही निमित्तकर होते हैं, यह जैनदर्शन न होकर ईश्वरवादियों का दर्शन है।** और की बात तो छोड़िये, कर्मों का जो उपशमादि कार्य होता है, वह भी पुरुष प्रयत्न निरपेक्ष विस्रसा होता है। ऐसी अवस्था में जिन कार्यों के होने में पुरुष के प्रयत्न की निमित्तता नहीं है, उन कार्यों का क्या अपने आप होना कहा जायेगा ? यदि अपर पक्ष कहे कि—नहीं, तो फिर सर्वत्र यही मानकर चलना चाहिए कि जिस पदार्थ में जिस समय जो कार्य होता है, उसमें उस समय उस कार्य के अनुरूप बल होता ही है। इसलिए अपर पक्ष का यह कहना तो उचित नहीं है कि जब जो होना होगा, वह होगा - ऐसा मानने से हम पुरुषार्थहीन हो जायेंगे। **यदि विचारकर देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि जब तक यह संसारी प्राणी पर से कार्यसिद्धि का स्वप्न देखता रहेगा, तब तक न तो उसका सम्यक् पुरुषार्थ ही जागृत होगा और न ही वह आत्मकार्य में सावधान होकर मोक्षमार्ग का पथिक ही बन सकेगा।** पर से कार्य होता है, इस मान्यता का फल ही तो संसार है, अतएव ऐसी मान्यता के त्याग के लिए जो पुरुषार्थ होगा, वही सच्चा पुरुषार्थ है और वही मोक्ष का द्वार है।

'खूब पुरुषार्थ कीजिये' ऐसा लिखनेवाले अपर पक्ष से हम पूछते हैं कि क्या पुरुषार्थ करना आपके हाथ में है ? एक ओर यह लिखना कि निमित्तों के अनुसार कार्य होता है और दूसरी ओर यह लिखना कि 'खूब पुरुषार्थ कीजिये' इनमें से किसे सच्चा माना जाये ? जरा विचार तो कीजिए कि पुरुषार्थ करना किसके हाथ में रहा। अपर पक्ष के मतानुसार संसारी प्राणी के हाथ में, या निमित्तों के हाथ में।

इसी प्रकार यह लिखना कि 'आवश्यकतानुसार निमित्तों को जुटाईये' कल्पनामात्र है। जबकि अपर पक्ष को अपने उपादान की ही खबर नहीं है तो किस कार्य का कौन निमित्त हे, इसकी खबर उसे कहाँ से हो गई ? और फिर कोई भी प्राणी निमित्तों को जुटानेवाला

कौन ? आवश्कतानुसार निमित्तों को जुटाने का कार्य तो निमित्तों को ही करना होगा। संसारी प्राणी तो चाहता है कि 'किसी कार्य के होने पर मैं अहंकारी न बनूँ, अधीरता न दिखलाऊँ, कार्य में असफल होने पर दुखी न होऊँ, विवेकी, गंभीर और स्थिरबुद्धि बना रहूँ, कभी भी कर्तव्य पथ से च्युत न होऊँ, कर्तव्य पथ पर डट गया तो डटा रहूँ, उससे हटूँ न।' पर यह सब हो कैसे ? क्या यह सब कर सकना या ऐसा विचार करना – स्वयं उसके हाथ में है ? एक ओर प्रत्येक कार्य निमित्तों के अनुसार होता है, ऐसी प्रसिद्धि करना और दूसरी ओर उक्त प्रकार के उपदेश का आडम्बर रचना, हमें तो पूर्वापर विरुद्ध ही प्रतीत होता है, अतएव अपर पक्ष द्वारा कल्पित कार्य-कारण के इस आगम-विरुद्ध मार्ग को छोड़कर यही निश्चय करना चाहिए कि भगवान के ज्ञान में जिस समय जिन प्रतिनियत कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति झलकी है, उस समय वही कार्य उसी प्रकार होगा, सम्यक् श्रुतज्ञानी ऐसा ही निश्चय करता है, क्योंकि **केवलज्ञानी ने जैसा जाना है, श्रुतज्ञानी श्रुत के बल से वैसा ही निर्णय करता है। कारण कि ऐसे निर्णयपूर्वक आत्मप्राप्ति में प्रवृत्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।**

16. श्रद्धा और कर्तव्य का समन्वय

अब रही सम्यक् श्रद्धा और तदनुसार कर्तव्य के समन्वय की बात, सो जिसके सम्यग्ज्ञान के साथ भीतर से यह श्रद्धा हो गई है कि 'जिसका जिस काल में जिस नियत सामग्री के बल से जैसा होना वीतराग ने देखा है, उसका उस काल में उस नियत सामग्री के बल से वैसा ही होगा; अन्य प्रकार से नहीं होगा। वह जब लोक में जिसे अनहोनी कहते हैं, उसे अनहोनी मानता ही नहीं, तब अनिच्छित कार्य के होने पर अधीर हो नहीं सकता और यदि अधीर होता है तो समझना चाहिए कि उसके कर्तव्य और श्रद्धा में अन्तर है। वस्तुतः जिसने इस अन्तर को पाट लिया, वही विवेकी है और जो इस अन्तर के झूले में झूलता रहा, वही अविवेकी है। किसी को अविवेकी कहना और बात है, पर अविवेकी की अविवेकपूर्वक की गई विवक्षित कार्य के प्रति बाह्य उठा-धरी को, सम्यक् श्रुतज्ञान निरूपित करने के लिए, उपादान के नियत लक्षण में परिवर्तन का साहसकर, प्रत्येक कार्य की प्रसिद्धि निमित्तों के अनुसार मानना और बात है। यह श्रद्धा और कर्तव्य का समन्वय न होकर सम्यक्-श्रुत का परिहासमात्र है। हमने उपलब्ध जिनागम का यथासम्भव पर्यालोचन करने का असकृत् प्रयत्न किया है। किन्तु हमें इस आशय का एक भी वचन कहीं ढूँढे नहीं मिला कि 'जिसमें एक काल में एक साथ अनेक कार्यों के करने की योग्यता होती है, उसकी समर्थ उपादान

संज्ञा है — ऐसा कहा गया है। अष्टशती, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थों में समर्थ उपादान के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है, पर उन सब ग्रन्थों में अनन्तर पूर्व पर्यायुक्त द्रव्य को ही समर्थ उपादान कहा है। इसके सिवाय अपर पक्ष द्वारा स्वीकृत समर्थ उपादान का लक्षण आगम में कहीं भी बतलाया हो, ऐसा हमारे देखने में नहीं आया और न ही अपर पक्ष ने अपने तथाकथित लक्षण की पुष्टि में कोई आगम प्रमाण ही दिया। स्पष्ट है कि जिसे अपर पक्ष श्रद्धा और कर्तव्य का समन्वय घोषित करता है, वह मात्र कल्पनाओं पर आधारित होने से सच्चा समन्वय नहीं है।

अब यहाँ आत्मा का सच्चा हित किसमें है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इसका विचार करते हैं। आगम में सब जीवों को दो भागों में विभक्त किया गया है—संसारी और मुक्त। जो अपने अज्ञानादिवश चतुर्गति में परिभ्रमण करते रहते हैं, उन्हें संसारी कहते हैं और जिन्होंने संसार के कारणों में हेय बुद्धिकर, उनके त्यागपूर्वक निराकुललक्षण अतीन्द्रिय सुख के निधान आत्मा को अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लिया है, वे मुक्त जीव हैं। अतएव जो संसार के कारण हैं, वे स्वयं दुःखरूप और दुःख के कारण हैं—ऐसा जान, उनमें हेयबुद्धि कर, उनसे निवृत्त होना तथा सम्यग्दर्शनादि जो स्वयं सुखरूप और सुख के कारण हैं, उनमें उपादेयबुद्धि कर उनमें प्रवृत्त होना, यह संसारी जीव का प्रधान कर्तव्य है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढाला की तीसरी ढाल के प्रारम्भ में लिखते हैं—

आतम को हित है, सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिवमांहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए॥

इस प्रकार जो जीव संसार और संसार के कारणों को अहितकारी जानकर, उनमें हेयबुद्धिपूर्वक उनसे निवृत्त होता है और मोक्ष तथा मोक्ष के कारणों को हितकारी जानकर, उनमें उपादेय बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है, वही परम अतीन्द्रिय निराकुललक्षण अव्याबाधस्वरूप आत्मसुख का अनन्त काल तक भोक्ता होता है।

किन्तु इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मस्वभाव का अवलम्बन करना ही है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥ 186॥

शुद्ध (परद्रव्य-परभावों से भिन्न) आत्मा को जानता हुआ जीव, शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव, अशुद्ध आत्मा को ही पाता है ॥ 186 ॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं—

जो भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्ध आत्मा को निर्विकार शुद्धानुभूतिलक्षण भेदज्ञान के द्वारा अनुभवता है, वह ज्ञानी जीव है। उक्त जीव उक्त गुणविशिष्ट जैसे आत्मा को ध्याता है, वैसे ही आत्मा को प्राप्त करता है; क्योंकि उपादान के अनुसार ही कार्य होता है—ऐसा नियम है। किन्तु इसके विपरीत जो मोह, राग और द्वेषभावपरिणत आत्मा को अनुभवता है, वह नर, नारक आदिरूप अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। (मूल टीका के आधार से)

अतएव कैसे भी आत्मपुरुषार्थ को जागृत कर अपने धारावाही ज्ञान के द्वारा जो निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर तिष्ठता है, वह परपरिणति के निरोधस्वरूप उदय को प्राप्त हुए क्रीड़ावनस्थानीय शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

यह निराकुल सुखलक्षण वीतराग विज्ञानघन आत्मा को प्राप्त करने के अनुरूप सम्यक् पुरुषार्थ है। संसारी जीव ने अपना प्रधान कर्तव्य समझकर अन्य सब किया, किन्तु आजतक एकमात्र यह कार्य नहीं किया। जिसे प्रमुखरूप से इसका भान हो गया है, वह संसार की प्रयोजक अन्य सब समस्याओं को हेय जान, उनसे विरत होने के अनुरूप पुरुषार्थ को ही अपना यथार्थ कर्तव्य मानता है। श्रद्धा और कर्तव्य का यह यथार्थ समन्वय है। उसके लिए 'सब कार्य अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' यह निर्णय आत्महित के कार्य में बाधक न होकर, साधक ही है, क्योंकि विवेकपूर्वक जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह पर के कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त हो आत्मकार्य में सावधान हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसा ही इनका योग है, क्योंकि जिसने 'सब कार्य अपने-अपने नियत काल में होते हैं'—ऐसा निर्णय नहीं किया, वह पर के कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त नहीं हो सकता और जो पर के कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त नहीं हो सकता, वह पर के आश्रय से होनेवाले विविध प्रकार के संकल्प-विकल्पों से मुक्त नहीं हो सकता और जो पर के आश्रय से होनेवाले विविध प्रकार के संकल्प-विकल्पों से मुक्त नहीं हो सकता, उसका स्वभावसन्मुख हो आत्मकार्य में सावधान होना ऐसे ही असम्भव है, जैसे बालू से तेल उत्पन्न करना असम्भव है। अतएव जो पुरुषार्थहीनता का आरोप कर सम्यक् नियति के सिद्धान्त की अवहेलना करता है, वह

पर के कर्तृत्व की भावना से आकुलित चित्तवाला होकर यथार्थ में अपने आत्मा का ही छेद करता है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति का श्रद्धानुसारी ही कर्तव्य होना चाहिए। वास्तव में यही इन दोनों का समन्वय है। इसके विपरीत अन्य प्रकार (परस्पर विरुद्ध मार्ग) से इन दोनों के समन्वय की बात सोचना केवलज्ञान, आगम और आगमानुसारी श्रद्धा व ज्ञान, इन सबका अपलाप करना है।

17. एकान्त नियति और सम्यक् नियति में अन्तर

अब हम इस बात पर दृष्टिपात करें कि केवलज्ञान में नियत कार्य और नियत कारणरूप से जो पदार्थ झलक रहे हैं, उनको जो उसी प्रकार श्रद्धा करते हैं और उसे दृष्टिपथ में रखकर तदनुसार अपने कर्तव्य का निर्णय करते हैं, वे क्या एकान्त नियतिवादी हो जाते हैं। एकान्त नियतिवाद का क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टरूप से विवेचन गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 882, प्राकृत पंचसंग्रह, पृष्ठ 557 और अमितगति पंचसंग्रह गाथा 312 में किया है। इन तीनों ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो विवेचन उपलब्ध होता है, वह समान होन से यहाँ मात्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड की उक्त गाथा दी जाती है। वहाँ एकान्त नियतिवाद का निर्देश करते हुए लिखा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तदा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ 882॥

जो जिस समय जिससे जिस प्रकार जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे उस प्रकार उसके होता है—ऐसा कथन एकान्त नियतिवाद है॥ 882॥

यह एकान्त नियतिवाद का स्वरूप है। बाह्य दृष्टिवालों को स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा के '**जे जस्स जम्मि देसे**' द्वारा तथा पद्मपुराण के '**यत्प्राप्तव्यं यदा**' इत्यादि श्लोक द्वारा भी लगभग यही बात कही गई ज्ञात होती है। केवलज्ञान में झलकनेवाले विषय की अपेक्षा विचार करने पर भी लगभग यही ज्ञात होता है कि जिस काल में जिससे जिसका जो होना है, वही होगा, अन्य प्रकार नहीं होगा। इस प्रकार इन सब कथनों में बाह्य दृष्टिवालों की एकरूपता प्रतीत होती है, परन्तु इन सब कथनों में एकान्त नियतिवाद के स्वरूप को बतलानेवाले गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त कथन से जो मौलिक अन्तर है, उसे हमें समझना है। यदि हम शास्त्र (परमागम) के विवेचक बनना चाहते हैं तो हमें भीतर घुसकर उसके

रहस्य को भी समझना होगा। अतएव इस अन्तर को स्पष्ट करने के अभिप्राय से तत्काल हम गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उसी प्रकरण को लेते हैं, जिसमें एकान्त नियतिवाद का निर्देश किया गया है। उसे दृष्टिपथ में लेने पर विदित होता है कि वहाँ पर केवल एकान्त नियतिवाद का ही निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु उसके साथ वहाँ एकान्त कालवाद, एकान्त ईश्वरवाद (निमित्तवाद), एकान्त आत्मवाद और एकान्त स्वभाववाद का भी निर्देश किया गया है। एकान्त कालवाद का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्ते सु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो॥ 879॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों में काल ही जागता है। ऐसे काल को ठगने के लिए कौन समर्थ हो सकता है, इस प्रकार मात्र काल से सब कार्यों की उत्पत्ति-नाश मानना, यह एकान्त कालवाद है॥ 879॥

एकान्त ईश्वरवाद (निमित्तवाद) का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

अण्णाणी दु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि॥ 880॥

आत्मा अज्ञानी है, अनीश है। उसके सुख-दुख, स्वर्ग-नरकगमन सब ईश्वरकृत हैं—ऐसा वाद, एकान्त ईश्वर (निमित्त) वाद है॥ 880॥

एकान्त आत्मवाद का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वंगणिगूढ़ो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो॥ 881॥

एक ही महात्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और सर्वव्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। ऐसे आत्मा से सबकी उत्पत्ति मानना, एकान्त आत्मवाद है॥ 881॥

एकान्त नियतिवाद का निर्देश पूर्व में ही कर आये हैं। एकान्त स्वभाववाद का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

को करइ कंटयाणं तिक्खणं मिय-विहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वं पि य सहाओ त्ति॥ 883॥

काटों में तीक्ष्णपना कौन करता है ? मृग और पक्षी आदि में विविधपना कौन करता है ? इस सबका कारण स्वभाव है। इस प्रकार स्वभाव से सबकी उत्पत्ति मानना, एकान्त स्वभाववाद है ॥883 ॥

ये पाँच एकान्तवाद हैं। यहाँ आत्मवाद का तात्पर्य पुरुषार्थवाद से है। क्रियावादी अर्थात् पूर्वोक्त पाँच में से एक-एक कारण से कार्य की उत्पत्ति माननेवाले कोई स्वतः, कोई परतः, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने इन कालादि पाँच में से केवल एक-एक के द्वारा नौ पदार्थों सम्बन्धी कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए ये 180 प्रकार के एकान्त क्रियावादी मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। प्रकृत में एकान्त नियतिवाद का इसी अर्थ में उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एकान्त नियतिवाद वह है, जो न तो काल को कारण मानता है, न निमित्त को स्वीकार करता है, न पुरुषार्थ को कारण मानता है और न ही स्वभाव को कारण मानता है। मात्र नियति को सर्वस्व मानकर कार्य की उत्पत्ति मानता है। उसके मत में कार्य के लिए नियति ही सब कुछ है, अन्य कालादि कुछ नहीं। यह नियतिवाद का अर्थ है। पूर्व में हमने एकान्त क्रियावादियों के जो 180 भेद गिनाये हैं, उनमें एकान्त नियतिवादियों के 36 भेद परिगणित किये गये हैं। वे कोई स्वतः, कोई परतः, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने मात्र नियति से नौ पदार्थों सम्बन्धी कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इसलिए ये 36 प्रकार के नियतिवादी एकान्ती होने से मिथ्यादृष्टि हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र आदि ने इसी अर्थ में एकान्त नियतिवाद का निर्देश किया है।

किन्तु जैनदर्शन ऐसे एकान्त नियतिवाद को स्वीकार नहीं करता। वह प्रत्येक कार्य में नियति को कारणरूप से स्वीकार करके भी स्वभाव, पुरुषार्थ और काल आदि के साथ ही उसे स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शन के द्वारा स्वीकार की गई कार्य कारणपरम्परा में, अन्य कारणों के समान नियति को स्थान होने पर भी, एकान्त नियतिवाद का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। यह मिथ्या नियति और सम्यक् नियति में फरक है।

स्वामी कार्तिकेय ने अपनी द्वादशानुप्रेक्षा में केवलज्ञान के जानने की अपेक्षा और आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में सम्यक् नियति की मुख्यता से जो वर्णन किया है, वह नव दृष्टि से वर्णन होने के कारण प्रमाणभूत है। यदि विचार कर देखा जाये तो इन आचार्यों ने अपने कथन में देश और काल आदि कारणों का भी उल्लेख किया है, इसलिए उसे केवल नियतिवाद का कथन कहना उपयुक्त न होगा। प्राकृत पंचसंग्रह आदि में एकान्त नियतिवाद

का जो वर्णन आया है, वह उक्त कथनों से सर्वथा भिन्न प्रकार का है, क्योंकि उसमें कालादि को न स्वीकार कर मात्र नियति को ही स्वीकार किया गया है। जैसा कि नियतिवादियों के पूर्वोक्त 36 भंगों से भली प्रकार विदित होता है, इसलिए वह वर्णन एकान्त आग्रह का सूचक होने से अप्रमाणभूत है। यही सम्यक् नियति और मिथ्यानियति इन दोनों के विवेचनों में अन्तर है। अपर पक्ष यदि भविष्य में इस अन्तर को हृदय से स्वीकार कर ले तो वह पक्ष यह लिखने का साहस कभी नहीं करेगा कि 'श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कोई कार्य नियतक्रम से होता है और कोई कार्य अनियत क्रम से होता है।'

हम तो यह समझने के लिए हैरान हैं कि वह अपने इस वक्तव्य द्वारा क्या कहना चाहता है ? (1) क्या वह अपने इस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्य का जिन हेतुओं से जिस काल में होना केवलज्ञान में झलका है, वह कार्य उन हेतुओं से केवल उस काल में न होकर, अन्य काल में भी हो सकता है ? (2) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्य का जिन हेतुओं से जिस काल में होना केवलज्ञान में झलका है, वह कार्य उन हेतुओं से होता तो उसी काल में है परन्तु उस कार्य का उस काल में होना मात्र नियति पर अवलम्बित न होकर, नियतिसहित सब कारणों से होता है ? (3) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्य का जिन हेतुओं से जिस काल में होना केवलज्ञान में झलका है, उसका हम अल्पज्ञानियों को पता न होने के कारण श्रद्धा तो वैसी ही रखनी चाहिए, किन्तु किन हेतुओं से किस काल में कौन कार्य होनेवाला है, यह भले प्रकार ज्ञात न होने के कारण अपनी दृष्टि में काल, नियति और स्वभाव आदि को मुख्य न कर, पुरुषार्थ की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ? किन्तु अपर पक्ष ने इन तीन विकल्पों में से किसे मुख्यकर अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत की है, इसका उसकी ओर से कोई सम्यक् स्पष्टीकरण न होने के कारण यहाँ उन विकल्पों के आधार से विचार किया जाता है—

(1) प्रथम विकल्प में जो यह कहा गया है कि जिस कार्य का जिन हेतुओं से जिस काल में होना केवलज्ञान में झलका है, वह कार्य उन हेतुओं से केवल उस काल में न होकर अन्य काल में भी हो सकता है ? सो यह कथन केवलज्ञान को न स्वीकार करनेवाला होने के कारण स्वयं अपने में अप्रमाण है, क्योंकि कोई कार्य केवलज्ञान में प्रतिनियत काल में प्रतिनियत हेतुओं से उत्पन्न होता हुआ झलके और श्रुतज्ञान की अपेक्षा वह उस काल में न

हो, यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् त्रिकाल में नहीं हो सकता। अतएव प्रथम विकल्प स्वयं अपने में मिथ्या होने के कारण उसके आधार से प्रकृत में किसी कार्य को क्रम-नियत और किसी कार्य को क्रम-अनियत नहीं ठहराया जा सकता।

(2) दूसरे विकल्प में जो यह कहा गया है कि जिस कार्य का जिन हेतुओं से जिस काल में होना केवलज्ञान में झलका है, वह कार्य उन हेतुओं से उस काल में होता हुआ, नियतिसहित अपने सब कारणों से होता है सो इस विकल्प के स्वीकार करने पर तो यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रम-नियत होते हैं। ऐसा एक भी कार्य नहीं हो सकता जो अपने नियत क्रम को छोड़कर उत्पन्न हो जाये। अतएव इस आधार पर एकमात्र यही स्वीकार करना चाहिए कि सब कार्य अपने-अपने काल में होकर भी, अपने-अपने प्रतिनियत हेतुओं से ही होते हैं। साथ ही उस-उस काल में उन-उन कार्यों के अपने-अपने प्रतिनियत हेतु ही उपस्थित रहते हैं और उनसे उस-उस काल में प्रतिनियत कार्य ही होते हैं, अन्य कार्य नहीं उत्पन्न होते।

(3) तीसरा विकल्प दूसरे विकल्प से कुछ भिन्न नहीं है। मात्र इसमें पुरुषार्थ की मुख्यता कही गई है। सो यह उचित ही है। किन्तु समग्र जिनागम का तात्पर्य वीतरागता है और उसे प्राप्त करने का उपाय है आत्मकार्य में सावधान होना। इसीलिए परमागम में स्वभावसन्मुख होकर उसे प्राप्त करने का प्रमुखता से उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जबकि आप काललब्धि और भवितव्य की बात करते हो, तब उसमें पुरुषार्थ की बात कहाँ रहती है ? समाधान यह है कि परमागम में एक कार्य, अनेक कारणसाध्य बतलाया है, सो जहाँ मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो सभी कारण मिलते हैं और जहाँ मोक्ष का उपाय नहीं बनता है, वहाँ उसके सभी कारण नहीं मिलते हैं। यहाँ जो काललब्धि और भवितव्य कही है, सो जिस समय विवक्षित कार्य होता है, वही उसकी काललब्धि है और उस कार्य का होना ही भवितव्य है। तथा जो कर्म का उपशमादिक है, वह पुद्गल कर्म की अवस्थाविशेष है। उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं। तथा पुरुषार्थपूर्वक जो उद्यम किया जाता है, सो वह आत्मा का कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का उपदेश दिया जाता है।

नियम यह है कि जिस कारण से कार्यसिद्धि नियम से होती है, उस रूप यदि यह आत्मा उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही हैं और कार्य की सिद्धि भी होती है। सो

परमागम में जो मोक्ष का उपाय कहा है, उससे मोक्ष की प्राप्ति नियम से होती है, इसलिए **जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वर के उपदेश के अनुसार मोक्ष का उपाय करते हैं, उनके उसके अनुरूप काललब्धि और भवितव्य दोनों हैं।** साथ ही वहाँ कर्म का उपशमादिक भी है, तभी तो यह जीव ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उन्हें बाह्याभ्यन्तर सब कारणों की युगपत् प्राप्ति होती है — ऐसा निश्चय करना ही यहाँ उपादेय है। साथ ही उन्हें मोक्ष की प्राप्ति भी नियम से होती है।

किन्तु जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करते हैं, उनके उसकी काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है। साथ ही उनके कर्म का उपशमादिक भी नहीं हुआ है। यही कारण है कि वे मोक्ष के उपाय में सन्नद्ध नहीं हो पाते। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करते हैं, उन्हें मोक्ष के कोई कारण नहीं मिलते और मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती।

यहाँ कोई कहता है कि उपदेश तो सब सुनते हैं। उनमें से कोई मोक्ष का उपाय कर पाते और कोई नहीं कर पाते, सो इसका क्या कारण है? समाधान यह है कि **जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे तो मोक्ष का उपाय कर सकते हैं और जो पुरुषार्थ नहीं करते हैं, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर पाते। उपदेश तो शिक्षामात्र है। फल जैसा पुरुषार्थ करता है, वैसा मिलता है।**

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के लिए गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करते हैं, सो यहाँ पुरुषार्थ तो किया, परन्तु कार्य सिद्ध न हुआ, इसलिए पुरुषार्थ करना भी कार्यकारी नहीं है? समाधान यह है कि अन्यथा पुरुषार्थ करने में तो इष्ट फल की सिद्धि होती नहीं। **तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्तने का फल तो जिनागम में शुभबन्ध कहा है और यह जीव इससे मोक्ष चाहता है, सो इससे मोक्ष की सिद्धि कैसे हो सकती है। यह तो भ्रममात्र है।**

यदि कोई कहे कि भ्रम का भी तो कारण कर्म ही है, यह जीव पुरुषार्थ कैसे कर सकता है? समाधान यह है कि यथार्थ उपदेश को ग्रहण कर निर्णय करने पर भ्रम दूर हो जाता है। **सो यह जीव ऐसा पुरुषार्थ नही करता है, इसलिए भ्रम बना रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का बाह्य कारण जो मोहकर्म है, उसका भी उपशमादिक हो जाता है और तब भ्रम भी दूर हो जाता है।** क्योंकि निर्णय करनेवाले के परिणामों में विशुद्धता होने से मोहकर्म का स्थिति अनुभाग स्वयमेव घट जाता है।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यह जीव निर्णय करने में भी उपयोग को नहीं लगाता है, सो उसका कारण भी तो कर्म है ? समाधान यह है कि एकेन्द्रियादिक के तो विचार करने की शक्ति नहीं है, उनके बाह्य कारण तो कर्म है। परन्तु इस जीव के तो ज्ञानावरणादिक का क्षयोपशम होने से निर्णय करने की शक्ति प्रगट हुई है, इसलिए जहाँ उपयोग को लगायेगा, उसका निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्य का निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ नहीं लगता है, सो यह तो इसी का दोष है, इसमें कर्म का कुछ प्रयोजन नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि सम्यक्त्व और चारित्र का तो घातक मोह है। उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे बन सकता है ? समाधान यह है कि तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग को नहीं लगाना, यह तो इसी का दोष है। **यदि पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग को लगाता है, तो स्वयमेव मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बन जाता है। इसलिए मुख्यरूप से तो तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग को लगाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। उपदेश भी दिया जाता है, सो इसी पुरुषार्थ के कराने के लिए दिया जाता है।** — मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार से

इस प्रकार प्रकृत प्रश्न पर विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि **जिस प्रकार केवलज्ञान उनका ज्ञाता-दृष्टा है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी आगमानुसार उनका ज्ञाता-दृष्टा है। वस्तुस्वभाव और तदनुसार कार्य-कारणपरम्परा में केवलज्ञान के समान श्रुतज्ञान का अन्य प्रयोजन नहीं है। तटस्थभाव से वे दोनों ज्ञाता-दृष्टामात्र हैं।** अतएव प्रत्येक कार्य स्वभाव आदि पाँच के समवाय में होता है—ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए, क्योंकि जो प्रत्येक कार्य में सम्यक् नियति को स्वीकार करता है, वह पाँचों को युगपत् स्वीकार करता है। किसी भी कार्य के प्रति इनमें से किसी एक की स्वीकृति में जहाँ एकान्त का आग्रह है, वहाँ इन सबकी स्वीकृति में अनेकान्त का प्रकाशपुंज दृष्टिगोचर होता है। जैनदर्शन के अनुसार कार्य-कारणभाव में अनुपचरित-उपचरितरूप से ऐसे ही अनेकान्त को स्थान मिला हुआ है। इस प्रकार एकान्तनियति और सम्यक्नियति में क्या अन्तर है, इसका सांगोपांग विचार किया।

18. उपादान विचार

हम अनेक स्थानों पर उपादान का 'अनन्तर पूर्व पर्यायुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं' यह लक्षण लिख आये हैं और अपने इस कथन की पुष्टि में अष्टसहस्री टिप्पण, प्रमेयकमलमार्तण्ड और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि के प्रमाण भी उपस्थित कर आये हैं, किन्तु अपर पक्ष

समझता है कि हमने इस लक्षण का उपयोग अपने गलत अभिप्राय की पुष्टि से किया है। उसने अपने इस अभिप्राय के समर्थन में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में आये हुए उपादान के लक्षण को उद्धृत कर उसका जो अर्थ किया है, वह यहाँ दिया जाता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा॥ 222 व 230॥

द्रव्य अपने पूर्व परिणाम की अवस्था में कारणरूप से रहता है और जब वह उत्तर परिणाम से युक्त हो जाता है, तब वह नियम से कार्यरूप हो जाता है॥ 222 व 230॥

यह अपर पक्ष द्वारा किया गया उक्त गाथा का अर्थ है। इसका सही अर्थ इस प्रकार है—

अनन्तर पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य, नियम से कारणरूप से वर्तता है और अनन्तर उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य, नियम से कार्य होता है॥ 222 व 230॥

इसके संस्कृत टीकाकार ने भी वही अर्थ किया है, जिसे हमने पूर्व में दिया है। प्रकृत में उपयोगी टीका का वह अंश इस प्रकार है—

द्रव्यं जीवादिवस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारत्वेन वर्त्तते।

अब हम इन दोनों अर्थों में अन्तर क्या है, इस पर सर्व प्रथम विचार करते हैं—

गाथा के पूर्वार्द्ध का अन्वय इस प्रकार होता है—**पुव्वपरिणामजुत्तं दव्वं कारणभावेण वट्टदे।** इसका शब्दार्थ है—पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारण भाव से वर्तता है।

हमने गाथा के पूर्वार्द्ध का यही अर्थ किया है। मात्र गाथा के उत्तरार्ध में पठित '**उत्तर**' पद को ध्यान में रखकर तथा इसकी अगली गाथा में आये हुए कार्यकारणभाव के निरूपण को भी लक्ष्य में रखकर और अन्यत्र प्ररूपित उपादान के लक्षण को भी ध्यान में रखकर, गाथा के अर्थ के प्रारम्भ में 'अनन्तरपद' और जोड़ा है। यहाँ गाथा का '**पुव्वपरिणामजुत्तं**' पद '**दव्वं**' पद का विशेषण है। कैसा द्रव्य उपादानसंज्ञा को प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर गाथा में स्पष्टरूप से बतलाया गया है कि पूर्व (अनन्तर पूर्व) पर्याय से युक्त द्रव्य उपादान संज्ञा को प्राप्त होता है। यह निश्चय उपादान का स्वरूप है।

किन्तु अपर पक्ष को यह अर्थ इसलिए इष्ट नहीं है, क्योंकि उपादान के उक्त प्रकार

के अर्थपरक लक्षण को स्वीकार करने पर उसके सामने सभी कार्यों को क्रमनियत मानने का प्रसंग उपस्थित होता है, इसलिए उस पक्ष की ओर से इस गाथा के पूर्वार्ध के अर्थ को बदलकर उसका इच्छानुसार पूर्वोक्त प्रकार से कल्पित अर्थ किया गया है, गाथा के पूर्वार्ध का प्रथम चरण है—'**पुव्वपरिणामजुत्तं।**' इसका सीधा अर्थ है—'पूर्व परिणाम से युक्त।' किन्तु इसके स्थान में अपर पक्ष ने इसका अर्थ किया है—'अपने पूर्व परिणाम की अवस्था में।'

यह है अपर पक्ष की ओर से किये गये अर्थ परिवर्तन का एक प्रकार। अन्यत्र भी अपर पक्ष ने जो मूल वाक्यों के अर्थ बदले हैं, वे भी यथास्थान देखने को मिलेंगे।

स्वामी कार्तिकेय ने उक्त गाथा दो बार निबद्ध की है। प्रथम बार इस गाथा को निबद्ध करने के बाद इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

कारण-कज्जविसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तरभावमासिज्ज॥ 223॥

वस्तुओं के पूर्व और उत्तर परिणामों को लेकर तीनों ही कालों के प्रत्येक समय में कारण-कार्यभाव होता है॥ 223॥

इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य का नाम ही उपादानकारण है। अत: अपर पक्ष ने पूर्व पर्याय की अवस्था में जो मात्र द्रव्य को उपादान कारण कहा है, उसका वह कहना ठीक नहीं है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाथा 222 में तो पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को ही उपादानकारण कहा है, इसलिए 'पूर्व पर्याय' पद से केवल 'अनन्तर पूर्व पर्याय को' ही ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका 3 में इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा निर्देश किया भी है। सो इसका समाधान यह है कि कोई भी द्रव्य एक समय में एक ही पर्याय से युक्त होता है, इसलिए कार्य होने के पूर्व जिस पर्याय से युक्त द्रव्य उपलब्ध होता है, उसी पर्याय से युक्त-द्रव्य वास्तव में उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य का कारण हो सकता है; अन्य नहीं। यद्यपि आगम में स्थूल पर्यायों की अपेक्षा भी कारण-कार्य का कथन उपलब्ध होता है, पर वह व्यवहार (उपचार) कथन है। निश्चय कथन तो यही है कि अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक समय में उस-उस पर्याय से युक्त द्रव्य कारण भी है और कार्य भी है। अनन्तर पूर्व पर्याय की अपेक्षा

विचार करने पर कार्य है और अनन्तर उत्तर पर्याय की अपेक्षा विचार करने पर कारण है। हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने उपादान के इस लक्षण को प्रारम्भ में किसी न किसीरूप में स्वीकार कर लिया है। साथ ही उस पक्ष की ओर से इस लक्षणपरक गाथा के पूर्वार्ध का जो अर्थ किया गया है, उस पर भी वह स्थिर न रह सका और उपादान के इस लक्षण परक गाथा के पूर्वार्ध का जो अर्थ संस्कृत टीकाकार ने तथा हमने किया है, उसे भी अपने व्याख्यान के प्रसंग से स्वीकार कर लिया है।

19. कार्य का नियामक उपादान कारण होता है

अब, उस पक्ष को विवाद कहाँ है, इस बात पर दृष्टिपात करते हैं। उस पक्ष का कहना है कि उपादान कारण से जो कार्य होता है, वह क्या हो, इसकी नियामक निमित्तसामग्री है, उपादान कारण नहीं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में उसका कहना है—

'परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूप में होगी ? इसकी नियामक आगम के अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चने को खप्पर में डालकर अग्नि के जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोई में उबलते हुए पानी में डालकर उसी चने को उसी अन्न के द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं है। आपकी मान्यता तो इस विषय में मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्याय के बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी। परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यता में पूर्व पर्याय के बाद एक नियत उत्तर पर्याय के होने का नियामक कौन होगा ? यदि कहा जाये कि गाथा में भी '**णियमा**' पद पड़ा हुआ है, उससे ही सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्याय की नियामक हो जाती है, क्योंकि वह '**णियमा**' पद उस पूर्व पर्याय के अनन्तर दो आदि पर्यायों में से एक पर्याय होगी, इसका विरोधक ही है तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि गाथा में पठित '**णियमा**' पद किसी एक निश्चित पर्याय की सूचना देने के लिए नहीं है। उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्टद्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियम से कार्य कहलाती है, फिर भले ही उत्तर पर्याय किसी रूप में क्यों न हो। इस तरह पूर्व पर्याय के बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी, वह नियम से उस पूर्व पर्याय का कार्य होगी।'

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का कुछ अंश है। आगे अपने इस वक्तव्य की पुष्टि में उसकी ओर से जो कहा गया है, उसका कुछ आवश्यक अंग इस प्रकार है—

'इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में उपादान कारणभूत वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी, यदि विवक्षित कार्य के अनुकूल अन्य कारणों की अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादान से विवक्षित कार्य की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी; फिर तो जिस कार्य के अनुकूल अन्य कारणों की पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी, उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा। यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञान में झलका होगा। तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानी को क्या मालूम कि केवलज्ञानी के ज्ञान में क्या झलका है। इसलिए जो कुछ होता है, उसकी दृष्टि में कार्य-कारणभाव के आधार पर ही होता है; कार्योत्पत्ति के विषय में इससे अधिक वह सोच ही तो नहीं सकता है।'

आगे अपने विषय को और भी स्पष्ट करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है—

'इसलिए यह बात तो ठीक है कि पूर्व की क्रोधरूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे व्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्याय का उपादान कारण है, परन्तु श्रुतज्ञानी की दृष्टि में यह नियम नहीं बन सकता है कि उत्तर क्षण में उस पूर्व की क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव के क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायों में से अमुक पर्याय ही होना चाहिए अर्थात् चूँकि वस्तु परिणमनस्वभाववाली होती है; अतः क्रोधरूप पूर्व पर्याय विशिष्ट उस जीव का उत्तर क्षण में परिणमन तो अवश्यंभावी है, परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनों में से कौन-सा परिणमन होगा, यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्री पर ही निर्भर है। यानि जीव की पूर्व पर्याय में क्रोधरूपता है, वह क्रोधरूपता जीव के अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूप से नहीं है। अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूप से तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योंकि जीव का उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है; क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि जीव की अपनी पर्याय में जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है, वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि कर्मों से उदय के निमित्त से ही पाई जाती है।'

ये अपर पक्ष की ओर निमित्त के अनुसार कार्य होता है, इस आशय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से अपनी प्रतिशंका 3 में जो वक्तव्य लिपिबद्ध किया गया है, उसके कुछ अंश हैं। आगे इनके आधार से विचार करते हैं—

: 1 :

इन उल्लेखों में से सर्व प्रथम 'कार्य का नियामक कौन' यह विचारणीय है। अपर पक्ष का कहना है कि कार्य की नियामक निमित्त सामग्री होती है, उपादान नहीं। और हमारा कहना है कि कार्य का नियामक होता तो उपादान कारण ही है। मात्र प्रत्येक उपादान से कार्य होते समय अन्य जो बाह्य सामग्री उसके होने में निमित्त होती है, उससे हम यह जानते हैं कि इस समय इस उपादान से इस सामग्री को निमित्त कर यह कार्य हुआ है। जैसे—उड़द के जलयुक्त बटलोई में अग्नि संयोग को निमित्तकर पकने पर बहुत से उड़द जल्दी पक जाते हैं, बहुत से उड़द कुछ देर में पकते हैं और कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं, जो पकते ही नहीं। साथ ही कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं जो बटलोई में डालते समय जमीन पर गिर जाते हैं। उनमें से कुछ उड़द तो ऐसे होते हैं, जिन्हें उठाकर बटलोई में डाल दिया जाता है और कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं जो जमीन पर ही पड़े रह जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? पकानेवाला तो उन सबको पकाना चाहता है। उनमें से कोई गिर न जाये और सब पक जाये, इसके लिये वह पूरा ध्यान भी रखता है। फिर भी यह विचित्रता होती है। अग्नि के संयोग में भी किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता है। अग्नि का संयोग होने पर सब उड़द नीचे-ऊपर होते हुए खुद-बुदध, खुद-बुद चुरने भी लगते हैं। फिर भी उनके चुरने में विचित्रता देखी जाती है। सो क्यों ? इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य संयोग लाख हो, पर कार्य होता है उपादान के अनुसार ही। अपर पक्ष द्वारा माने हुए श्रुतज्ञानी जीव को अन्तर उपादानशक्ति का भान नहीं, इसलिए वह अपनी मिथ्या कल्पनावश भले ही यह मानता रहे कि कार्य की नियामक निमित्त सामग्री होती है। किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरण से स्पष्ट है, वस्तुतः कार्य का नियामक उपादान कारण ही होता है, निमित्त सामग्री नहीं। व्यवहारनय से निमित्त सामग्री को नियामक कहना दूसरी बात है।

अब प्रकृत विषय की पुष्टि में दूसरा उदाहरण लीजिए—कुछ चरमशरीरी समवसरण में जाते हैं। वे सब तद्भव मोक्षगामी हैं। उनके लिये समवसरण आदि का योग प्राप्त है और हैं वे सब बालब्रह्मचारी। समवसरण में ऐसी कोई प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री भी नहीं है, जिसके कारण यह कहा जाये कि वे मुनिधर्म स्वीकार करने में असमर्थ है। ऐसी उत्तम बाह्य अनुकूलता उन्हें मिली हुई है। फिर भी वे सब एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नहीं करते। सो क्यों ? ऐसा क्यों होता है कि उनमें से कोई सम्यग्दृष्टि बनता है, कोई देशव्रती बनता है और

कोई महाव्रती। ऐसा क्यों होता है ? मोक्ष जाने की योग्यता सबमें है। वे सब तद्भव मोक्षगामी भी हैं। सबको साक्षात् जिनदेव का सानिध्य, उपदेश लाभ आदि अनुकूल सब बाह्य सामग्री भी मिली हुई है, प्रतिकूल सामग्री कुछ भी नहीं है। फिर भी उनमें यह भेद दृष्टिगोचर होता है। सो क्यों ? इससे विदित होता है कि जिसका जिस काल में जैसा उपादान होता है, कार्य उसी के अनुसार होता है। बाह्य सामग्री तो उसमें धर्मादि द्रव्यों के समान निमित्तमात्र है। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद ने अपने इष्टोपदेश में अन्य सब बाह्य सामग्री को गति आदि में धर्मादि द्रव्यों के समान निमित्तमात्र स्वीकार किया है।

यहाँ पर अपर पक्ष की ओर से यह कहा जाना ठीक नहीं है कि जिसके जैसे कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है, कार्य उसके अनुसार होता है; उपादान के अनुसार नहीं, क्योंकि अपर पक्ष के मतानुसार कर्म का उदयादि भी तो जब अपने उपादान पर निर्भर नहीं है। वह भी जब निमित्त सामग्री के अनुसार होता है तो ऐसी अवस्था में समवसरणादि बाह्य-सामग्री के मिलने पर सबके एकसा कर्म का उदयादि क्यों नहीं हो जाता ? उन जीवों के कर्म के उदयादि में अन्तर क्यों बना रहता है ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में जो परिणमन होता है, वह अपने-अपने उपादान के अनुसार होकर भी स्वयं ही होता है। हाँ, इतना अवश्य ही होता है कि जब प्रत्येक उपादान अपने-अपने कार्य के सन्मुख होता है, तब व्यवहार से उसके अनुकूल बाह्य सामग्री विस्रसा या प्रयोग से मिलती ही है। इनका ऐसा ही योग है। यही कारण है कि तथ्य का विवेचन करते समय सभी आचार्यों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया कि 'कार्य में बाह्य सामग्री तो व्यवहार से निमित्तमात्र है।' इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 20 में लिखते हैं—

अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्भणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्त्वेनानुग्रहाकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, परिणामकारणं जीवः सुखादीनां, तस्यैव तथ्यपरिणामात्।

सातावेदनीय आदि कर्म सुखादि की उत्पत्ति में निमित्तमात्र होने से अनुग्राहक हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिये सूत्र में उपग्रह वचन दिया है। वास्तव में सुखादिकरूप परिणाम का कारण जीव है, क्योंकि उसी के सुखादिकरूप परिणाम होता है।

उपादान कारण ही समर्थ कारण है। वह अन्त्य क्षण को प्राप्त होकर सम्पूर्ण इस संज्ञा को प्राप्त होता है, इस बात का निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 70 में लिखा है—

विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तवं हि सम्पूर्णम्।

विवक्षित अपना कार्य करने में अन्त्य क्षण को प्राप्त होना ही उपादान की परिपूर्णता है।

इसलिए उपादान के वास्तविक स्वरूप पर विशेष प्रकार डालते हुए अष्टसहस्री पृष्ठ 210 में लिखते हैं—

तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकारात् व्यतिरिक्त इति सिद्धं, सर्वथा त्यक्तरूपस्या-पूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्याक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथा प्रतीतेः, द्रव्यभाव-प्रत्यययोत्पत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपदेयभावस्य। भावप्रत्यासचित्तमात्रात्तद्भावे समाना-कारणामखिलार्थानां तत्सप्रसंगात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिना-मशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

तन्तुद्रव्य पहले के अपटाकार का त्याग कर और तन्तुत्व सामान्य का त्याग न कर, अपूर्व पटाकाररूप से परिणमन करता हुआ उपलब्ध होता है। इससे पटाकार पहले के आकार से भिन्न ही है, यह सिद्ध होता है, क्योंकि सर्वथा त्यक्तरूप होकर अपूर्व रूपवर्ति ही उपादान नहीं हो सकता। जैसे कि अपने पूर्वरूप को छोड़े बिना उपादान नहीं होता, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। कारण कि जिसमें द्रव्य और भाव की प्रत्यासत्ति है, उसी में उपादान-उपादेय भाव बन सकता है - ऐसा नियम है। भावप्रत्यासत्तिमात्र से उपादान-उपादेय भाव के स्वीकार करने पर, सामान आकारवाले समस्त पदार्थों में उपादान-उपादेय भाव का प्रसंग आता है, कालप्रत्यासत्ति मात्र से उपादान-उपादेय भाव के स्वीकार करने पर पूर्वोत्तर समानन्तर क्षणवर्ती समस्त पदार्थों में उपादान-उपादेय भाव का प्रसंग आता है, देश प्रत्यासत्तिमात्र से उपादान-उपादेय भाव के स्वीकार करने पर समान देशवाले समस्त पदार्थों में पूरी तरह से उपादान-उपादेय भाव की आपत्ति प्राप्त होती है। सत्त्व, द्रव्यत्व आदिरूप साधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति के कारण भी उपादान-उपादेय भाव का नियम नहीं बन सकता। अतएव असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और पूर्वाकारभाव-विशेषरूप भाव प्रत्यासत्ति ही अपने उपादेयरूप परिणाम के प्रति उपादानपने का हेतु है, ऐसा निश्चय होता है।

यह आगमवचन है। इसमें उपादान का यथार्थ स्वरूप क्या है, इस बात को चारों ओर से बाँधकर बतलाया गया है। इसमें यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है कि कार्य, द्रव्य के साथ जिसकी असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्ति उपलब्ध होती है, वही उस कार्य का उपादान हो सकता है। यहाँ पर असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति से तात्पर्य जीवादि प्रत्येक द्रव्य से है। जिस द्रव्य का जो कार्य है, वह उसी में होता है, यह उक्त कथन का भाव है तथा पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्ति से तात्पर्य कार्य के अनन्तर पूर्ववर्ती भावविशेष से है। द्रव्य में सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि अन्य सामान्य शक्तियाँ भले ही रहा करें, पर मात्र ये सामान्य शक्तियाँ उपादान-उपादेयभाव के लिए कारण नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक उपादान अपने उपादेय का नियम से नियामक होता है, इस बात को ध्यान में रखकर स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा कारिका 42 में **'मोपादाननियामो भूत्'** यह वचन कहा है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए अष्टशती समन्वित अष्टसहस्री पृष्ठ 189-190 का पाठ विशेषरूप से द्रष्टव्य है। इस विषय का उपसंहार करते हुए भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टशती और अष्टसहस्री पृष्ठ 190 में लिखते हैं—

कथञ्चिदाहितविशेषतन्तूनां पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेध-नियमनिमित्तात्यतात्। प्रतीतेरलमपलापेन। न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियमनिमित्तमस्ति। न हि तन्तव एवातनादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधि-नियमो विशेषप्रतिषेध नियमो वा स्यात्। नापि तन्तुनिरपेक्षी विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते, यतो विशेष-विधिनियमस्तन्तु-प्रतिषेधनियमो वावतिष्ठेत। न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदत्ययेऽपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत।

कथंचित् आतान-वितानरूप से अवस्थित विशेष तन्तुओं में पटस्वभाव की प्राप्ति उपलब्ध होती है, क्योंकि तदन्यतर विधिनियम और तदन्यतर प्रतिषेधनियमरूप निमित्त का अभाव है। इसलिए प्रतीति के अपलाप से क्या लाभ? तन्तु और उनके विशेष (पर्याय) इनमें से किसी एक की विधि और दूसरे के निषेध में, नियम निमित्तता नहीं बनती। आतानादि विशेष निरपेक्ष केवल तन्तु ही पटस्वभाव को प्राप्त करते हुए नहीं उपलब्ध होते हैं, जिससे कि एक वस्तु में तन्तुसामान्य का ही विधि-नियम अथवा आतानादि विशेष का प्रतिषेध नियम बने। इसी प्रकार तन्तु निरपेक्ष आतानादि विशेष ही पटस्वभाव को स्वीकार करता

हुआ नहीं उपलब्ध होता है, जिससे कि एक वस्तु में विशेष विधि-नियम अथवा तन्तु प्रतिषेध नियम बने। और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि को छोड़कर तन्तु सामान्य और तन्तु विशेष के विधि तथा प्रतिषेध के नियम में अन्य कोई निमित्त नहीं है, जिससे कि उनके अभाव में भी उन दोनों की प्रतीति का अपलाप शोभा को प्राप्त होवे।

यह आगम प्रमाण है। इससे यह बात बहुत अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक कार्य में उसका उपादान कारण ही नियामक होता है, जो निश्चय कथन होने से परमार्थरूप है। निमित्त सामग्री को नियामक मानना व्यवहार कथन है। परन्तु श्रुतज्ञानी जीव अपने अल्पज्ञान के कारण प्रत्येक समय के कार्य का कौन उपादान और कौन निमित्त है, इसका ठीक निर्णय नहीं कर सकते। इसलिए वे प्राय: व्यवहार का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करते हैं। विवक्षित कार्य के अनुकूल प्रयोग से या विस्रसा बाह्य सामग्री के मिलने पर भी जो विवक्षित कार्य नहीं होता और निराश होना पड़ता है, उसका कारण भी यही है; किन्तु आगम में कार्यकारण भाव की व्यवहार कथनी का उल्लेख होने के साथ निश्चय कथन और उसके नियम भी दिये गये हैं। इसलिए उन नियमों को दृष्टि में रखकर यथार्थ में प्रत्येक कार्य का नियामक उपादान कारण को ही समझना चाहिए और इसी कारण बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 21 में उपादान के समान कार्य होता है, इसका निर्देश करते हुए '**उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति**' यह वचन कहा गया है। आचार्य जयसेन ने समयसार गाथा 372 की टीका में भी इसी तथ्य को स्पष्ट करने के अभिप्राय से यह कथन किया है—

तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिबहिरंगनिमित्तरूपेण। कस्मात् इति चेत्? उपादानकरणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात्।

किस कारण से मिट्टी आदि सभी द्रव्य कर्ता होकर घटादि रूप से उत्पन्न होते हुए अपने उपादान कारण मिट्टी आदिरूप से उत्पन्न होते हैं; कुम्हार आदि बहिरंग निमित्तरूप से नहीं, क्योंकि कार्य उपादान कारण के सदृश होता है।

अतएव अपर पक्ष ने जो चने आदि पदार्थों के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कार्यों की नियामक निमित्त सामग्री होती है। सो पूर्वोक्त प्रमाणों को ध्यान में लेकर विचार करने पर विदित होता है कि वे उदाहरण केवल कल्पना के आधार पर दिये गये हैं, कार्य-कारणभाव के निश्चित नियमों के आधार पर नहीं। वस्तुत: उपादान कारणगत

योग्यता ही प्रत्येक कार्य की नियामक है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 237 में कहा है—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कारण, कार्य से उपक्रियमाण न होता हुआ जैसा प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है, वैसे वह सब कार्यों को क्यों नहीं उत्पन्न करता—ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि **योग्यता ही शरण है।**

इसी तथ्य को और भी स्पष्टरूप से समझने के लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 217 का यह टीका वचन पर्याप्त होगा—

स कालः संक्रमविधानेन स्वगुणैः नान्यद्द्रव्ये परिणमति, न च परद्रव्यगुणान् स्वस्मिन् परिणामयति, नापि हेतुकर्तृत्वेनान्यद्द्रव्यमन्यगुणैः सह परिणामयति। किं तर्हि? विविधपरिणामिकानां द्रव्याणां परिणमनस्य स्वयमुदासीननिमित्तं भवति। यथा कालद्रव्यं तथा सर्वद्रव्यमपि। *— स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 217 टीका*

वह काल संक्रम विधि से अपने गुणों के द्वारा अन्य द्रव्य में परिणमित नहीं होता और न परद्रव्य के गुणों को अपने में परिणमाता है तथा हेतुकर्ता होकर अन्य द्रव्य को अन्य गुणों के साथ नहीं परिणमाता है। तो क्या है? विविध प्रकार से परिणमनेवाले द्रव्यों के परिणमन का स्वयं उदासीन निमित्त है। **जिस प्रकार कालद्रव्य है, उसी प्रकार सभी द्रव्य हैं।**

इस उल्लेख में '**यथा कालद्रव्यं तथा सर्वद्रव्यमपि**' यह वचन विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। इससे यह बात अच्छी तरह से समझ में आ जाती है कि निमित्तपने की अपेक्षा सभी द्रव्यों की स्थिति काल द्रव्य के समान है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कार्य में व्यापृत नहीं होता। निमित्त कारण के जो उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त, ऐसे भेद किये गये हैं, उन भेदों का कारण अन्य है, जिसका निर्देश हम पहले उदाहरण देकर कर आये हैं। अतएव निष्कर्षरूप में यही समझना चाहिए कि वास्तव में प्रत्येक कार्य की नियामक निमित्त सामग्री न होकर, उस-उस कार्य का उपादान कारण ही होता है, किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक कार्य के साथ प्रत्येक उपादान कारण की अन्तर्व्याप्ति उपलब्ध होती है, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य की उस-उस कार्यसम्बन्धी निमित्त सामग्री के साथ बाह्य व्याप्ति भी पाई जाती है। **इसलिए**

निश्चयनय से उपादान कारण कार्य का नियामक है और असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त सामग्री कार्य की नियामक है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर होता है।

20. परिणमन क्रिया और परिणाम दो नहीं

अपनी प्रतिशंका में अपर पक्ष ने एक यह बात भी लिखी है कि 'जीव का उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है, क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि जीव की अपनी पर्याय में जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है, वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक कर्मों के उदय के निमित्त से ही पाई जाती है।' सो सर्व प्रथम तो प्रकृत में यह देखना है कि यहाँ पर उपादानरूप जीव का ग्रहण अपर पक्ष ने किया है या सामान्य जीव का। सामान्य जीव का ग्रहण तो प्रकृत में हो नहीं सकता, क्योंकि अनन्तरपूर्व उस-उस पर्याययुक्त द्रव्य ही कार्यकारी माना गया है, केवल सामान्य द्रव्य नहीं। अतएव जब वह अशुद्ध पर्याय का उपादान होता है, तब वह पर के लक्ष्य से अपने में अशुद्ध कार्य को ही जन्म देता है और जब वह शुद्ध पर्याय का उपादान होता है, तब वह स्व के लक्ष्य से स्वभाव (शुद्ध) पर्याय को ही जन्म देता है। जीव द्रव्य का ऐसा ही स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य का केवल परिणमनशीलता स्वभाव स्वत:सिद्ध स्वभाव न होकर, जिस समय जिस द्रव्य में जो कार्य उत्पन्न होता है, उसे उत्पन्न करना, यह उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव है। एक सत्ता और एकाश्रयवृत्ति होने से परिणमनशीलता, परिणाम से भिन्न नहीं है। यदि परिणमनशीलता मात्र जीवद्रव्य का स्वत:सिद्ध स्वभाव माना जाता है और क्रोधादिरूपता परकृत मानी जाती है, तो अरिहन्तों और सिद्धों में भी केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता परकृत ही माननी पड़ेगी, क्योंकि अपर पक्ष के मतानुसार केवल परिणमनशीलता ही उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव है। जिस समय जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसे उत्पन्न करना तो उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव है नहीं। ऐसी अवस्था में क्रोधादिरूपता के समान केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता भी परकृत ही ठहरेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि परिणामी, परिणाम और परिणामक्रिया, ये तीनों वस्तुरूप से एक ही हैं, तीन नहीं। और एक द्रव्य अपने किले को तोड़कर, परद्रव्य के किले का भेदनकर प्रवेश कर सकता नहीं, अत: **निश्चय से जीवद्रव्य स्वयं पर की अपेक्षा किये बिना, अपने क्रोधादिरूप परिणाम को उत्पन्न करता है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।** आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह वचन कहा है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादि।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा॥ 137॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो॥ 138॥

जो कर्म के साथ जीव के रागादिरूप परिणाम होते हैं, तो इस प्रकार जीव और कर्म दोनों रागादि भाव को प्राप्त हुए। और यदि अकेले जीव के रागादि परिणाम होते हैं, तो कर्मोदयरूप हेतुओं के बिना ही वह रागादि जीव का परिणाम है॥ 137-138॥

इससे स्पष्ट है कि कर्मोदय आदि को रागादि की उत्पत्ति में असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निमित्तरूप से तो स्वीकार किये गये हैं, किन्तु वे रागादि परिणाम, जीव के होने से कर्मोदयादिरूप बाह्य हेतुओं के बिना ही जीव के होते हैं। उपादान बनकर स्वयं जीव उन्हें उत्पन्न करता है। केवल परिणमनशीलता ही जीव का स्वत:सिद्ध स्वभाव नहीं है, किन्तु पर के लक्ष्य से रागादि को उत्पन्न करना, यह भी उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव है। जब शुद्ध या अशुद्ध जिस प्रकार का यह जीव अपने को अनुभवता है, तब उस प्रकार की शुद्ध या अशुद्ध पर्याय को वह जन्म देता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यदि अपने को शुद्ध अनुभवता है तो शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति में कर्मोदयादि निमित्त न होकर, केवल कालादि द्रव्य निमित्त होते हैं और जब पर के लक्ष्य से अपने को रागादिरूप अनुभवता है, तब रागादि की उत्पत्ति में कर्मोदयादि निमित्त होते हैं, यह यहाँ निष्कर्ष जानना चाहिए। ऐसी ही प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में उपादान के साथ बाह्य सामग्री की निमित्त होकर व्याप्ति है। कार्य-कारण की परम्परा में अन्य जितने प्रकार के विचार हैं, वे सब कल्पनामात्र हैं।

21. 'णियमा' पद की सार्थकता

पूर्वोक्त उल्लेखों में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की '**पुव्वपरिणामजुत्तं**' इत्यादि गाथा में पठित '**णियमा**' पद के सम्बन्ध में यह विचार करना है कि वह पद उक्त गाथा में क्यों निबद्ध किया गया है? अपर पक्ष ने इस पद की केवल कार्य के साथ योजना करके यह अर्थ किया है कि पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्यायविशिष्ट वस्तु नियम से कार्य कहलाती है। सो इस सम्बन्ध में इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य कारण तो कहलावे, परन्तु वह अपने से जायमान कार्य का नियामक न हो, इसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? अर्थात् ऐसी अटपटी बात को कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार

नहीं कर सकता। उपादानकारण का यह लक्षण सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है और इसी के आधार से उससे जायमान कार्य की व्यवस्था भी की है। यह उपादानकारण का उपचरित लक्षण न होकर निश्चय (यथार्थ) लक्षण है। जिसकी पुष्टि में हम प्रकरण 19 'कार्य का नियामक उपादानकारण होता है' इस शीर्षक के अन्तर्गत अनेक आगम प्रमाण दे आये हैं, किन्तु अपर पक्ष उसे कार्य का नियामक न मानकर उसे उपचरित कारण ठहराना चाहता है। अनुपचरित उपादानकारण का लक्षण क्या है, इसे वह आगम से बतला देता तो अति उत्तम होता। हम तो अभी तक उपलब्ध समस्त आगम का आलोडन करके यही जान सके हैं कि आगम में जिसका जो लक्षण किया गया है, वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से रहित ही किया गया है। यही कारण है कि स्वामी कार्तिकेय ने उपादानकारण और कार्य के लक्षणों में से इन्हीं तीन दोषों का परिहार करने के लिये उपादानकारण और कार्य के लक्षणपरक उक्त गाथा के अन्त में '**णियमा**' पद की योजना की है, जिसकी पुष्टि उसी ग्रन्थ की गाथा 223 से भले प्रकार हो जाती है। 223 संख्याक गाथा का उल्लेख हम पूर्व में ही कर आये हैं। ये दोनों गाथाएँ परस्पर में एक-दूसरे की पूरक हैं। अतएव उक्त गाथा के अन्त में पठित '**णियमा**' पद का अर्थ यह करना ही उचित है कि 'पूर्व पर्याय से युक्त द्रव्य नियम से उपादानकारण है और उत्तर पर्याय से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य है।' इतना अवश्य है कि तीनों काल सम्बन्धी सभी उपादानों और उनसे होनेवाले सभी कार्यों में उक्त लक्षण की प्रत्येक समय में व्याप्ति बनती जाने के कारण सामान्यरूप से ये उपादानकारण और उपादेयरूप कार्य के लक्षण कहे गये हैं। किन्तु विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्य के लक्षणों की अपेक्षा यदि विचार किया जाता है, तो वहाँ पर विवक्षित पद की योजना करके विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्य की अपेक्षा यह कहा जायेगा कि विवक्षित पर्याययुक्त द्रव्य विवक्षित कार्य का उपादानकारण है और उससे जायमान उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य, उसका विवक्षित कार्य है। इसी प्रकार जहाँ पर प्रत्येक गुण की अपेक्षा कार्य-कारणभाव का विचार करना हो, वहाँ पर 'द्रव्य' पद के स्थान में 'गुण' पद की योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार इतने विवेचन से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि विवक्षित उपादान से अन्य कोई कार्य उत्पन्न न होकर, विवक्षित कार्य ही उत्पन्न होता है।

22. निमित्तविचार

पूर्वोक्त उल्लेखों के आधार से एक यह बात भी विचारणीय है कि प्रत्येक समय में

अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर, उसकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री अविकलरूप से पाई जाती है या नहीं ? अपर पक्ष का कहना है कि 'कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय में उपादानकारणभूत वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्य के अनुकूल अन्य कारणों की अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी, तो उस समय वहाँ पर उस उपादान से विवक्षित कार्य की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी।' सो अपर पक्ष का यह वक्तव्य स्वयं अपने में भ्रामक है, क्योंकि विवक्षा प्राणी के चित्त में होती है। यदि वह किसी दूसरे कार्य के उपादान से अपने विवक्षित कार्य की सिद्धि करना चाहे और बाह्य सामग्री के आधार पर यह कहे कि 'यहाँ बाह्य सामग्री की कमी है, इसलिए विवक्षित कार्य नहीं हुआ' उचित नहीं है। क्योंकि जिस कार्य का वह उपादान है, उससे जायमान कार्य के अनुकूल ही बाह्य सामग्री की अविकलता वहाँ पर रहेगी। विवक्षित कार्य के अनुकूल न तो वह उपादान ही है और न ही वहाँ पर बाह्य सामग्री की अविकलता भी है। उपादान किसी दूसरे कार्य का हो और उससे अपनी इच्छानुसार किसी दूसरे कार्य की उत्पत्ति हो जाये, यह त्रिकाल में सम्भव नहीं है। **बाह्य-आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता कार्य के अनुकूल ही होती है, विवक्षा के अनुकूल नहीं।**

अपर पक्ष का यह कहना कि 'कार्य-कारण का विचार वस्तु व्यवस्था के आधार पर होना चाहिए, बीच में केवलज्ञान को लाकर खड़ा न किया जाये।' हम इस बात को हृदय से स्वीकार करते हैं, इसलिए हमने अपने पिछले उत्तरों में आगम में स्वीकृत उपादानकारण के सुनिश्चित लक्षण को ध्यान में रखकर इसका विशेष विचार किया है। किन्तु मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष अपने उक्त कथन पर टिका रहने के लिये राजी नहीं है, इसलिए ही वह कार्य-कारण का विचार केवलज्ञान और तदनुसारी आगम तथा श्रद्धा को तिलांजलि देकर श्रुतज्ञान के आधार से करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और मजा यह कि यह श्रुतज्ञान कौन-सा ? आगमानुसारी नहीं, किन्तु पाँच इन्द्रियों और मन से जैसा समझ में आया, तदनुसारी। उसकी पुष्टि में उसने जो आगम उपस्थित किया है, वह अपने चित्त को बहलानामात्र है। प्रकृत में अपर पक्ष से हम निवेदन करना चाहते हैं कि बेचारे श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी के ज्ञान में जो कुछ झलका है, उसकी खबर हो या न हो, इससे क्या ? तदनुसारी ऐसा आगम तो उस (श्रुतज्ञानी) के सामने उपस्थित है ही, जिसमें कार्य-कारणभाव के निश्चित नियमों का उल्लेख है, इसलिए उस आधार से तो श्रुतज्ञानी यह निर्णय कर सकता है कि जिस समय

जिस कार्य का जो उपादान होगा, उस समय उससे वही कार्य होगा, अन्य नहीं। साथ ही उस उपादान के अपने अनुरूप कार्य को जन्म देने के सन्मुख होने पर कार्य के अनुकूल बाह्य-सामग्री भी अवश्य रहेगी। श्रुतज्ञानी का कार्य आगमानुसारी कार्य-कारणभाव के नियमों के अनुसार उसका निर्णय करना है, न कि अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिए कार्य-कारणभाव के निश्चित नियमों में अर्थ विपर्यास कर अपने अभिप्राय को सिद्ध करना। आशा है अपर पक्ष का इस तथ्यपूर्ण वक्तव्य की ओर विशेष ध्यान जायेगा।

23. उपादानकारण ही कार्य का नियामक है

पूर्वोक्त उल्लेखों के आधार से एक यह बात भी विचारणीय है कि यदि क्रोध पर्याययुक्त कोई जीव अनन्तर उत्तर समय में क्रोधादि चारों में से किसी एक को उत्पन्न करता है, तो उसका वह उपादान अनन्तर उत्तर समय में जिस एक को उत्पन्न करता है, उसके अनुकूल होता है या बाह्य-सामग्री के बल पर चारों में से किसी को भी उत्पन्न करे, इस रूप में होता है, क्योंकि अपर पक्ष इस सम्बन्ध में ऐसा मानकर चल रहा है कि उपादान तो चारों का होता है, परन्तु बाह्य-सामग्री के अनुसार किसी एक की उत्पत्ति होती है। यह अपर पक्ष के कथन का सार है। समाधान यह है कि बात ऐसी नहीं है, जैसी कि अपर पक्ष समझ रहा है। किन्तु अनन्तर उत्तर समय में क्रोधादि चारों में से जो पर्याय उत्पन्न होगी, उपादान उसी के अनुकूल होगा तथा कर्म और नोकर्मरूप निमित्त भी उसी के अनुकूल होंगे। कारण कि कर्मशास्त्र के नियमानुसार क्रोधादि चारों द्रव्यकर्मों की सत्ता होने पर भी एक समय में एक के उदय का विधान इसी आधार पर किया गया है कि जिस कषाय का उपादान अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होता है, उदय भी उसी कषाय द्रव्यकर्म का होता है। ऐसा ही दोनों का योग है। अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादानकारण होता है, इस लक्षण को तो अपर पक्ष ने स्वीकार किया ही है। और इस बात के स्वीकार कर लेने पर यह भी निश्चित हो जाता है कि उपादानकारण, कार्य के एक समय पूर्व होता है, क्योंकि कर्मशास्त्र की उदयादि व्यवस्था पर दृष्टिपात करने पर यह सुनिश्चितरूप से ज्ञात होता है कि जिस बाह्य-सामग्री में निमित्त व्यवहार होता है, वह कार्य के उत्पन्न होते समय ही होती है। सो क्यों ? कर्म-शास्त्र इस प्रश्न का उत्तर देता है और समर्पक उत्तर देता है। उसमें सप्रतिपक्ष प्रकृतियों के उदय को ध्यान में रखकर बतलाया है कि उनमें से किसी एक का उदय नोकर्मरूप बाह्य-सामग्री के अनुसार न होकर, उपादान के अनुसार होता है, क्योंकि जिसका अनन्तर समय में उदय

होनेवाला हो, वह तो उपादान के काल में उदयावलि में तदवस्थ रहती हैं, मात्र शेष प्रकृतियों का उसमें स्तिबुकसंक्रमण हो जाता है और इस प्रकार उपादान तथा कर्मोदय की कार्य के प्रति एकरूपता बनी रहती है। क्या कर्म-शास्त्र की इस व्यवस्था से यह ज्ञान नहीं हो जाता है कि उपादान अनेक कार्यों का न होकर नियम से किसी एक कार्य का ही होता है और जिस कार्य का वह उपादान होता है, नियम से उसी कार्य को उत्पन्न करता है। साथ ही निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य-सामग्री भी उसी कार्य के अनुकूल उपस्थित रहती है। कार्य-कारणभाव की समग्ररूप से प्रसिद्ध करनेवाली यह कर्म-शास्त्र की व्यवस्था है, कुछ मानसिक कल्पना नहीं। हमें आशा है कि अपर पक्ष इन तथ्यों पर ध्यान देकर अपने विचारों में सुधार करेगा और वह अपनी इस मान्यता को छोड़ देगा कि 'जीव का अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता है, क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव नहीं। कारण कि स्वभावदशा में जिस प्रकार विवक्षित सम्यक्त्वादि पर्यायरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव है, उसी प्रकार विभावदशा में विवक्षित क्रोधादिरूप परिणमनशीलता भी उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव है। जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्य के परिणमन में विभावरूपता पर के द्वारा की गई नहीं होती, यह एकान्त नियम है। (इसके लिये देखिए श्लोकवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 15 पृष्ठ 410) इतना अवश्य है कि चाहे सवभाव पर्याययुक्त जीव उपादान हो या विभाव पर्याययुक्त, किन्तु उपादानभूत जीव यदि पर के लक्ष्य से परिणमता है, तो नियम से विभावपर्याय की उत्पत्ति होती हैऔर उपादानभूत वही जीव यदि स्वभाव के लक्ष्य से परिणमता है, तो नियम से स्वभावपर्याय की उत्पत्ति होती है। कार्यकाल में परपदार्थ का निमित्त होना और बात है और स्व या पर को लक्ष्य कर प्रवर्तना और बात है। जिनागम में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उपदेश ग्रहण करने के योग्य प्रत्येक पात्र जीव को बाह्य सामग्री की उठाधरी के विकल्प से बचते हुए स्वभाव को लक्ष्य में लेने का उपदेश दिया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र इसी तथ्य को ध्यान में रखकर समयसार कलश में लिखते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मनये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥ 173॥

सभी वस्तुओं में जो अध्यवसान है, उन सभी को जिनेन्द्रदेव ने छोड़ने योग्य कहा है, सो आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि भगवान ने पर के आश्रय से प्रवर्तनेवाला सभी व्यवहार छुड़ाया है। इसलिए आचार्य उपदेश करते हुए कहते हैं कि जो सत्पुरुष है, वे सम्यक् प्रकार एक निश्चय को ही जिस तरह हो सके, उस तरह निश्चित अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमा में स्थिरता क्यों नहीं धारण करते॥173॥

आगे समयसार गाथा 272 की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने '**आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः**' इस प्रकार जो निश्चयनय और व्यवहारनय का लक्षण किया है, सो उसका भी यही तात्पर्य है। इस विवेचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे हैं कि ज्ञायकस्वरूप आत्मा को लक्ष्य कर जो विकल्प होता है, वह सविकल्प-निश्चयनय है और पर अर्थात ऐन्द्रियिक सुख-दुख आदि में निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री को लक्ष्य कर 'यह सुख देनेवाली सामग्री है, यह दुख देनेवाली सामग्री है आदिरूप' जो विकल्प होता है, वह व्यवहारनय है। सो ऐसा अध्यवसानरूप व्यवहारनय, निश्चयनय का अवलम्बन लेकर त्यागनेयोग्य है, क्योंकि ऐसे विकल्प के छूटने पर बाह्य सामग्री नियम से छूट जाती है। सो क्यों ? जब कि अपर पक्ष के कथनानुसार परिणमनशीलतामात्र उपादान का कार्य है। किसरूप परिणमन हो, यह उसका कार्य न होकर बाह्य सामग्री के आधीन है, तो फिर उस बाह्य सामग्री में 'यह सामग्री सुखकर है और यह सामग्री दुखकर है' आदिरूप अध्यवसान को छोड़ने का उपदेश तीर्थंकरों, गणधरों और आचार्यों ने क्यों दिया ? और ऐसे अध्यवसान विकल्प को मिथ्या क्यों बतलाया। यदि श्रुतज्ञानी जीव यह जानता है कि 'मेरा सुख-दुःख आदि संसाररूप कार्य और सम्यक्त्वादिरूप मोक्षकार्य, कर्म और नोकर्म के आधीन है, इसका कर्ता मैं स्वयं नहीं। मैं उपादानकारण इसलिए कहलाता हूँ कि वे मुझमें मात्र होते हैं। होगा वही, जैसा कर्मों का उदयादि और बाह्य सामग्री मिलेगी। यदि संसार कार्य का मैं कर्ता होता, तो मैं उसे टालने के उपक्रम में लगता। पर मैं क्या कर सकता हूँ, कर्म और नोकर्म तो इसे मुझमें किये ही जा रहे हैं। क्योंकि एक काल में कार्य होने के अनुरूप मुझमें अनेक शक्तियाँ हैं, उनमें से कौन शक्ति कार्यरूप परिणमे, यह तो बाह्य सामग्री के आधीन है। इसलिए बाह्य सामग्री ही मुझमें यथार्थ कर्ता है, मैं तो वास्तविक कर्ता हूँ नहीं।' तो अपर पक्ष के कथनानुसार उसका ऐसा जानना यथार्थ ही ठहरता है। तब तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 247 आदि में तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने पूर्वोक्त कलश में या तत्सम अन्य कलशों व

टीका में उस श्रुतज्ञानी के ऐसे विचारों को अध्यवसान कहकर जो मिथ्या ठहराया है, वह सब कथन अयुक्त ही ठहरता है। फिर तो अपर पक्ष के मन्तव्यानुसार यही कहना और मानना युक्त होगा कि जीव में राग-द्वेष, सुख-दुख, नारक-तिर्यंच आदिरूप संसार कार्य तथा सम्यक्त्व, केवलज्ञान आदिरूप मुक्तिकार्य जो भी होता है, वह सब कर्मों और बाह्य सामग्री के अनुसार ही होता है। जीव तो जैसे स्वतन्त्ररूप से राग-द्वेष आदिरूप संसार कार्य को नहीं कर सकता, वैसे ही वह सम्यक्त्वादिरूप मुक्तिकार्य को भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमनक्रिया ही है। वह परिणमनक्रिया किसरूप हो, यह सब तो कर्मों और बाह्य सामग्री के आधीन है। उसे उत्पन्न करना उसका स्वभाव नहीं।

संभव है कि अपर पक्ष यहाँ पर यह तर्क उपस्थित करे कि स्वभावदशा में जैसे परिणमनशीलता जीव का स्वभाव है, उसी प्रकार सम्यक्त्वादि को उत्पन्न करना भी उसका स्वभाव है। किन्तु विभावदशा में मात्र परिणमनशीलता ही उसका स्वभाव है, उसमें राग-द्वेषादि को उत्पन्न करना उसका स्वभाव नहीं; ये तो निमित्त के बल से उत्पन्न होते हैं। तो उस पर हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार अपर पक्ष के मत से जीव की विभावदशा में राग-द्वेषादि निमित्त के बल से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अपर पक्ष को यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसकी विभावदशा में परिणमन क्रिया भी निमित्तों के बल से उत्पन्न होती है। वह जीव का अपना कार्य नहीं, क्योंकि परिणमन क्रिया राग-द्वेषादिरूप परिणाम से अभिन्न होने के कारण यदि राग-द्वेषादिरूप परिणाम का वास्तविक कर्ता अन्य द्रव्य को माना जाता है, तो उससे अभिन्न परिणामक्रिया का कर्ता भी दूसरा द्रव्य ही ठहरेगा। और ऐसी अवस्था में विभावदशा में जीवद्रव्य स्वयं कूटस्थ हो जायेगा और अन्त में उसका अभाव ही मानना पड़ेगा।

यदि अपर पक्ष को 'विभावदशा में जीवद्रव्य स्वयं कूटस्थ हैं' ऐसा मानना इष्ट न हो, तो उसे आगम के अनुसार अन्त:करण से यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार स्वभावदशा में परिणाम और परिणमनक्रिया दोनों अभिन्न होने से उनका वास्तविक कर्ता स्वयं जीव है, उस प्रकार विभावदशा में भी वे दोनों अभिन्न होने के कारण उनका भी वास्तविक कर्ता स्वयं जीव ही है; दूसरा पदार्थ नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 84 और उसकी टीका में 'आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को करता है और उसे भोगता है' इसे लोगों का अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार बतलाकर, गाथा 85 और उसकी टीका द्वारा उक्त प्रकार के व्यवहार को दोषयुक्त घोषित

किया है। उक्त दोनों आचार्य समयसार गाथा 106 और उसकी टीका में यह व्यवहार दोषयुक्त होने से उपचरित क्यों है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण॥ 106॥

जिस प्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर राजा ने युद्ध किया, ऐसा लोक (व्यवहार से) कहते हैं; उसी प्रकार जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म को किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है॥ 106॥

यह व्यवहार वास्तविक न होकर उपचरित है, इसका स्पष्टीकरण इस टीका वचन से हो जाता है—

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादि कर्मेत्युपचारो न परमार्थः॥106॥

जैसे युद्ध परिणामरूप से स्वयं परिणमते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध परिणाम से स्वयं नहीं परिणमनेवाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' यह उपचार होता है, जो परमार्थभूत नहीं है। वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप से स्वयं परिणमते हुए पुद्गल -द्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप से स्वयं नहीं परिणमते हुए आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये' यह उपचार होता है, जो परमार्थभूत नहीं है॥ 106॥

इस प्रकार उक्त उल्लेख से जहाँ यह बात स्पष्टरूप से विदित हो जाती है कि जिस द्रव्य में जो परिणाम होता है, उसे वह द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता बनकर (स्वतंत्र कर्त्ता। 1। 2। 125 जैनेन्द्रमहावृत्ति, पृष्ठ 41) करता है। परिणामक्रिया जिस परिणामरूप होती है, उस परिणाम को कोई दूसरा पदार्थ करे और परिणामक्रिया का कर्ता वह स्वयं बने, ऐसा न तो है ही और न ही उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है।

जैनेन्द्रमहावृत्ति के उक्त सूत्र की टीका करते हुए आचार्य अभयनन्दि लिखते हैं—

स्वतंत्र आत्मप्रधानः। क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञं भवति।

स्वतन्त्र आत्मप्रधान। क्रिया की सिद्धि में जो अर्थ स्वतन्त्र है, वह कारक कर्तृसंज्ञक होता है।

जैनेन्द्र महावृत्ति के इस उल्लेख से भी यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य परनिरपेक्ष होकर ही प्रत्येक समय में अपना कार्य करता है।

इस पर यद्यपि वह शंका की जा सकती है कि कर्ता दो प्रकार के होते हैं—एक निश्चय कर्ता और दूसरा व्यवहार कर्ता। निश्चय कर्ता तो स्वयं वह द्रव्य होता है, जिसमें कार्य होता है और व्यवहार कर्ता दूसरा द्रव्य होता है। इन दोनों की सम्मिलित क्रिया द्वारा ही प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए जिस प्रकार निश्चय कर्ता यद्यपि कर्ता होता है, उसी प्रकार व्यवहार कर्ता को कारयिता के रूप में यथार्थ कर्ता ही मानना चाहिए। एक को परमार्थभूत माना जाय और दूसरे को अपरमार्थभूत माना जाये, यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित था। वे इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्वयं क्या लिखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं॥ 107॥

आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहारनय का वक्तव्य है॥ 107॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमय-त्युत्पादयति करोति वध्नाति वात्मेति विकल्पः स किलोपचारः॥107॥

जैसे यह आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को नियम से न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उत्पन्न करता है, न करता है और न बाँधता है; क्योंकि उन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है। तो भी व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने पर भी जो यह विकल्प होता है कि आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यात्मक कर्म को ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है, वह नियम से उपचार है॥ 107॥

यह आगमवचन है। इससे यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि श्रुतज्ञानी जीव को भी यह विकल्प होता है कि कर्म ने जीव में राग-द्वेषादि कार्य किया, वह (विकल्प) मात्र उपचाररूप ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव के राग-द्वेष की उत्पत्ति में कर्म और नोकर्म व्यवहार से निमित्तमात्र हैं, इसलिए निमित्त हुए पर द्रव्य को देखकर यह विकल्प होता है और उस विकल्प के अनुसार कहने में भी ऐसा ही आता है कि कर्म जीव को संसारी बनाता है, सुख देता है, दुख देता है आदि। किन्तु यह सब कथनमात्र है। **आगम में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है इत्यादि रूप से जितना भी कथन उपलब्ध होता है, वह सब व्यवहारनय की मुख्यता से ही किया गया है,** इसलिए उसे परमार्थभूत न मानकर यह समझना ही परमार्थभूत है कि प्रत्येक द्रव्य में त्रैकालिक जितने भी परिणाम कार्य होते हैं, उन सबका प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता है और वे सब कार्य प्रत्येक द्रव्य के कर्म हैं। '**सिद्धी दु ण दीसए अण्णा**' (समयसार गाथा 311)—दूसरे प्रकार से कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं दिखलाई देती। अतएव उपादान कर्ता यथार्थ कर्ता है और निमित्त कर्ता उपचरित कर्ता है, यह तथ्य फलित होता है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार, गाथा 21 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद् द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्।

तथा आत्मा अपने परिणाम का कर्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्ता उपचार से है।

निष्कर्षरूप से उक्त पूरे विवेचन का प्रकृत में सार यह समझना चाहिये कि परिणाम और परिणमन क्रिया परिणामी से अभिन्न होने के कारण, विवक्षित उपादान ही विवक्षित परिणाम का यथार्थ कर्ता होता है। अतएव प्रकृत में यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि 'उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए उपादान में विद्यमान जिस योग्यता के अनुकूल निमित्त सामग्री मिलती है, कार्य वही होता है।' किन्तु इसके स्थान में यही मानना उचित है कि विवक्षित पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्यशक्ति उपादान होकर, विवक्षित कार्य को उत्पन्न करती है और उसमें व्यवहारनय से निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री भी तदनुकूल रहती है। कारणजाति के भेद के समान शक्तिभेद भी होना चाहिए, तभी कार्यभेद बन सकता है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 10 में कहा है—

यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोत्पद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेण।

जिस प्रकार कारणजति के भेद के बिना कार्यभेद नहीं बनता; उसी प्रकार कार्यरूप होनेवाली शक्तिभेद के बिना कार्यभेद नहीं बनता।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय जो कार्यभेद दृष्टिगोचर होता है, उसका मुख्य कारण उपादानभेद ही है। जैनदर्शन में कारकसाकल्य को या इन्द्रियवृत्ति आदि को या सन्निकर्षविशेष को प्रमाण न मानकर, जो ज्ञान को प्रमाण माना है, सो उसका कारण भी यही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 15 में कहा है—

अस्यः स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावायाः यदसन्निधाने कारकान्तर-सन्निधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्कारणकम्।

स्वार्थग्रहण शक्तिलक्षण भावेन्द्रियस्वभाव जिस योग्यता के असन्निधान में कारकान्तर के सन्निधान होने पर भी जो नहीं उत्पन्न होता है, वह तत्तत्कारणक जानना चाहिए।

जिस प्रकार जैनदर्शन में कारकसाकल्य आदि को उपचार से प्रमाण मानकर भी वास्तवरूप में प्रमाणज्ञान को ही स्वीकार किया है, उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

इसलिए प्रकृत में निष्कर्षरूप में यही समझना चाहिए कि—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छन्ति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा॥ 65॥ —*पंचास्तिकाय*

आत्मा अपने भाव (रागादिभाव) को करता है, तब वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावों से, जीव में अन्योन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं॥65॥

इस प्रकार इस विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उपादानकारण ही वास्तव में अपने कार्य का नियामक है, बाह्य सामग्री नहीं।

24. दो आगम प्रमाणों का यथार्थ तात्पर्य

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग से दो आगमप्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 222 वीं गाथा की संस्कृत टीका का वाक्यांश है और दूसरा प्रमाण अष्टसहस्री, पृष्ठ 105 में आया हुआ अष्टशती का वाक्यांश है। किन्तु इन दोनों प्रमाणों से अपर पक्ष के अभिप्राय की पुष्टि कैसे नहीं होती, यह बात यहाँ विचारणीय है, जिसका क्रम से विचार किया जाता है—

उक्त गाथा की संस्कृत टीका का वह वचन इस प्रकार है—

....तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव।

मणि-मन्त्रादिक से अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला पूर्व पर्यायाविष्ट कारणभूत वही द्रव्य, कारणान्तरों की अविकलता होने के कारण, उत्तर क्षण में कार्य को उत्पन्न करता ही है।

यह उक्त वचन का शब्दार्थ है। मालूम नहीं कि इस पर से अपर पक्ष ने यह कैसे फलित कर लिया कि अनन्तर पूर्व पर्यायाविष्ट द्रव्यरूप विवक्षित उपादान के अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होने पर, मणिमन्त्रादिक प्रतिबन्धक कारणों की उपस्थिति और कारणान्तरों की विकलता सम्भव है। जब कि आचार्य शुभचन्द्र ने '**मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं**' इस पद को '**तदेव द्रव्यं**' इत्यादि पद का विशेषणरूप से प्रयुक्त कर तथा '**कारणान्तरावैकल्येन**' पद द्वारा कारणान्तरों की अविकलता (पूर्णता) को स्पष्ट शब्दों में सूचित कर, अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान को अपने कार्य का नियम से उत्पादक कहा है। पूरे वाक्य के अन्त में आया हुआ '**एव**' पद यही सूचित करता है कि उक्त प्रकार का उपादान अपने कार्य को नियम से उत्पन्न करता है और जब वह अपने कार्य को उत्पन्न करता है, तब प्रतिबन्धक सामग्री के अभाव के साथ कारणान्तरों की अविकलता नियम से होती है।

उपादानकारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का होना, यह उपादानकारणगत योग्यता है और कार्य का उससे जायमान होना, यह कार्य (उपादेय) गत योग्यता है, इससे उसका प्रतिनियम होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 78 में कहा है—

योग्यता हि कारणत्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वहाँ बतलाया है—

शालिबीजांकुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यंकुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवांकुरजनने न शालिबीजस्येति।

शालिबीज और शालि-अंकुर के भिन्न कालवर्ती (पूर्वोत्तर क्षणवर्ती) होने पर भी, शालिबीज में ही शालि-अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति है; यवबीज में नहीं। और इसी प्रकार यवबीज में यव-अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति है, शालिबीज में नहीं।

इससे इस बात का सम्यक् रीति से ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपने नियत कार्य का ही उपादानकारण है और उससे नियत कार्य को ही जन्म मिलता है। अन्यथा 'शालिबीज' और 'यवबीज' इस प्रकार पर्यायाविष्ट द्रव्य को उदाहरणरूप में स्वीकार कर उपादान-उपादेयभाव का आचार्य खुलासा नहीं करते।

अब प्रश्न यह है कि जब विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करता है, तब व्यवहार से उसके अनुकूल बाह्य सामग्री की समग्रता रहती है या नहीं ? प्रमेयकमलमार्तण्ड अध्याय 2 सूत्र 1 पृष्ठ 298 में इस प्रश्न का समाधान इन शब्दों में किया है—

यद्यदाविकलकारणं तत्तदा भवत्येव, यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोंऽकुरः, अविकलकारणं चाशेषं कार्यम्।

जो कार्य अविकल कारणवाला होता है, वह तब होता ही है, जैसे अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्री से अंकुर और अविकल कारणवाले समस्त कार्य होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्रतिसमय में सब द्रव्यों का प्रत्येक उपादान अविकल कारणवाला होकर, उत्तर क्षण में अपने सुनिश्चित कार्य को नियम से जन्म देता है। उक्त उल्लेख में आया हुआ '**अन्त्यलक्षणप्राप्त**' पद ध्यान देने योग्य है, जो सामग्री का विशेषण होकर उपादान के उस लक्षण की पुष्टि करता है, जिसके द्वारा अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहा गया है। अतएव स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका के आधार से यही निर्णय करना चाहिए कि अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को सभी शास्त्रकारों ने जो उपादान कहा है, वह इसी अपेक्षा से ही कहा है कि प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक समय में उपादान की भूमिका में आते रहने पर, उस-उस उपादान से उत्पन्न होनेवाले प्रतिनियत कार्य के अनुकूल बाह्य-सामग्री की समग्रता रहती ही है। वहाँ न तो कारणान्तरों की विकलता होती है और न ही प्रतिबन्धक कारण उपस्थित रहते हैं।

(2) अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका को स्थापित करते हुए अष्टसहस्री, पृष्ठ 105 से लेकर अष्टशती का जो वचन उद्धृत किया है, वह मीमांसकों द्वारा माने गये वर्णात्मक शब्दों की नित्यता और व्यापकता के खण्डन के प्रसंग में आया है। मीमांसा-दर्शन वर्णात्मक शब्दों का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न मानकर भी, ताल्वादि के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति स्वीकार करता है। उस दर्शन का कहना है कि पुरुषव्यापार के पूर्व और बाद में भी शब्दों के अखण्डित स्वभाव होने पर भी उनका सुनना पुरुषव्यापारसापेक्ष होने से वे कभी सुनाई पड़ते हैं और

कभी सुनाई नहीं पड़ते। इस पर चर्चा करते हुए मीमांसकों से यह पूछा गया कि वे शब्द अपने विषय की संवित्ति करने में समर्थ हैं या असमर्थ? यदि समर्थ हैं तो कारणान्तरों की अपेक्षा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और यदि असमर्थ हैं, तो सहकारी इन्द्रिय-मनोभिव्यंजकलक्षण व्यापार उनकी असामर्थ्य का खण्डन करता है या नहीं? इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दि ने इन दो प्रश्नों को उपस्थित कर भट्टाकलंकदेव की अष्टशती का यह वचन दिया है, जिसको अपर पक्ष ने अपने अभिमत की पुष्टि में समझकर प्रकृत में उसे उद्धृत किया है। वह वचन इस प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।

उस (शब्द) की असामर्थ्य का खण्डन नहीं करता हुआ अकिंचित्कर, क्या सहकारी कारण हो सकता है?

यह अष्टशती के उक्त वचन की पृष्ठभूमि है। इसके प्रकाश में जब हम जैनदर्शन की अपेक्षा विचार करते हैं, तो हमें मीमांसादर्शन से जैनदर्शन में अनेक विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

(1) मीमांसादर्शन शब्द को सर्वथा नित्य मानता है, किन्तु जैनदर्शन उसे पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्याय स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन ने प्रत्येक द्रव्य को सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य स्वीकार न करके, कथंचित् नित्यानित्य स्वीकार किया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री, पृष्ठ 226 में लिखा है—

द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात्।

सर्वथा एक स्वभाववाले द्रव्य या पर्याय में क्रम-यौगपद्य नहीं देखा जाता, क्योंकि अनेक पर्यायस्वरूप द्रव्य में ही उसकी उपलब्धि होती है।

अष्टसहस्री के इस उल्लेख से जहाँ इस बात का पता लगता है कि जिस प्रकार मीमांसादर्शन शब्द को सर्वथा नित्य मानता है, उस प्रकार जैनदर्शन ने किसी भी पदार्थ को सर्वथा नित्य स्वीकार नहीं किया है। वहाँ इस बात का भी पता लगता है कि पदार्थ को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य स्वीकार करने पर भी क्रम से और युगपत् अर्थक्रिया का विरोध आता है, नित्यानित्य स्वीकार करने पर नहीं।

(2) मीमांसादर्शन शब्द को सर्वथा सदात्मक मानता है, किन्तु जैनदर्शन किसी पदार्थ

को सर्वथा सत्स्वरूप न मानकर कथंचित् सदसत्स्वरूप स्वीकार करता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भट्टाकलंकदेव अष्टशती (अष्टसहस्री, पृष्ठ 140) में लिखते हैं—

सप्तभंगीविधौ स्याद्वादे विधि-प्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सित एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वमावातिशयोत्पत्तेः, सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानं।

सप्तभंगी विधिरूप स्याद्वाद में विधि-प्रतिषेध उभयरूप वस्तु सदसदात्मक होकर अर्थक्रियाकारी है, क्योंकि सामग्री प्राप्त कथंचित् सत् में ही स्वर्ण में केयूरादि संस्थान के समान स्वभावातिशय (पर्याय) की उत्पत्ति होती है।

(3) मीमांसादर्शन शब्द को सर्वथा नित्य और व्यापक मानकर भी उसकी अभिव्यक्ति ताल्वादि सहकारी सामग्री से स्वीकार करता है। जब कि जैनदर्शन प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति अपने उपादान से ही स्वीकार करता है, क्योंकि जैनदर्शन उपादानकारण से कार्य को सर्वथा भिन्न न मानकर, उपादान-उपादेय की एक सत्ता स्वीकार करता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण आप्तमीमांसा, कारिका 71 और 72 तथा उनकी अष्टसहस्री टीका में विशदरूप से किया है।

इस प्रकार मीमांसादर्शन में स्वीकृत शब्द की क्या व्यवस्था है और जैनदर्शन में स्वीकृत प्रत्येक पदार्थ की क्या व्यवस्था है, इसका यह अतिसंक्षिप्त स्पष्टीकरण है। इसे दृष्टिपथ में लेने पर यह ज्ञात होने में देर नहीं लगती कि भट्टाकलंकदेव ने मीमांसादर्शन में स्वीकृत शब्द की उक्त प्रकार की असामर्थ्य का उद्‌भावन कर और उस असामर्थ्य का सहकारी कारणों द्वारा खण्डन स्वीकार न करने पर मीमांसकों के ऊपर सहकारी कारणों की अकिंचित्करता दोष का आपादन क्यों किया है ? क्या जिस प्रकार मीमांसादर्शन ने शब्दों की सर्वथा नित्यता में बाधा न आते हुए केवल सहकारी कारणों से ध्वनि की अभिव्यक्ति स्वीकार की है, उस प्रकार क्या जैनदर्शन उपादानकारण को सर्वथा नित्य मानता है, जिससे कि उसमें कार्य की असामर्थ्य को स्वीकार करके सहकारी कारणों के व्यापार द्वारा उस (असामर्थ्य) का खण्डन स्वीकार किया जाये। स्पष्ट है कि मीमांसा-दर्शन में स्वीकृत शब्द के स्वरूप को ध्यान में रखकर भट्टाकलंकदेव ने उसके सामने आपत्ति उपस्थित करते हुए उक्त प्रकार के दोष का आपादन किया है, जो जैनदर्शन में स्वीकृत कार्यकारणपरंपरा पर अणुमात्र भी लागू नहीं होता, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक उपादान ऐसी सामर्थ्यवाला स्वीकार किया गया है, जिसे वह उत्पन्न करता है और साथ ही जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य को ध्रुवस्वभाव मानकर भी परिणमनशील स्वीकार करता है, अतएव इस दर्शन के अनुसार उपादान में जब कि कार्य की

असामर्थ्य नहीं स्वीकार की गई है, ऐसी अवस्था में सहकारी कारणों द्वारा उस (असामर्थ्य) के खण्डन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अत: भट्टाकलंकदेव के द्वारा अष्टशती में कहे गये उक्त वचन को ध्यान में रखकर अपर पक्ष द्वारा यह फलित किया जाना उचित नहीं है कि—

'इस विवेचन से यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं। इस मान्यता के आधार पर आप जो निमित्तों को अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं, वह असंगत है।'

किन्तु इसके स्थान में अपर पक्ष को पूर्वोक्त प्रमाणों को ध्यान में रखकर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'स्वयं प्रत्येक उपादान विवक्षित शक्तिसम्पन्न और परिणामस्वभावी होने के कारण, अपने बल से अपने-अपने काल में व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को निमित्तकर विवक्षित कार्य को जन्म देता है।'

इसी प्रकार अपर पक्ष ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 219 और उसकी संस्कृत टीका को प्रमाणरूप में उपस्थित कर अपने प्रतिशंकारूप वक्तव्य के बल पर जो यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है कि 'प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतासम्पन्न होता है, अत: कालादि बाह्य सामग्री जब जैसी मिलती है, उसके आधार से उनमें से कोई एक योग्यता कार्यरूप से परिणमन करती है।' सो अपर पक्ष का ऐसा कथन करना भी आगमसम्मत्त नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पूर्व में अष्टसहस्री, पृष्ठ 150 का उल्लेख उपस्थित कर आये हैं, उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जैसा कार्य होता है, उसरूप परिणमनशक्ति लक्षणवाली प्रतिविशिष्ट अन्त:सामग्री ही व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को निमित्तकर कार्यरूप से परिणमन करती है। आचार्य विद्यानन्दि ने इस वचन में यह बात स्पष्टरूप से स्वीकार की है कि प्रत्येक उपादान प्रतिविशिष्ट अन्त:सामग्री सम्पन्न होता है और साथ ही उसरूप परिणमन स्वभाववाला भी होता है, इसीलिए ही वह अपने-अपने कार्य काल में अपने-अपने कार्य को जन्म देता है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के समग्र कथन पर ध्यान नहीं दिया है। तभी वह पक्ष प्रत्येक उपादान को कार्यकारणरूप अनेक शक्तिसम्पन्न मानकर, उससे बाह्य सामग्री के बल पर किसी एक कार्य की उत्पत्ति मानने का साहस कर रहा है। किन्तु आगम का यह अभिप्राय नहीं है। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 151 के उसी वचन से हो जाती है, जिसका उल्लेख अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका में किया है। उसमें कहा है—

क्रमभुवो: पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

क्रम से होनेवाली दो पर्यायों (पूर्वोत्तर पर्यायों) में एक द्रव्य की प्रत्यासत्ति होने से (अर्थात् एक द्रव्य का अन्वय होने से) उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है।

इसमें अनन्तरपूर्व और अनन्तर उत्तर दो पर्यायों में एक द्रव्य का अन्वय होने से उपादान-उपादेयभाव स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादान उसी की संज्ञा है, जिस रूप कार्य होता है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष को उक्त उल्लेख में '**द्रव्यप्रत्यासत्तेः**' पद को देखकर यह भ्रम हो गया है कि द्रव्यप्रत्यासत्ति का नाम उपादान है और इस भ्रम के कारण ही उसने यह कल्पना कर ली है कि 'उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्री के अनुसार ही उसमें कार्य होता है।' हमें आशा है कि वह अपनी इस मान्यता को बदलकर आगम के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार कर लेगा कि 'जैसा कार्य होता है, आगम में वैसी ही योग्यतावाला ही उपादान स्वीकार किया गया है।' तभी तो आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड अध्याय दो सूत्र 7, पृष्ठ 237 में वचन कहा है—

तत्रापि हि कारणं कार्येऽनुपक्रिमयाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

कार्य, कारण का तो उपकार करता नहीं, फिर भी वह जैसा प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है, वैसे सब कार्यों को क्यों उत्पन्न नहीं करता - ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

यह आगम वचन है। यह अन्य के कार्य में व्यवहार से निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्री तथा उपादानकारण दोनों पर लागू होता है। जैसे—अपर पक्ष उपादानकारण को अनेक योग्यतावाला मानता है, वैसे ही उसे व्यवहार से निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्री को भी अनेक योग्यतावाला स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में उसके सामने 'नियत योग्यतासम्पन्न उपादान कार्य को जन्म देता है और व्यवहार से तदनुकूल योग्यतासम्पन्न बाह्य-सामग्री उसमें निमित्त होती है।' इसे स्वीकार किये बिना चारा नहीं रहता। अपर पक्ष ने चालू प्रतिशंका में कालप्रत्यासत्ति के रूप में बाह्य-सामग्री की कारणता स्वीकार की है, सो वह कालप्रत्यासत्ति क्या वस्तु है, इसकी ओर यदि उसका ध्यान जाये, तो उसके सामने इसे स्वीकार किये बिना अन्य गति नहीं होगी कि प्रत्येक उपादान का जो अपने कार्य का काल है, उस काल में वह सामग्री जो उसमें निमित्त व्यवहार को प्राप्त हाती है, नियम से

उपस्थित रहती है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार गाथा 113 की टीका में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह वचन कहा है—

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव।

पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं।

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए पंचास्तिकाय, गाथा 21 की टीका में वे कहते हैं—

यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति, सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति।

किन्तु जब द्रव्य की गौणता और पर्याय की मुख्यता से जीव विवक्षित होता है, तब वह उपजात है और विनशता है, जिसका स्वकाल बीत गया है, ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूह को नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है, ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूह को उत्पन्न करता है।

पंचास्तिकाय का यह वचन केवल जीवद्रव्य की कुछ पर्यायों के लिए नहीं आया है। किन्तु यावद् द्रव्यभावी सभी पर्यायों के लिए आया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एक जीवद्रव्य ही नहीं, किन्तु सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों का उत्पाद अपने-अपने काल में ही होता है। आगम में सर्वत्र कार्यमात्र के प्रति जो काललब्धि का विशेषरूप से उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, सो उसका कारण यही है। इसके लिए देखो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 188, 219 और 244 तथा अन्य आगम साहित्य। सब कार्य स्वकाल में होते हैं, इसका क्या तात्पर्य है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 90 में लिखते हैं—

न हि स्वाभाविकं निःश्रेयसम्, तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थकत्वापत्तेः। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिः तस्य युक्ता, तत एव। केचित् संख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसंख्यातेन, केचिदनन्तेन। केचिदनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीत्यागमान्नि-श्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत्? न, आगमस्यैवंपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यन्तीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्। दर्शनमोहोपशमादिजन्यत्वाच्च न दर्शनं स्वकालेनैव जन्यते यतः स्वाभाविकं स्यात्।

नि:श्रेयस स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में इसके उपायभूत तत्त्वज्ञानादि के अनर्थकपने का प्रसंग आता है। स्वकाल में स्वयं उत्पत्ति भी उसकी योग्य नहीं है, उसी कारण से।

शंका—कोई भव्य जीव संख्यात काल द्वारा, कोई असंख्यात काल द्वारा और कोई अनन्त काल द्वारा मोक्ष जायेंगे। किन्तु कोई जीव अनन्तानन्त काल द्वारा भी मोक्ष नहीं जायेंगे, ऐसा आगम होने से विदित होता है कि नि:श्रेयस की स्वकाल में स्वयं उत्पत्ति होती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि आगम का यह आशय नहीं है। कारण कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्वरूपलब्धि होने पर संख्यातादि काल के द्वारा मोक्ष जायेंगे, इस अर्थ में वह आगम निश्चित है। दर्शनमोह के उपशमादिजन्य होने से सम्यग्दर्शन मात्र स्वकालजन्य नहीं है, जिससे कि वह स्वाभाविक होवे।

यह आगमवचन है। तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 3 में भी इसी रूप में उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है। सो इन सब प्रमाणों से यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में होकर भी कारणसामग्री से जायमान होता है। इसलिए सभी कार्यों की प्रतिनियत काल में प्रतिनियत सामग्री से उत्पत्ति मानना ही योग्य है। स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 219 में पठित '**णाणासत्तीहिं संजुदा**' पद का अर्थ जो अनेक योग्यताओंवाला एक उपादान किया है, वह ठीक नहीं है। उस गाथा में '**अत्था**' पद बहुवचन है और 'वे सब नानाशक्तिवाले होते हैं।' इतना ही कहा गया है। उसमें उपादान की तो कहीं चर्चा भी नहीं की गई है। संस्कृत टीकाकार ने भी इसकी चर्चा नहीं की है। उसमें तो सामान्यरूप से इतना ही कहा गया है कि 'कालादिलब्धि से युक्त और नाना शक्तियों से संयुक्त पदार्थ स्वयं परिणमन करते हुए किसी के द्वारा रोके नहीं जा सकते।' फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष ने 'उपादान अनेक शक्तिवाला होता है' यह अर्थ उसमें से कैसे फलित कर लिया। इसका हमें ही क्या, सभी को आश्चर्य होगा। अतएव प्रकृत में ऐसा ही समझना चाहिए कि प्रत्येक समय में प्रत्येक उपादान अपने प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहार हेतु होती है। स्वामी कार्तिकेय की उक्त गाथा का एकमात्र यही तात्पर्य है, दूसरा नहीं। उक्त गाथा की संस्कृत टीका में भव्यत्वशक्ति से युक्त जीव ही रत्नत्रय को प्राप्त करते हैं या ओदनशक्ति से युक्त चावल ही ओदन बनता है, इत्यादि कथन भी इसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए किया गया है कि जिस काल में जिस प्रकार का कार्य

होता है, उसका उपादानकारण उस प्रकार की शक्ति से युक्त होकर उस काल में उस प्रकार के कार्य को करता है। बाह्य सामग्री के बल से कार्य होता है, इस प्रकार का कथन तो मूल गाथा में किया ही नहीं है, संस्कृत टीका में भी इस आशय का वचन उपलब्ध नहीं होता।

25. अनन्तर पूर्वोत्तर दो पर्यायों में ही हेतु-फलभाव होता है

अपर पक्ष ने अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को उपादानकारण स्वीकार करके भी अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए कि 'यदि विवक्षित कार्य की प्रतिबन्धक सामग्री हो या कारणान्तरों की विकलता हो, तो उससे विवक्षित कार्य न होकर अन्य वह कार्य होगा, जिसके कारणों की वहाँ समग्रता रहेगी' यह लिखकर प्रत्येक उपादान को अनेक शक्तिवाला स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार अनन्तर पूर्व पर्याय में उपादानता का निषेध कर मात्र द्रव्यप्रत्यासत्ति में उपादानकारणता स्वीकार कर ली है। किन्तु प्रत्येक कार्य में द्रव्य-प्रत्यासत्ति है, इसका निर्णय कैसे हो ? इसके लिए उसने बाह्य सामग्री की काल प्रत्यासत्ति को स्वीकार कर लिया है। बाह्य सामग्री के साथ कार्य की कालप्रत्यासत्ति है, इसका निर्णय कैसे हो ? इसके लिए 'जिसके बाद जो कार्य होता है, वह उसका कारण है, इसे कालप्रत्यासत्ति का नियामक मान लिया है। इस प्रकार अपर पक्ष के पूरे कथन पर दृष्टिपात करने से विदित तो यही होता है कि द्रव्य में अपने सब कार्यों को करने की शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं, किन्तु जब जैसी कार्य के अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती है, तब वह कार्य होता है। अपर पक्ष ने अपनी प्रकृत प्रतिशंका में अपने अभिप्राय की पुष्टि में जो पाँच तर्कणाऐं प्रस्तुत की हैं, उनका भी यही अभिप्राय है। प्रत्येक द्रव्य में अतीत, वर्तमान और भविष्यरूप जितने भी कार्य हुए, होते हैं और होंगे, वे सब शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं, इस तथ्य को तो अपर पक्ष अस्वीकार कर नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायों का समुच्चय है, इसे आगम ही स्वीकार करता है। आप्तमीमांसा में कहा भी है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा॥ 107॥

नय और उपनयों के विषयभूत त्रैकालिक पर्यायों के अपृथक् भावलक्षण सम्बन्धरूप समुदाय का नाम द्रव्य है, जो एक और अनेक प्रकार का है॥ 107॥

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य में त्रैकालिक पर्यायें शक्तिरूप में सदा विद्यमान रहती

हैं। अतएव जबकि अपर पक्ष, कार्य के अनन्तर पूर्व पर्याय को उपादानकारणरूप से स्वीकार नहीं करता, ऐसी अवस्था में सूक्ष्मरूप से प्रत्येक द्रव्य अनन्तर पूर्व पर्याय की अवस्था में आने पर ही उपादानकारण होता है, ऐसा लिखना तो उसका बहानामात्र है। फिर तो उसे यही स्वीकार करना चाहिए कि वास्तव में द्रव्य सदा उपादानकारण है। किन्तु जब जिस कार्य के अनुकूल बाह्य सामग्री अविकलरूप से मिलती है, तब उसके अनुरूप कार्य होता है। चाहे विवक्षित कार्य हो या अविवक्षित कार्य ही क्यों न हो, होगा वह बाह्य सामग्री के आधार पर ही। इस प्रकार अपर पक्ष के पूरे कथन का आलोडन करने पर एकमात्र यही तथ्य फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्य का जो भी कार्य होता है, वह बाह्य सामग्री के द्वारा ही होता है। प्रत्येक द्रव्य में अपने सब कार्यों की योग्यता है, इतना ही मात्र उपादानकारण का अर्थ है।

किन्तु यह सब कथन कैसे असंगत है, आगे इस बात का विचार करते हैं—

(1) प्रकृत विषय को समझने के लिए सर्व प्रथम तो यह देखना है कि केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति में ही उपादानकारणता है या उसके साथ पर्यायप्रत्यासत्ति का होना आवश्यक है। अनन्तर पूर्वोत्तर पर्यायों में ही हेतु-फलभाव देखा जाता है, व्यवहित पूर्वोत्तर पर्यायों में नहीं, इस तथ्य का निर्देश करते हुए श्री लघु अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला अध्याय 3 सूत्र 57 में लिखते हैं—

अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतु-फलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्।

इस उल्लेख में अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायों में उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृष्ठ 101 में लिखते हैं—

तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः।

वहाँ ऋजुसूत्रनय की मुख्यता से तो उपादेयरूप पर्याय ही उपादान का प्रध्वंस है।

इस प्रकार इस कथन से भी यही प्रमाणित होता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याय उपादान है और अव्यवहित उत्तर पर्याय उपादेय है।

यह हम मानते हैं कि आगम में द्रव्यप्रत्यासत्ति का भी उपादानकारणरूप से निर्देश किया गया है, सो उसका तात्पर्य यह है कि ये अव्यवहित पूर्वोत्तर पर्याय एक ही द्रव्य की होनी चाहिए, तभी उनमें उपादान-उपादेयभाव बन सकता है। इस प्रकार आगम के बल से यह सिद्ध हुआ कि असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और अव्यवहित पूर्व पर्यायप्रत्यासत्ति, ये दोनों

मिलकर ही उपादानकारण कहलाते हैं। अतएव अपर पक्ष ने जो केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति को उपादानकारण स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है।

(2) अपर पक्ष ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 151 के—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्।

सम्भवतः इस वचन को देखकर यह मत बनाया है कि सहकारी सामग्री ही कार्य की नियामक होती है। किन्तु जब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता प्रत्येक कार्य में होती है। ऐसी अवस्था में केवल व्यवहार हेतु के बल पर कार्य का उसे नियामक मानना उचित नहीं है। वस्तुतः कार्य का नियामक उपादानकारण ही होता है, क्योंकि उसका परिणाम ही उपादेय है। इस बात को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री, पृष्ठ 101 में लिखा है—

यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्? तर्हि प्रागभावे कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेरुपादानोपादेयभावोऽस्तु।

जिसके होने पर ही जिसका आत्मलाभ होता है, वह उपादान है और दूसरा उपादेय है, यदि इसे स्वीकार करते हो तो पूर्व क्षणवर्ती कारणस्वरूप प्रागभाव के होने पर कार्यस्वरूप प्रध्वंस का स्वरूप लाभ बनता है, इसलिए उनमें उपादान-उपादेयभाव रहे।

आगम में यह उपादान-उपादेयभाव की व्यवस्था है, निमित्त-नैमित्तिकभाव की व्यवस्था उससे जुड़ी हुई है, क्योंकि जो उपादेय है, वही बाह्य सामग्री की अपेक्षा नैमित्तिक व्यवहारपदवी को प्राप्त है और जो बाह्य सामग्री है, वही उपादान की अपेक्षा बाह्य व्याप्तिवश निमित्त संज्ञा को प्राप्त होती है। **जहाँ प्रतिबंधक सामग्री या कारणान्तरों की विकलता अपर पक्ष ने स्वीकार की है, वहाँ वह विवक्षित कार्य की अपेक्षा ही उसे स्वीकार कर रहा है। उस समय वहाँ होनेवाले कार्य की अपेक्षा नहीं। सो विवक्षा तो मन में होती है। विवक्षा के अनुसार कोई कार्य होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्य तो अपने उपादान के अनुसार, उसकी नियत बाह्य सामग्री को निमित्तकर वस्तु में होता है।** अतएव विवक्षित कार्य की अपेक्षा यदि वहाँ पर प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरों की विकलता या दोनों है, तो इससे क्या? क्या इससे कार्य-कारणपरम्परा के अनुसार उस समय होनेवाले कार्य के ऊपर किसी प्रकार की आँच आना सम्भव है अर्थात् त्रिकाल में आना संभव नहीं है। जिसे अपर पक्ष विवक्षित कार्य की अपेक्षा प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरों की विकलता दिखा रहा

है, बहुत संभव है कि उस समय होनेवाले कार्य की अपेक्षा, वह उसकी व्यवहारनय से सहायक बाह्य सामग्री हो।

आगम में उपादानकारण का तीन प्रकार से विचार किया है—पर्यायविशेष की अपेक्षा, द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षा और अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य की अपेक्षा। पर्याय की अपेक्षा विचार करते हुए कार्य की अव्यवहित पूर्व पर्याय को उपादान कहा है, द्रव्य की अपेक्षा विचार करते हुए मृदादि द्रव्य को उपादान कहा है और द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु की अपेक्षा विचार करते हुए कार्य के अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहा है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला न होकर, नियत पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही होता है। अतएव उससे तदनन्तर समय में प्रतिनियत कार्य को ही जन्म मिलता है और जब वह प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति के सन्मुख होता है, तो प्रतिनियत पर्याययुक्त बाह्य सामग्री ही उसमें निमित्त होती है, इसलिए अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका में क, ख आदि विभाग द्वारा जिन पाँच निष्कर्षों का निर्देश किया है, उन्हें कल्पनामात्र ही जानना चाहिए, **क्योंकि कार्य की उत्पत्ति विवक्षा में नहीं हुआ करती, उसकी उत्पत्ति तो वस्तु में होती है।** अतः प्रतिनियत कार्य के प्रतिनियत उपादान को गौणकर और विवक्षा में आये हुए कार्य को मुख्यकर कुछ भी तर्कणाऐं क्यों न की जाऐं, उनसे क्या ? वे सब तर्कणाऐं प्रतिनियत उपादान की कसौटी पर कसने पर, सब व्यर्थ ठहर जाती हैं।

जैसा कि अपर पक्ष ने क, ख आदि विभागों द्वारा अपने पक्ष को उपस्थित करते हुए हमारे मत के रूप में यह संकेत किया है कि 'हम स्वकाल को उपादानकारण मानते हैं' सो अपर पक्ष का ऐसा लिखना कल्पनामात्र है, क्योंकि हमने स्वकाल को कहीं भी क्षणिक उपादान नहीं लिखा है। हाँ, यदि स्वकाल का अर्थ उस-उस द्रव्य की पर्याय लिया जाता है, तो उसे उपादानरूप से स्वीकार करने में कोई आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि त्रजुसूत्रनय की अपेक्षा अनन्तर पूर्व पर्याय को ही उपादान कहा है। प्रमाणदृष्टि से अवश्य ही अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान ठहरेगा। ये उपादान के निश्चय-परमार्थभूत लक्षण हैं। व्यवहारनय से अवश्य ही निश्चय उपादान से पूर्व, वही द्रव्य व्यवहार उपादान कहलाता है और ऐसे उपादान को विवक्षितकर यदि अपर पक्ष क, ख आदि विभाग द्वारा निष्कर्षरूप में अपनी तर्कणाऐं प्रस्तुत करता है, तो उनसे हमें कुछ भी लेना-देना नहीं है, क्योंकि आचार्यों ने भी व्यवहार उपादान की अपेक्षा कार्य के अनियम का विधान अनेक स्थलों पर किया है। किन्तु

परमार्थभूत उपादान पर ये तर्कणाऐं लागू नहीं होतीं। वहाँ तो एकमात्र यही कहा जाएगा कि प्रतिनियत जिस कार्य का वह उपादान है, अपने स्वकाल में वह उसी को जन्म देगा। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 68 का—

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः

आदि आगम वचन और पृष्ठ 71 का—

द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो

इत्यादि आगम वचन पढ़ लीजिए। उससे सब स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

इन उल्लेखों से साफ जाहिर होता है कि व्यवहार से उपादान संज्ञा को प्राप्त वस्तु के रहने पर बाह्य-सामग्री की अनुकूलता और प्रतिकूलता की अपेक्षा चाहे जितनी तर्कणाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। न्याय के ग्रन्थों में उपादानकारणगत सामर्थ्य की प्रतिबंधक सामग्री और कारणान्तरों की विकलता का निर्देश इसी आधार पर किया गया है, निश्चय उपादान को ध्यान में रखकर नहीं। यह परीक्षामुख अध्याय 3 सूत्र 60 की टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड से स्पष्ट ज्ञात होता है। यदि अपर पक्ष निश्चय उपादान को व्यवहार उपादान की पंक्ति से पृथक् रखकर, व्यवहार उपादान की अपेक्षा अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत करता, तो हम भी '**ओम्**' लिखकर व्यवहारनय से उसे स्वीकार कर लेते। किन्तु उसकी ओर से तो निश्चय उपादान को ही असमर्थ उपादान बनाने का अश्लाघ्य प्रयत्न किया जा रहा है, जो अवश्य ही चिन्ता का विषय है। इस प्रसंग में अपने पूर्वोक्त समग्र कथन की पुनरावृत्ति करते हुए अपर पक्ष ने जो हमें उपदेश देने का प्रयत्न किया है, सो इस सम्बन्ध में हम उससे इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त समझते हैं कि उस पक्ष का पुरुषार्थ के नाम पर अपने उपादान को भूलकर बाह्य-सामग्री की कार्य-कारिता के समर्थन में इतना अधिक उलझ जाना उचित नहीं है। कारण कि उसके इस आचरण के फलस्वरूप स्वावलंबन के मूर्तरूप सच्चे मोक्षमार्ग की गति के रुद्ध हो जाने की अधिक सम्भावना है। — देखो, प्रवचनसार गाथा 16 की सूरिकृत टीका का अन्तिम भाग।

इस प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 222 वीं गाथा की संस्कृत टीका का तथा अष्टसहस्री पृष्ठ 105 के '**तदसामर्थ्य**' — इत्यादि वचन का और इनके उल्लेख के साथ प्रस्तुत प्रतिशंका में उपस्थित की गई अन्य सामग्री का सप्रमाण विचार किया।

26. आगमिक अन्य दो प्रमाणों का यथार्थ तात्पर्य

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, पृष्ठ 77 के अपने पक्ष का समर्थन करनेवाले जानकर दो प्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण है—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीतेः।

प्रतिबन्धरहित कारण ही अपने कार्य का जनक प्रतीत होता है।

सो प्रकृत में देखना यह है कि आचार्य विद्यानन्दि ने यह कथन निश्चय उपादान को लक्ष्य में रखकर किया है या व्यवहार उपादान को लक्ष्य में रखकर किया है। आगे इसी बात का विचार करते हैं—

कोई जिज्ञासु शंका करता है कि जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है, तो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने निष्कर्षरूप में उक्त वचन कहा है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें तक किसी एक गुणस्थान में उत्पन्न होता है और केवलज्ञान की उत्पत्ति तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है। इससे स्पष्ट है कि जब यह जीव 12 वें गुणस्थान के अन्तिम समय को प्राप्त होता है, तभी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति की अपेक्षा निश्चय उपादानकारण बनता है, उसके पूर्व नहीं। अतः इसके पूर्व यदि 'क्षायिक सम्यग्दर्शन, प्रतिबन्धक कारणों के कारण केवलज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ है।' यह उत्तर दिया जाता है, तो वह युक्तियुक्त है। यहाँ पर आचार्य महाराज ने प्रतिबन्धक कारणों से केवलज्ञानावरणादि बाह्य-सामग्री को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु उसके साथ उस आत्मा को भी ग्रहण किया है, जो स्वयं बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय को प्राप्त होने के पूर्व केवलज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ है। 'प्रतिबन्धक कारण' यह सामान्य निर्देश है। अतः जहाँ इससे केवलज्ञान कार्य के असमर्थ उपादान का ग्रहण होता है, वहाँ ऐसी बाह्य-सामग्री का भी ग्रहण होता है, जिसकी बाह्य-व्याप्ति केवलज्ञान की उत्पत्ति के साथ न होकर, उसके पूर्ववर्ती क्षायोपशमिक ज्ञानादिरूप अन्य कार्यों के साथ है। अतः इस उल्लेख द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि निश्चय उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर यदि उसकी प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जाये, तो जिसका वह समर्थ उपादानकारण है, वह कार्य न होकर अन्य कार्य होता है। स्पष्ट है कि यह उल्लेख तो अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि में सहायक नहीं हो सकता।

दूसरा उल्लेख है—

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते।

अपनी सामग्री के बिना कभी भी कोई कार्य नहीं देखा जाता।

यह इस उल्लेख का अर्थ है, सो इसे तो कोई भी तत्त्वज्ञ स्वीकार करेगा, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में कार्य होता है, यह एकान्त नियम है। किन्तु प्रकृत में विचार तो यह चल रहा है कि प्रत्येक कार्य की निश्चय-व्यवहार से उत्पादक आभ्यन्तर और बाह्य सामग्री की समग्रता कब होती है ? इसी के साथ उत्तरस्वरूप हमने आगमप्रमाण के बल पर यह सिद्ध कर दिखाया है कि निश्चय उपादान के कार्य के सन्मुख होने पर उसकी उत्पत्ति में बाह्य सामग्री की समग्रता रहती ही है। इसी बात को ध्यान में रखकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 70 में यह वचन कहा है।

विवक्षितस्वकार्यकारणेऽन्त्यलक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं। तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य। ततोऽप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। न च 'यथाख्या' पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्येवं बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। आदि।

विवक्षित अपने कार्य के करने में अन्त समय की प्राप्तपने का नाम ही सम्पूर्ण है। किन्तु वह सम्पूर्णतया केवलज्ञान के पूर्व चारित्र में नहीं है। उसके बाद भी अघातिकर्मों को प्रध्वंस करनेरूप से सम्पूर्ण चरित्र का उदय होता है। और इससे 'यथाख्यात पूर्ण चारित्र है' इस प्रवचन में कोई बाधा भी नहीं आती, क्योंकि उसे क्षायिकपने की अपेक्षा वहाँ पर पूर्ण कहा है। आदि।

इससे स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने जो '**स्वसामग्र्या विना**' इत्यादि दूसरा उल्लेख अपने पक्ष का समर्थक जानकर प्रकृत में उपस्थित किया है, सो उससे भी अपर पक्ष का समर्थन होकर हमारे पक्ष का ही समर्थन होता है। आशा है अपर पक्ष इस दूसरे उल्लेख को भी अपने आगमविरुद्ध अनिश्चित विचारों की पुष्टि में न समझकर, उससे इष्टार्थ को समझने की ही चेष्टा करेगा।

27. टीकांश का पुनः खुलासा

हम पहले स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 230 में आये हुए '**णियमा**' पद का क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण कर ही आये हैं। इसी प्रकार गाथा 222 की टीका में '**मणिमन्त्रादिना**'

इत्यादि वाक्यांश का भी खुलासा कर आये हैं। परन्तु इन दोनों की चर्चा अपर पक्ष ने पुनः की है। सो प्रकृत में इतना ही स्पष्टीकरण पर्याप्त है कि गाथा 230 में '**णियमा**' पद भी निश्चय उपादान और उसके कार्य का नियम करने के लिए आया है। तथा टीका का उक्त वाक्यांश भी नियम करने के लिए आया है। वह नियम इस प्रकार है कि तीनों काल के समयप्रमाण जितने भी निश्चय उपादान हैं, वे सब अपने-अपने समय में अपने-अपने कार्य के लिए व्यापारवान् होने पर मणि-मन्त्रादिक से अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले होते हैं और उनसे जायमान प्रत्येक कार्य में कारणान्तरों की अविकलता भी रहती है। आशय यह है कि अन्त्यक्षण प्राप्त बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री सम्पूर्ण ही होती है, न्यूनाधिक नहीं। और इस प्रकार उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य में कोई बाधा नहीं आती।

यह ठीक है कि टीका के इस वाक्यांश द्वारा सामान्तया बाह्य सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। पर इस द्वारा यही तो बतलाया गया है कि जब उपादान अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य होता है, तब कार्य की बाह्य सामग्री भी परिपूर्ण होती है। ऐसी बाह्य सामग्री नहीं होती, जिसे व्यवहारनय से निश्चय उपादान की सामर्थ्य को रोनकेवाला माना जा सके या निश्चय उपादान से जायमान कार्य में बाह्य सामग्री की विकलता की कल्पना भी की जा सके। अन्यथा '**मणिमन्त्रादिना**' पद के पूर्व '**यदि**' पद अवश्य दिया गया होता। स्पष्ट है कि गाथा 230 में आया हुआ '**णियमा**' पद और उक्त टीकांश भी अपर पक्ष के अभिमत का अणुमात्र भी समर्थन नहीं करता।

28. अन्य दो प्रमाण तथा उनका खुलासा

आगे अपर पक्ष ने हमारे द्वारा पिछले उत्तरों में दिये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 101 और पृष्ठ 71 के दो प्रमाण उपस्थित कर यह तो स्वीकार कर लिया है कि वे समर्थ उपादान का ज्ञान कराने के लिए आये हैं। किन्तु वह साथ में निश्चय उपादान के समर्थ उपादान और असमर्थ उपादान, ऐसे दो भेद करके अपनी कल्पित मान्यता को दुहराने के प्रयत्न में ही लगा हुआ है। उक्त दोनों प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण द्वारा तो स्पष्ट शब्दों में निश्चय उपादान का जो लक्षण आगम में सर्वत्र आता है, न केवल उसका समर्थन किया गया है, अपितु उसमें मात्र ऐसी योग्यता मानी गई है, जो एक मात्र मोक्षरूप कार्य की ही उत्पादक है और साथ ही इसे निश्चय उपादान कहा गया है। समर्थ उपादान के स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाला इससे और अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का दूसरा प्रमाण भी उसी तथ्य की पुष्टि करता है। इसमें अयोगकेवली के अन्तिम समय स्थित रत्नत्रयविशिष्ट आत्मा प्रथम समय में होनेवाली सिद्ध पर्याय को ही क्यों उत्पन्न करता है, द्वितीयादि समय में होनेवाली सिद्ध पर्याय को क्यों नही उत्पन्न कर सकता, इसे अग्नि और धूम का उदाहरण देकर सुस्पष्ट शब्दों में समझाया गया है। इस उदाहरण में भी यही बतलाया गया है कि अग्नि प्रथम धूमक्षण को ही उत्पन्न करती है; द्वितीयादि धूमक्षण को नहीं, अतएव वह उसका समर्थ उपादानकारण है और साथ ही यह भी सूचना की है कि यदि उपादान को अपने कार्य को उत्पन्न करनेवाला नहीं स्वीकार किया जाता है, तो बेचारी कार्य-कारणता की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अन्त्यक्षण प्राप्त प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में समर्थ उपादान ही होता है और वह अनेक योग्यताओंवाला न होकर एकमात्र ऐसी योग्यतावाला होता है, जिससे उसी कार्य को जन्म मिलता है, जिस प्रकार की योग्यता उस उपादान में होती है।

इस प्रकार इन दोनों उद्धरणों से एकमात्र यही सिद्ध होता है कि सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती है। आगम में उपादानकारण का जो लक्षण दिया है, उसे सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। वह लक्षण कहीं पर समर्थ उपादानकारण को सूचित करता है और कहीं पर असमर्थ उपादानकारण को भी सूचित करता है, आगम में इस आशय का निर्देश कहीं पर अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है और न ही अपर पक्ष की ओर से ऐसा एक भी पुष्ट आगम प्रमाण उपस्थित किया गया है, जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि इसे समर्थ उपादानकारण का लक्षण नहीं समझना चाहिए। शास्त्रीय चर्चा शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर ही सफल हो सकती है। हम तो आशा करते थे कि अपर पक्ष अपने अभिमत की पुष्टि में कोई प्रबल शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करेगा। किन्तु उसकी ओर से अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सका, इसका हमें आश्चर्य है। अतएव उक्त दोनों प्रमाणों को हमारे आशय की पुष्टि में समर्थ प्रमाण ही समझना चाहिए। स्वामी कार्तिकेय की एक-एक गाथा इस आशय की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करती है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का भी यही अभिप्राय है और यदि अष्टसहस्री को दृष्टिपथ में लिया जाये, तो उसमें भी कार्य-कारणभाव की व्यवस्था उपादान के उक्त लक्षण के आधार पर ही की गई है।

29. अन्य दो उल्लेखों का स्पष्टीकरण

आगे अपर पक्ष ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 79 का एक उद्धरण उपस्थित किया है।

उस उद्धरण में बतलाया तो यही गया है कि जब तक कोई भी द्रव्य किसी भी कार्य की अनन्तर पूर्व पर्याय की भूमिका में नहीं आ जाता, तब तक वह उस कार्य का समर्थ उपादान -कारण नहीं हो सकता। यद्यपि इस उल्लेख में कालादि सहकारी साधनों की भी चर्चा की गई है और यह बतलाया गया है कि यथाख्यातचारित्र सहकारी विशेष अपेक्षित होकर ही मुक्ति को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, सो प्रकृत में यही विचार करना है कि क्षायिकचारित्र केवलज्ञान के पूर्व मुक्ति की उत्पत्ति के लिए समर्थ उपादान है या इसके समर्थ उपादान होने में स्वयं की कुछ कमी है ? दूसरा यह विचार करना है कि वह कालादि सामग्री क्या वस्तु है, जिसके बिना केवल मोहक्षय मुक्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ है ? ये दो प्रश्न हैं, जिनका यहाँ क्रम से विचार करना है—

(1) उपादान-उपादेय का विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 68 में लिखते हैं —

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनं। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः, पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्। तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचरितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचरितेन रूपेणोत्पादात्। अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचरितरूप-तयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत्। तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्र-स्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्त्ववत्। तत्र नश्यतोरेव दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति, चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात्। अन्यथा पूर्ववच्चारित्रा-सहचरितरूपत्वप्रसंगात्। इति कथंचित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्देनेनोपादेयस्य भवनं। न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य सम्भवो विरुद्ध्यते, चारित्रकाले दर्शनज्ञानयोः सर्वथा विनाशाभावात्। एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसम्भवोऽपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्तं वेदितव्यम्, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्थ सर्वथा विनाशानुपपत्तेः, कार्यकालमप्राप्नवतः कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्, ततः कार्योत्पत्तेरयोगाद्गत्य-रासम्भवात्।

निश्चय से दर्शनपरिणाम परिणत आत्मा दर्शन है। वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञानपरिणाम की उत्पत्ति होती है। निरन्वय पर्यायमात्र और जीवादि द्रव्यमात्र को सर्वथा उपादान होने का अयोग है, कूर्मादिरोम के समान। वहाँ दर्शनपरिणाम के नाश होने पर

ही आत्मा विशिष्ट ज्ञानरूप से परिणमता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान से असहचरितरूप से दर्शन का नाश होता है तथा उससे सहचरितरूप से उसका उत्पाद होता है, अन्यथा पहले के समान विशिष्ट ज्ञान सहचरितरूप से उसकी उत्पत्ति का विरोध है। तथा दर्शन-ज्ञान से परिणत जीव ज्ञान-दर्शन हैं। वे चारित्र के उपादान हैं, क्योंकि पर्यायविशेषस्वरूप द्रव्य में उपादानत्व की प्रतीति है, घटपरिणमन में समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्य के घटोपादान के समान। वहाँ दर्शन-ज्ञान परिणाम के नाश होने पर ही आत्मा चारित्र परिणाम को प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ चारित्र असहचरितरूप से उनका विनाश होता है और चारित्र सहचरितरूप से उनका उत्पाद होता है। अन्यथा पहले के समान चारित्र असहचरितरूपता का प्रसंग आता है। **इस प्रकार कथंचित्पूर्वरूप का विनाश उत्तर परिणाम की उत्पत्ति से अभिन्न होने के कारण उपादान के उपमर्दन से उपादेय उत्पन्न होता है,** यह सत्य है और इस प्रकार एक साथ दर्शनादित्रय की उत्पत्ति विरोध को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि चारित्र के काल में दर्शन-ज्ञान के सर्वथा विनाश का अभाव है। इससे एक साथ दर्शन-ज्ञान की उत्पत्ति भी कहीं पर विरोध को प्राप्त नहीं होती, यह कहा गया जान लेना चाहिए, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है कार्य जिसका, ऐसे दर्शन का विनाश नहीं बन सकता। **जो कार्यकाल को नहीं प्राप्त होता, उसमें कारणत्व का विरोध है,** अत्यन्त पहले नष्ट हुए के समान, क्योंकि उससे कार्य की उत्पत्ति का अयोग है, अन्य कोई गति नहीं।

उपादान-उपादेय भाव के ऊपर सर्वांगरूप से विशेष प्रकाश डालनेवाला यह उल्लेख है। इससे विदित होता है कि — (1) केवल द्रव्य (सामान्य) उपादान नहीं होता, (2) केवल पर्याय उपादान नहीं होती। (3) पर्याययुक्त द्रव्य के उपादान होने पर भी कार्य का अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त द्रव्य ही अपने नियत कार्य का उपादान होता है। यह समर्थ उपादान का लक्षण है, यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। इसके समर्थन में आचार्य श्री ने घटरूप परिणाम के परिणमन में समर्थ मिट्टी द्रव्य को घट का उपादान सुस्पष्ट शब्दों में सूचित किया है, अत: इससे हम यह भी जान लेते हैं कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर, प्रतिनियत कार्य की प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है।

यह उक्त उल्लेख का आशय है। इसके प्रकाश में जब हम अपर पक्ष के द्वारा प्रस्तुत किये गये पूर्वोक्त उल्लेख पर दृष्टिपात करते हैं, तो विदित होता है कि वह उल्लेख 'व्यवहार उपादान कार्यकारी नहीं, किन्तु उसके स्थान में निश्चय उपादान ही कार्यकारी है' इस तथ्य के समर्थन में ही आया है।

अपर पक्ष का यह लिखना कि 'सयोगकेवली गुणस्थान के रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में विद्यमान रत्नत्रय के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है' हमें ऐकान्तिक प्रतीत हुआ। अपर पक्ष का यह ऐसा ही लिखना है कि जैसे कोई लिखे कि 'स्थासरूप मिट्टी में और कुशूलरूप मिट्टी में कोई अन्तर नहीं है।' यदि अपर पक्ष स्थासरूप मिट्टी और कुशूलरूप मिट्टी में पर्यायभेद मानकर उनमें अन्तर स्वीकार करता है, तो प्रकृत में भी उसे सयोगकेवली के रत्नत्रय से अयोगकेवली के चरम समय में विद्यमान रत्नत्रय में पर्यायदृष्टि से अन्तर को स्वीकार कर, निश्चय से उसे ही सिद्ध पर्याय का उपादान स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आगम में व्यवहारनय की मुख्यता से भी कार्य-कारण का विवेचन उपलब्ध होता है और निश्चय की मुख्यता से भी। उसमें व्यवहारनय से जो विवेचन किया गया है, उसका प्रयोजन सामान्य उपादान का ज्ञान करानामात्र है। ऐसे उपादान को अनेक योग्यतावाला कहने में भी आपत्ति नहीं। किन्तु जो निश्चय उपादान का विवेचन है, वह ऐसे उपादान को ही सूचित करता है, जो प्रतिनियत योग्यतावाला होकर प्रतिनियत कार्य को ही जन्म देता है। स्पष्ट है कि इस उल्लेख से अपर पक्ष अपने अभिमत की सिद्धि नहीं कर सकता।

अब रह गया दूसरा प्रश्न, जिसमें कालादिसामग्री के विषय में सूचना की गई है। अपर पक्ष का सम्भवतः यह ख्याल है कि अयोगकेवली के अन्तिम समय के पूर्व ही रत्नत्रय मोक्ष पर्याय को उत्पन्न करने में समर्थ है। मात्र कालादि बाह्य सामग्री के अभाव में ही वह मोक्षकार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो रहा है। अपने इस पक्ष के समर्थन में उसकी ओर से तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 70 का '**कालादिसामग्री को हि**' इत्यादि उल्लेख उपस्थित किया गया है। सो प्रकृत में वह कालादि सहकारी सामग्री क्या वस्तु है, इसका यहाँ विस्तार के साथ विचार करना है। आचार्य विद्यानन्दि ने सहकारी सामग्री में कालविशेष को स्वीकार करके भी अन्तरंग शक्तिविशेष को भी स्वीकार किया है। वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 65 में लिखते हैं—

दंडकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः। सोऽन्तरंगः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेः निःश्रेयसानुत्पत्तेः। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा, न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न संपादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया से अनुमान होता है कि भगवान का स्वपरिणामविशेषरूप शक्ति-विशेष अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमण का निमित्त है। वह मोक्ष की उत्पत्ति में रत्नत्रय का अन्तरंग सहकारी कारण है, क्योंकि उसके अभाव में नामादि तीन अघातिया कर्मों की निर्जरा नहीं बन सकती और मोक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आयुकर्म की तो यथाकाल अनुभव से ही निर्जरा होती है, उपक्रम से नहीं; क्योंकि वह अनपवर्त्य है। इसलिए अन्तरंग सहकारी परिणामविशेष की अपेक्षा रखनेवाला क्षायिक रत्नत्रय सयोगकेवली के प्रथम समय में मुक्ति को नहीं ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उस समय उसके सहकारी कारण का अभाव है।

आचार्य विद्यानन्दि का यह उल्लेख अपने में बहुत ही स्पष्ट है। अपर पक्ष ने अपने कथन में जहाँ काल-विशेषरूप सहकारी सामग्री का उल्लेख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि केवल बाह्य सामग्री के अभाव में केवली का क्षायिक रत्नत्रय मुक्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ है, वहाँ इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि केवली के क्षायिक रत्नत्रय में अन्तरंग सहकारी कारणरूप परिणामविशेष का अभाव होने से वह मुक्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसलिए इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि विशिष्ट पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही अपने कार्य को करने में समर्थ है और साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब प्रत्येक द्रव्य विशिश्ट शक्तियुक्त होता है, तब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती ही है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय में विशिष्ट बाह्याभ्यन्तर सामग्री का योग मिलता जाता है और उससे प्रत्येक समय में विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति होती जाती है।

अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में जो उल्लेख उपस्थित किये हैं, उसमें आया हुआ '**कालविशेष**' पद कालविशेष को तो सूचित करता ही है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायविशेष को भी सूचित करता है, क्योंकि आगम में काल का अर्थ केवल समय ही न करके प्रत्येक द्रव्य की पर्याय के अर्थ में भी उसका उल्लेख हुआ है। इसके लिए धवला पुस्तक 4 पृष्ठ 317 का यह वचन अवलोकनीय है—

दव्वकालजणिदपरिणामो णोआगमभावकालो भण्णदि। पोग्गलादिपरिणामस्स कधं कालववएसो ? ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारणिबंधणत्तादो।

द्रव्य काल से उत्पन्न हुआ परिणाम, नोआगमभावकाल कहा जाता है।

शंका—पुद्गलादि द्रव्यों के परिणाम की काल संज्ञा कैसे है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य में कारणोपचारनिमित्तक यह संज्ञा है।

प्रत्येक द्रव्य के स्वद्रव्यादिचतुष्टय में पठित 'स्वकाल' शब्द भी प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय को सूचित करता है, इस तथ्य से अपर पक्ष अनभिज्ञ हो—ऐसी बात नहीं है। सो इससे भी यही सूचित होता है कि **प्रकृत उल्लेख में आया हुआ कालविशेष पद जहाँ बाह्य सामग्री की अपेक्षा कालविशेषरूप निमित्त को सूचित करता है, वहाँ जीवद्रव्य की मुक्ति प्राप्ति की उपादानकारणरूप पर्यायविशेष को भी सूचित करता है।**

इस प्रकार पूर्वोक्त आगम प्रमाणों के प्रकाश में विचार करने पर यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का '**कालादिसामग्रीको हि**' इत्यादि वचन भी व्यवहार उपादान को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है; निश्चय उपादान को ध्यान में रखकर नहीं। अतएव 'सब द्रव्यों का प्रत्येक समय का निश्चय उपादान अपने-अपने कार्यकाल में अपने कार्य को नियम से उत्पन्न करता है और व्यवहार से उसके अनुकूल विस्रसा या प्रायोगिक बाह्य सामग्री प्रत्येक समय में नियम से उपस्थित रहती है।' एकमात्र इस आगम को निर्विवादरूप से स्वीकार कर लेना चाहिए।

30. अनवस्था दोष का परिहार

अब प्रतिशंका के उस भाग पर विचार करते हैं, जिसमें '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि वचन को ध्यान में रखकर जो अनवस्थादोष दिया गया है। अपर पक्ष का कहना है कि—

'जिस प्रकार विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिए भवितव्यता को निमित्तों का सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार उन निमित्तों की प्राप्तिरूप कार्य की उत्पत्ति के लिए भी अन्य निमित्तों के सहयोग की अपेक्षा उसे (भवितव्यता को) नियम से होगी और फिर उन निमित्तों की प्राप्ति भी भवितव्यता को अन्य निमित्तों के सहयोग से ही हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्था की जनक होने के कारण कार्योत्पत्ति के विषय में स्वीकार करने के अयोग्य है।'

सो मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष स्वयं के द्वारा मानी गई कार्यकारण की प्रक्रिया में आनेवाले अनवस्था दोष से बचने के अभिप्राय से ही ऐसा लिख रहा है। वस्तुतः यह दोष भवितव्यता को मुख्य मानकर कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने पर नहीं उपस्थित होता, क्योंकि अपनी-अपनी भवितव्यतानुसार सभी कार्य अपने-अपने काल में हो रहे हैं और उनका पूर्वोत्तर पर्यायों की अपेक्षा परस्पर उपादान-उपादेयभाव तथा अन्वय-व्यतिरेक के

नियमानुसार प्राप्त बाह्य सामग्री के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज ही बनता जाता है। कार्य-कारण की इस प्रक्रिया में कोई किसी के आधीन होकर प्रवृत्ति करता है, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हाँ, अपर पक्ष प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला मानकर कार्य-कारणपरम्परा को अनवस्था दोष से मुक्त नहीं रख सकता, क्योंकि जिस बाह्य सामग्री को वह कार्यक्षम मानता है, वह भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होने से उनमें से किस कार्य के लिए कौन योग्यता निमित्त हो, यह उससे भिन्न बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा और तद्भिन्न वह बाह्य सामग्री भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होने से उनमें से भी किसकी कौन योग्यता निमित्त हो, यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा। और इस प्रकार सर्वत्र कार्य-कारण परम्परा से अनवस्था दोष आने के कारण या चक्रक और इतरेतराश्रय दोष आने के कारण किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री से किसी भी कार्य का उत्पन्न होगा अशक्य हो जाने के कारण, सभी द्रव्य अर्थक्रिया से शून्य होकर अपरिणामी हो जावेंगे और अन्त में उनका अभाव होकर जगत् द्रव्यशून्य हो जायेगा। भट्टाकलंकदेव इस तथ्य को जानते थे। तभी तो उन्होंने पिछले पुण्य-पाप और प्रत्येक जीव में विद्यमान पौरुषरूप परिणमने की सामर्थ्य को लक्ष्य में रखकर पौरुष की उत्पत्ति का निर्देश करते हुए '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि वचन कहा है। स्वामी समन्तभद्र भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे और यही कारण है कि उन्होंने भी कार्य-कारण के हार्द को जानकर अपने आप्तमीमांसा में '**दैवादेवार्थसिद्धः**' (का० 88) इत्यादि कारिका कही है।

31. बाह्य सामग्री में अकिंचित्करपने का खुलासा

बाह्य सामग्री अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त होकर भी अकिंचित्कर है, इसका यह तात्पर्य है कि एक द्रव्य और उसके गुण-पर्यायों का दूसरे द्रव्य और उसके गुण-पर्यायों में अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रतिनियत सत्ता के भीतर ही कार्यशील है। कोई द्रव्य अपनी प्रतिनियत सत्ता को छोड़कर अन्य द्रव्य की प्रतिनियत सत्ता में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में यह वचन कहा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ 15॥

स्वरूपादिचतुष्टय की अपेक्षा सभी पदार्थ सत् ही हैं, इसे कौन स्वीकार नहीं करेगा,

तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सभी पदार्थ असत् ही हैं, इसे भी कौन स्वीकार नहीं करेगा। यदि ऐसा न होवे, तो प्रत्येक प्रतिनियत पदार्थ की व्यवस्था ही नहीं बन सकती ॥ 15 ॥

आचार्य विद्याननिद भी इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए दूसरे शब्दों में लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य।

अपने स्वरूप के उपादान और पर के स्वरूप के अपोहन की व्यवस्था करना ही वस्तु का वस्तुत्व है।

यही कारण है कि **अपने गुण-पर्यायों द्वारा एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में व्यापार होना त्रिकाल में असंभव है,** इसलिए तो बाह्य सामग्री को परद्रव्य के कार्य में व्यवहार से निमित्तरूप से स्वीकार करके भी वह कर्ता आदिपने की दृष्टि से परद्रव्य का कार्य करने में अकिंचित्कर ही है। फिर भी एक द्रव्य के कार्य में दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय को जो व्यवहार से निमित्त संज्ञा प्राप्त है, उसका कारण उस कार्य के प्रति उसकी व्यवहारनय से अनुकूलता ही समझनी चाहिये। व्यवहारनय की अपेक्षा यह अनुकूलता दो प्रकार से प्राप्त होती है—एक तो बलाधान हेतुरूप से और दूसरे अनुकूल क्रिया परिणामरूप से। विशेष खुलासा पूर्व में कर ही आये हैं। अतः अपर पक्ष ने प्रकृत में इस प्रसंग को लेकर जो नाना आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, वे हमारे कथन पर लागू नहीं होतीं।

32. नयों के विषय का स्पष्टीकरण

प्रकृत में अपर पक्ष ने व्यवहारनय के विषय को आरोपित स्वीकार करने पर जो आपत्ति उपस्थित की है, वह भी हमारे कथन पर लागू नहीं होती, क्योंकि सब ज्ञान है और उनके निश्चय-व्यवहाररूप सब विषय हैं। जीव की संसार-मुक्त अवस्था है और संसार के बाह्य-आभ्यन्तररूप उपचरित-अनुपचरित सब हेतु हैं। इसलिए न तो किसी का अभाव है और न असत् युक्तियों से उनका अभाव ही किया जा सकता है। जो जिस रूप में हैं, वे सम्यग्ज्ञान द्वारा उसीरूप में जाने जाते हैं। बाह्य द्रव्य में निमित्तत्ता किस रूप में स्वीकृत है, यह भी वह जानता है; असद्भूतव्यवहारनय जैसा कहता है, वस्तु वैसी नहीं है, यह भी वह जानता है। जैसे असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा किसी को '**कमलनयन**' कहते हैं, परन्तु जिसका नाम कमलनयन है, वह द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनों रूप से कमलनयन नहीं है। इसलिए सम्यग्ज्ञानी पुरुष यह जानते हैं कि इसे असद्भूत-व्यवहारनय से 'कमलनयन' कहा

जा रहा है, वह परमार्थरूप में कमलनयन नहीं है। धवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 74 में नाम के दश भेद करके 'नोगौण्य पद' का खुलासा करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा — चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि।

जिन संज्ञाओं में गुणों की अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं, उन्हें नौगौण्य पद नाम कहते हैं। जैसे - चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय 1 सूत्र 5 में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—

अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।

अतद्गुण वस्तु में व्यवहार के लिये अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम कहते हैं।

यह वस्तुस्थिति है, जिसे सभी आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, अतएव सम्यग्ज्ञान में ऐसा स्वीकार करने पर व्यवहार का लोप हो जायेगा, अपर पक्ष का ऐसा कहना सर्वथा असंगत है। वस्तुस्थिति क्या है और व्यवहार क्या है, इतना दिखलानामात्र निश्चयनय-व्यवहारनय का प्रयोजन है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष इस प्रकार वस्तुस्थिति को समझकर आगम में जहाँ जिस दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है, उसे हृदयंगम करेगा। अपनी प्रतिशंका को उपस्थित करते हुए अपर पक्ष ने जो अन्य प्रतिशंकाओं में इस विषय के विशेष विवेचन की सूचना की है या उन पर दृष्टि डालने का संकेत किया है, सो उन प्रतिशंकाओं का उत्तर लिखते समय वे दृष्टिपात में आई है या आवेंगी ही। वहीं उन पर विशेष विचार किया है या करेंगे।

33. समयसार की 80 वीं गाथा का वास्तविक अर्थ

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में सभी वस्तुओं में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसे बन रहा है और इस आधार से कहाँ किस प्रकार निश्चित क्रम और अनिश्चित क्रम है, इसका अपनी कल्पना के आधार पर विवेचन करते हुए समयसार गाथा 80 को उपस्थितकर उसके अर्थ को बदलने का भी प्रयास किया है। समयसार की गाथा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥ 80॥

इस गाथा का सही अर्थ है—

जीव के परिणामों को निमित्तकर पुद्गल, कर्मरूप से परिणमते हैं और पुद्गल कर्मों को निमित्तकर जीव भी उसी प्रकार परिणमता है॥ 80॥

इस गाथा की संस्कृत टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति, पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमति।

इस टीका का अर्थ वही है, जो हमने पूर्व में किया है। किन्तु अपर पक्ष ने अपने अभिप्राय की सिद्धि करने के लिये उक्त गाथा का यह अर्थ किया है—

'जीव के परिणाम का सहयोग पाकर पुद्गल, कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गलकर्म का सहयोग पाकर जीव भी परिणमन को प्राप्त होते हैं। अतः जीवों और पुद्गलों के ऐसे परिणमन भी स्व-परप्रत्यय माने गये हैं।'

गाथा के पूर्वार्द्ध में '**परिणमंति**' और उत्तरार्द्ध में '**परिणमदि**' पाठ है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका में क्रियापदों को इसी रूप में रखा है। इनका शब्दार्थ हम पूर्व में दे ही आये हैं। किन्तु अपर पक्ष ने इन क्रियापदों का 'परिणमते हैं' या 'परिणमता है' यह अर्थ न करके इसके स्थान में क्रमशः 'परिणत होते हैं' या 'परिणमन को प्राप्त होते हैं' यह अर्थ किया है। यों तो साधारण दृष्टि से उक्त क्रियापदों से व्यक्त होनेवाले अर्थ में और अपर पक्ष द्वारा इन क्रियापदों के किये गये अर्थ में सामान्य मनुष्य को अन्तर नहीं प्रतीत होगा। किन्तु अपर पक्ष ने उक्त क्रियापदों द्वारा स्पष्टरूप से व्यक्त होनेवाला कर्तृपरक अर्थ न करके, दूसरा अर्थ सकारण किया है।

बात यह है कि निश्चय और व्यवहार के भेद से षट्कारक दो प्रकार के आगम में वर्णित हैं। उनमें से निश्चय षट्कारक यथार्थ है और व्यवहार षट्कारक उपचरित हैं, अर्थात् व्यवहार षट्कारक एक द्रव्य के वास्तविक कर्ता आदि धर्मों को दूसरे द्रव्य पर आरोपित कर कहे गये हैं। उपचार का प्रयोजन किस द्रव्य की किस द्रव्य के साथ बाह्य व्याप्ति किस रूप में है, इस द्वारा निश्चय षट्कारक का ज्ञान करानामात्र है। इसके लिए पंचास्तिकाय, गाथा 57 से लेकर 65 तक की गाथाऐं और उनकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका अवलोकनीय है। जिनवचन क्या है, इसका सम्यक् प्रकार से विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द वहीं पर लिखते हैं—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं॥ 61॥

अपने स्वभाव (पर्याय) को करता हुआ आत्मा, अपने भाव का कर्ता है, पुद्गलकर्मों का नहीं, यह जिनवचन जानना चाहिए॥ 61॥

यह उक्त गाथा का अर्थ है। इसी शास्त्र की गाथा 62 की संस्कृत टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कर्म और जीव दोनों की अपेक्षा निश्चय षट्कारक का स्पष्ट शब्दों में विवेचन किया है। तथा व्यवहार षट्कारक परमार्थभूत क्यों नहीं है, इसका कर्ताकारक की मुख्यता से एक वाक्य द्वारा निषेध कर दिया है। वे लिखते हैं—

अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति।

इसलिए निश्चय से कर्मरूप कर्ता का जीव कर्ता नहीं है तथा जीवरूप कर्ता का कर्म कर्ता नहीं है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि निश्चय से जीव या कर्म एक-दूसरे के कर्ता भले ही न बनें, व्यवहारनय से तो जीव कर्म का और कर्म जीव का कर्ता है ही और इन दोनों में व्यवहार से रहनेवाला कर्तृत्व धर्म यथार्थ होने से इसे उपचरित कहना उचित नहीं है? आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी शास्त्र की गाथा 27 की टीका में व्यवहार से जीव कर्म का कर्ता है, इस विषय का विशदरूप से विवेचन किया ही है, इसलिए उसे एकान्त से अपरमार्थभूत कहना उचित नहीं है। यह एक प्रश्न है।

समाधान यह है कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी शास्त्र की गाथा 58 में इस प्रश्न को उपस्थित कर गाथा 60 में उसका समाधान किया है। वे गाथा 58 में कहते हैं—

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं कम्मकयं॥ 58॥

कर्म के बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता, इसलिए भाव (जीवभाव) कर्मकृत हैं॥ 58॥

किन्तु यह कथन यथार्थ क्यों नहीं है, इसका विचार करते हुए वे गाथा 60 में लिखते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं भवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं॥ 60॥

जीव भाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीव निमित्त है, परन्तु एक-दूसरे के वास्तविक कर्ता नहीं है और वे कर्ता के बिना होते हैं, ऐसा भी नहीं है ॥ 60 ॥

यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द जीव कर्म का और कर्म जीव का कर्ता है, इस व्यवहार का निषेध करते हैं तथा जीव अपने जीवभाव का और कर्म अपने कर्मपरिणाम का कर्ता है, इस निश्चय की स्थापना करते हैं। सो क्यों ? जिस प्रकार आचार्य महाराज व्यवहार पक्ष को उपस्थित कर उसका निषेध करते हुए इसी शास्त्र की गाथा 59 में—

ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं सहावं।

और समयसार, गाथा 29 में—

तं णिच्छए ण जुज्जदि—

लिखते हैं, उस प्रकार उन्होंने पहले निश्चयपक्ष को उपस्थित कर क्या कहीं उसका निषेध करते हुए लिखा है कि 'तं ववहारे ण जुज्जदि।' वे व्यवहारनय को प्रतिषेध्य और निश्चयनय को प्रतिषेधक (समयसार, गाथा 272 में) क्यों लिखते हैं ? इसका कोई कारण तो होना चाहिए ? अपर पक्ष ने इस तथ्य का क्या कभी विचार किया है ? यदि वह इसका समीचीन रीति से विचार करे, तो उसे निश्चयरूप अर्थ सत्यार्थ है और असद्भूत व्यवहाररूप अर्थ उपचरित होने से असत्यार्थ है, इसे समझने में देर न लगे। हाँ, यदि वह निश्चयार्थ के समान असद्भूत व्यवहारार्थ को परमार्थभूत सिद्ध करने को ही अपना चरम लक्ष्य मानता हो, तो बात दूसरी है।

दो द्रव्यों के आश्रय से सभी आचार्यों ने सर्वत्र जो यह सरणि अपनाई है, सो उसका मूल कारण एक तो यह है कि प्रत्येक द्रव्य का गुण-धर्म दूसरे द्रव्य में पाया नहीं जाता और दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य का गुण-धर्म प्रतिसमय अपने व्यापार में ही उपयुक्त रहता है, इसलिए यदि हम जीवभाव को कर्म परिणाम में या कर्म के उदय को जीवभाव में निमित्तभाव होता हुआ देखकर, यह व्यवहार करते हैं कि जीव ने कर्म को किया या कर्म ने जीव को किया, तो वह वास्तविक न होकर अपरमार्थभूत ही सिद्ध होता है, क्योंकि जीव में जीवभाव का कर्तृत्व धर्म तो है, परन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्तृत्व-धर्म नहीं है और इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों में अपना कर्तृत्व धर्म तो है, परन्तु जीवभाव का कर्तृत्व धर्म नहीं है। यही कारण है कि व्यवहारनय से एक द्रव्य को जो दूसरे द्रव्य का कर्ता आदि कहा जाता

है, वह वास्तविक न होने से उपचरित, आरोपित, असत्यार्थ या अपरमार्थभूत कहा जाता है। दूसरों को चिढ़ाने के लिये हम इन शब्दों का प्रयोग करते हों, ऐसा नहीं है। किसी को चिढ़ाने का उपक्रम करना, यह मोक्षमार्ग की प्रक्रिया के विरुद्ध है। यह तो वस्तुस्वरूप का विश्लेषणमात्र हैं, जो युक्तियुक्त होने से प्रयोजनवश किया जाता है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्ष ने समयसार, गाथा 80 का जो अर्थ किया है, वह केवल व्यवहार कथन को परमार्थभूत ठहराने के अभिप्राय से ही किया है।

साथ ही उस पक्ष की ओर से इसी प्रसंग में जो 'आकाशद्रव्य समस्त वस्तुजात को अपने अन्दर समाये हुए हैं' इत्यादि कथन किया है, वह भी इसी अभिप्राय से किया है, जो युक्तियुक्त नहीं है। आचार्य पूज्यपाद तो सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 12 में यह कहें कि 'धर्मादिक द्रव्यों का आकाश अधिकरण है, यह व्यवहारनय से कहा जाता है।' और अपर पक्ष उसके स्थान में यह लिखे कि 'आकाशद्रव्य समस्त वस्तुजात को अपने अन्दर समाये हुए हैं।' सो यह सब क्या है ? क्या यह जिनागम के विरुद्ध कथन नहीं है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द तो पंचास्तिकाय, गाथा 24, 25 व 100 में यह कहें कि 'निमिष, काष्ठा, कला, नाली, दिन-रात, महीना, अयन और संवत्सर आदिरूप व्यवहारकाल, जीव और पुद्गलों के परिणमन से जाना जाता है' और इसके स्थान में अपर पक्ष यह लिखे कि 'सभी कालद्रव्य अपने से सम्बद्ध वस्तुओं की सत्ता को और उसमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनों को समय, आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह और वर्ष आदि में बद्ध करके विभाजित करते रहते हैं।' सो यह क्या है ? क्या यही जैन संस्कृति है ? इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपर पक्ष ने यह या इसी प्रकार का अन्य जितना भी कथन यहाँ पर किया है, वह सबका सब इसी प्रकार के अनेक भ्रमों के लिए हुए है। हमें इसका आश्चर्य नहीं कि उसकी ओर से इस प्रकार का भ्रमपूर्ण कथन किया गया है। आश्चर्य इस बात का है कि वह इसे जैन संस्कृति घोषित करने का साहस भी करता है। अस्तु, स्पष्ट है कि उसकी ओर से व्यवहारनय से कहे गये निमित्त-नैमित्तिक भाव को लेकर अपनी प्रतिशंका में जो कुछ भी विवेचन किया गया है, उसे मात्र भ्रमोत्पादक ही जानना चाहिए।

आगे अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका 2 जिन विषयों को लेकर स्थापित की थी और जिनका सप्रमाण समाधान हम अपने दूसरी बार लिखे गये उत्तर के समय कर आये हैं, उन्हीं

विषयों के क्रम से हमारे द्वारा दिये गये उत्तर को आधार बनाकर जो पुनः प्रतिशंका उपस्थित की गई है, उसका विचार उसी क्रम से करते हैं—

विचारणीय मुख्य विषय ये हैं — (1) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तीन गाथायें तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री। (2) अकाल में दिव्यध्वनि। (3) निर्जरा तथा मुक्ति का अनियत समय। (4) अनियत गुणपर्याय। (5) क्रम-अक्रमपर्याय। (6) द्रव्यकर्म की अनियतपर्याय और (7) निमित्त-उपादान कारण।

इन विषयों पर अपर पक्ष ने जो सामान्यरूप से प्रतिशंका का कलेवर निर्मित किया है, उसका ऊहापोह तो हम कर ही आये हैं। आगे इनके आधार से जो अपर पक्ष का कहना है, उस पर विचार करते हैं—

34. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की 3 गाथायें आदि

अपर पक्ष ने '**एवं जो णिच्छयदो**' गाथा के जिन पदों को हमने भिन्न टाईप में दिया है, उस सम्बन्धी हमारे स्पष्टीकरण को उद्धृत कर शुद्ध सम्यग्दृष्टि का खुलासा करते हुए जो पुनः यह लिखा है कि—'श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि, केवलज्ञान के विषय की अपेक्षा उस तत्त्व को यथार्थ मानता है, जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओं में प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञान के विषय की अपेक्षा कार्य-कारणभाव पद्धति को भी यथार्थ मानता है।' सो यहाँ यह देखना है कि जिसे अपर पक्ष मात्र श्रुतज्ञान का विषय बतला रहा है, वह क्या केवलज्ञान के विषय के बाहर है? वह कार्य-कारणपद्धति क्या वस्तु है, जिसे केवलज्ञान नहीं जानता? उपादान-उपादेयभाव का ही दूसरा नाम कार्य-कारणभाव है, जो यथार्थ है। सो यदि उसे केवलज्ञान के विषय के बाहर माना जाता है और इसलिए दिव्यध्वनि द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हुआ है, तो उसे स्वीकार करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि और तदनुसार यथार्थ श्रुतज्ञानी कैसे हो सकता है? वह तो केवल अतत्त्वश्रद्धान और मिथ्याज्ञान ही होगा, अतएव केवलज्ञान के विषय के अनुसार जैसी श्रद्धा हो, सम्यक् श्रुतज्ञानी जीव उसी के अनुसार कार्य-कारणभाव पद्धति को यथार्थ मानता है, अन्य को नहीं - ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

हम '**णिच्छयदो**' पद को ध्यान में रखकर यह लिख आये हैं कि निश्चय (उपादान) की प्रधानता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि आगम में अकालमृत्यु आदि का निर्देश व्यवहारनय (उपचारनय) की अपेक्षा किया गया है, निश्चयनय की अपेक्षा नहीं। सो हमारे

इस कथन पर अपर पक्ष का कहना है कि—'जितना भी मरण है, चाहे वह अकालमरण हो या कालमरण, दोनों व्यवहाररूप हैं।' सो उस पक्ष का ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि 'कालमरण' जीव की व्ययरूप पर्याय होने से पर्यायार्थिक निश्चयनय की अपेक्षा यथार्थ ही है। हाँ, इसमें बाह्य सामग्री की अपेक्षा जो नयार्थ की योजना की गई है, वह परसापेक्ष कथन होने से अवश्य ही उपचरित है। यही कारण है कि अकालमरण को हमने इस अपेक्षा से व्यवहार (उपचरित) लिखा है।

अपर पक्ष का यह लिखना भी सिद्धान्तविरुद्ध है कि 'आत्मा स्वभावतः अमर है', क्योंकि द्रव्यार्थिक दृष्टि से जैसे आत्मा अमर है, वैसे ही पर्यायार्थिक दृष्टि से वह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है। यह दोनों कथन परमार्थभूत हैं। शुद्ध निश्चयनय की विषयभूत वही वस्तु अंश भेद करने पर सद्भूत व्यवहानय का भी विषय हो जाती है।

हमने असद्भूतव्यवहार को उपचरित अवश्य लिखा है और है भी वह उपचरित ही। पर सद्भूत व्यवहार को हमने कहीं भी सर्वथा उपचरित नहीं लिखा, क्योंकि अखण्ड वस्तु में गुण-पर्याय का सद्भाव वास्तविक है। स्पष्ट है कि हमने अपने पिछले उत्तर में अकालमृत्यु को व्यवहारनय की अपेक्षा जो उपचरित लिखा है, वह आगमसम्मत होने से यथार्थ ही लिखा है।

आगे अपर पक्ष ने निश्चयनय और व्यवहारनय के जो लक्षण लिखे हैं, उनका विशेष विचार हम प्रतिशंका 6 के उत्तर में करनेवाले हैं, अतः यहाँ हम उनके खण्डन में न पड़कर इतना ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं कि आगम में इन नयों के इस प्रकार के लक्षण कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। इसलिए वे यथार्थ नहीं हैं। हाँ, प्रकृत में अपर पक्ष का अपने कथन का यह आशय हो कि जिस वस्तु का जो गुण-धर्म है, उसको उसी का जो नय कहे या जाने, वह निश्चयनय है और जो बाह्य सामग्री के संयोग को देखकर निमित्तादिवश अन्य वस्तु के गुण धर्म को अन्य का कहे या जाने, वह व्यवहारनय है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

आगे अपर पक्ष ने अपनी बात को रखने का प्रयास करते हुए अन्त में 'सभी कार्य स्वकाल में होते हैं' इसका विरोध करने के अभिप्राय से जो कार्य-कारण पद्धति को अपनाने की बात लिखी है, सो यह केवल उस पक्ष का आग्रहमात्र है, क्योंकि सभी कार्यों का स्वकाल में होना स्वीकार करनेमात्र से कार्य-कारण पद्धति के अपनाने में आगम से कोई विरोध नहीं आता। हाँ, इससे अपनी अनियन्त्रित वृत्ति (राग-द्वेष-मोह परिणति) को निरुद्ध करने का अवसर अवश्य ही मिलता है। लोक में जितने भी पदार्थ हैं, चाहे वे अशुद्धदशा में हों या

शुद्धदशा में, उन सभी के कार्य (उत्पादन-व्यय) तो कार्य-कारणपद्धति से ही हो रहे हैं और होते रहेंगे। अपर पक्ष जब यह मानता ही है कि 'कुछ कार्य नियत क्रम से भी होते हैं' और ऐसा स्वीकार करने पर भी जब कार्य-कारण पद्धति में विरोध उपस्थित नहीं होता, ऐसी अवस्था में सभी कार्यों का नियतक्रम से होना स्वीकार कर लेने पर कार्य-कारणपद्धति में विरोध कैसे उपस्थित हो जाता है, इसका वह स्वयं निर्णय करे।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने समयसार आत्मख्याति टीका से '**जई जिणमयं पवज्जइ**' इत्यादि गाथा उद्धृत की है, सो वह गाथा निश्चयनय और सद्भूतव्यवहारनय के प्रतिपादन के प्रसंग से आई है। परन्तु अपर पक्ष की ओर से वह गाथा किस प्रयोजन से उपस्थित की गई है, इसका विशेष खुलासा उसकी ओर से न किया जाने के कारण हम यहाँ पर उसके सम्बन्ध में विशेष व्याख्यान करना उचित नहीं समझते।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की 219 वीं गाथा और उसके विषय को स्वीकार करने से सभी कार्यों के नियत क्रम से होने का खण्डन कैसे हो जाता है, यह बुद्धि के बाहर है। जबकि सभी कार्यों के साथ अपने-अपने उपादान की अन्तर्व्याप्ति और निमित्त संज्ञा को प्राप्त होनेवाली बाह्य सामग्री के साथ बाह्य व्याप्ति को स्वीकार कर इन दोनों का आगम में सुमेल बतलाया गया है और इसीलिए आगम में उपचार से उपकार-अपकार को कर्मकृत कहा गया है। ऐसी अवस्था में आगम का जो प्रतिपादन है, उसे समझकर ही वस्तु का निर्णय करना चाहिये, यही मार्ग है। तथ्य यह है कि यह जीव स्वयं अपने शुभ-अशुभ परिणामों का कर्ता है और वही उनके फल का भोक्ता है। शुभ-अशुभभावों को निमित्तकर जो कर्म बंधते हैं, वे तो उन भावों के होने में निमित्तमात्र हैं। यही बात उस गाथा द्वारा निष्कर्षरूप से सूचित की गई है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की 219 वीं गाथा में दो बातें स्पष्टरूप से कही गई है — (1) प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर स्वयं परिणमन करता है, (2) और जब वह कार्यरूप परिणमता है, तब कालादि सामग्री उसमें निमित्त होती है। इस प्रकार इस गाथा द्वारा नियत क्रम का ही समर्थन होता है, अनिश्चित क्रम का नहीं। कार्य-कारणभाव में मुख्यरूप से उपादान का और उपचाररूप से निमित्त कहलानेवाली बाह्य सामग्री का ग्रहण है, यह नहीं भूलना चाहिये। जबकि प्रत्येक कार्य का प्रत्येक समय में उपादानकारण सुनिश्चित है, तो उससे जायमान कार्य के अनुकूल बाह्य सामग्री का होना भी सुनिश्चित है, यह भाव ही इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। **प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर परिणमता है और व्यवहार से**

तदनुकूल बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है, यह व्यवस्था ही जैनदर्शन ने कार्य-कारणभाव में स्वीकार की है। विशेष खुलासा पहले ही कर आये हैं।

अपर पक्ष का यह लिखना कि ''उक्त गाथा में पठित '**सयं**' पद के अर्थ के साथ '**कालादिलद्धिजुत्ता**' पद के अर्थ का उस अवस्था में विरोध आता है, यदि उस गाथा के आधार से 'नियतक्रम' पक्ष का समर्थन किया जाता है, कारण कि यदि '**सयं**' पद का अर्थ 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थ की सहायता के' ऐसा किया जाता है, तो बाह्य सामग्री को कारणरूप से स्वीकार करना निष्फल हो जाता है, इसलिए इसका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि 'निमित्त सामग्री सापेक्ष जो भी पदार्थ में परिणमन होता है, उसे उसका (पदार्थ का) अपना ही परिणमन जानना चाहिये।''

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का सार है। सो इस सम्बन्ध में पूछना यह है कि प्रत्येक पदार्थ में परिणमन को करता कौन है—बाह्य सामग्री या उपादान या दोनों ? यदि बाह्य सामग्री करती है, तो वह उससे भिन्न रहकर करती है या अभिन्न रहकर करती है ? यदि कहो कि भिन्न रहकर करती है, तो बाह्य सामग्री का कर्तृत्व तो उस (परिणमन) से भिन्न रहा, फिर बाह्य सामग्री से भिन्न उपादान में परिणमन हो कैसे जाता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। यदि कहो कि अभिन्न रहकर करती है, तो दो या दो से अधिक द्रव्यों में एकता प्राप्त होती है, जो युक्त नहीं है। दूसरे, बाह्य सामग्री से उपादान में परिणमन मानने पर पुरुषार्थ की कथा करना व्यर्थ हो जाता है और द्रव्य के उत्पाद-व्यय स्वभाव की हानि का प्रसंग उपस्ति होता है, यह अलग। इसलिए बाह्य सामग्री उपादान में परिणमन करती है, यह कहना तो बनता नहीं।

यदि कहो कि उपादान और बाह्य सामग्री दोनों मिलकर उपादान में परिणमन करते हैं, तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि दोनों के एक हुए बिना दोनों एक क्रिया के कर्ता नहीं हो सकते और दो द्रव्य मिलकर एक होते नहीं, इसलिए दोनों मिलकर एक परिणमन के कर्ता होते हैं, यह कहना भी तर्कसंगत नहीं है।

यदि कहो कि बाह्य सामग्री के सानिध्य में प्रत्येक उपादानकारण अपना कार्य करता है, इसे ही हम दोनों मिलकर एक परिणाम के कर्ता होते हैं'—ऐसा कहते हैं, तो स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक उपादान स्वयं अपना कार्य करता है और बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य व्यवहार से निमित्त होती है। अर्थात् स्वभाव-परिणमन में बलाधानरूप से व्यवहारहेतु होती है और विभाव परिणमन में कार्य के अनुकूल व्यापार द्वारा व्यवहार हेतु होती है। हो रहा है सब

क्रमानुपाती ही। इसलिए आगम में ऐसे स्थल पर 'स्वयं' पद का अर्थ अपने आप, अपने में या अपने द्वारा आदि ही किया गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यहाँ हमें 'भो विद्वांसः' इस पद द्वारा सम्बोधित कर जो यह लिखा है कि 'हम लोगों में से कौन कहता है कि उपादान के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। तो फिर क्यों गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं।' आदि, सो निवेदन यह है कि एक ओर अपर पक्ष यह लिखे कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला होता है। किस समय कौन परिणमन हो, यह निमित्तों पर अवलम्बित है। परिणमन करना मात्र उपादान का कार्य है, उसमें जो परिणाम होता है, वह निमित्तों के अनुसार ही होता है और दूसरी ओर यह लिखे कि 'हम लोगों में से कौन कहता है कि उपादान के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।' सो हमें तो यह सब कथन परस्पर विरुद्ध अतएव विडम्बनापूर्ण ही मालूम पड़ता है। शास्त्रों में उपादान का लक्षण 'द्रव्यशक्ति का नाम उपादान है' ऐसा जबकि कहीं किया ही नहीं है, ऐसी अवस्था में अपर पक्ष अपनी प्रतिशंकाओं में उपादान को मात्र द्रव्यशक्तिरूप मानकर क्यों व्याख्यान कर रहा है और शास्त्रों में जो उपादान का वास्तविक लक्षण किया है, उसे क्यों दृष्टि ओझल कर रहा है। क्या इसका ही अर्थ यह मानना होता है कि प्रत्येक कार्य उपादान के अनुसार होता है, इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। भट्टाकलंकदेव ने जो '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' वचन लिखा है, उसे अपर पक्ष श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, सो यह उचित ही है। किन्तु उन्हीं आचार्यों ने जो द्रव्यशक्ति के साथ पर्यायशक्ति को स्वीकार कर, उपादानकारण की व्यवस्था की है, उसे भी अपर पक्ष को हृदय से स्वीकार कर लेना चाहिए। और जब वह उपादान के इस लक्षण को अन्तःकरणपूर्वक स्वीकार कर लेगा, तब वह प्रत्येक समय में जो कार्य होता है, उसका उपादान मात्र उसीरूप होता है, यह भी स्वीकार कर लेगा। फिर वह यह लिखना छोड़ देगा कि उपादान मात्र द्रव्यशक्तिरूप होने के कारण अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए जब जैसे निमित्त मिलते हैं, कार्य उसके अनुसार होता है। इतना ही नहीं, फिर वह यह भी लिखना छोड़ देगा कि श्रुतज्ञान के अनुसार कुछ कार्य निश्चित क्रम से होते हैं और कुछ कार्य अनिश्चित क्रम से भी होते हैं।

इसी प्रसंग में ज्ञान को लक्ष्यकर अपर पक्ष ने यह वाक्य भी लिखा है कि 'जैसे ज्ञान का स्वतःसिद्ध स्वभाव पदार्थ को जानने का है, लेकिन ज्ञान का उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है ? यह व्यवस्था तो उस पदार्थ के ही आधीन है।' सो हमें यह वाक्य पढ़कर

आश्चर्य ही नहीं, खेद भी हुआ। एक ओर तो सब तथ्यों पर दृष्टिपात करते हुए आचार्य यह घोषणा करें कि परिच्छेद्य (ज्ञेय) होने से अन्धकार के समान अर्थ और आलोक ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु नहीं, इसलिए जैसे दीपक, घट आदि पदार्थों से उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक है; वैसे ही अर्थ और आलोक से उपयोगकार ज्ञान उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक (ज्ञापक) है (परीक्षामुख, अध्याय 2, सूत्र 6, 8, व 9)। और दूसरी ओर अपर पक्ष ज्ञान के उपयोगाकार परिणमन को पदार्थों के आधीन बतलावे, यह खेद की बात है। शायद अपने आशय को स्पष्ट करते हुए अपर पक्ष कहे कि ज्ञान का परिणमन तो स्वत:सिद्ध है। वह परिणाम जो विवक्षित उपयोगरूप होता है, ज्ञेय के आधीन है, तो इसका मतलब यह हुआ कि जो अतीत और अनागत कार्य विनष्ट और अनुत्पन्न हैं, उन्हें केवलज्ञान जान ही नहीं सकेगा, क्योंकि अतीत काल की अपेक्षा जिस-जिस काल में जो-जो कार्य हुए, न तो वर्तमान में उस-उस रूप में उस-उस काल का ही सत्त्व है और न ही उन-उन कार्यों का भी। इसी प्रकार भविष्य की अपेक्षा भी जान लेना चाहिए, और जो कार्य या काल अपने रूप में वर्तमान में है नहीं, उन्हें केवलज्ञान कैसे जानेगा अर्थात् नहीं जान सकेगा। एक केवलज्ञान ही क्या, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान पर भी यही बात लागू होती है। और यदि बारीकी से विचार किया जाये तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के लिये भी यही कहा जायेगा। अतएव 'ज्ञेय के आधीन होकर ज्ञान का उपयोगाकार परिणमन होता है' यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी गई है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक समय में उससे अभिन्न जो परिणाम होता है, वह सामान्य-विशेषात्मक ही होता है या मात्र सामान्यात्मक ही? अपर पक्ष उस परिणमन को मात्र सामान्यात्मक तो कह नहीं सकता, क्योंकि मात्र सामान्यात्मक वस्तु का सर्वथा अभाव है। परिशेषन्याय से वह परिणमन सामान्य-विशेषात्मक ही मानना पड़ेगा। स्पष्ट है कि जिस प्रकार परिणमन करना प्रत्येक वस्तु का स्वत:सिद्ध स्वभाव है, उसी प्रकार अपर पक्ष को यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि पर के लक्ष्य से विभावरूप परिणमन करना और स्व के लक्ष्य से स्वभावरूप परिणमन करना भी उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव है। आचार्य अकलंकदेव ने इसी बात को ध्यान में रखकर ही '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' यह वचन कहा है। यहाँ '**उत्तरीभवनात्**' पद ध्यान देने योग्य है। केवल परिणमन करे, इतना ही उपादान का कार्य नहीं है; किन्तु उपादान के उत्तर क्षण में जो कार्य होनेवाला है, उसरूप परिणमन करे, यह भी उपादान का ही कार्य है।

तीसरी बात यह है कि यदि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन करना मात्र उसका स्वत:सिद्ध स्वभाव माना जाये और वह परिणमन किसरूप हो, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित माना जाये, तो केवलीजिन के सुखगुण के प्रत्येक समय के परिणमन में अनन्त सुखरूपता नहीं बन सकती।

इत्यादि दोष प्राप्त न हों, इसलिए यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं उस-उस रूप से परिणमता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। यहाँ अपर पक्ष ने क्रोधपर्याय को प्रमुखरूप से उदाहरणरूप में उपस्थित किया है, सो उसके विषय में भी इसी न्याय से निर्णय कर लेना चाहिए।

इस प्रकार अपर पक्ष ने स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तीन गाथाओं तथा उनके सम्बन्ध से अन्य जिन विषयों की चर्चा की है, उनके सम्बन्ध में सांगोपांगरूप से तथ्यार्थ का निर्देश किया।

35. प्रतिशंका 3 में उपस्थित 4 प्रमाणों का स्पष्टीकरण

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने अपने अभिमत की पुष्टि के अभिप्राय से जो 4 प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनमें से प्रथम उल्लेख भट्टाकलंकदेव ने किस आशय से किया है, इसका हम पूर्व में ही विस्तार के साथ स्पष्टीकरण कर आये हैं। वहाँ यह स्पष्ट बतला आये हैं कि मीमांसादर्शन शब्द को उपादानरूप से स्वीकार न करके भी, उससे सर्वथा भिन्न ध्वनिकार्य की उत्पत्ति सहकारी कारणों से मानता है, इसलिए जैसे उसके लिए यह कहा जा सकता है कि नित्य शब्द की असामर्थ्य का खण्डन न करता हुआ सहकारी कारण अकिंचित्कर क्यों नहीं हो जायेगा, उस प्रकार जैनदर्शन के ऊपर यह बात लागू नहीं होती। अतएव प्रथम प्रमाण से तो अपर पक्ष के मत का समर्थन होता नहीं।

दूसरे प्रमाण में आचार्य विद्यानन्दि ने कार्य के साथ सहकारी सामग्री की मात्र कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विवक्षित उपादान के विवक्षित कार्यरूप परिणमन के समय विवक्षित बाह्य सामग्री की कालप्रत्यासत्ति नियम से होती ही है, क्योंकि इन दोनों के एक काल में होने का नियम है, यही यहाँ कालप्रत्यासत्ति का मथितार्थ है। आचार्य विद्यानन्दि ने व्यवहारनय की अपेक्षा द्विष्ठ कार्यकारण भाव को जो परमार्थभूत कहकर कल्पनारोपितपने का निषेध किया है, सो वह कालप्रत्यासत्ति को ध्यान में रखकर ही किया है, क्योंकि इन दोनों का एक काल में होना कल्पनारोपित नहीं है। किन्तु

अपर पक्ष को मात्र इतना स्वीकार करने में सन्तोष कहाँ है। वह तो जीव के क्रोधरूप कार्य में जो क्रोधरूप विशेषता आती है, उसे सहकारी कारण का कार्य मानने पर तुला हुआ है। और आचार्य विद्यानन्दि ने इस उद्धरण के प्रारम्भ में जो महत्त्वपूर्ण सूचना की है, उसे तो वह दृष्टि ओझल ही कर देना चाहता है। आचार्यश्री तो कहते हैं कि एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होने से नियत क्रम से होनेवाली अव्यवहित पूर्व और उत्तर दो पर्यायों में उपादान-उपादेयभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। किन्तु आश्चर्य है कि अपर पक्ष इस कथन की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता और अपने माने हुए श्रुतज्ञान की अपेक्षा कुछ पर्यायों को निश्चितक्रमरूप और कुछ पर्यायों को अनिश्चितक्रमरूप मानने में ही अपनी आगमनिष्ठा समझता है, जबकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के पृष्ठ 151 के उक्त उल्लेख में ही आचार्य विद्यानन्दि ने—

क्रमभुवोः पर्याययोः एक द्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

यह पद देकर सभी पर्यायों की नियतक्रमता स्वीकार कर ली है। स्पष्ट है कि पिछले उल्लेख के समान इस उल्लेख से भी अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि न होकर, हमारे ही अभिमत की पुष्टि होती है।

अपर पक्ष ने तीसरा उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 3 का उपस्थित किया है, सो उस द्वारा तो मात्र यह बतलाया गया है कि केवल काल ही मोक्ष का हेतु नहीं है। किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर अन्य सामग्री भी यथायोग्य उसकी हेतु है। सो इस उल्लेख से काल की हेतुता का खण्डन न होकर, उसका समर्थन ही होता है। यही कारण है कि लोक में जायमान सभी कार्यों का काल को भी एक व्यवहार हेतु माना गया है। प्रत्येक कार्य स्वकाल में नियत है, इसका समर्थन करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड, अध्याय 2, सूत्र 12, पृष्ठ 261 में लिखते हैं—

स्वकालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात्।

स्वकाल में नियत सत्त्वरूप से ही उसका ग्रहण होता है।

इस उल्लेख में यह स्पष्टरूप से बतलाया गया है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में नियत सत्त्वरूप है। इसलिए यह तीसरा उल्लेख भी अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि नहीं करता। किन्तु इससे हमारे इस अभिप्राय की ही पुष्टि होती है कि 'सभी कार्य अपने-अपने काल में नियतक्रम से ही होते हैं।'

अपर पक्ष ने चौथा उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 71 का उपस्थित किया है। सो इस उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि जब यह जीव अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समय में विद्यमान होता है, तब उन समयों को निमित्तकर नामादि तीन कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा ही इनका योग है। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि आत्मा सहकारी कारण बनकर चाहे जब इन 3 कर्मों की निर्जरा कर देता है। अपर पक्ष को तो सहकारी कारणों के बल पर कार्यों का अपने निश्चित समय को छोड़कर अनिश्चित समय में होना सिद्ध करना है। सो यह उल्लेख भी अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि न कर, हमारे इस आशय का ही समर्थन करता है कि सभी कार्य स्वकाल में बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री को प्राप्त कर होते हैं। आचार्य जिनसेन हरिवंशपुराण सर्ग 7 में लिखते हैं—

निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 6 ॥

वस्तु में स्थित द्रव्य-पर्याय योग्यता, कार्य में आभ्यन्तर निमित्त है और निश्चयकाल बाह्य निमित्त है, ऐसा तत्त्वदर्शियों ने निश्चित किया है ॥6 ॥

एकान्त नियतवाद का गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि आर्ष ग्रन्थों में क्या अर्थ किया है, इसका स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष उस पर भीतर से दृष्टिपात नहीं करना चाहता और जिस प्रकार इतरधर्मी जैनियों को नास्तिक कहकर जनता में बदनाम करते हैं, उसी प्रकार अपर पक्ष ने भी हमें एकान्त नियतिवादी कहकर आम जनता में बदनाम करने का मार्ग ढूँढ़ निकाला है। भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दि के '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' वचन की प्रत्येक कार्य के प्रति बाह्य-सामग्री की निमित्तता स्वीकार करने पर भी संगति कैसे बैठती है, इसका उन्होंने स्वयं अपने द्वारा रचित शास्त्रों में स्पष्टीकरण किया है। भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 6, सूत्र 1 में लिखते हैं—

वीर्यान्तराय-ज्ञानावरण-क्षय-क्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले अर्थात् इन कर्मों के क्षय और क्षयोपशम से युक्त **आत्मा के द्वारा निश्चयनय से आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गलपरिणाम तथा व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्म-परिणाम किया जाता है, इसलिए ये कर्म है।**

इस उल्लेख द्वारा आचार्य महाराज स्पष्ट शब्दों में बतला रहे हैं कि आत्मा और पुद्गल प्रत्येक का कार्य एक-एक है, किन्तु जब आत्माश्रित निश्चयनय की विवक्षा होती है, तब जिस द्रव्य ने स्वयं यथार्थ कर्ता होकर अपनी परिणमन क्रिया द्वारा उसे किया है, उसका वह कार्य कहा जायेगा और जब पराश्रित व्यवहारनय की विवक्षा होती है, तब जिसने यथार्थ मे उसे किया तो नहीं है, मात्र उसके होने में व्यवहार से अनुकूल रहा, इसलिए उसका भी कार्य कहा जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में सर्वत्र निश्चय-व्यवहार हेतुओं की युति होने से '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' वचन की सर्वत्र संगति बैठती जाती है। इसके सिवाय केवलज्ञान के विषय और तदनुसारी श्रद्धामूलक श्रुतज्ञान के बिना स्वरूप से अप्रामाणिक अन्य किसी श्रुतज्ञान के द्वारा समन्वय की बात करना मिथ्या ही है।

स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने जिन चार प्रमाणों के आधार से अपने अभिमत की पुष्टि करनी चाही है, वे अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि न कर, हमारे ही अभिमत की पुष्टि करते हैं, इसलिए हम अपने पिछले उत्तर में जो कुछ भी लिपिबद्ध कर आये हैं, वह आगमानुसारी होने से प्रमाणभूत ही है — ऐसा अपर पक्ष को यहाँ निर्णय करना चाहिए।

36. प्रतिशंका 3 में उपस्थित कतिपय तर्कों का सप्रमाण खण्डन

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने हमारे पिछले उत्तर को ध्यान में रखकर हमारे जिस वाक्यांश को उद्धृत किया है, उसे पूरे सन्दर्भ के साथ हम यहाँ दे देना चाहते हैं, क्योंकि अपर पक्ष ने उसके पूरे सन्दर्भ को छोड़कर उसे उपस्थित किया है। पूरे सन्दर्भसहित वह वाक्यांश इस प्रकार है—

'प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक समय में जो द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति होती है, जिसे कि आचार्यों ने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है, उसके अनुसार ही कार्य की उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्दि जैसे समर्थ आचार्य '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' यह कहने में समर्थ हुए। यदि उपादान के इस लक्षण को, जिसे कि सभी आचार्यों ने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है, और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है, तब उसके अनुसार कार्य होता है, तो सिद्धों को जिनमें वैभाविकशक्ति इस अवस्था में भी विद्यमान है और लोक में सर्वत्र बाह्य निमित्तों की भी विद्यमानता है, तब उन्हें संसारी बनाने से कौन रोक सकेगा।'

यह हमारे वक्तव्य का वह अंश है, जिस द्वारा हमने बाह्य सामग्री के आधार पर

कार्योत्पत्ति स्वीकार करने पर सिद्धों के संसारी बनानेरूप जो अतिप्रसंग दोष का आपादन किया है, वह युक्त ही है, क्योंकि अपर पक्ष जब किसी कार्य का प्रतिनियत उपादान मानने के लिए तैयार ही नहीं और बाह्य सामग्री के बल पर प्रत्येक कार्य की व्यवस्था बनाता है, तो ऐसी अवस्था में सिद्धों के पुनः संसारी बन जाने की आपत्ति उपस्थित होती है, यह स्पष्ट ही है। किन्तु इस दोष को टलाने के लिए अपर पक्ष का कहना है कि 'सिद्धों के कर्मों का संयोग और रागादि परिणाम नहीं पाये जाते, इसलिए सिद्धों का संसारी होना संभव नहीं है।' किन्तु उनका ऐसा लिखना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि जब अपर पक्ष आगम में स्वीकृत निश्चय उपादान के लक्षण को ही स्वीकार नहीं करता और बाह्य सामग्री के बल पर किसी भी कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करता है, तो उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि सिद्धों में द्रव्यशक्तिरूप उपादान योग्यता है ही, अतएव उसे निमित्तकर कर्मों का संयोग हो जाने पर सिद्धों को संसारी बनना ही पड़ेगा। अध्यात्मवेत्ता प्रतिनियत सामग्री से प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति होती है, इसे अच्छी तरह जानते हैं। संसार और मोक्ष की व्यवस्था इसी आधार पर चल रही है, इसे भी वे अच्छी तरह जानते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, उनमें से कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और न ही उन्होंने ऐसी कोई व्यवस्था आगम में ही देखी है। अतएव इस बात का निर्णय तो अपर पक्ष को ही करना है कि—यदि हम उपादान को अनेक योग्यतावाला मानने के साथ बाह्य सामग्री के बल पर कार्य की उत्पत्ति को मानते रहे, तो सिद्धों को संसारी बनानेरूप अतिप्रसंग से हमें कौन बचा सकेगा। इस प्रसंग में अपर पक्ष की ओर से जो आगम प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, उनकी सार्थकता तभी है, जब आगम व्यवस्था को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया जाये। हमारी ओर से जहाँ भी निमित्तों के अनुसार कार्य होना लिखा गया है, वहाँ प्रतिनियत कार्य के प्रतिनियत उपादान और प्रतिनियत बाह्य सामग्री को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है, क्योंकि इन दोनों की समव्याप्ति है, इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा यह कथन किया जाता है कि कार्य उपादान के अनुसार होता है और व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि कार्य बाह्य सामग्री के अनुसार होता है।

यहाँ अपर पक्ष की ओर से हमारे इस कथन को ध्यान में रखकर कि 'प्रत्येक द्रव्य की संयोगकाल में होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादान से होती है' पुनः अपनी इस मान्यता को दोहराया है कि 'उपादान का कार्य केवल परिणमन करना है। उस

परिणमन में जो क्रोधादिरूपता परिलक्षित होती है, वह कर्मोदय आदिरूप निमित्तकारणों से ही उत्पन्न होती है।' यद्यपि हम उनकी इस मान्यता का विचार पूर्व में सांगोपांग कर आये हैं, फिर भी यहाँ पर इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि परिणाम, परिणामी और परिणमन क्रिया, ये तीनों एक सत्ताकवस्तु होने के कारण उपादान ही स्वयं अपनी शक्ति से क्रोधादिरूप परिणाम को उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो॥ 8॥

जिस समय जिस स्वभाव से द्रव्य परिणमन करता है, उस समय उसमय है – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इसलिए धर्म परिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए॥ 8॥

इसकी संस्कृत टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन्काले किलौष्ण्य-परिणतायः पिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम्॥ 8॥

वास्तव में जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूप से परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय उष्णतारूप से परिणमित लोहे के गोले की भाँति उसमय है; इसलिए यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होने से धर्म ही है। इस प्रकार आत्मा की चारित्रता सिद्ध हुई॥ 8॥

यहाँ गाथा में '**परिणमति जेण**' और टीका में '**येन भावेन परिणमति**' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में स्वतन्त्र कर्ता होकर जो भी परिणमन करता है, वह क्रोधादि में से किसी एक भावरूप ही परिणमन करता है। अन्यथा उसका परिणमन करना ही नहीं बन सकता। अतएव प्रकृत में अपर पक्ष को यही निर्णय करना चाहिए कि जिस समय जिस द्रव्य में जिस परिणमन की उत्पत्ति होती है, उस समय उस परिणमन की योग्यतावाला ही उस द्रव्य का उपादान होता है। फिर भी निमित्तरूप से जो बाह्य-सामग्री की स्वीकृति है, वह केवल निश्चय उपादान के साथ बाह्य-सामग्री के काल प्रत्यासत्तिरूप अविनाभाव को ध्यान में रखकर ही की गई है। प्रयोजन का विचार हम पूर्व में ही कर आये हैं।

आगे अपर पक्ष ने हमारे इस कथन को ध्यान में रखकर कि 'निमित्त भी उसी के अनुसार मिलते हैं' जो यह भाष्य किया है कि 'इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्ति के लिए अनुकूल निमित्तों का समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है।' सो इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना है कि प्रत्येक कार्य में ऐसा योग सहज स्वीकार किया गया है और उसी के अनुसार कार्य होता है।

आगे अपर पक्ष का कहना है कि 'यदि प्रत्येक समय का परिणमन सुनिश्चित क्रम से होता है, तो फिर क्यों आप कार्य करने का संकल्प मन में करते हैं ? क्यों मस्तिष्क के सहारे पर कार्य-कारणभाव की निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओं के साथ संगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यों अपनी श्रमशक्ति के आधार पर तदनुकूल व्यापार करते हैं।' सो इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि संकल्प करना भी एक प्रतिनियत कार्य है, जो बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होता है। इसी प्रकार अन्य जिन बातों का उल्लेख यहाँ पर अपर पक्ष ने किया है, वे सब कार्य ही तो हैं जो राग-द्वेषरूप वृत्ति के परिणाम हैं। जब तक इस जीव के राग-द्वेषमय परिणति होती रहेगी और आत्मा उनमें उपयुक्त होता रहेगा, तब तक यह संकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्ति इस जीव के नियम से होगी। अतएव क्रमानुपातीरूप से इसे स्वीकार करने पर एकान्त नियतिवाद का प्रसंग उपस्थित न होकर, अनेकान्तस्वरूप सुप्रभात का दर्शन ही यहाँ होता है—ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए। एकान्त नियतिवाद क्या वस्तु है, इसका निर्देश हम पूर्व में विस्तार के साथ कर आये हैं।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने बाह्य निमित्तों की सार्थकता का प्रश्न उपस्थित किया है और लिखा है कि 'इसे आप स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।' सो इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि बाह्य-सामग्री दूसरे द्रव्य के कार्य में व्यापारवान् हो, इसका नाम उसकी सार्थकता नहीं है, किन्तु इसकी सार्थकता इसी में ही है कि उस कार्य के साथ उसकी कालप्रत्यासत्ति है, जिसे आपने मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया है।

अनेकान्त का जो स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में लिपिबद्ध किया है, वह एक द्रव्य में रहनेवाले परस्पर विरोधी दो-दो धर्मयुगलों को लक्ष्य में रखकर ही लिपिबद्ध किया है। इससे उसकी मर्यादा सुस्पष्ट हो जाती है। किन्तु अपर पक्ष प्रत्येक कार्य का यथार्थ कारण धर्म, उपादान में भी रहता है और निमित्तभूत बाह्य-सामग्री में भी रहता है, इस अर्थ में अनेकान्त को चरितार्थ करना चाहता है; अन्य द्रव्य में नहीं। अन्यथा वे

दोनों द्रव्य एक हो जायेंगे। इसीलिए हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा है कि 'अनेकान्त की अपनी मर्यादा है।'

कर्मशास्त्र के अभ्यासी होने के नाते अकामनिर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जरा का आगम में जो सुस्पष्ट निर्देश है, उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान है, तभी तो हमारा यह कहना है कि जिस काल में जिस कर्म की जिस प्रकार की निर्जरा होती है, वह अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि किन्हीं कर्मपरमाणुओं की उस काल में निर्जरा होने की निश्चय उपादानयोग्यता न हो और बाह्य सामग्री उपस्थित होकर उसे कर दे। जो भी कार्य होता है, वह बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में क्रमानुपाती रूप से ही होता है, सबका कालनियम है। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 1 सूत्र 3 में जो '**भव्यस्य कालेन**' इत्यादि वचन आया है, सो उसका भी यही आशय है कि सभी कार्य अपने-अपने काल में अपनी-अपनी प्रतिनियत सामग्री को प्राप्त कर होते हैं। अन्य सामग्री के अभाव में केवल काल के ही बल से सभी कार्य होते हों, ऐसा कालनियम नहीं है। न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजी ने भी अपनी हिन्दी टीका में तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख का यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं—'**ताते मोक्ष कार्य प्रति काल ही को कारण कहना यह नियम नाहीं संभवे है।**' इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में होकर भी बाह्य-आभ्यन्तर प्रतिनियत सामग्री के सन्निधान में होता है। इसका सप्रमाण विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्व में ही कर आये हैं।

37. कर्मशास्त्र के अनुसार भी सब कार्य क्रमनियत ही होते हैं

आगे अपर पक्ष ने अकामनिर्जरा या तप द्वारा अकाल में भी निर्जरा के समर्थन में आगम प्रमाण देकर हमारे द्वारा अपने पिछले उत्तर 2 में निर्दिष्ट दो नियमों के विरोध में जो विचार उपस्थित किये हैं, उन पर सांगोपांग विचार करते हैं। वे नियम ये है—

(1) जिस काल में जिन कर्मों की जितने परिमाण में जिन परिणामों को निमित्त कर उत्कर्षित, अपकर्षित, संक्रमित और उदीरित होने की योग्यता होती है, उस काल में उन कर्मों का उतने परिमाण में उन परिणामों को निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा होती है - ऐसा नियम है।

(2) बन्ध के काल में जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, सो उस काल में ही उनमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आने पर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मों को निमित्त कर उन कर्मों का उत्कर्षणादिरूप परिणमन होता है।

ये दो नियम हैं। इनमें से प्रथम नियम सब कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होते हैं, इस सिद्धान्त के आधार से लिपिबद्ध किया गया है। स्वामी कार्तिकेय ने '**जं जस्स जम्मि**' इत्यादि तीन गाथाएँ तथा आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में '**यत्प्राप्तव्यं यदा**' इत्यादि श्लोक इसी सिद्धान्त के आधार पर लिपिबद्ध किये हैं। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भट्टाकलंकदेव ने '**तादृशी जायते बुद्धि**' इत्यादि श्लोक उल्लिखित किया है। यह सिद्धान्त और उसके आधार पर बने अन्य नियम अकाट्य है। कुछ बाह्यजनों की कल्पनाओं द्वारा उनका खण्डन नहीं किया जा सकता।

दूसरा नियम आगम में प्रतिपादित 10 करणों के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर लिपिबद्ध किया गया है। उन 10 करणों का निर्देश करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखते हैं—

बंधुक्कट्टकरणं संकममोकट्टुदरीणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी॥ 437॥

बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना, ये दस करण प्रत्येक प्रकृति के होते हैं॥ 437॥

इनमें से जीवप्रदेशों और कर्मवर्गणाओं के परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं। एक प्रकृति के चारों प्रकार से अन्य सजातीय प्रकृतिरूप परिणमने को संक्रमण कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं। अन्यत्र स्थित कर्म का उदय में देने को उदीरणा कहते हैं। कर्मरूप से रहने को सत्त्व कहते हैं। फलकाल प्राप्त कर्म को उदय कहते हैं। उपशमकरण आदि के स्वरूप का विधान करते हुए धवला पुस्तक 16 पृष्ठ 516 व 517 में लिखा है—

जं पदेसग्गं णिधत्तीकयं उदये दादुंणो सक्कं, अण्णपयडिं संकामिदुं पि णो सक्कं, ओकड्डिदुं णो सक्कं, एवंविहस्स पदेसग्गस्स णिधत्तमिदि सण्णा।

जं पदेसग्गं ओकड्डिदुंणो सक्कं, उक्कड्डिदुंणो सक्कं, अण्णपयडिं संकामिदुं णो सक्कं, उदए दादुं णो सक्कं, तं पदेसग्गं णिकाचिदं णाम।

उवसंत-णिधत्त-णिकाचिदाणं सण्णियासो। तं जहा — अप्पसत्थउवसामणाए जमुवसंतं पदेसग्गं ण तं णिधत्तं ण तं णिकाचिदं वा। जं णिधत्तं ण तं उवसंतं णिकाचिदं वा। जं णिकाचिदं ण तं उवसंतं णिधत्तं वा।

जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत है—उदय में देने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिए भी शक्य नहीं है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करने के लिए शक्य है, ऐसे प्रदेशाग्र की निधत्त संज्ञा है।

जो प्रदेशाग्र अपकर्षण करने के लिए शक्य नहीं है, उत्कर्षण करने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रमित करने के लिए शक्य नहीं है तथा उदय में देने के लिए भी शक्य नहीं है, उस प्रदेशाग्र की निकाचित संज्ञा है।

उपशान्त, निधत्त और निकाचित का सन्निकर्ष। यथा—अप्रशस्त उपशामना द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त है, वह न निधत्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निधत्त है, वह न उपशान्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निकाचित है, वह न उपशान्त है और न निधत्त ही है।

यह दस करणों का संक्षिप्त स्वरूप है। हम समझते हैं कि जो कर्मशास्त्र के सचमुच में अभ्यासी होंगे, वे उक्त कथन से यह भलीभाँति समझ जावेंगे कि अपने-अपने सत्त्वकाल में जिस कर्म का जिसरूप परिणमन होना होता है, उस कर्म में वैसी योग्यता बन्धकाल में ही प्राप्त हो जाती है। इस विषय को और भी स्पष्टरूप से समझने के लिए धवला, पुस्तक 16, पृष्ठ 517 में निर्दिष्ट इस अल्पबहुत्व पर दृष्टिपात कीजिए—

एदेसिमप्पाबहुअं। तं जहा — जिस्से वा तिस्से एक्किस्से पयडीए अधापवत्तसंकमो थोवो। उवसंतपदेसक्कममसंखेज्जगुणं। णिधत्तमसंखेज्जगुणं। णिकाचिदमसंखेज्जगुणं।

इनका अल्पबहुत्व। यथा — जिस किसी भी एक प्रकृति का अधःप्रवृत्तसंक्रम स्तोक है। उससे उपशान्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है। उससे निधत्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है तथा उससे निकाचित प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है।

इस अल्पबहुत्व में विधि-निषेधमुख से कितने कर्म संक्रम, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के योग्य तथा अयोग्य होते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतएव जिस काल में जो कर्म उत्कर्षण आदि के योग्य होता है, उस काल में अन्य सामग्री को निमित्त कर उसी का उत्कर्षण आदि होता है, प्रत्येक कर्मशास्त्र के अभ्यासी को ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए। एक कर्म का उत्कर्षणादि ही क्या, संसार का प्रत्येक कार्य अन्य बाह्य सामग्री को निमित्तकर अपने-अपने काल में हो रहा है। यदि हमारा आपका श्रुतज्ञान इसके लिए

साक्षीभूत नहीं है, तो न सही; आगम तो इसके लिए साक्षी है। हरिवंशपुराण सर्ग 77 में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दिव्येन दह्यमानायां दहनेन तदा पुरि।
नूनं क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता॥ 61॥

उस समय दिव्य अग्नि से पुरी के जलते समय देव नियम से कहीं चले गये? भवितव्यता दुनिर्वार है॥ 61॥

हमें आशा है कि अपर पक्ष समस्त आगम को ध्यान में रखकर वस्तु का निर्णय करेगा।

आगे अपर पक्ष ने ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, ध्रुवबन्धरूप और अध्रुवबन्धरूप प्रकृतियों का संकेतमात्र करके गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 124 व 126 को उद्धृत कर उन प्रकृतियों का संकेत किया है, जिनमें से कुछ का ध्रुवबन्ध होता है और कुछ का नहीं। सो मालूम नहीं कि यहाँ यह खुलासा किस प्रयोजन से किया गया है। संभवत: इसलिए कि कुछ प्रमाण देना चाहिए और कुछ लिखना चाहिए। ध्रुव बन्धवाली या ध्रुव उदयवाली वा अन्य कोई प्रकृति क्यों न हो? यहाँ विचार तो यह चला है कि सत्ता में स्थित जो भी कर्म है, उसमें उत्कर्षणादि किन नियमों के आधार पर होता है? और इसी प्रश्न का पूर्व में समुचित रीति से समाधान किया गया है। अतएव प्रकृत में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की पूर्वोक्त जो दो गाथाएँ अपर पक्ष ने उद्धृत की हैं, वे प्रकृत में उपयोगी नहीं, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

आगे अपर पक्ष ने जयधवला, पुस्तक 9, पृष्ठ 4-6 के कुछ प्रमाण उद्धृत कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इससे हमारी अपकर्षण आदि सम्बन्धी मान्यता का खण्डन हो जाता है। यहाँ अपर पक्ष ने जो प्रमाण उद्धृत किये हैं, उनमें यह बतलाया गया है कि प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप नहीं देखे जाते। इसी प्रकार द्वितीय स्पर्धक से लेकर जघन्य अतिस्थापना और जघन्य निक्षेप प्रमाण स्पर्धक अपकर्षित नहीं होते हैं। इसके आगे अन्य स्पर्धकों के अपकर्षित होने में कोई बाधा नहीं। यह आगम वचन है। इस पर से निष्कर्ष को फलित करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है—

'ऊपर के प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धक में अपकर्षित होने की योग्यता है। किन्तु स्वगत योग्यता होते हुए भी अतिस्थापना और निक्षेप के अथवा अकेले निक्षेप के अभाव के कारण पहले अनन्त स्पर्धकों की अपकर्षणरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती

है। अत: आपके इस सिद्धान्त का स्पष्टतया खण्डन हो जाता है कि उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यता को लिए हुए उपादान होता है, तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि उस योग्यता को लिये हुए उपादान हो, किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होने से रुक जाये, क्योंकि यहाँ उपादान में अपकर्षण होने की योग्यता विद्यमान है, किन्तु अभावरूप अन्य कारण के हेतु से वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकता है। यदि योग्यता न होती तो आचार्य यही कहते कि इतने स्पर्धकों में योग्यता नहीं है, अत: यह अपकर्षित नहीं हो सकते हैं। किन्तु आचार्यों ने अतिस्थापना और निक्षेप का अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यता का अभाव इसका कारण नहीं बतलाया है।'

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। इसे पढ़ने पर ऐसा मालूम होता है कि अपर पक्ष अपने पक्ष के समर्थन में उत्कर्षण के और अपकर्षण के लक्षण को ही भूल गया है। स्थिति और अनुभाग के घटने का नाम अपकर्षण है, इसे अपर पक्ष न भूले यह हमारा निवेदन है। प्रकृत में अपर पक्ष ने जो प्रमाण उपस्थित किया है, वह अनुभाग-अपकर्षणसम्बन्धी है।

साधारण नियम है कि जिस कर्म के जिस अनुभाग में अपकर्षण होता है, वह अपने से लगे हुए नीचे के अनन्त स्पर्धक अनुभागरूप न परिणमकर उससे नीचे के अनुभागरूप परिणमता है। यहाँ जिस रूप नहीं परिणमा, उसकी अतिस्थापना संज्ञा है और जिस रूप परिणमा, उसकी निक्षेप संज्ञा है। यह परिणमन अपने में हुआ है। अपनी एक पर्याय-अपकर्षण संज्ञावाली है और उसका व्यय होकर जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसकी निक्षेप संज्ञा है और इन दोनों के बीच में जो अन्तराल रहा, उसकी अतिस्थापना संज्ञा है। यहाँ अतिस्थापना और निक्षेप निमित्त नहीं है, निमित्त तो जीव के संक्लेश अथवा विशुद्धिरूप परिणाम है। अतएव अपर पक्ष ने कर्मशास्त्र के इस सूक्ष्म रहस्य को हृदयंगम न करके जो समर्थ उपादान की नियमाकता के खण्डन का प्रयास किया है, उसके बिना प्रयोजन के किये गये इस परिश्रम के लिए हम उसे क्या कहे ?

संक्रम अनुयोगद्वार में संक्रम का निक्षेप करते हुए क्षेत्रसंक्रम के निरूपण के प्रसंग से बतलाया है कि एक क्षेत्र का क्षेत्रान्तर को प्राप्त होने का नाम क्षेत्रसंक्रम है। इस पर शंका हुई कि क्षेत्र क्रियारहित है, इसलिए उसका संक्रम कैसे संभव है ? इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामी लिखते हैं कि आधेय में आधार का उपचार करके सक्रिय जीव और पुद्गलों में क्षेत्र संज्ञा संभव होने से, उनका संक्रम बन जाता है और क्षेत्र का संक्रम व्यवहार अप्रसिद्ध

भी नहीं है। क्योंकि 'ऊर्ध्वलोक संक्रान्त हुआ' ऐसा व्यवहार पाया जाता है। धवला पुस्तक 15, पृष्ठ 339 का वह वचन इस प्रकार है—

एगक्खेत्तस्स खेत्तंतरगमणं खेत्तसंकमो णाम। किरियाविरहिदस्स खेत्तस्स कधं संकमो ? ण, जीव-पोग्गलाणं सक्किरियाणं आधेये आधारोवयारेण लद्धे खेत्तववएसाणं संकमुवलंभादो। ण च खेत्तस्स संकमववहारो अप्पसिद्धो, उड्ढलोगो संकतो त्ति ववहारुवलंभादो।

यह क्षेत्रसंक्रम का उदाहरण है। अनुभागसंक्रम में इस दृष्टि से विचार करने पर यह सुस्पष्ट होने में देर नहीं लगती कि स्थितिसंक्रम और अनुभागसंक्रम इन दोनों में अतिस्थापना और निक्षेप ये दोनों कोई पृथक्भूत पदार्थ नहीं है, केवल सुस्पष्टरूप से स्थितिसंक्रम और अनुभागसंक्रम का ज्ञान कराने के लिए इनका पृथग्भूत कर्म में व्यवहार अवश्य किया जाता है। अतएव अतिस्थापना और निक्षेप इन दोनों द्वारा निमित्तभूत वस्तु का कथन न होकर, उपादानभूत वस्तु की अवस्थाविशेष का ही कथन किया गया है।

अब रही प्रथम आदि स्पर्धकरूप अनुभाग के संक्रम न होने की बात, सो इस सम्बन्ध में अपर पक्ष का जो यह कहना है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकों में अपकर्षित होने की योग्यता तो है, किन्तु अभावरूप अन्य कारण के हेतु से वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकती है।' सो उस पक्ष का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सबसे जघन्य अनुभागस्पर्धक की ही प्रथम स्पर्धक संज्ञा है। जितने भी कर्म हैं, चाहे वे घाती हों या अघाती, उन सबमें अपनी-अपनी मर्यादा के भीतर जो जघन्य अनुभाग स्पर्धक होता है, उसे ही आदि स्पर्धक या प्रथम स्पर्धक कहते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि इससे कम अनुभाग स्पर्धक और कर्म हो ही नहीं सकता, तो फिर अपर पक्ष ने जो यह अर्थ फलित किया है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकों में संक्रमित होने की योग्यता तो है' सो यह अर्थ उसने किस आधार से फलित किया, इसका उसे स्वयं विचार करना चाहिए। यह तो अपकर्षण का सामान्य नियम है कि ऊपर की उसी स्थिति या अनुभाग का अपकर्षण हो सकता है, जिससे नीचे उतनी स्थिति और अनुभाग पाया जाये जिसे अतिस्थापना और निक्षेप बनाया जा सके। यहाँ प्रथमादि अनन्त स्पर्धकों का अपकर्षण के इस नियम में अन्तर्भाव नहीं होता, इसलिए उनमें अपकर्षित होने की द्रव्य-पर्याय उभयरूप उपादान योग्यता नहीं है। उसी को आचार्य महाराज ने जयधवला में दूसरे शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने जयधवला के उक्त उल्लेख को ध्यान में रखकर जो विधान किया है, वह समीचीन नहीं है।

आगे अपर पक्ष ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'बन्ध के समय कुछ प्रदेशों का उपशम, निधत्ति और निकाचित्तरूप बन्ध होना संभव है। किन्तु वह बन्ध कारणकलाप पाकर टूट जाता है' अपने इस अभिप्राय के समर्थन में अपर पक्ष ने जो धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 427-28 का उद्धरण उपस्थित किया है, उस पर भी यहाँ सांगोपांग विचार कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचित के विषय में विशेष नियम यह है कि जो जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है, उसके दर्शनमोहनीयकर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। जो जीव अनंतानुबन्धी की विसंयोजना करता है, उसके अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करने पर अनन्तानुबन्धीचतुष्क अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। तथा जो जीव चारित्रमोहनीय की उपशमना और क्षपणा करता है, उसके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने पर भी सभी कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते हैं। देखो, धवला पुस्तक 16, पृष्ठ 516-517।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है—

उदये संकममुदये चउसु वि दादुं कमेण णोसक्कं।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं तं अपुव्वो त्ति॥ 450॥

जो कर्म उदयावलि में नहीं दिया जा सकता, उसकी उपशान्त संज्ञा है, जो कर्म संक्रम और उदयाबलि में नहीं दिया जा सकता, उसकी निधत्ति संज्ञा है तथा जो कर्म उदयावलि में न दिया जा सके, जिसका संक्रम, उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो सके, उसकी निकाचित संज्ञा है। ये तीनों अपूर्वकरण तक होते हैं, आगे इनकी व्युच्छित्ति है।

उपशम, निधत्ति और निकाचित इन तीन के विषय में कर्मशास्त्र का यह अकाट्य नियम है, इसमें अपवाद नहीं। अतएव इसके प्रकाश में जब हम धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 427-28 के वचन पर विचार करते हैं, तो उससे यही तथ्य फलित होता है कि स्वभावदृष्टि से जिनदेव का जो स्वरूप है, वही आत्मा का स्वरूप है—ऐसा निर्णय करके जो आसन्न भव्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के प्रसंग से जिनबिम्ब का अवलोकन करते समय अन्तरंग में स्वभावसन्मुख होकर अधःकरण और अपूर्वकरण परिणामों को उलंघन कर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है, उसका निधत्ति और निकाचितरूप मिथ्यात्वादि

कर्मकलाप अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। यह धवला के उक्त कथन का तात्पर्य है। धवला का वह कथन सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए आचार्य वीरसेन ने उक्त कथन द्वारा उसी नियम का सूचन किया है, जिसका प्रकृत में हमने स्पष्टीकरण किया है। इस पर से यदि अपर पक्ष यह तथ्य फलित करना चाहे कि बाह्य में चाहे जैसी भूमिका रहने पर केवल बाह्य निमित्तों के बल से उपशान्त, निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते होंगे, सो अपर पक्ष का ऐसा विचार करना आगम सम्मत नहीं है। आगम में सब व्यवस्थाऐं सुनिश्चित हैं। उन्हीं के आधार से सब कार्य होते हैं।

उपशान्त, निधत्ति और निकाचित कर्म का स्वमुख से ही उदय होता है, ऐसा कर्मशास्त्र का नियम भी नहीं है। हमने अपने पूर्व वक्तव्य में ऐसा विधान भी नहीं किया है, इसलिए इस प्रश्न को यहाँ उपस्थित कर उसकी चर्चा करना बेमतलब है।

'जो कर्म उपशम, निधत्ति और निकाचितरूप नहीं हैं, वे बन्धावलि के बाद उदीरणा आदि के योग्य होते हैं' यह अपर पक्ष ने स्वीकार कर लिया, यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु किस कर्म की कब उदीरणा हो, कब उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण हो, यह केवल द्रव्ययोग्यता से सम्बन्ध रखनेवाली बात न होकर द्रव्य-पर्याय दोनों प्रकार की योग्यता से सम्बन्ध रखती है। आशय यह है कि जब प्रत्येक कर्म समर्थ उपादान होकर उदीरणा आदि के सन्मुख होता है, तभी बाह्य सामग्री को निमित्तकर उसकी उदीरणा, उत्कर्षण आदि होते हैं।

कर्मशास्त्र में बन्धावलि के बाद उत्कर्षण आदि होना संभव है, यह जो विधान किया है, वह यथार्थ है, परन्तु काल भी एक निमित्त है, इसलिए कोई भी काल किसी भी कार्य के लिए निमित्त हो जाये—ऐसा आगम का नियम नहीं है। किन्तु निश्चित कार्य के लिए निश्चित काल ही निमित्त होता है—ऐसा कालनियम अवश्य है। निश्चित काल के साथ निश्चित अन्य बाह्य सामग्री भी प्रत्येक कार्य में निमित्त होती है, इसलिए आचार्यों ने केवल काल से ही सब कार्य होते हैं, इसका निषेध अवश्य किया है। पर निश्चित काल निमित्त न हो और कार्य हो जाये, ऐसा नहीं है। देखो, अप्रशस्त उपशम आदिरूप कर्म को जो उदीरणा आदि के अयोग्य बतलाया है, सो उसे भी प्रतिनियत काल तक ही ऐसा जानना चाहिए। इससे प्रतिनियत काल ही प्रतिनियत कार्य के लिए हेतु होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए जयधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 247 में लिखा है—

एत्थ चोदओ भणदि — उदयावलियबाहिरे वि ओकड्डणादो ज्झीणट्ठिदिय-

मप्पसत्थउवसामणा-णिधत्तीकरण-णिकाचणाकरणेहि अत्थि चेव जाव दंसण-चरित्त-मोहक्खवगुवसामयअपुव्वकरणचरिमसमओ त्ति तदो किं बुच्चदे उदयावलिबाहिरट्ठिदि-ट्ठिदपदेसग्गमोकड्डणादो अज्झीणट्ठिदियमिदि ? एत्थ परिहारो बुच्चदेजिस्से ट्ठिदीए पदेसग्गस्स ओकड्डण अच्चंतं ण संभवइ सा ट्ठिदी ओकड्डणादो झीणा बुच्चइ, तिस्से अच्चंताभावेण पडिग्गहियत्तादो। ण च णिकाचिदपरमाणूणमेवंविहो णियमो अत्थि, अपुव्वकरणचरिम-समयादो उवरि तेसिमोकड्डणादिपाओग्गभावेण पडिणिययकालपडिवद्धाए ओकड्डणादीण-मणागमणपइज्जाए अणुवलंमादो।

शंका—यहाँ पर शंकाकार कहता है कि उदयावलि के बाहिर भी अप्रशस्त उपशामना, निधत्तीकरण और निकाचनाकरण के सम्बन्ध से ऐसे कर्म परमाणु बच रहते हैं, जो अपकर्षण के अयोग्य हैं और उनकी यह अयोग्यता दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीय की क्षपणा या उपशमना करनेवाले जीव के अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक बनी रहती है, तब फिर यह क्यों कहा जाता है कि उदयावलि के बाहिर की स्थितियों में स्थित कर्मपरमाणु अपकर्षण के योग्य हैं ?

समाधान—जिस स्थिति के कर्मपरमाणुओं की अपकर्षणा बिल्कुल ही सम्भव नहीं, केवल वही स्थिति यहाँ अपकर्षणा के अयोग्य कही गई है, क्योंकि यहाँ ऐसे कर्मपरमाणुओं की अपकर्षणा का निषेध किया है जो किसी भी हालत में सम्भव नहीं है। किन्तु निकाचित आदि अवस्था को प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओं का ऐसा नियम तो है नहीं, क्योंकि वे कर्मपरमाणु अपूर्वकरण के अन्तिम समय के बाद अनिवृत्तिकरण में अपकर्षणा आदि के योग्य हो जाते हैं और तब फिर उनकी अपकर्षणा आदि को नहीं प्राप्त होने की जो प्रतिनियत काल तक की प्रतिज्ञा है, वह भी नहीं रहती।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सत्ता में स्थित किस कर्म की किस समय, घटी, घंटा या मुहूर्तबाद उदीरणा आदि होने का नियम है, उस कर्म की उस काल में नियम से उदीरणा आदि होती है। उदयावलि के भीतर स्थित कर्म अपकर्षणादिक के सर्वथा अयोग्य हैं, इसलिए वहाँ उसका सर्वथा निषेध किया है। किन्तु उदयावलि के बाद स्थित जितने भी कर्म हैं, उनमें से सबकी उदीरणा आदि का एक कालनियम न होने के कारण साथ ही सबकी एक-सी व्यवस्था न होने के कारण, उनका अलग-अलग निर्देश किया है। इसके लिए जयधवला पुस्तक 7 में झीणाझीणचूलिका अनुयोगद्वार द्रष्टव्य है।

यहाँ अपर पक्ष ने उद्वेलना आदि की चर्चा करते हुए यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि 'ये उद्वेलना आदि अनियम से होते हैं।' किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि कर्मशास्त्र में जिसके लिए जो नियम निर्दिष्ट किये गये हैं, उन नियमों को उल्लंघन कर न उदीरणा होती है, न उद्वेलनासंक्रम होता है और न ही गुणसंक्रम या दूसरा कार्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना मिथ्यात्व गुणस्थान में होने का नियम है, तो क्या बाह्य सामग्री के बल पर वह अन्य गुणस्थान में की जा सकती है? यदि नहीं तो फिर यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेने में क्या आपत्ति है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने समर्थ उपादान के अनुसार बाह्य सामग्री को निमित्त कर स्वकाल में ही होता है। कर्म के जिस कार्य का जो स्थान और योग्यता नियत है, उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है, यही तो नियति है और नियति किस वस्तु का नाम है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व की उदीरणा होती है और वेदकसम्यक्त्व के होने पर ही सम्यक्त्व की उदीरणा होती है। यही तो नियम है और नियम वस्तु है। वही उनकी उदीरणा का स्वकाल है। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष इनकी उदीरणा का नियत काल होने पर भी उसका निषेध किस आधार पर करने का साहस करता है।

यदि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करते समय सम्यक्त्व प्रकृति का गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम नहीं होता है, तो गुणसंक्रम और सर्व संक्रम के स्वकाल में होने का निषेध कैसे हो गया। यह कोई तर्क है कि 'क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करते समय यदि सम्यक्त्व प्रकृति का गुणसंक्रम या सर्व संक्रम नहीं होता, तो इनका कालनियम ही नहीं बनता।' सम्यक्त्व प्रकृति के गुणसंक्रम, और सर्व संक्रम उद्वेलना के समय बनते हैं, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय नहीं बनते, ऐसी इस कर्म की व्यवस्था है और इसी के अनुसार इनके होने का पृथक्-पृथक् जीवों की अपेक्षा पृथक्-पृथक् कालनियम है।

उपशमश्रेणी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर एक साथ आरोहण करनेवाले दो जीवों में से अनन्तर समय में एक मरकर चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त होता है, सो इन दोनों का एक उपादान है, यह अपर पक्ष ने किस आधार से निर्णय किया? यदि इसका वह स्पष्टीकरण कर देता, तो तत्त्वमीमांसा करने में सुगमता जाती। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ने केवल अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम को ही उपादानकारण समझ लिया है। उन दोनों की भवस्थिति जो जुदी-जुदी है, उसे उसने लक्ष्य में ही नहीं लिया

है। कैसी भवस्थिति के साथ कैसा अनिवृत्तिकरण परिणाम होने पर उत्तर क्षण में किस गुणस्थानरूप क्या परिणाम होता है, ऐसा नियम है। उसी नियम के अनुसार एक उपशम अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव मरकर अपने समर्थ उपादान के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान को प्राप्त होता है। यह है अपने-अपने उपादानगत विशेषता का फल। आशा है अपर पक्ष इस ओर ध्यान देकर अपने विचारों में सुधार अवश्य कर लेगा।

जब प्रत्येक जीव का मोक्ष जाने का कालनियम है और इसी नियम के आधार पर 608 जीवों का 6 माह 8 समय में मोक्ष जाने का निर्देश किया है, इसलिए प्रत्येक जीव को तप के लिए अलग-अलग काल-नियम बन जाता है और उसके बन जाने से निर्जरा का भी नियम बन जाता है। किसी भी चरमशरीरी का मोक्ष जाने का तो कालनियम हो और व्रतग्रहण, तपश्चरण आदि का कालनियम न हो, यह नहीं हो सकता, अतएव सभी कार्य बाह्य-आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में स्वकाल में ही होते हैं, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

38. करणानुयोगसम्बन्धी विषयों पर उपस्थित आपत्तियों का समाधान

अपर पक्ष ने प्रतिशंका 2 में अकामनिर्जरा तथा उत्कर्षण, संक्रमण आदि के विषय में चर्चा स्वयं चलकर की है और इसी कारण उत्तर 2 में इन सब विषयों पर हमें विचार करना पड़ा है। किन्तु अब अपर पक्ष की शिकायत है कि इन सब विषयों की चर्चा निमित्तसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में करनी थी। यहाँ यह सब चर्चा क्यों की गई? इस पर हमारा उत्तर स्पष्ट है कि यदि शंकाकार पक्ष प्रत्येक प्रश्न की मर्यादा को ध्यान में रखकर अपनी शंका प्रस्तुत करता, तो हमारी ओर से उस मर्यादा का अवश्य ही पालन किया जाता। अस्तु,

हमने अपने पिछले उत्तर में जो हेतु नम्बर 3 व 4 दिये हैं। उन पर से अपर पक्ष ने जो यह तात्पर्य फलित किया है कि एक ही निमित्तकारण होने से 'एक ही कार्य होना चाहिए था, भिन्न-भिन्न नहीं।' सो अपर पक्ष ने यह ठीक आशय लिया है। यही तो हमारा कहना है कि यदि बाह्य सामग्री निमित्त बनकर दूसरे द्रव्य के कार्य में व्यापार करती है, तो उससे एक काल में एक ही कार्य होना चाहिए, क्योंकि कोई भी वस्तु एक काल में एक ही क्रिया कर सकती है, एक वस्तु एक काल में अनेक क्रिया करे, यह तो जिनागम नहीं है।

अपर पक्ष ने लिखा है कि एक लाठी के प्रयोग से भिन्न-भिन्न आकारवाले कपालों की उत्पत्ति देखी जाती है और इसकी पुष्टि में धवला पुस्तक 1, पृष्ठ 219 का प्रमाण दिया है।

सो एक तो यह प्रमाण ही यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने उपादान के अनुसार ही होता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। दूसरे अपर पक्ष ने प्रमाणरूप में धवला पुस्तक 1,पृष्ठ 219 का जितना अंश उद्धृत किया है, वह केवल भ्रम में डालने के अभिप्राय से ही उसने उद्धृत किया है। अन्यथा वह उसके आगे के अंश को अवश्य ही उपस्थित करता। वह आगे का अंश इस प्रकार है—

तत्थ वि होदु णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं। तदो एयक्खप्परुप्पत्ति-संगादो इदि चे तो क्खहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदिकंडयघाद-अणुभागकंडयघादट्ठिदि-बंधोसरण-गुणसंकम-गुणसेढी-ट्ठिदि-अणुभागबंधपरिणामाणं णाणत्तं। तो वि एगसमय-संठियणाणाजीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टिविसेसणाणुववत्तीदो।

शंका—वहाँ पर मुद्गर एक भले ही रहा जावे, परन्तु उसकी शक्तियों में एकपना नहीं बन सकता है। यदि मुद्गर की शक्तियों में एकपना मान लिया जावे, तो उससे एक कपालरूप कार्य की ही उत्पत्ति होगी?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहाँ पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणिनिर्जरा, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धरूप परिणामों में नानापना रह आवे। तो भी एक समय में स्थित नाना जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा अनिवृत्ति यह विशेषण नहीं बन सकता।

यह ऐसा प्रमाण है जो प्रतिनियत कार्य के प्रतिनियत उपादान और उसकी निमित्तभूत प्रतिनियत बाह्य-सामग्री को सूचित करता है। देखिए, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में परिणाम एक है, पर वहाँ होनेवाले ज्ञानावरणादि कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में कितनी विलक्षणता देखी जाती है। क्या इससे सर्वत्र यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि सभी कार्यों की बाह्याभ्यन्तर सामग्री प्रतिनियत है। यद्यपि ऐसा है फिर भी प्रत्येक उपादान से जो भी कार्य होता है, वह बाह्य-कारणनिरपेक्ष ही होता है। जयधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 117 में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तु का परिणमन बाह्यकारण निरपेक्ष होता है। अतएव अनेक कार्यों की निमित्तभूत बाह्य सामग्री चाहे एक हो या अनेक, कार्य बाह्य सामग्री से निरपेक्ष होकर,

उपादान के अनुसार ही होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इतना अवश्य है कि बाह्य-सामग्री उपादानगत विशेषता की सूचक होने से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में व्यवहार से कारणरूप से उसका भी निर्देश किया जाता है। अपर पक्ष ने धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 380 व 451 का सहकारीकारण के भेद से कार्यभेद का जो प्रमाण उपस्थित किया है, वह इसी आशय को सूचित करता है। बाह्य-सामग्री को उपचरित हेतु, व्यवहार हेतु, उपकरणमात्र, निमित्तमात्र आदि कहने का भी यही कारण है। जबकि प्रत्येक पर्याय स्वकाल में स्वयं सत् है, ऐसी अवस्था में उसकी उत्पत्ति पर से मानना कथमपि सम्भव नहीं है। बाह्य-सामग्री तो भट्टाकलंकदेव के शब्दों में (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 2) उपकरणमात्र है। इसका तात्पर्य ही यह है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपनी-अपनी शक्ति से ही उस-उस पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। अन्य के द्वारा अन्य की उत्पत्ति होती है, यह तो कथनमात्र है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग 44 में कहा है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥ 12॥

आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसके फल को भोगता है, स्वयं संसार में भ्रमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है॥ 12॥

यह सम्यक् जैनदर्शन है। इस आधार से जितनी भी कार्य-कारणव्यवस्था परमागम में उपदिष्ट है, वह यथार्थ है। अतएव इस आधार से कार्य-कारणभाव का निर्णय करना, प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीव का कर्तव्य है।

अपर पक्ष ने विस्रसोपचय का प्रश्न उपस्थित कर 'समर्थ उपादान या निश्चय उपादान की अपेक्षा प्रत्येक समय में कुछ विस्रसोपचय बन्ध के योग्य होते हैं और कुछ बन्ध के योग्य नहीं होते,' हमारे इस अभिप्राय का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'कर्मवर्गणा का लक्षण ही यह है कि वह द्रव्यकर्मरूप परिणमन के योग्य है। द्रव्यकर्मरूप परिणमन करने का नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये हैं श्री वीरसेनस्वामी ने भी धवल पुस्तक 12, पृष्ठ 276-77 पर यह ही उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धों में समान शक्ति होते हुए भी, जीव में इतनी शक्ति नहीं है, जो सर्व कर्मवर्गणाओं को एक समय में कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नहीं दिया कि जिन कर्मवर्गणाओं में योग्यता है, वही कर्मरूप परिणमती है, शेष योग्यता नहीं होने के कारण नहीं परिणमती है। प्रत्युत सबमें समान शक्ति मानी गई है।'

आगे अपने इस अभिप्राय को पुष्ट करने के लिए अपर पक्ष ने धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 276-77 का वह प्रमाण उपस्थित कर अन्त में पूर्वोक्त अभिप्राय की पुष्टि में एक नोट भी लगाया है। तथा आगे इसी विषय के समर्थन में और प्रमाण भी उपस्थित किया है।

इस प्रकार इस पूरे कथन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जिस द्रव्य में जो जो कार्य होता है, वह तो उसके लिए सदा ही उपादान है, मात्र जब जैसे निमित्त मिलते हैं, उनके अनुसार कार्य होता है। यदि सब विस्रसोपचय एक साथ कर्मरूप नहीं परिणमते, तो इसका कारण वे विस्रसोपचय स्वयं नहीं है। यदि इसका कोई मुख्य कारण है, तो जीव में सबको एक साथ कर्मरूप परिणमा सकने की शक्ति का अभाव ही है। अपर पक्ष की दृष्टि से यदि इसी बात को और फैलाकर कहा जाये, तो यह कहा जा सकता है कि जितने भी भव्य जीव हैं, उन सबमें मुक्त होने की सदा ही द्रव्य-पर्याय योग्यता है। यदि उन्हें एक साथ मुक्ति नहीं मिलती, तो इसका कारण वे भव्य जीव स्वयं नहीं हैं। यदि इसका कोई कारण है, तो निमित्तों में सबको एक साथ मुक्ति न दिला सकने की शक्ति का अभाव ही है।

यह अपर पक्ष के उक्त वक्तव्य का अभिप्राय है। किन्तु अपर पक्ष का यह कथन निश्चय पक्ष का किस प्रकार अपलाप करनेवाला है, आगे इस पर सांगोपांग प्रकाश डालते हैं—

यहाँ सर्व प्रथम तो यह देखना है कि धवला पुस्तक 12 का वह प्रकरण कर्मबन्ध का किस नय से कौन निमित्त है, इसका ज्ञान कराने के लिए लिखा गया है या किस कर्मबन्ध का कौन समर्थ या निश्चय उपादान है, इसका ज्ञान कराने के लिए लिखा गया है ? पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-बन्ध का किस नय से कौन निमित्त है, मात्र इसका ज्ञान कराने के लिए ही वह प्रकरण लिखा गया है। धवला टीका में भी उसी आशय को स्पष्ट किया गया है। किस कर्मबन्ध का कौन समर्थ या निश्चय उपादान है, इसका तो वहाँ विचार ही नहीं किया गया है।

खुलासा इस प्रकार है—नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं। और द्रव्यार्थिकनय पर्याय योग्यता को गौणकर, मात्र द्रव्य योग्यता के आधार से विचार करता है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि को जो कर्मबन्ध का बाह्य हेतु कहा है, वह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कहा है। आचार्य वीरसेन ने इसके समर्थन में पूर्वोक्त जितने तर्क दिये हैं, वे सब द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से ही दिये हैं। उदाहरणार्थ सहकारी कारण और कार्य के मध्य कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है। इसे अपर पक्ष पहले ही स्वीकार कर आया है। किन्तु

जब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि तीन लोक में अवस्थित कर्मवर्गणाएँ एक साथ ज्ञानावरणादिरूप क्यों नहीं परिणम जातीं, तो आचार्य वीरसेन द्रव्यार्थिकनय से इसका समाधान करते हुए लिखते हैं कि देशविषयप्रत्यासत्ति का अभाव होने से वे एक साथ ज्ञानावरणादिरूप नहीं परिणमतीं। आगे यह प्रश्न होने पर कि एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्ति के रहते हुए भी सभी कार्मणस्कन्ध ज्ञानावरणादिरूप क्यों नहीं परिणम जाते? आचार्य वीरसेन कालप्रत्यासत्ति का अभाव है, यह उत्तर न देकर जीव में एक साथ उस प्रकार के परिणमाने की शक्ति का अभाव है, यह जो उत्तर दिया है, सो यह उत्तर भी पर्यायार्थिकनय को गौण करके ही दिया है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन के सन्मुख हुई कर्मवर्गणाएँ ही जीव के योग और कषाय को निमित्तकर ज्ञानावरणादिरूप परिणमती है।

ये प्राणातिपात आदि द्रव्यार्थिकनय से कारण कहे गये हैं, इसकी पुष्टि पूरे स्पष्टीकरण के साथ स्वयं आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने तथा आचार्य वीरसेन ने की है। इसके लिए देखो धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 288 आदि। आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

ण पाणादिवाद-मुसावादादत्तादाण-मेहुण-परिग्गह-रादिभोयणपच्चए णाणावरणीयं बज्झदि, तेण विणा कि अप्पमत्तसंजदादिसु बंधुवलंभादो। ण कोह-माण-माया-लोभेहि बज्झइ, कम्मोदइल्लाणं तेसिमुदयविरहिदद्धाए तब्बंधुवलंभादो। ण णिदाणब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छाणाण-मिच्छदंसणेहि, तेहि विणा वि सुहुमसांपराइयसंजदेसु तब्बंधुवलंभादो। यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्। तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोग-कसाएहि चेव होदि त्ति सिद्धं।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन प्रत्ययों से ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उनके बिना भी अप्रमत्तसंयतादिकों में उसका बन्ध उपलब्ध होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ से भी उसका बन्ध नहीं होता, क्योंकि कर्म के उदय से युक्त उनके उदयरहित काल में भी उसका बन्ध उपलब्ध होता है। निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन से भी उसका बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके बिना भी सूक्ष्मसाम्परायिक संयतों में उसका बन्ध उपलब्ध होता है। जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके नहीं होने पर नहीं होता है, वह उसका कारण है—ऐसा न्याय है। इसलिए ज्ञानावरणीयवेदना, योग और कषाय से होती है, यह सिद्ध हुआ।

इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यार्थिकनय से मात्र सामान्य कारण का ज्ञान होता है। किन्तु प्रत्येक समय में जो भी कार्य होता है, वह पर्याय विशेषरूप बाह्याभ्यन्तर उभय सामग्री के सद्भाव में ही होता है, अन्यथा नहीं होता। यह नियम व्यवहारनय से जहाँ बाह्य सामग्री पर लागू होता है, वहाँ निश्चयनय से निश्चय उपादानरूप आभ्यन्तर सामग्री पर भी लागू होता है। इन दोनों का योग प्रत्येक समय में मिलता है और तदनुरूप कार्य भी प्रत्येक समय में होता है।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि प्रकृत में द्रव्यार्थिकनय का जितना भी कथन है, वह मात्र इतना ज्ञान कराता है कि प्राणातिपात आदि कारण होकर भी इनके सद्भाव में ही बन्ध कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता — ऐसा नियम नहीं है। हाँ, पर्यायार्थिकनय से योग और कषाय नियम से कार्यवाले होते हैं। किन्तु है यह सब असद्भूतव्यवहारनय का ही कथन। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए धवला पुस्तक 6, पुस्तक 11 में लिखा है—

मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो।

जिसके द्वारा मोहा जाये, वह मोहनीय है।

शंका—ऐसा होने पर जीव को मोहनीयपना प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जीव से अभिन्न अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप से स्थित तथा कर्म संज्ञावाले पुद्गलद्रव्य में उपचार से कर्तृत्व का आरोप करके उस प्रकार का कथन किया गया है।

अतएव प्रत्येक कार्य का यथार्थ हेतु समर्थ या निश्चय उपादान ही है। व्यवहार से कालप्रत्यासत्ति होने के कारण जिसके साथ बाह्य व्याप्ति उपलब्ध होती है, उसे भी हेतु, प्रत्यय या निमित्त कहा जाता है। उक्त सन्दर्भ द्वारा आचार्य वीरसेन ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है।

आगे अपर पक्ष ने एक समय में योग को निमित्त कर कितने प्रमाण में वर्गणाऐं या आहारादि वर्गणाऐं बँधती हैं, यह जो चर्चा की है, सो यह भी प्रत्येक कार्य के प्रतिनियत निमित्त को ही सूचित करती है। जैसे प्रत्येक कार्य का प्रतिनियत उपादान होता है, वैसे ही प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीरूप निमित्त भी होता है। यही सनातन सत्य कार्य-कारणव्यवस्था है। अपर पक्ष इसे ही तो स्वीकार करने से हिचकिचाता है। यदि वह इसे स्वीकार कर लेता है, तो बहुत-कुछ विवाद समाप्त हो जाता है।

धवला या जयधवला में जो यह लिखा है कि 'आगम तर्क का विषय नहीं है' वह यथार्थ लिखा है। अतएव यह अपर पक्ष को ही विचार करना है कि श्रुतज्ञानियों की दृष्टि से जो वह तर्काश्रित प्ररूपणा करके अपने अभिप्राय की पुष्टि करना चाहता है, वह कहाँ तक ठीक है। **प्रत्येक कार्य की अपने उपादान के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है और बाह्य-सामग्रीरूप निमित्त के साथ बाह्य-व्याप्ति होती है। यह कार्य-कारणभाव की अकाट्य व्यवस्था है।** व्याप्ति का अर्थ ही यह है कि जिसके होने पर जो हो और जिसके अभाव में जो न हो। यह नियम ही प्रतिनियत कार्य की प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री को सूचित करता है। किन्तु अपर पक्ष प्रमाण तो आगम का उपस्थित करता है और कहता है अपनी बात। हम उससे पूछते हैं कि यह किस आगम में लिखा है कि अनन्तरपूर्वपर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, उनमें से जिस योग्यता के अनुरूप बाह्य सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुरूप होता है ? क्या यह स्वकल्पित कल्पना नहीं है ? इसका अपर पक्ष ही विचार करे। यदि उसे सचमुच में आगम को स्वीकार करना इष्ट है, तो उसे यह भीतर से स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक कार्य की बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि सुनिश्चित है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में अपने-अपने उपादान के अनुसार बाह्य सामग्री को निमित्त कर सुनिश्चित कार्य ही होता है। धवला आदि ग्रन्थों के टीकाकार इस नियम को उन ग्रन्थों के आधार से बराबर समझते हैं। उन्हें कहीं कोई भ्रम नहीं है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि आगम में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों नयों की मुख्यता से कथन उपलब्ध होता है। जहाँ बाह्य-निमित्तप्रधान कथन है, वह व्यवहारनय का कथन है और जहाँ उपादानप्रधान कथन है, वह निश्चयनय का कथन है। प्रत्येक कार्य की अपने निश्चय उपादान के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति है और उसमें निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री के साथ बाह्य व्याप्ति है, इसलिए चाहे आभ्यन्तर व्याप्ति को लक्ष्य में रखकर कथन किया जाये या चाहे बाह्य व्याप्ति को लक्ष्य में रखकर कथन किया जाये, दोनों का तात्पर्य एक ही होगा। उदाहरणार्थ आठ कर्मों के अभाव के साथ मुक्ति की बाह्य व्याप्ति है और रत्नत्रय की समग्रतारूप से परिणत आत्मा के साथ मुक्ति की आभ्यन्तर व्याप्ति है, इसलिए 'आठ कर्मों के अभाव से मुक्ति प्राप्त होती है' चाहे यह कहो या चाहे 'रत्नत्रय की समग्रतारूप से परिणत आत्मा मुक्ति को उत्पन्न करता है' यह कहो, दोनों कथनों से एक ही अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिए आगम में प्रयोजनानुसार दोनों प्रकार से निरूपण किया गया है। इस विषय को स्पष्टरूप से समझने के लिए प्रवचनसार गाथा 189 की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका द्रष्टव्य है—

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता, तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। यस्तु पुद्गल-परिणाम आत्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः।

राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी को ग्रहण करनेवाला है और उसी को त्याग करनेवाला है। यह शुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है। किन्तु जो पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसी को ग्रहण करनेवाला और त्यागनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।

प्रवचनसार टीका का यह ऐसा वचन है, जिससे दोनों प्रकार की कथनी पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर शुद्ध शब्द का प्रयोग एक द्रव्याश्रित परिणाम की विवक्षा से किया गया है और अशुद्ध शब्द का प्रयोग अन्य द्रव्य के परिणाम को अन्य द्रव्य में लगाने के अभिप्राय से किया गया है। इससे यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि **एक द्रव्याश्रित जितना भी कर्ता-कर्म आदि का कथन है, वह यथार्थ है और एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्य का कर्ता आदि बनाकर जितना भी कथन किया जाता है, वह असद्भूतव्यवहाररूप होने से उपचरित है।**

अपर पक्ष का कहना है कि जीव में एक समय में जितने कर्मपरमाणु बाँधने की शक्ति है, उतने कर्म-परमाणु एक समय में जीव बाँधता है। वैसे कर्मपरमाणुओं में तो सभी में एक साथ बँधने की योग्यता है। यदि वे एक साथ नहीं बँधते हैं, तो उसका कारण वे स्वयं न होकर जीव का हीनशक्ति होना है, यह अपर पक्ष का कथन है। किन्तु वस्तुस्थिति क्या है, इसके लिए पंचास्तिकाय का यह वचन अवलोकनीय है—

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा॥ 65॥

आत्मा अपने भाव को करता है, तथा वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावों से अन्योन्यावगाह-अवगाढ़ होकर कर्मभाव को प्राप्त होते हैं॥ 65॥

इस वचन से जहाँ उपादान-उपादेयभाव की यथार्थ व्यवस्था क्या है, इसका ज्ञान होता है; वहाँ उसके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव की क्या व्यवस्था है, इसकी भी सम्यक् जानकारी

मिल जाती है। अपर पक्ष बाह्य-सामग्रीमात्र को निमित्तरूप से स्वीकार न कर, जिस प्रकार प्रतिनियत पर्याय की अपेक्षा उसे निमित्तरूप से स्वीकार करता है, उसी प्रकार वह मात्र द्रव्यप्रत्यासत्ति को उपादानरूप से स्वीकार न कर, यदि प्रतिनियत पर्याय की अपेक्षा उसे उपादानरूप से स्वीकार कर ले, तो अपने पिछले उत्तर में हमने जिन बातों का निर्देश किया है, वे सब उसे यथार्थ प्रतीत होने लगें। गलती कहाँ हो रही है, इस ओर उसे ध्यान देना है।

हमारी छठी बात की चर्चा करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है कि 'उपादान की कार्य के साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है।' आदि। सो अपर पक्ष का यह लिखना ही भ्रमोत्पादक है, क्योंकि—

(1) अनन्तर पूर्वोत्तर दो क्षणों में ही हेतु-फलभाव देखा जाता है। व्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणों में हेतु-फलभाव नहीं बनता। *—प्रमेयरत्नमाला 3, 57।*

(2) परस्पर में अव्यवहित अग्नि-धूमादिक में ही तदुत्पत्ति बनती है, व्यवहित कालवाले में नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर अतिप्रसंग दोष आता है। — *प्रमेयकमलमार्तण्ड, 3, 61।*

(3) परिणमन शक्तिलक्षण प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री ही उपादान होती है।

—अष्टसहस्री, पृष्ठ 150।

(4) पर्यायविशेषात्मक द्रव्य में ही उपादानता प्रतीत होती है, घटपरिणमन में समर्थ पर्यायस्वरूप मिट्टी द्रव्य में घट की उपादानता के समान। *—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 69।*

इससे स्पष्ट है कि एक द्रव्य प्रत्यासत्ति के आधार पर अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणों (पर्यायों) में ही उपादान-उपादेयभाव आगम में स्वीकार किया गया है, केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति में उपादानकारणता आगम में स्वीकार नहीं की गई है, अतएव समनन्तर पूर्वपर्याय में कारणता के बन जाने से उससे समनन्तर नियत उत्तर पर्याय की उत्पत्ति अवश्य होगी और उसमें व्यवहार से निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री का योग भी अवश्य मिलेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर बाह्य सामग्री का योग न मिलने से कार्य रुका रहे या जिस कार्य का वह उपादान है, उससे वह कार्य न होकर बाह्य सामग्री के बल पर अन्य कार्य हो जाये। 'विवक्षित उपादान से विवक्षित कार्य न होकर अन्य कार्य भी हो सकता है' ऐसा न तो आगम में ही स्वीकार किया गया है और न लोक में ही देखा जाता है। अतएव हम अपने पिछले उत्तर के समय छठी बात में जो कुछ तथ्य प्ररूपित कर आये हैं, वह यथार्थ है।

आगे अपर पक्ष ने कालप्रत्यासत्ति का बाह्य सामग्री के आधार पर जो अर्थ किया है, वह भी भ्रमोत्पादक है, क्योंकि जिस समय एक कार्य की बाह्य सामग्री के साथ बाह्य व्याप्ति होती है; उसी समय उसकी अपने उपादान के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है। इसलिए व्यवहार से जिस प्रकार उस कार्य का बाह्य सामग्री के साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जाने से, वह सामग्री व्यवहार से उस कार्य की निमित्त कहलाती है और निष्पन्न हुई पर्याय उस सामग्री की नैमित्तिक कहलाती है, उसी प्रकार निश्चय से उस कार्य का अपनी उपादानभूत प्रति-विशिष्ट अन्त:सामग्री के साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जाने से, निश्चय से वह प्रतिविशिष्ट अंत:सामग्री उसकी उपादान होती है और निष्पन्न हुई वह पर्याय उसका उपादेय होती है। कालप्रत्यासत्ति का यह सम्यक् अर्थ है। आगम में कालप्रत्यासत्ति के ये दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं। (उपादान-उपादेयभाव की दृष्टि से देखो अष्टसहस्री, पृष्ठ 111 तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखो श्लोकवार्तिक, पृष्ठ 151)।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने 'एक द्रव्य का एक काल में एक ही व्यापार होता है' इस तथ्य को स्वीकार कर यह स्पष्ट शब्दों में मान लिया है कि 'जो भी व्यापार होता है, वह अपने उपादान की अपेक्षा उपादेय है और अन्य वस्तु के परिणमन में वही निमित्त है।' अब देखना यह है कि वह एक व्यापार उपादान और निमित्त दो संज्ञाओं को कैसे धारण करता है ? क्या एक द्रव्य के उस व्यापार की ये दोनों संज्ञाऐं वास्तविक हैं ? दोनों संज्ञाऐं एक काल में वास्तविक तो हो नहीं सकतीं, क्योंकि उत्तर समय में होनेवाले कार्य की अपेक्षा उसे उपादान कहा जावे, यह तो बुद्धिसंगत प्रतीत होता है। किन्तु अन्य द्रव्य के कार्य की अपेक्षा इसे वास्तव में निमित्त कहा जाये, यह बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों संज्ञाओं में उपादान यह संज्ञा अनुपचरित अर्थात् वास्तविक है और निमित्त यह संज्ञा पराश्रित होने से वास्तविक नहीं है। केवल दूसरे का साक्षी (सूचक) होने से यह संज्ञा रख दी गई है। इसी का नाम असद्भूतव्यवहार है। अतएव हमने अपने पिछले उत्तर में अन्य वस्तु की अपेक्षा निमित्त व्यवहार को वास्तविक मानने पर जो तीन आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, वे तब तक बराबर बनी रहती हैं, जब तक अपर पक्ष निमित्त व्यवहार को असद्भूत नहीं स्वीकार कर लेता।

आगे हमने जो यह लिखा है कि सब द्रव्यों के उस-उस काल में उस-उसरूप परिणमने की द्रव्य-पर्यायात्मक योग्यता सहज ही होती है आदि। सो हमारे ऐसा लिखने पर

अपर पक्ष को बड़ी आपत्ति है। वह नहीं चाहता कि सभी प्रकार के निमित्तों को एक आसन पर बिठलाया जाये। वह इसमें आगम बाधा देखता है। किन्तु इस बात का विचार तो अपर पक्ष को ही करना है कि प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला मानने पर उसके मत से प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त, ये दो भेद बन कैसे सकते हैं? क्योंकि वह पक्ष जब प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला मानता है, उनमें से कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है, ऐसी अवस्था में सभी निमित्तों को प्रेरक मानना पड़ता है। निमित्तों के उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त, ये भेद बन ही नहीं सकते। किन्तु आगम में केवल द्रव्ययोग्यता को उपादान नहीं स्वीकार किया है। पर्याय उसका विशेषण है। अतएव प्रत्येक उपादान के अपने नियत कार्य को जन्म देते समय जो बाह्य सामग्री व्यवहार से आश्रय निमित्त होती है, उसकी उदासीन निमित्त संज्ञा है और जो बाह्य सामग्री व्यवहार से कर्ता निमित्त या करण निमित्त होती है, उसकी प्रेरक, प्रयोजक या निर्वर्तक निमित्त संज्ञा है। अतएव बाह्य सामग्री में प्रेरक निमित्त व उदासीन निमित्त, ये दो भेद आगम के अनुसार तो बन जाते हैं, परन्तु अपर पक्ष की मान्यतानुसार नहीं बनते, ऐसा यहाँ अभिप्राय लेना चाहिए।

आगे अपर पक्ष ने हमारे 'शब्द विवक्षित वाक्यों का रूप लेकर सीमित अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि कथन के आधार से जो यह लिखा है कि 'जहाँ पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन हो, वहाँ पर व्यवहारनय का कथन उसके प्रतिपक्षीपने के रूप में स्वीकार होता है। लेकिन आपके मतानुसार यदि यह निश्चयनय का कथन है, तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहारनय का कथन तो स्वीकार करना ही चाहिए। परन्तु जब आप व्यवहारनय के विषय को उपचरित, कल्पनारोपित, असद्भूत, मिथ्या आदिरूप मानते हैं, तो फिर कैसे माना जाये कि आप व्यवहारनय के कथन को भी स्वीकार करते हैं।'

इस पर हमारा कहना यह है कि सद्भूतव्यवहार का विषय तो सद्भूत ही होता है। किन्तु असद्भूत व्यवहारनय का विषय असद्भूत या उपचरित ही होता है। ऐसे स्थल पर निश्चय का अर्थ अनुपचरित है और उसके प्रतिपक्षी व्यवहार का अर्थ उपचरित है और इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की युति बन जाती है। असद्भूत व्यवहार का अर्थ असद्भूत या उपचरित है, इसके लिए आलापपद्धति का यह कथन दृष्टिपथ में लेने योग्य है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहार एवोपचारः।

दूसरे में प्रसिद्ध धर्म का दूसरे में समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, गाथा 105 में इसी अर्थ में उपचार शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने गाथा 106 में योद्धाओं का और राजा का जो उदाहरण दिया है, वह भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है। युद्ध योद्धा करते हैं और लोक 'राजा ने युद्ध किया' यह कहते हैं। यह है लौकिक परिपाटी। इसीलिए हम उक्त आगम और तथ्य को ध्यान में रखकर असद्भूत व्यवहार के कथन को उपचरित कहते हैं। अपर पक्ष अपने मन से कहीं कुछ भी लिख आया हो, किन्तु उसके लिखनेमात्र से निमित्त व्यवहार, सद्भूत या वस्तु का वास्तविक धर्म सिद्ध नहीं हो जायेगा। जो असद्भूत है, वह असद्भूत ही रहेगा। निश्चयनय में अंशरूप नयात्मकता अपने में विद्यमान कर्ता आदि धर्मों को गौणकर धर्मी की अपेक्षा है, परद्रव्य में आरोपित कर्ता आदि धर्मों की अपेक्षा नहीं। किसी भी वस्तु में जो भी धर्म सद्भूत होता है, वह परनिरपेक्ष ही होता है। अपने में विद्यमान अन्य धर्मों को गौणकर विवक्षित अंश धर्म को ग्रहण करना, यह नय का कार्य है। **अतएव निश्चयनय में अंशरूप नयात्मकता रहते हुए भी असद्भूत व्यवहार निरपेक्षता ही सिद्ध होती है।** हाँ, असद्भूत व्यवहार तभी व्यवहार कहलाने के योग्य है, जब वह अपने निश्चय का ज्ञान कराने में समर्थ हो। अतएव असद्भूत व्यवहार को यथार्थ के आसन पर बिठलाना, किसी भी अवस्था में उचित नहीं है।

आगे अपर पक्ष ने पुनः स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की 323 वीं गाथा की चर्चा उठाकर '**णिच्छयदी**' पद का अपना अर्थ सूचित किया है। सो इसका संस्कृत टीकाकार ने '**निश्चयतः-परमार्थतः**' अर्थ किया है। वही हमने लिया है। घूम फिरकर अपर पक्ष भी उसी अर्थ को सूचित कर रहा है। केवल कुछ लिखना चाहिए, इसलिए लिखा है। ऐसा ही पद्मपुराण के '**यत्प्राप्तव्यम्**' इत्यादि श्लोक के विषय में तथा भैया भगवतीदासजी के '**जो जो देखी**' इत्यादि दोहे के विषय में तथा स्वामी समन्तभद्र के '**अलंघ्यशक्तिः**' इत्यादि श्लोक के विषय में जानना चाहिए। इसकी विस्तृत चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

आगे आयुकर्म की चर्चा के प्रसंग से अपर पक्ष ने लिखा है कि 'वास्तव में कालमरण और अकालमरण का जितना भी कथन आगम में पाया जाता है, वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने-आपमें अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप कालमरण को और अकालमरण को भी कालमरण की ही संज्ञा देकर, इसे भी निश्चयनय का

ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 के 53 वें सूत्र का कथन तथा अकलंकदेव आदि आचार्यों का इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनय का कथन है।'

यह अपर पक्ष द्वारा हमारे कथन पर टिप्पणी है। अपर पक्ष ने यहाँ पर अपनी टिप्पणी में जिस निश्चयनय का उल्लेख किया है, वह परम पारिणामिकभाव को ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है। पर उससे यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ निश्चयनय का अर्थ आत्माश्रितपना लिया है और व्यवहारनय का अर्थ पराश्रितपना लिया है। जब हम आयु कर्म की अपेक्षा निषेक स्थिति के न घटनेरूप मरण को कालमरण और निषेकस्थिति के घटनेरूप मरण को अकालमरण कहते हैं, तो ये ोनों ही कथन पराश्रित होने से व्यवहारनय की कक्षा में आ जाते हैं। किन्तु जब हम स्वाश्रित उपादान की अपेक्षा पूर्व पर्याय के व्यय को मरण कहते हैं, तो यहाँ कालमरण और अकालमरण ऐसे भेद न रहकर एकमात्र स्वकालमरण ही उसे कहा जा सकता है, इसलिए स्वाश्रित होने से यह निश्चयनय की कक्षा में आता है। यही भाव हमने अपने पिछले उत्तर में दिखलाकर वहाँ यह सूचित किया है, जिसे अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका में उद्धृत किया है। आशा है अपर पक्ष इष्टार्थ को ग्रहण कर अपनी शंका निरसन कर लेगा।

हमारे उक्त कथन से अपर पक्ष का यह समझना ठीक है कि निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है, क्योंकि आयुकर्म की उदय या उदीरणाक्रम से हानि का होना, यथार्थ में जीव का मरण नहीं है। जीव का यथार्थ मरण तो मनुष्यादि एक पर्याय का विनाश ही है। अपर पक्ष ने पूर्व में या यहाँ निश्चयनय या व्यवहारनय की जो परिभाषा दी है, वह उसकी कल्पनामात्र है। वस्तुतः एक वस्तु के गुण-धर्म को उसी का कहना निश्चयनय है और अन्य वस्तु के गुण-धर्म को अन्य का कहना, यह असद्भूत व्यवहारनय है। आगम में इन नयों की यही परिभाषाऐं की गई हैं। कुछ दिग्दर्शन पूर्व में कराया ही है। अपर पक्ष ने जिन धर्मयुगलों की प्रतिशंका 17 में चर्चा की होगी, उनका तो वहीं विचार करेंगे। यहाँ अपर पक्ष ने जिन सत्-असत्, नित्य-अनित्य, तत्-अतत्, एक-अनेकरूप धर्मयुगलों का निर्देश किया है, वे एक द्रव्याश्रित होने से सद्भूत है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन धर्मयुगलों के अन्त में जो यह लिखा है कि 'वस्तु उपादानरूप भी है और निमित्तरूप भी है।' सो यह कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि एक वस्तु में वस्तुतः एक ही कारणधर्म रह सकता है। जैसे एक वस्तु में अपना भी 'सत्' धर्म रहे और अन्य वस्तु का भी 'सत्' धर्म रहे, यह

नहीं बन सकता; उसी प्रकार एक वस्तु में अपने कार्य का भी 'कारणधर्म' रहे और दूसरी वस्तु के कार्य का भी 'कारणधर्म' रहे, यह भी नहीं बन सकता। यदि एक वस्तु में एक साथ दो कार्यों के दो कारणधर्म स्वीकार किये जाते हैं, तो उनमें से एक उपचरित ही होगा। दोनों वास्तविक नहीं हो सकते। यत: प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर पर वस्तु के स्वचतुष्टय में किसी रूप में नहीं पाया जाता, अत: प्रत्येक वस्तु में अपने कार्य का कारणधर्म ही रह सकता है; परवस्तु के कार्य का नहीं। अन्यथा एक द्रव्य के कार्य का कारणधर्म दूसरे द्रव्य में स्वीकार करने पर, उन दोनों में एकता प्राप्त हो जाती है। यदि अपर पक्ष को यह दूषण इष्ट न हो, तो उसे यह भीतर से स्वीकार कर लेना चाहिए कि निश्चय से प्रत्येक द्रव्य के कार्य का कारणधर्म उसी द्रव्य में रहता है, अन्य द्रव्य में नहीं।

आगे अपर पक्ष ने निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा करते हुए हमसे पृच्छा की है कि 'यदि द्रव्य वास्तविक है, तो क्या पर्याय वास्तविक नहीं है आदि।' सो अपर पक्ष को स्मरण रखना चाहिए कि हम यहाँ सद्भूत व्यवहार की चर्चा नहीं कर रहे हैं। निमित्त-नैमित्तिक भाव की चर्चा असद्भूत व्यवहार की कक्षा में आती है तथा गुण-गुणीभेद आदि की चर्चा सद्भूत व्यवहार की कक्षा में आती है। अत: सद्भूत व्यवहार की अपेक्षा जो कुछ भी कहा गया है, वह वास्तविक है। द्रव्य है, पर्याय है, गुण है, गुणी है। यह सब कुछ वास्तविक है। इसका निषेध नहीं। साथ ही अपर पक्ष पर्याय आदि धर्मों को जो व्यवहाररूप लिख रहा है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि परमभावग्राही निश्चयनय की दृष्टि में यदि इन्हें व्यवहाररूप माना भी गया है, तो भी ये पर्यायार्थिकरूप निश्चयनय की दृष्टि में निश्चय-यथार्थस्वरूप ही हैं, इसीलिए आगम में इन्हें सद्भूतरूप से स्वीकार किया है।

यहाँ प्रश्न तो यह है कि आगम में जो निमित्त व्यवहार को असद्भूत कहा है, सो इसका तात्पर्य क्या है? क्या इसका अर्थ यथार्थ लिया जाये या उपचरित? अपर पक्ष समयसार, गाथा 105 में आये हुए 'उपचारमात्र' पद का अर्थ ऐसा घुमाकर करता है, जिससे उपचार पदों में जो अर्थ गर्भित है, वह लुप्त हो जाता है। उपलब्ध पूरे जिनागम का यथासम्भव आलोडन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ एक वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु में आरोपित किया जाता है, वहाँ उस व्यवहार को उपचरित कहते हैं। जैसे किसी बालक को अग्नि कहना, यह उपचार है। पर इस पर से यदि कोई यह समझे कि अग्नि से जो कार्य होता है, वह बालक से हो जायेगा, सो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अष्टसहस्री, पृष्ठ 174 में लिखा भी है—

न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात् पाकादावुपयुज्यते।

अतएव अपर पक्ष ने उपादान के समान अन्य द्रव्य में किये जानेवाले निमित्त व्यवहार को भी जो यथार्थ मानने का आग्रह कर रखा है, उसे वह जितने जल्दी त्याग देगा, उतना ही अच्छा है। निश्चय से उपादान प्रत्येक समय में अपना कार्य परनिरपेक्ष होकर ही करता है। परन्तु उस कार्य में जिसके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है, यह दिखलाने के लिए परसापेक्षता का व्यवहार अवश्य किया जाता है। यदि कहा जाये कि ऐसा व्यवहार न भी किया जाये तो क्या हानि है ? सो इसका समाधान यह है कि प्रत्येक समय के ऐसे व्यवहार से प्रत्येक समय के निश्चय की प्रसिद्धि होती है, इसलिए सप्रयोजन होने से आगम में उसे स्थान मिला हुआ है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्व कर्म का उदय, जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान की प्रसिद्धि करता है। इसी प्रकार उसका उपशम, सम्यक्त्व गुण की प्रसिद्धि करता है। इस प्रकार बाह्य सामग्री ऐसी प्रसिद्धि का हेतु होने से उपचार से उसे उस-उस कार्य के हेतुरूप से स्वीकार किया गया है। ऐसा स्याद्वाद ही यहाँ अपेक्षित है, अन्य प्रकार का नहीं। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्य पर अवश्य ध्यान देगा।

आगे अपर पक्ष ने बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क जीवों के मरण और उत्तर भवग्रहण की जो व्यवस्था सूचित की है, उसमें एक-दो बातों का सर्व प्रथम संकेत कर देना इष्ट प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह तो अपर पक्ष ने स्वीकार ही कर लिया है कि आगामी आयु का बन्ध होने के बाद अकालमरण नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे अनपवर्त्य आयुवाला जीव हो और चाहे अपवर्त्य आयुवाला जीव हो; आगामी भव की आयु का बन्ध होने के बाद दोनों के ही एक-एक स्थिति के क्रम से अधःस्थितिगलना होकर मरण होता है। मरण के काल में आयुकर्म की उदीरणा होकर अकालमरण उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से किसी भी जीव के नहीं होता। फिर भी अपवर्त्य आयुवाले जीव के जो अकालमरण कहा गया है, वह आगामी आयुबन्ध के पूर्व ऐसे जीव के निषेकस्थिति उदीरणा हुई थी, इस बात को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। वर्तमान मरण-समय को ध्यान में रखकर नहीं।

दूसरी यह बात ज्ञातव्य है कि आयुकर्म के उत्तर भेदों में संक्रमण करण को छोड़कर नौ करण होते हैं, ऐसा आगम का अभिप्राय है। इसी तथ्य को सूचित करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है—

संकमकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊणं।
सेसाणं दस करणा अपुव्वकरणो त्ति दस करणा॥ 441॥

नरकादि चारों आयुओं के संक्रमण करण के बिना नौ करण होते हैं और शेष कर्मों के 10 करण होते हैं। ये दसों करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि आयुकर्म के किसी भी भेद में संक्रमण करण की योग्यता तो सर्वथा नहीं होती। शेष 9 करणों में से बन्ध के समय जिसका जैसा बन्ध हुआ हो, वैसी योग्यता उसमें होती है। उदाहरणार्थ आयु के जिन कर्मपरमाणुओं का निकाचित बन्ध हुआ है, उनका उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा तीनों नहीं होते; जिनका निधत्तिबन्ध हुआ है, उनकी तथा जिनका अप्रशस्त उपशम बन्ध हुआ है, उनकी उदीरणा नहीं होती। शेष सत्ता में स्थित कर्मपरमाणुओं का बन्धकाल में उत्कर्षण तथा बन्धकाल में और अन्यदा अपकर्षण और उदीरणा यथायोग्य हो सकती है। ऐसा परिणमन करने का स्वभाव उनका स्वत: होता है और जब उनके उस-उस प्रकार के परिणमन का स्वकाल आता है, तब उसके अनुरूप बाह्यनोकर्म सामग्री भी मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2, सूत्र 53 की तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओं में इन्हीं नोकर्मों को लक्ष्य में रखकर अपवर्त्य आयुवाले जीवों के मरण को अकालमरण कहा है। यह पराश्रित कथन होने से असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, इसलिए इसे उपचरित ही जानना चाहिए। यही कारण है कि भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने समयसार में कहा है—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं॥ 248॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं॥ 249॥

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, तू पर जीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है, तो तूने उनका मरण कैसे किया॥ 248॥ जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, पर जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं, तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया॥ 249॥

यहाँ जीवों का मरण और भुज्यमान आयु का क्षय इन दोनों की सम व्याप्ति देखकर आचार्य महाराज ने उक्त वचन कहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि आयुकर्म का क्षय जीवों

के मरण का मुख्य हेतु है, वह तो निमित्तमात्र है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री आयुकर्म की उदीरणा आदि में निमित्तमात्र है। निश्चय से आयुकर्म की उदय-उदीरणा आदि अपने-अपने कारण से होती है, बाह्य सामग्री के कारण नहीं। उसी प्रकार प्रत्येक जीव का जन्म अथवा मरण निश्चय से अपने-अपने उपादान के अनुसार होता है, आयुकर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। **फिर भी आचार्य महाराज ने नोकर्म में से आसक्ति या इष्टानिष्ट बुद्धि हटाने के लिये बन्ध प्रकरण में ऐसा कहा है कि इस जीव का मरण आदि आयु आदि कर्म के अनुसार होता है। फिर तू ऐसा क्यों विचार करता है कि इसने इसे जिलाया या मारा आदि।**

इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ भी रक्तक्षय आदि के कारण अकालमरण का निर्देश किया है, वहाँ आयुकर्म की उदीरणा आदि की निमित्तभूत बाह्य सामग्री क्या है, इसका ज्ञान कराने के लिए ही वैसा कथन किया है।

जिस प्रतिकूल सामग्री कहते हैं, उसका संयोग तो अनपवर्त्य आयुवाले अन्तःकृत केवली जीवों को भी होता है। इनके ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग होता है जिसकी सीमा नहीं और अपवर्त्य आयुवाले जीवों को भी होता है। फिर क्या कारण है कि अन्तःकृत केवलियों की आयु अनपवर्त्य ही बनी रहती है और दूसरे जीवों की आयु में अपवर्तन हो जाता है। इसका कारण बाह्य सामग्री तो मानी नहीं जा सकती, अन्तरंग हेतु कोई होना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जो आयु अपवर्तन के योग्य होती है, स्वकाल आने पर बाह्य सामग्री को निमित्तकर उसी का अपवर्तन होता है, अन्य का नहीं। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि निश्चय से किसी भी जीव का अकालमरण नहीं होता।

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने अकालमरण के मानने पर हमारे द्वारा दी गई अकालजन्म की आपत्ति को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया है। किन्तु जहाँ उसने यह साहस किया है, वहाँ उस पक्ष को अकालमरण को उपचरित मानने का साहस और करना चाहिए। तभी उसके द्वारा अकालजन्म का निषेध करना सार्थक होगा, क्योंकि व्यय और उत्पाद में संज्ञा और लक्षण आदि का ही भेद है, वैसे जो व्यय है, वही उत्पाद है—ऐसा होने पर अकालमरण के समान अपर पक्ष को विवश होकर अकालजन्म भी मानना पड़ेगा, क्योंकि क्रम सन्तानपरम्परा के मध्य में से किसी एक के क्रम को छोड़कर होने पर उसके आगे की पूरी सन्तानपरम्परा नियतक्रमरहित हो जाती है, अतएव यदि अपर पक्ष अकालजन्म को मानने में हानि देखता है, तो उसे अकालमरण भी उपचरित मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आगे अपर पक्ष ने आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्म आदि की चर्चा करते हुए हमारी आपत्ति के निराकरण के अभिप्राय से लिखा है कि 'कालमरण और अकालमरणवाले जीवों के आगामी आयुकर्म का उदय एक समान होता है, इसलिए आनुपूर्वी कर्म और गतिकर्म के सहारे जीव यथास्थान पहुँच जाते हैं' आदि।

इस पर कहना यह है कि जब कोई भी कार्य क्रमनियत नहीं है, ऐसी अवस्था में अमुक जीव को अमुक स्थान पर उत्पन्न होना है, यह व्यवस्था ही कैसे बन सकती है। जीव अकाल में मरकर उत्पन्न होने के सन्मुख हो और नियत बाह्य सामग्री न हो, तो उसका आयुकर्म के अनुसार उत्पन्न होना कैसे बन सकेगा, क्योंकि अपर पक्ष के मत से आयुकर्म का उदय स्वयं उपादान होने से अनेक योग्यतावाला है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे, यह तो बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और बाह्य सामग्री स्वयं उपादान होने से अनेक योग्यतावाली है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे, यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलंबित है।

अतएव आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्म, आयुकर्म के उदयानुसार जीव को यथास्थान पहुँचा देंगे, यह अपर पक्ष की मान्यतानुसार कथमपि नहीं बन सकता। हाँ, यदि अपर पक्ष इस आपत्ति से बचना चाहता है, तो उसे सभी कार्य स्वकाल में अपनी-अपनी प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री को प्राप्त कर होते हैं, यही तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए।

अपर पक्ष ने परमात्मप्रकाश की गाथा 66 उपस्थित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आत्मा तो पंगु के समान है, जो कुछ भी होता है, कर्म से ही होता है।

किन्तु यह कथन ही इस बात को प्रसिद्ध करता है कि यह सब निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री को लक्ष्य में रखकर विधान किया गया है। यदि इसे यथार्थ कथन मान लिया जाता है, तो आत्मा अपने परिणाम का कर्ता न बन सकने के कारण सांख्यमत में माने गये पुरुष के समान कूटस्थपने को प्राप्त हो जाता है। और उपादान के कार्य का बाह्य सामग्री वास्तविक कर्ता हो, यह हो नहीं सकता, क्योंकि स्वयं आचार्य जयसेन ने समयसार, गाथा 19 की टीका के बाद **'जं कुणदि भावमादा'** इत्यादि गाथा का उल्लेख कर उसकी टीका करते हुए लिखा है—

ववहारा अनुपचरिताद्भूतवयवहारनयात् पोग्गलकम्माण पुद्गलद्रव्यकर्मादिनां कत्तारं कर्तेति।

व्यवहारनय से अर्थात् अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा, पुद्गल कर्मों का अर्थात् पुद्गल द्रव्यकर्मादि का कर्ता है।

यहाँ यह असद्भूत व्यवहारनय से जिस प्रकार आत्मा को पुद्गल द्रव्यकर्मों का कर्ता कहा है, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म जीव को तीन लोक में ले जाते हैं और ले आते हैं, आत्मा तो पंगु के समान है इत्यादि परमात्मप्रकाश के कथन को भी असद्भूतव्यवहारनय का कथन ही समझना चाहिए। और जितना भी असद्भूत व्यवहारनय का कथन होता है, वह सब उपचरित ही होता है, यह स्पष्ट ही है।

आगे अपर पक्ष ने विचारणीय जिन तीन बातों का उल्लेख किया है, वे मात्र पुनरुक्ति को ही सूचित करती है, उनमें नई ऐसी कोई भी बात नहीं कही है।

अकालमरण क्यों कहा गया है और कालमरण क्या है, इसका हम पूर्व में ही खुलासा कर आये हैं। जिसे बद्धायुष्क की अपेक्षा कालमरण अपर पक्ष ने स्वीकार किया है, उसे ही आयुबन्ध के पूर्व विषभक्षण आदि को निमित्त कर हुई उदीरणा की अपेक्षा अकालमरण संज्ञा आगम में दी गई है। इस प्रकार एक ही कार्य एक अपेक्षा से कालमरण और दूसरी अपेक्षा से अकालमरण कहा गया है।

उसमें भी मरण का कथन दो प्रकार से किया जाता है—उपादान की अपेक्षा और आयुकर्म की अपेक्षा। उपादान की अपेक्षा एकमात्र कालमरण ही सिद्ध होता है और यह स्वाश्रित होने से निश्चय कथन है। किन्तु जब इसे ही आयुकर्म की अपेक्षा विवेचित किया जाता है, तब वह पराश्रित होने से व्यवहार संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। उसमें निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है, ऐसा यहाँ विवेक करना चाहिए। आशा है कि इतने स्पष्टीकरण से अपर पक्ष ने यहाँ पर जितना कुछ लिखा है, वह अयथार्थ कैसे है ? यह उसकी समझ में आ जायेगा।

अपर पक्ष आगम के प्रति श्रद्धावान् बना रहे, यही हमारी भी आकांक्षा है। परन्तु यह श्रद्धा तभी सच्ची श्रद्धा कहलावेगी, जब वह निमित्त कथन को उपचरित मान लेगा, क्योंकि निमित्त कथन उपचरित है, यह हमारा कहना न होकर आगम का ही कथन है। प्रमाण हम पूर्व में ही दे आये हैं।

आगे अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 2, सूत्र 53 का वचन उद्धृत किया है, सो यह सच है कि आयुकर्म की उदीरणा होती है और उसमें विषभक्षण आदि व्यवहार हेतु होता

है। भट्टाकलंकदेव ने उक्त वचन द्वारा उसी तथ्य की स्वीकृति दी है। बाह्य सामग्री की अपेक्षा कुछ कार्य प्रायोगिक होते हैं और बहुत से कार्य वैस्रसिक भी होते हैं, यही उक्त कथन का अभिप्राय है। समस्त जिनागम से भी इसका समर्थन होता है। परन्तु जिसे हम बाह्य सामग्री की अपेक्षा अकालपाक कहते हैं, अपने उपादान की अपेक्षा वह अपने काल में ही हुआ है। भट्टाकलंकदेव ने उक्त कथन में बाह्य सामग्री की अपेक्षा ही विचार किया है, इसलिए उसे व्यवहारनय का वचन ही जानना चाहिए। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में एतद्विषयक जो विवेचन उपलब्ध होता है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि जो आयुकर्मरूप अदृष्ट विशेष बाह्य सामग्री को निमित्तकर अपवर्तित नहीं होता, उसकी अनपवर्त्य आयुसंज्ञा है और इससे अतिरिक्त की अपवर्त्य आयुसंज्ञा है।

चैत्यभक्ति में '**द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ**' इत्यादि वचन आया है। इसमें दो जिनदेव को श्वेतवर्णवाला, दो जिनदेव को नीलवर्णवाला आदि बतलाकर इसे जिनदेव की स्तुति कहा गया है। यद्यपि यह आगम वचन ही है और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप से अवस्थित किस भगवान के किस शरीर का क्या रंग है, यह तथ्य इस वचन द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। फिर भी इस बात को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

तं णिच्छए ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥ 29॥

वह स्तवन निश्चय में ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली जिनके नहीं हैं। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वही परमार्थ से केवली की स्तुति करता है॥ 29॥

दोनों प्रकार के वचन आगम होने पर भी निश्चयनय के कथन और व्यवहारनय के कथन में क्या अन्तर है, यह इस वचन से भलीभाँति विदित हो जाता है। इस वचन से यह हम इच्छी तरह से जान लेते हैं कि परमागम में निश्चयनय के कथन को क्यों तो यथार्थ कहा गया है और क्यों व्यवहारनय के कथन को उपचरित कहा गया है। यही कारण है कि कर्ता-कर्म का विचार करते हुए आचार्य महाराज ने समयसार, गाथा 84 में व्यवहार से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता बतलाकर भी गाथा 85 में उस व्यवहार को सदोष बतलाकर, दूसरे शब्दों में उसका निषेध कर दिया है। हमें भरोसा है कि अपर पक्ष इन तथ्यों पर ध्यान देकर तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त कथन को निमित्त प्रधान कथन होने के कारण उपचरित स्वीकार कर लेगा।

39. स्वकाल विचार

(1) आगे अपर पक्ष ने स्वकाल का विचार करते हुए जो यह लिखा है कि स्वचतुष्टय में आया हुआ 'स्वकाल' शब्द प्रतिक्षण में होनेवाले परिणमनों के क्रमरूप है और फिर इस परिणमनरूप कार्य को कारणों के अधीन बतलाकर जो नियतक्रम और अनियतक्रम के समर्थन करने का उपक्रम किया है, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपादान ही उपादेयरूप से परिणमित होता है, अतएव प्रत्येक द्रव्य का त्रिकाल का विषयभूत जितना भी स्वकाल है, वह सब क्रमनियत ही होता है। बाह्य सामग्री तो उसमें उपकरणमात्र है। आगम में प्रत्येक द्रव्य के अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणों में उपादान-उपादेयभाव बतलाया है, अतएव प्रत्येक समय में जो उपादान होता है, प्रत्येक कार्य उसी के अनुरूप होता है। यह निश्चय कथन है।

(2) व्यवहारनय से स्वकाल का अर्थ प्रत्येक कार्य में निमित्तभूत कालद्रव्य की पर्याय करने पर जितने काल के समय हैं, उतने ही प्रत्येक द्रव्य के कार्य हैं, अतएव काल के प्रत्येक समय के साथ अन्य द्रव्यों के एक-एक कार्य का क्रमिक योग अनादि काल से बनता चला आने के कारण इस अपेक्षा से भी सभी कार्य क्रमनियत ही सिद्ध होते हैं। कालद्रव्य उदासीनकारण है, इसलिए कोई भी कालसमय किसी भी कार्य के लिए निमित्त होता है, यह कथन निराधार होने से स्वीकार नहीं किया जा सकता। हम देखते हैं कि आगम में जहाँ भी दृष्टि डालो वहीं '**काललब्धि**' पद का उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है। अनगारधर्मामृत अध्याय 2, श्लोक 46-47 में सम्यक्त्व की सामग्रीविशेष का संकेत करते हुए लिखा है— '**कालादिलब्धिभाक्।**' इसी बात को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री, पृष्ठ 274 में लिखा है—

केषांचित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यात्।

सवार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 3 में लिखा है—

काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति।

यहाँ पर काल विशेष्य है और अर्धपुद्गलपरिवर्तन संज्ञा उसका विशेषण है। इससे विदित होता है कि इस जीव के अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन जिसका नाम है, ऐसे काल के संसार में शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण की योग्यता होती है; इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं।

प्रश्न यह है कि इससे अधिक काल के शेष रहने पर यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य क्यों नहीं होता ? आचार्य विद्यानन्दि के सामने भी यह प्रश्न था। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 91 में इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात्।

जिन भव्य जीवों की मुक्ति सन्निकट है, उन्हें ही दर्शनमोह का प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्य को नहीं; क्योंकि किसी कारण का सन्निधान कभी हो, किसी कारण का सन्निधान कभी हो, ऐसा नहीं है।

अपने इसी कथन का उपसंहार करते हुए, वे वहीं पुनः लिखते हैं—

इति युक्तिमानासन्नभव्यादिविभागः सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेऽपि सर्वसंसारिणाम्।

इस प्रकार सब संसारी जीवों के सम्यग्दर्शनादिरूप शक्ति के होने पर भी आसन्नभव्यादि का विभाग युक्तियुक्त है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्य का काल प्रतिनियत है। उसी काल में बाह्याभ्यन्तर सामग्री का योग होकर वह कार्य होता है, अन्य काल में नहीं। इस प्रकार कालद्रव्य के समयों के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं।

(3) आगे अपर पक्ष ने प्रवचनसार में प्रतिपादित कालनय और अकालनय की चर्चा करते हुए अन्त में लिखा है कि 'इन दोनों काल तथा अकाल नयों का विधान करके श्री अमृतचन्द्र सूरि पर्याय के एकान्त क्रमनियत काल का स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।'

अपर पक्ष ने यहाँ इन दोनों नय वचनों का उल्लेख कर जो पर्यायों के क्रमनियतपने का निषेध किया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि ये दोनों नयवचन हैं, जो सप्रतिपक्ष होने से मात्र अपनी-अपनी विवक्षा को सूचित करते हैं। इसका अर्थ ही यह है कि उन दोनों का कथन एक ही काल में लागू पड़ता है।

पहले क्रमांक 16-17 में सामान्यनय और विशेषनय कह आये हैं। सामान्यनय की अपेक्षा आत्मद्रव्य को व्यापक और विशेषनय की अपेक्षा, उसे अव्यापक बतलाया है। सो इस पर से यदि कोई यह अर्थ करे कि कभी आत्मद्रव्य व्यापक है और कभी अव्यापक है, तो उसका जैसे यह अर्थ करना ठीक नहीं होगा; उसी प्रकार उक्त दोनों नयवचनों के आधार पर

अपर पक्ष का यह अर्थ फलित करना भी ठीक नहीं है कि श्री अमृतचन्द्रसूरि उक्त कथन द्वारा पर्याय के एकान्त क्रमनियत काल का निराकरण कर रहे हैं।

विचार कर देखा जाये तो कालनय में काल की विवक्षा है और अकालनय में काल को गौणकर अन्य हेतुओं की विवक्षा है। जहाँ अन्य हेतुओं को गौणकर काल की प्रधानता से कार्य को दृष्टिपथ में लिया जाता है, वहाँ वह कालनय का विषय होता है और जहाँ काल को गौणकर अन्य विस्रसा या प्रयोग से प्राप्त हेतुओं को प्रधानता से कार्य को दृष्टिपथ में लिया जाता है, वहाँ वह अकालनय का विषय होता है। इस प्रकार एक ही कार्य कालनय का भी विषय है और अकालनय का भी। यदि ऐसा न माना जाये तो इन्हें नय वचन कहना संगत न होगा। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन से कोई पर्याय क्रमनियत होती है और कोई पर्याय क्रम अनियत होती है, यह त्रिकाल में सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत इससे यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रमनियत होकर भी, वे विवक्षाभेद से काल और अकाल इन दोनों नयों के विषय हैं।

(4) आगे अपर पक्ष ने प्रवचनसार में प्रतिपादित नियतिनय और अनियतिनय की भी चर्चा की है और साथ ही स्वभावनय, अस्वभावनय आदि नयों का भी उल्लेख किया है, सो इस सब कथन पर से अपर पक्ष क्या फलित करना चाहता है ? इसका स्पष्ट संकेत न होने से हम यहाँ इन सबकी विशेष चर्चा नहीं करेंगे। एकान्त का परिग्रह यदि अपर पक्ष को इष्ट हो, तो भले ही रहा आवे। हमने न तो एकान्त का परिग्रह ही किया है और न ही एकान्त, जैन शासन में स्वीकृत ही है। हाँ, यदि अपर पक्ष एक द्रव्य के कार्य का कारण धर्म दूसरे द्रव्य में परमार्थ से रहता है, इसे स्वीकार कर और इस प्रकार दो द्रव्यों में एकता स्थापित कर, इसे अनेकान्त संज्ञा देने में ही चरितार्थता मानता है, तो भले ही माने; परन्तु **जैन शासन तो एक द्रव्य के स्वचतुष्टय में अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय की नास्ति ही घोषित करता है।** और इस प्रकार एक द्रव्य के कार्य का कारण धर्म, दूसरे द्रव्य में परमार्थ से नहीं ही रहता है, यही सिद्ध होता है।

(5) आगे अपर पक्ष ने पण्डितप्रवर टोडरमलजी रचित मोक्षमार्गप्रकाशक के एक कथन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, सो जहाँ पण्डितजी ने काललब्धि और होनहार के स्वतन्त्र वस्तु होने का निषेध किया है, वहाँ वे क्या हैं, इसका भी विधान किया है। कालद्रव्य की विवक्षित पर्याय के साथ अन्य द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों का जो सहज योग

प्रतिक्षण बनता है, उसी का नाम काललब्धि है। इसके सिवाय वह अन्य कुछ नहीं है। पण्डितजी ने यही बात काललब्धि के विषय में कही है। होनहार भवितव्यता का पर्यायवाची है। इसे सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। सो किसकी किस काल में क्या भवितव्यता या होनहार है, इसका ज्ञान उस काल में उससे होनेवाले कार्य से ही होता है। पण्डितजी ने '**जो कार्य भया सोई होनहार**' इन शब्दों द्वारा इसी तथ्य का ज्ञान कराया है। अतएव पण्डितजी के कथन से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है।

(6) आगे अपर पक्ष ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 219 में आये हुए कालादि लब्धि का अर्थ मात्र रत्नत्रय बतलाकर जो काल की मुख्यता का निषेध किया है, वह ठीक नहीं; क्योंकि व्यवहारनय से कालादि लब्धि का अर्थ जहाँ काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भाव आदि सामग्री की प्राप्ति होती है, वहाँ निश्चयनय से काल शब्द अपनी विवक्षित पर्याय को भी सूचित करता है। अतएव नयविवक्षा से किसी भी अर्थ के ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं आती। तथापि अपर पक्ष ने उक्त गाथा की टीका का जो एकान्तरूप आशय लिया है, वह क्यों ठीक नहीं। इसके लिए हम वह टीकावचन ही यहाँ दे देना इष्ट समझते हैं—

कालादिलब्धियुक्ताः कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्रीप्राप्ताः। पुनरपि कीदृक्षास्ते अर्थाः ? नानाशक्तिभिः अनेकसमर्थताभिः नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभिः संयुक्ताः। यथा जीवाः भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति।

कालादिलब्धि से युक्त अर्थात् काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भावादिरूप सामग्री को प्राप्त हुए वे अर्थ। फिर भी कैसे हैं वे पदार्थ ? नाना शक्तियों से अर्थात् नाना प्रकार के स्वभावों से युक्त अनेक समर्थताओं से संयुक्त हैं। यथा—जीव भव्यत्वादि शक्तियों से संयुक्त होकर रत्नत्रय आदिरूप काललब्धि को प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

स्पष्ट है कि उक्त टीकावचन से भी प्रत्येक कार्य के स्वकाल का निषेध नहीं किया जा सकता।

(7) आगे अपर पक्ष ने पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्र के दो वचन उद्धृत कर अपने पक्ष के समर्थन करने का जो प्रयत्न किया है, वह ठीक नहीं; क्योंकि प्रथम वचन द्वारा एकान्त से काल की व्यवहार हेतुता का निषेध किया गया है। तभी तो उक्त वचन में निष्कर्ष को सूचित करते हुए अन्त में यह लिखा है—

'कार्य की उत्पत्ति में जैसे काल एक निमित्त है, वैसे अन्य भी निमित्त हैं। अतः कार्य की उत्पत्ति में केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।'

यद्यपि उक्त वचन के प्रारम्भ का वाक्य कुछ भ्रम को उत्पन्न करता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसका व्याख्यान नाना जीवों की अपेक्षा करने पर आगम से उसकी सुसंगति बैठ जाती है। वस्तुतः वह वचन तत्त्वार्थवार्तिक के '**कालानियमाच्च**' का व्याख्यानमात्र है। परन्तु तत्त्वार्थवार्तिक में जिस प्रकार वह वचन नाना जीवों की अपेक्षा लिखा गया है, वैसा विशद स्पष्टीकरण तत्त्वार्थसूत्र के उक्त वचन में अवश्य किया जाना चाहिए था। अपर पक्ष ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, इसलिए इतना खुलासा करने का हमें अवसर मिल सका, इसके लिए हम अपर पक्ष को धन्यवाद देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का दूसरा वचन मात्र कर्म की उत्कर्षणादि अवस्थाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया है, जो व्यवहारनय वचन होने से युक्तियुक्त है।

अतएव पण्डित फूलचन्द्र द्वारा रचित तत्त्वार्थसूद्ध से भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य स्वकाल में ही होते हैं। पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री ने कार्य के प्रति निमित्तभूत बाह्य सामग्री की मर्यादा क्या है ? इसका विस्तृतरूप से विचार तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 30 की टीका में किया है। यह टीका वि० नि० सं० 2476 के पूर्व लिखी गई थी। तभी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रत्येक कार्य के प्रति निमित्त की क्या मर्यादा है। इसमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त का क्या तात्पर्य है ? यह भी स्पष्ट किया गया है। आशा है अपर पक्ष उसका अवलोकन कर वस्तुस्थिति क्या है, उसे समझने का अवश्य ही प्रयत्न करेगा।

इस प्रकार काललब्धि के आधार से भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं।

40. दिव्यध्वनि आदि सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं

अपर पक्ष ने पुनः दिव्यध्वनि का प्रश्न उठाकर उस द्वारा सभी कार्य नियतक्रम से ही होते हैं, इसका खण्डन करने का प्रयत्न किया है, जो युक्ति-युक्त नहीं है। इसकी पुष्टि में पिछले उत्तर में हम जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 76 का प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। धवला पुस्तक 9, पृष्ठ 120-121 में भी यही बात कही गई है। इन दोनों वचनों में दो बातों का स्पष्ट निर्देश दृष्टिगोचर होता है। यथा—

(1) प्रश्न यह है कि जिस समय भगवान को केवलज्ञान हुआ, उसी समय देवेन्द्र ने गणधर को क्यों उपस्थित नहीं कर दिया ? इसका समाधान आचार्य ने यह लिख कर नहीं किया कि इन्द्र क्षयोपशमज्ञानी था, इसलिए उस समय उसके ख्याल में यह बात नहीं आई। किन्तु उक्त प्रश्न का समाधान यह लिख कर किया है कि काललब्धि के अभाव में उस समय इन्द्र में ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी कि वह भगवान के केवलज्ञान के होने के समय ही गौतम गणधर को लाकर उपस्थित कर देता। इससे इस बात का स्पष्टरूप से निर्णय हो जाता है कि प्रत्येक कार्य अपने नियत समय में ही होता है, आगे-पीछे नहीं।

(2) दूसरा प्रश्न यह है कि जिस तीर्थंकर के पादमूल में जिसने दीक्षा ली है, उसे निमित्तकर ही उनकी दिव्यध्वनि क्यों खिरती है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि **ऐसा स्वभाव ही है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न के योग्य नहीं होता।**

उक्त शंका—समाधान में ये दो प्रश्न और उनके दो उत्तर अर्थगर्भ हैं। इनसे प्रथम तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य के लिए निमित्त-नैमितिकयोग अपनी-अपनी काललब्धि के अनुसार सहज ही मिलता है। दूसरे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य का निमित्त सुनिश्चित है और वह काललब्धि के अनुसार ही विस्रसा या प्रयोग से उपस्थित होता है। प्रयोग से भी यदि बाह्य सामग्री का योग मिलता है, तो वह काललब्धि के अनुसार ही मिलता है; आगे-पीछे नहीं। तीसरे, इससे यह भी सिद्ध होता है कि केवलज्ञान होने पर तत्क्षण जो दिव्यध्वनि नहीं खिरी, वह स्वभाव से ही नहीं खिरी। गणेन्द्र के नहीं मिलने से दिव्यध्वनि नहीं खिरी, यह तो व्यवहार कथनमात्र है, जो मात्र बाह्य सामग्री के योग को सूचित करता है। निश्चय कथन तो यही है कि जिस काल में जो कार्य होना होता है, उसी काल में वह होता है—ऐसा वस्तु परिणमनरूप स्वभाव है। अनन्तरपूर्वक पर्याययुक्त द्रव्य को उपादान कहते हैं, इस नियम के अनुसार जिस समय दिव्यध्वनि खिरी, उसके पूर्व समय में ही भाषावर्गणाऐं उसका समर्थ उपादान हुईं। केवलज्ञान कोई दिव्यध्वनि का उपादान नहीं है। वह तो गणेन्द्र के समान निमित्तमात्र है, अतएव केवलज्ञान होने पर दिव्यध्वनि खिरनी ही चाहिए—ऐसा नियम नहीं बन सकता, यह बात भी इससे सिद्ध होती है। इस प्रकार केवलज्ञान के होने पर भी गणधर का न मिलना और दिव्यध्वनि का न खिरना ही यह सिद्ध करता है कि **जब दिव्यध्वनि के खिरने का स्वकाल आया, तब गणधर के योगपूर्वक केवलज्ञान उसके खिरने में निमित्त हुआ।** यहाँ अपर पक्ष ने शेष जिन बातों का उल्लेख किया

है, उनका समुचित उत्तर पूर्व में दिया ही गया है, अतएव उन विषयों की यहाँ पुनः चर्चा नहीं की गई है।

41. कर्मनिर्जरा और मुक्ति का काल नियत है; अनियत नहीं

अपर पक्ष ने कर्मनिर्जरा का काल नियत नहीं, इस अभिप्राय की पुष्टि में तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 3 का '**कालानियमाच्च निर्जरायाः**' वार्तिक उपस्थित किया है। किन्तु यह वार्तिक नाना जीवों की अपेक्षा निर्जरा के काल के अनियम का विधान करता है अर्थात् किसी जीव की संख्यात काल में कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है और किसी जीव की असंख्यात काल में कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है, आदि। एक जीव की अपेक्षा यह कर्म-निर्जरा के काल के अनियम का विधान नहीं करता। इस अपेक्षा से तो जिसकी कर्मनिर्जरा आदि का जो काल नियत है, उस काल में ही कर्मनिर्जरा आदि होकर उसे मुक्तिलाभ होता है, यही सिद्ध होता है। 6 माह 8 समय में छह सौ आठ जीव मुक्तिलाभ करते हैं, यह नियम इसी आधार पर किया गया है। धवला पुस्तक 14, पृष्ठ 143 में आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

सव्वकालमदीदद्धा सव्वजीवरासीए अणंतिमभागे, अण्णहा संसारिजीवाणमभावप्पसंगादो। सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदिभागो चेव, छम्मासमंतरिय णिव्वुइगमणणियमादो।

सर्वदा अतीत काल सब जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण रहता है, अन्यथा सब जीवों के अभाव होने का प्रसंग आता है।

सिद्ध जीव सर्वदा अतीत काल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होते हैं, क्योंकि छह महीने के अन्तर से मोक्ष जाने का नियम है।

इससे विदित होता है कि कितने काल में कितने जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं और कितने जीव कितने काल में मुक्तिलाभ करते हैं, यह सुनिश्चित नियम है। अतएव जिसका सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का जो समय है, उसी समय वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है और जिसका मोक्ष जाने का जो समय है, उसी समय वह मुक्तिलाभ करता है। गति-आगतिसम्बन्धी सब जीवों की पूरी व्यवस्था अपने-अपने उपादान के अनुसार सुनिश्चित है। उसी के अनुसार प्रत्येक कार्य होता है। इस विषय की पुष्टि में विशेष प्रमाण हम पहले दे आये हैं।

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के हमारे द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाण के विरोध में लिखा है कि 'उक्त प्रमाणों से यही प्रमाणित होता है कि सहकारी कारणों के सद्भ्भाव होने

पर उपादानकारण कार्यरूप परिणत होता है।' सो अपर पक्ष के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपादानकारण तो सदा विद्यमान है, मात्र सहकारी सामग्री का जब योग मिलता है, तब कार्य होता है। किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान का उपादानकारण बारहवें गुणस्थान में अन्तिम समयवर्ती जीव है, प्रथम समयवर्ती जीव नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 70 में लिखा है—

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरत्न्यक्षणे मता॥ 89॥

ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः।
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ॥ 90॥

मोहनीय कर्म के प्रथम क्षण में क्षीण हो जाने पर भी जिस प्रकार क्षीणकषाय के अन्त्य क्षण में ज्ञानावरणादि के नाश करने की शक्ति मानी गई है, उसी प्रकार अयोगी जिनके अन्त्य क्षण में शेष कर्मों के क्षय की शक्ति मानी गयी है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति का उपादानकारण बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही होता है; प्रथम समय में नहीं।

हम पिछले उत्तर में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 71 का '**निश्चयनयाश्रयणे तु**' इत्यादि वचन उद्धृत कर आये हैं। इस वचन में मोक्ष का समर्थ उपादानकारण अयोगीकेवली के अन्तिम समय में स्थित जीव को बतलाया गया है। अपर पक्ष ने भी प्रतिशंका 3 में उसे उसरूप में स्वीकार कर लिया है। अतएव जिस प्रकार अपर पक्ष ने अन्तिम समयवर्ती अयोगीकेवली जीव को मोक्ष का समर्थ उपादानकारण स्वीकार कर लिया है, जो आगम-सम्मत है; उसी प्रकार अन्तिम समयवर्ती क्षीणकषाय जीव को केवलज्ञान का समर्थ उपादान कारण उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि बारहवें गुणस्थान का अन्तिम समयवर्ती जीव जहाँ केवलज्ञान की उत्पत्ति का समर्थ उपादानकारण है, वहीं वह ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय का प्रतिनियत निमित्त है। यह तो जीव की अपेक्षा विचार है। कर्मों की अपेक्षा विचार करने पर जहाँ बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में स्थित ज्ञानावरणादि कर्म, तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अपनी अकर्म पर्याय के उपादानकारण है, वहीं उनकी कर्म-पर्याय का व्यय केवलज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है। इस प्रकार इससे यही सिद्ध होता है कि लोक में जितने भी कार्य हुए, होते

हैं और होंगे, उन सबकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री सुनिश्चित है। प्रत्येक समय में वैसा योग मिलता है और वही कार्य होता है। आचार्य कहीं उपादान की अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं और कहीं बाह्य सामग्री की अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं। दोनों कथनों का फलितार्थ एक ही है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इन दोनों शैलियों को अपनाकर विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 58 में समस्त कर्मों के क्षय को मोक्ष का कारण कहा है और पृष्ठ 71 में अयोगकेवली के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है, सो ये दोनों कथन अपने-अपने स्थान में युक्तियुक्त है। व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर प्रथम कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि समस्त कर्मों के क्षय के साथ मोक्ष की काल-प्रत्यासत्ति है, इसलिए व्यवहारनय से यह कहा गया है कि समस्त कर्मों के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथा निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर दूसरा कथन परमार्थभूत प्रतीत होता है, क्योंकि अयोगकेवली के अन्तिम समय में रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष पर्याय को उत्पन्न करता है, समस्त कर्मों का क्षय नहीं।

स्पष्ट है कि कर्मनिर्जरा और मोक्ष अपने-अपने नियत काल में ही होते हैं, इसकी पुष्टि में पिछले उत्तरों मे हम जो कुछ भी लिख आये हैं, वह यथार्थ है।

अपर पक्ष एक ओर तो हमें '**कालादिसामग्रीकः**' और '**कालविशेषस्य सहकारिणः**' इत्यादि उल्लेखों पर विचार करने की प्रेरणा करता है और दूसरी ओर काल को उदासीन कारण बतलाकर यह अभिप्राय व्यक्त करने से भी नहीं चूकता कि कोई भी काल किसी भी कार्य के लिए निमित्त है, अमुक काल ही अमुक कार्य के लिए निमित्त होता है - ऐसा नहीं है। इसी को कहते हैं अपनी धारणा के अनुसार आगम का अर्थ करना।

आपने अदालत की बात लिखी पर हमें तो अदालत जाने का अभ्यास नहीं है, इसलिए अदालत में केस कैसे जीता जाता है, यह सब हम नहीं जानते; उसकी रुचि भी नहीं है। हमारे सामने तो आगम के पत्र खुले हैं, जिनके आधार पर हमें निर्णय करना है। उनमें अपर पक्ष जिसे प्रेरक सामग्री कहता है, उसके समान काल विशेष पर भी उतना ही बल दिया गया है। यथा—

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः॥ 46॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 65

इस कारण मोक्षमार्ग तीन प्रकार का है, यह विरोध को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विशिष्ट काल से युक्त तीनरूप, उसमें ही मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य है ॥ 46 ॥

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्। *—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 71*

क्षीणकषाय के प्रथम समय में उसके आविर्भाव का प्रसंग आता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय अपेक्षणीय सहकारी कालविशेष का अभाव है।

विद्वान् पाठक देखेंगे कि इन उल्लेखों में अमुक कार्य, अमुक काल में ही होता है — इस तथ्य पर कितना अधिक बल दिया है। हमें आशा है कि अपर पक्ष वस्तुस्थिति का विचार कर अपने विचारों में अवश्य ही परिवर्तन करेगा।

यह सच है कि काललब्धि पद द्वारा केवल काल का ही ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अन्य सामग्री का भी ग्रहण किया है। पर इतने मात्र से प्रतिनियत कार्य के प्रतिनियत काल का निषेध नहीं हो जाता। बाह्य सामग्री, जिस कार्य के साथ उसकी व्याप्ति है, उसकी सूचक है और इस मायने में उसे निमित्तरूप से स्वीकार करने में सार्थकता भी है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने व्यापार द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से यदि उसे निमित्त कहा जाता है, तो उसमें निमित्तपने का व्यवहार उपचरित या आरोपित ही होगा। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 20 में अन्तरीक्ष, भीम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न — इन आठ महानिमित्तों का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ भी अन्य सामग्री में 'निमित्त' शब्द का व्यवहार हुआ है, वह मुख्य के सूचन के अर्थ में ही हुआ है। इसी अर्थ में अन्य सामग्री में निमित्त व्यवहार की सार्थकता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

42. कर्मों का परिपाक प्रतिनियत ही होता है

अपर पक्ष ने शिकायत करते हुए लिखा है कि 'अनियत पर्याय सिद्ध करने के लिए हमने अपने पत्रक में कर्मपरिपाक के अनियत होने का प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया और यह लिखकर उसे टाल दिया कि यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है, जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा। प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्य की पोषक न होने से आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अतः हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्याय का समर्थन करता है।'

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा था—'रही कर्मादिक के संक्रम आदि की बात, सो ऐसा मान लेने पर कि कर्म का उदय होने पर भी उदय के विरुद्ध साधन मिलने से उन कर्मों का फल नहीं मिलता, यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है, जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।'

यह हमारा वक्तव्य है। अब देखना यह है कि हमने यह वक्तव्य अपर पक्ष के किस कथन को ध्यान में रखकर लिपिबद्ध किया था। आगे प्रतिशंका 2 से उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'अरहन्त भगवान के असातावेदनीयकर्म का उदय सातारूप से हुआ करता है। नरक में सातावेदनीय का उदय (फल) असातावेदनीय के रूप में होता है। देवगति में दुःखदायक साधन न होने से असातावेदनीय का उदय दुःखदायक नहीं होता।'

अपर पक्ष ने इस कथन द्वारा यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि कर्म का उदय तो हो, पर उसके अनुकूल बाह्य सामग्री न हो, तो जीव को उसका फल नहीं भोगना पड़ता या उसके विपरीत फल की प्राप्ति होती है। अपने इस कथन की पुष्टि में अपर पक्ष ने सातावेदनीय और असातावेदनीय के उदय को उदाहरणरूप में उपस्थित किया है।

अपर पक्ष के इस कथन से हम यह तो नहीं समझ सके कि वह अपने इस विचार के अन्तर्गत सब कर्मों के उदय को सम्मिलित करता है या केवल सातावेदनीय और असातावेदनीय के उदय तक ही इसे सीमित रखता है। यदि उस पक्ष का उक्त कथन के आधार पर यही विचार हो कि किसी भी कर्म का उदय क्यों न हो, वह तभी अपना फल दे सकता है, जब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री हो। बाह्य सामग्री के अभाव में या तो जीव को उसका फल नहीं भोगना पड़ता या फिर जैसी बाह्य सामग्री हो, वैसा उसका फल मिलता है। तब तो यही मानना पड़ेगा कि यदि किसी जीव को गुस्सा उत्पन्न होता है, तो यह नहीं माना जा सकता कि उसके क्रोध कषाय का ही उदय है, मानादि कषाय का उदय नहीं है। या जो मनुष्य पर्याय में है, उसके मनुष्य गति का ही उदय है, तिर्यंचादि गति का उदय नहीं है, क्योंकि अपर पक्ष के मतानुसार कार्य तो बाह्य सामग्री के अनुसार होता है, कर्म के उदयानुसार तो होता नहीं।

यदि यह दोष प्राप्त न हो, इस भय से अपर पक्ष का कहना यह हो कि यह नियम सब कर्मों के उदय के लिए नहीं है। कुछ कर्मों के उदय के लिए तो उक्त नियम है और कुछ कर्मों

के उदय के लिए यही नियम है कि जैसा कर्मों का उदय होता है, वैसी बाह्य सामग्री मिलती ही है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि वे कौन कर्म हैं, जिन पर उक्त नियम लागू होता है और उनसे भिन्न दूसरे कौन कर्म हैं, जिन पर उक्त नियम लागू नहीं होता, इसका आगम से स्पष्टीकरण करना था। आगम में तो मात्र केवलीजिन को लक्ष्य कर यह लिखा है कि उनका असातोदय सातारूप से परिणाम जाना है। किन्तु आगम में इस प्रकार के निर्देश का कारण है।

(1) प्रथम तो इसका कारण यह है कि उनके मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव हो गया है, और मोहनीयकर्म के अभाव में वेदनीयकर्म सुख-दु:खरूप अपना कार्य करने में अक्षम है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा भी है—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु॥ 19॥

वेदनीयकर्म, मोहनीय के बल से घातियाकर्मों के समान जीव को घातता है, इसलिए घातियाकर्मों के मध्य में और मोहनीयकर्म के आदि में उसका पाठ रखा है॥ 19॥

(2) दूसरा इसका मुख्य कारण यह है कि क्षपकश्रेणी के प्रत्येक समय में पाप प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता हुआ सयोगकेवली के असातावेदनीय का अनुभाग वहाँ बँधनेवाला सातावेदनीय के अनुभाग से भी अनन्तगुणा हीन रह जाता है और चूँकि वहाँ ईर्यापथ आस्रव होने के कारण सातावेदनीय का प्रत्येक समय में उदय है, अत: अनन्तगुणे अनुभागवाले सातावेदनीय के उदय में अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले असातावेदनीय का उदय अन्तर्निहित हो जाता है, इसलिए यह कहा है कि असाता का उदय सातारूप परिणम जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा भी है—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुओ सादसरूवेण परिणमदि॥ 274॥

जिस कारण केवली जिनके सातावेदनीय का बन्ध उदयस्वरूप एक समय स्थितिवाला होता है, इस कारण असातावेदनीय का उदय सातारूप से परिणम जाता है॥ 274॥

यहाँ यह कहना युक्त नहीं कि कषाय का अभाव होने से वहाँ सातावेदनीय में अनुभाग सम्भव नहीं, क्योंकि कषाय के सद्भाव में जितना अनुभागबन्ध होता है, उतना वहाँ सम्भव न होने से उसका निषेध किया है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ सामावेदनीय में अनुभाग

होता ही नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी सातावेदनीय यह संज्ञा ही नहीं बन सकती। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि केवलीजिन के जो सातावेदनीय का बन्ध होता है, वह वहाँ सत्ता में स्थित असाता के अनुभाग से अनन्तगुणे अनुभाग को लिये हुए ही होता है।

हम पूर्व में केवलीजिन के साता-असातावेदनीय को निमित्तकर इन्द्रियजन्य सुख-दुःख नहीं पाया जाता, इसका उल्लेख कर आये हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार में लिखा भी है—

णट्ठा य राय-दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुह-दुक्खं णत्थि इंदियजं॥ 273॥

जिस कारण केवलीजिन के राग-द्वेष और इन्द्रियज्ञान नष्ट हो गये हैं, इस कारण उनके साता-असाताजन्य सुख-दुःख और इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं पाये जाते॥ 273॥

इस प्रकार आगम इस बात को तो स्वीकार करता है कि केवलीजिन के असातोदय सातारूप से परिणम जाता है, पर यह बात आगम में कहीं भी नहीं बतलाई है कि 'नरक में सातावेदनीय का उदय (फल) असातावेदनीय के रूप में होता है' और न ही यह बात ही बतलाई है कि 'देवगति में दुःखदायक साधन न होने से असातावेदनीय का उदय दुःखदायक नहीं होता।' मालूम नहीं, अपर पक्ष ने अपने मन से ऐसी असत्कल्पना करके उसे कैसे लिपिबद्ध किया। बाह्य-साधन स्वयं न तो दुःखरूप ही होते हैं और न सुखरूप ही। कब कौन दुःख में निमित्त हो और कब कौन सुख में, यह सब भिन्न-भिन्न जीवों की भिन्न-भिन्न परिस्थिति पर निर्भर करता है। महापुराण पर्व 6 में ललितांगदेव और उसकी प्रिय वल्लभा स्वयंप्रभा की कथा आई है। उसमें बतलाया है कि ललितांगदेव की जब छह माह आयु शेष रही, तब उसकी माला म्लान हो गई, कल्पवृक्ष काँपने लगे, शरीर की कांति क्षीण हो गई आदि। इससे वह बहुत दुखी हुआ, देखो (श्लोक 1 से 8 तक)। आगे वहीं उसकी देवी की चर्चा करते हुए लिखा है कि ललितांग देव के स्वर्ग से च्युत होने पर वह स्वयंप्रभादेवी उसके वियोग से चकवा के बिना चकवी की तरह बहुत ही खेद-खिन्न हुई आदि (देखो, श्लोक 50 से 52 तक)।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार देवों में इन्द्रियजन्य सुख है, उसी प्रकार दुःख भी है। नरकों में भी ऐसा ही समझना चाहिये। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 3, सूत्र 3 में जो यह कहा गया

है कि नारकी जीव नित्य अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रियावाले होते हैं, तो वहाँ आये हुए '**नित्य**' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने यही बतलाया है कि उनके आभीक्ष्ण्य (बहुधा) अशुभतर लेश्या आदि पाये जाते हैं। उदाहरण में नित्य (बहुधा) हँसनेवाले देवदत्त को उपस्थित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार देवदत्त नित्य हँसता है अर्थात् कारण मिलने पर हँसता है, उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

इससे सिद्ध होता है कि संसारी जीवों में कर्मोदय के साथ जीव की परिणति की बाह्य व्याप्ति है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार बन्धाधिकार में यह लिखा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो॥ 253॥

जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं दूसरे जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ अज्ञानी है। किन्तु जो इससे विपरीत है, वह ज्ञानी है॥ 253॥

भगवान आचार्य ने इस वचन द्वारा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, और कालादि दूसरे में सुख-दुःख को उत्पन्न करते हैं, इस बात का निषेध किया है। अपने सुख-दुःख की अपने कर्म के साथ बाह्य व्याप्ति क्यों है, इसका स्पष्टीकरण आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 254, 255 और 256 में विशदरूप से किया है। उनकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

सुख-दुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्। स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यम्, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुख-दुःखे कुर्यात्। अतः सुखित-दुःखितान् करोमि सुखित-दुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

प्रथम तो जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है और अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है, इसलिए किसी भी प्रकार से एक-दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसान निश्चित अज्ञान है कि 'मैं पर जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं।'

इस टीका में '**स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्**' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्वाश्रितपने

का ज्ञान कराते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जीव जैसा करता है, वैसा भोगता है।' सुख-दु:खादि की अपने-अपने कर्मोदय के साथ व्याप्ति का जो विधान आचार्य ने किया है, उसका हार्द क्या है—यह उक्त शब्दों द्वारा सुस्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

यहाँ यह शंका करना उचित नहीं है कि जब कि अपने परिणामों के अनुसार जीव कर्मों का उपार्जन करता है और उपार्जित कर्म के अनुसार फल भोगता है, ऐसी अवस्था में उसके संसार का उच्छेद कभी भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभी इस जीव का कर्म और कर्मफल में अरुचि होने के साथ, ज्ञानस्वभाव आत्मा के प्रति आदर उत्पन्न होता है, तभी इसके नये कर्म का बन्ध नहीं होता और सत्ता में स्थित पुराने कर्म की क्रमश: निर्जरा होकर यह मुक्ति का पात्र बनता है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि 'नरक में न तो सातावेदनीय का उदय (फल) असातावेदनीय के रूप में होता है' और न ही यह कहा जा सकता है कि 'देवों में दु:खदायक साधन न होने से असातावेदनीय का उदय दु:खदायक नहीं होता।'

हमने अपने पिछले उत्तर में अपर पक्ष की उक्त मान्यता पर विशेष विचार केवल इस अभिप्राय से नहीं किया था कि वह हमारे संक्षिप्त उत्तर में निहित तथ्य की ओर ध्यान देकर, अपने विचारों में परिवर्तन कर लेगा। किन्तु इसे वह हमारे द्वारा टालना समझकर अपने आगमविरुद्ध अभिमत की पुष्टि में ही इतिकर्तव्यता समझता है, इसलिए यहाँ इतना लिखना पड़ा है। वस्तुत: अपर पक्ष की ओर से ऐसा लिखा जाना कि 'नरक में सातावेदनीय का उदय (फल), असातावेदनीय के रूप में होता है। देवगति में दु:खदायक साधन न होने से, असातावेदनीय का उदय दु:खदायक नहीं है।' एक ऐसा गंभीर प्रश्न है जिससे पूरी कार्य-कारण-परम्परा पर तो पानी फिरता ही है, साथ ही किस कर्म के उदय में क्या कार्य होगा — ऐसा नियम न रहने से पूरी कार्मिक व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है।

अपर पक्ष ने जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 289 से '**पागभावस्स विणासो**' इत्यादि वचन उद्धृत कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न तो किया कि 'जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभाव के विनाश के अनुकूल होगा, वैसा ही उसका विनाश होगा।' आदि। परन्तु उसने इस बात का थोड़ा भी विचार नहीं किया कि जिस प्रकार उसके मतानुसार कर्मोदय से वही कार्य होता है, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होते हैं। किन्तु '**स यथा नाम**' (तत्त्वार्थसूत्र,

अध्याय 8, सूत्र 21) सूत्र के अनुसार जो उस कर्म की अनुभागशक्ति है, उसके अनुसार कार्य नहीं होता, तो उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि से भी वही कार्य होगा, जिसके अनुकूल अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होंगे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को अपना-अपना कार्य करने के लिये अन्य-अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि अपेक्षित होने से, किसी भी कार्य की उत्पत्ति ही नहीं बन सकेगी। ऐसी अवस्था में उक्त उल्लेख से अपर पक्ष को अपने अभिमत की सिद्धि करना चाहता है, वह न होकर यही सिद्ध होता है कि जो जिस कार्य का प्रागभाव होता है—उसके विनाश से वही कार्य होता है और बाह्य सामग्री भी उसके अनुकूल मिलती है।

यहाँ पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्र के जिन तीन उल्लेखों को अपर पक्ष ने अपने पक्ष की पुष्टि में उपस्थित किया है, उनमें से प्रथम उल्लेख द्वारा तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है, उसमें अन्य बाह्य सामग्री निमित्त होती है। वाक्य रचना पर ध्यान दीजिये। उसमें यद्यपि व्यवहारनय की कथनी पर बल दिया गया है, पर निश्चयनय की कथनी को भुलाया नहीं गया है।

दूसरे उल्लेख में निमित्त और निकाचित कर्म स्वमुख से भी उदय में आते हैं और पर मुख से भी उदय में आते हैं, मात्र इतना सूचित किया गया है। कर्मों का परिपाक अनियत है, यह इससे कहाँ सिद्ध होता है। प्रत्युत इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसका जैसा उपादान होता है, उसके अनुसार ही उसका कार्य होता है। हाँ, यदि आगम ग्रन्थों में यह लिखा होता कि ऐसे कर्मों का स्वमुख से ही उदय होता है और फिर बाह्य सामग्री के बल से उनका परमुख से भी उदय बतलाया गया होता, तो अपर पक्ष का यह कहना उचित प्रतीत होता कि इससे कर्मों का अनियत परिपाक सिद्ध होता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः इस उल्लेख से भी अपर पक्ष के अभिमत की पुष्टि नहीं होती, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

तीसरे उल्लेख में आये हुए 'अनुकूल सामग्री' पद पर ध्यान दीजिए। इसमें बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की सामग्री का अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार अकर्मरूप कर्मवर्गणाऐं अपने उपादान के अनुसार कर्मरूप परिणम जाती हैं, उसी प्रकार विवक्षित कर्मरूप परिणमी कर्मप्रकृतियाँ अपने-अपने उपादान के अनुसार अन्यरूप परिणाम जाती है, यह सब उनमें विद्यमान उपादान योग्यता पर निर्भर करता है। इसमें अनियतपने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जबकि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमन करता है, तो वह प्रत्येक समय में अन्य-अन्य

होने ही वाला है। इससे अनियतपना कहाँ सिद्ध होता है। किन कर्मों में सदृश और विसदृश दोनों प्रकार का परिणमन अपने-अपने उपादान के अनुसार होता है, इसी बात को संक्रमण आदि द्वारा सूचित किया गया है। अतएव तत्त्वार्थसूत्र के उक्त उल्लेख भी अपर पक्ष के अभिमत की सिद्धि में सहायक नहीं है।

हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा था—'ऐसा मान लेने पर कि कर्म का उदय होने पर भी, उदय के विरुद्ध साधन मिलने से' आदि। इस पर अपर पक्ष की जिज्ञासा है कि यह आशय हमने उसके कौन से वाक्य का ले लिया है ? समाधान यह है कि अपर पक्ष ने अपनी पिछली प्रतिशंका में लिखा था—'नरक में सातावेदनीय का उदय (फल), असातावेदनीय के रूप में होता है। देवगति में दुःखदायक साधन न होने से, असातावेदनीय का उदय दुःखदायक नहीं होता।'

हम समझते हैं कि अपने द्वारा पिछली प्रतिशंका में लिखे गये उक्त वाक्यों को पढ़कर अपर पक्ष की समझ में यह बात आ जायेगी कि पिछले उत्तर में इन वाक्यों को ध्यान में रखकर हम जो कुछ भी लिख आये हैं, वह फिजूल न होकर प्रदीपशिखा के समान मार्गदर्शक है।

अपर पक्ष यदि यही मानता है कि उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्ष का मेल होने पर कार्य होता है, तो फिर वह उपादान अनेक योग्यतावाला होता है इत्यादि असत्कल्पनाऐं करके उपादान को अनुपादान बनाने की क्यों चेष्टा करता है। तब तो उसे भीतर से यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य अपने प्रतिनियत कार्य का प्रतिनियत उपादान है, अतएव प्रत्येक समय में वह अन्य प्रतिनियत बाह्य सामग्री को निमित्त कर प्रतिनियत कार्य को ही उत्पन्न करता है।

बाह्य सामग्री स्वयं अन्य द्रव्य के कार्य का यथार्थ कारण तो है नहीं, पर बाह्य व्याप्ति के आधार पर उसमें निमित्त या कर्ता आदि व्यवहार होता है, जो असद्भूत है; इसीलिए ही हम उसे अन्य द्रव्य के कार्य की अपेक्षा अकिंचित्कर कहते हैं और यह कहना हमारा ही हो, यह बात नहीं है; शास्त्रकारों ने भी इसे असद्भूत अपरनाम उपचरित कहा ही है। प्रमाण पूर्व में ही दे आये हैं। हमने यहाँ पर जो 'दोनों का मेल होने पर कार्य होता है।' यह लिखा है, सो उसका आशय अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति को दिखलाना भर है, क्योंकि ऐसा ही द्रव्यगत स्वभाव है कि कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है। आभ्यन्तर उपाधि

कार्य का आत्मभूत विशेषण है और बाह्य उपाधि अनात्मभूत विशेषण है। उपाधि विशेषण का दूसरा नाम है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए युक्त्यनुशासन की टीका पृष्ठ 65 में लिखा है—

उपाधिर्विशेषणं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्च....।

उपाधि का अर्थ विशेषण है जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावरूप होती है।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दों में सूचित करते हुए अष्टसहस्री पृष्ठ 150 में लिखा है—

यथा कार्यं बहिरन्तः स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टं सर्वथा निरंशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः।

जैसे कार्य बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियों अर्थात् अनन्त विशेषणों से युक्त होता है, क्योंकि सर्वथा निरंश वस्तु में सकल विशेषणों की व्यवस्था नहीं बन सकती।

जिस प्रकार किसी राजा के राज्य का संचालन करते समय आभ्यन्तर उपाधि आज्ञा, ऐश्वर्य आदि और बाह्य उपाधि छत्र, चमर, सिंहासन आदि दोनों देखे जाते हैं। उनमें राज्य का संचालन छत्र, चमर और सिंहासन आदि नहीं करते। वास्तव में राजा की योग्यता से ही राज्य का संचालन होता है, फिर भी राज्य के संचालन में व्यवहार से छत्र, चमर और सिंहासन आदि को स्थान मिला हुआ है। यह एक दृष्टान्त है। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। आभ्यन्तर उपाधि द्रव्य का आत्मभूत धर्म है, इसलिए कार्य के प्रति उसे ही निश्चय साधन कहा है। बाह्य उपाधि द्रव्य का आत्मभूत धर्म नहीं है, फिर भी कार्य के साथ उसकी बाह्य व्याप्ति नियत से होती है, इसलिए उसे उपचरित हेतु कहा है। इससे हमारे कथन का आशय क्या है, यह अपर पक्ष की समझ में अच्छी तरह से आ जायेगा, ऐसी आशा है।

यदि हमने दोनों को कारण स्वीकार कर लिया या आगम में दोनों को कारण कहा है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों यथार्थ कारण हो गये। जो उपचरित होगा, वह उपचरित ही रहेगा और जो अनुपचरित है, वह अनुपचरित ही रहेगा। यदि किसी बालक को अग्नि कह दिया, तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह बालक यथार्थ में अग्नि हो गया। अग्नि, अग्नि है और बालक, बालक है। अग्नि बालक नहीं और बालक अग्नि नहीं। फिर भी तेज आदि धर्म को देखकर जिस प्रकार बालक में अग्नि का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृत

में जानना चाहिए। उपादानकारण जैसे स्वयं परिणमकर कार्य को उत्पन्न करता है, उस प्रकार बाह्य सामग्री स्वयं परिणमकर उस कार्य को उत्पन्न नहीं करती। फिर भी बाह्य सामग्री के अमुक प्रकार के परिणाम के काल में ही उपादान का अमुक प्रकार का परिणाम होता है, इसलिए बाह्य सामग्री में भी कारण या निमित्त धर्म का उपचार किया गया है। और यही कारण है कि उपचरितपने की विवक्षा किये बिना हमने बाह्य सामग्री को भी कार्य के प्रति निमित्त कहा है।

स्पष्ट है कि हमारे और अपर पक्ष के मध्य जो विचारभेद है, वह बना हुआ ही है। वह तब तक समाप्त नहीं हो सकता, जब तक कि अपर पक्ष बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार को उपचरित नहीं स्वीकार कर लेता।

आगे अपर पक्ष ने अपनी मान्यतानुसार पुनः स्व-परप्रत्यय और स्वप्रत्यय कार्यों का प्रसंग उपस्थित कर अपनी पुरानी मान्यताओं को दुहराने का प्रयत्न किया है और जिन उदाहरणों को जिस शैली में पहले लिपिबद्ध किया था, वे उदाहरण उसी शैली में पुनः यहाँ लिपिबद्ध कर दिये गये हैं। किन्तु उन सबका विस्तार से विचार हम पूर्व में कर ही आये हैं, अतः अपर पक्ष के इस सब कथन को पुनरुक्त समझकर यहाँ विशेष विचार करना उचित नहीं समझते। तथ्यरूप में इतना अवश्य निर्देश कर देते हैं कि—

(1) लोक में ऐसा एक भी कार्य नहीं होता, जिसका मात्र निश्चय हेतु हो और व्यवहार हेतु न हो।

(2) निश्चय उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर, उसके अनुकूल बाह्य सामग्री का योग अवश्य मिलता है।

(3) किसी भी द्रव्य की कार्यमाला किसी समय रुकती नहीं। जहाँ तेल के अभाव में मोटर रुकी—ऐसा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक मानस से प्रतीत होता है, वहाँ मोटर की उपादान शक्ति रुकने की थी; अतः तेल का अभाव उसमें हेतु हुआ—ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि आगम में समर्थ या निश्चय उपादान का लक्षण करते हुए अनन्तरपूर्वपर्याययुक्त द्रव्य को ही उपादान कहा है। यदि किसी के इन्द्रियप्रत्यक्ष से उस समय मोटर में यह समर्थ उपादानता ज्ञात नहीं होती, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मोटर का उपादान तो चलने का था, पर तेल नहीं होने से नहीं चल सकी। प्रत्युत बाह्य सामग्री सूचक होने से तेल के अभाव से यही

सूचित होता है कि उस समय मोटर का उपादान चलने का न होकर स्थिर रहने का था, इसलिए वह स्थिर हो गई और उसमें तेल का अभाव हेतु हो गया।

आचार्यों ने एक यह नियम बना दिया कि बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की सामग्रता में कार्य होता है (स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक 60)। दूसरा यह नियम बना दिया कि उपादान के काल में ही सहकारी सामग्री होती है (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 55)। तथा तीसरा यह नियम बना दिया कि विवक्षित अपने कार्य के करने में अन्त्य क्षण प्राप्तपने का नाम ही सम्पूर्ण है (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 70)। इससे हम जानते हैं कि यदि कोई मात्र इतना मानता है कि मात्र तेल के अभाव में मोटर नहीं चल रही है, तो वह वास्तव में कार्य-कारण परम्परा का ज्ञाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि तेल के रहने पर भी और चालक की उसे चलाने की इच्छा होने पर भी कभी-कभी मोटर नहीं चलती। इससे सिद्ध है कि जिस समय जैसी आभ्यन्तर उपाधि होती है, उस समय उसी के अनुकूल बाह्य सामग्री का योग होकर वह कार्य होता है। कार्य-कारणपरम्परा का यह अव्यभिचारी नियम है।

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक, पृष्ठ 646 का उद्धरण उपस्थित कर पुनः यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सिद्ध जीव की लोकाग्र से आगे गति मात्र धर्मद्रव्य के न होने से नहीं होती। साथ ही और भी अनेक प्रकार की बातें लिखकर प्रतिशंका के कलेवर को बढ़ाया है।

हम पहले इस सम्बन्ध में पर्याप्त लिख आये हैं, क्योंकि अपर पक्ष ने इन सब विषयों की पूर्व में विस्तार से चर्चा की है। अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में यहाँ तत्त्वार्थवार्तिक का जो उद्धरण उपस्थित किया है, उसके पूर्व के '**स्यान्मतं**' इत्यादि कथन पर यदि वह दृष्टि डाल देता, तो वहीं उसे अपनी शंका का समाधान मिल जाता। आचार्यदेव लिखते हैं—

प्रश्न—सिद्ध शिला पर पहुँचने के बाद चूँकि मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन नहीं होता, अतः उष्ण स्वभाव के अभाव में अग्नि के अभाव की तरह मुक्त जीव का भी अभाव हो जाना चाहिए।

उत्तर—मुक्त जीव का ऊर्ध्व ही गमन होता है, तिरछा आदि गमन नहीं होता - यह स्वभाव है, न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्व ज्वलन नहीं करती, तब भी अग्नि बनी रहती है; उसी तरह मुक्त जीव का भी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी अभाव नहीं होता। *—तत्त्वार्थवार्तिक, पृष्ठ 804*

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुक्त जीव का उपादान ही लोकाग्र तक गमन करने का

होने से, वहीं तक उसका गमन होता है। फिर भी व्यवहार हेतु का ज्ञान कराने के लिए आचार्य ने उक्त वचन लिखा, जिसे आधार बनाकर अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका का कलेवर पुष्ट किया है। आचार्य कहीं पर व्यवहार हेतु की मुख्यता से कथन करते हैं और कहीं पर निश्चय हेतु की मुख्यता से। किन्तु ऐसे कथन को नयवचन ही समझना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र के 10 वें अध्याय में '**धर्मास्तिकायाभावात्**' सूत्र व्यवहार हेतु की मुख्यता से ही लिखा गया है। इसलिए जो महानुभाव उस पर से यह अर्थ फलित करते हैं कि उपादान के रहते हुए भी निमित्त के न होने से कार्य नहीं हुआ, वे वस्तुतः कार्यकारणपरम्परा के ज्ञाता नहीं माने जा सकते।

अपर पक्ष पुरुषार्थ करने का निर्देश तो करता है परन्तु स्वावलम्बन को तिलांजलि देकर परावलम्बन को ही कार्य-कारणपरम्परा का मुख्य अंग बनाने का प्रयत्न करते हुए उस पक्ष की ओर से ऐसा लिखा जाना कि 'सर्वज्ञ के प्रति आस्था रखिए, उनके ज्ञान तथा वाणी पर भी आस्था रखिए' आदि, केवल पाठकों को भ्रम में रखनामात्र प्रतीत होता है। स्वामी समन्तभद्र तो स्वयंभूस्तोत्र में यह लिखते हैं—

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोषसूतेः निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते॥ 59॥

अभ्यन्तर अर्थात् उपादान है मूल हेतु जिसका, ऐसे गुण-दोष की उत्पत्ति का जो बाह्य पदार्थ निमित्त है, वह मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुए व्यक्ति के लिए गौण है, क्योंकि हे जिन! आपके मत में केवल अभ्यन्तर हेतु ही कार्यसिद्धि के लिए पर्याप्त है॥ 59॥

और अपर पक्ष यह कहता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए कार्य निमित्त के अनुसार होता है। अब विचार कीजिए कि जो इस प्रकार की कथनी द्वारा उपादान को अनुपादान बनाकर, उसके कार्य को निमित्तों की मर्जी पर छोड़ देता है, उसके द्वारा पुरुषार्थ की बात करना सर्वथा असंगत ही प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि अपर पक्ष का कार्य-कारणपरम्परासम्बन्धी समग्र कथन आगम विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं हो सकता।

अपर पक्ष का कहना है कि 'जब तक ज्ञाता-दृष्टा नहीं बन जाते, तब तक अन्तरंग-बहिरंग साधनों को जुटाना चाहिए।' सो प्रकृत में अपर पक्ष को यही तो समझना है कि जब तक जुटाने का विकल्प है, तभी तक इस जीव की ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणति न होकर, रागरूप परिणति होती है और जिस क्षण यह जीव स्वभावसन्मुख हो अन्तरंग-बहिरंग साधनों के जुटाने के विकल्प से मुक्त हो जाता है, उसी क्षण यह जीव अबुद्धिपूर्वक राग के सद्भाव

में भी ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है। स्वभाव से तो यह जीव ज्ञाता-दृष्टा है ही। परिणति में भी इसे ज्ञाता-दृष्टा बनना है। किन्तु एक ओर तो जुटाने के विकल्प को उपादेय मानता रहे और दूसरी ओर मुख से यह कहता रहे कि मैं ज्ञाता-दृष्टा बनने के मार्ग पर चल रहा हूँ—इसे मोक्षमार्ग का उपहास ही कहा जायेगा। यदि यथार्थ में ज्ञाता-दृष्टा बनने का अन्तरंग से भाव हुआ है, तो सर्व प्रथम ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के प्रति आदरवान् होकर ऐसे मार्ग का अभ्यास करना चाहिए, जिससे यह जीव जुटाने के विकल्प से मुक्त होकर परिणति में भी ज्ञाता-दृष्टा बन सके। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की टीका में उस मार्ग का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

अयि कथमपि मृत्त्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥ 23॥

हे भाई! तू किसी प्रकार महत् कष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी बनकर आत्मानुभव कर कि जिससे सर्व पर द्रव्यों से भिन्न विलसते हुए अपने आत्मा को देखकर, इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा॥ 23॥

यह स्वरूप को प्राप्त करने का मार्ग है, अन्य सब राग के विकल्पों का ताना-बाना है।

हमने अपने पिछले उत्तर में उपादान और निमित्त की विषम व्याप्ति का निषेधकर लिखा था कि प्रत्येक समय में उपादान और निमित्त की प्रत्येक कार्य के प्रति अन्तरंग और बहिरंग व्याप्ति बनती रहती है, जिससे कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्य को करता रहता है। किन्तु अपर पक्ष इसे मानने के लिए तैयार नहीं है। उस पक्ष का कहना है कि 'निमित्त के अनुकूल उपादान का समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादान के अनुकूल निमित्त का समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा।'

इस पर पृच्छ यह है कि मान लो किसी समय निमित्त के अनुकूल उपादान का समागम नहीं हुआ, तो कार्य होगा या नहीं? और इसी प्रकार किसी समय उपादान के अनुकूल निमित्त का समागम नहीं हुआ, तो भी कार्य होगा या नहीं?

अपर पक्ष यह तो कह नहीं सकता कि उस समय वह द्रव्य अपना कार्य ही नहीं

करेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर वह द्रव्य अपरिणामी हो जायेगा। किन्तु जैन शासन में किसी भी द्रव्य को अपरिणामी माना नहीं गया है। द्रव्य का लक्षण ही यह है—'**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्।**' तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 30 व 29।

अतएव अपर पक्ष को प्रकृत में यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कार्य का समर्थ उपादान है और प्रत्येक समय में उसके अनुकूल प्रयोग से या विस्रसा बाह्य सामग्री भी मिलती रहती है। परीक्षामुख या दर्शन-न्याय के अन्य जिन ग्रन्थों में प्रतिबन्धक कारणों के अभाव और कारणान्तरों की अविकलता का निर्देश दिया है, वह कैसी स्थिति में कारण कार्य का अनुमापक होता है, यह बतलाने के लिए किया है। जिस समय किसी के ज्ञान में प्रतिबन्धक कारण प्रतिभासित हो रहे हैं या कारणान्तरों की विकलता ज्ञात हो रही है, उस समय भी अपने उपादान के अनुसार उस द्रव्य ने अपना कार्य किया है और जिसे दूसरा व्यक्ति प्रतिबन्धक कारण मान रहा है या कारणान्तरों की विकलता समझ रहा है, सम्भव है वह सब बाह्य सामग्री उस समय होनेवाले कार्य में बाह्य हेतु हो रही हो। ज्ञान में जो प्रतिबन्धक कारणों का सद्भाव या कारणान्तरों की विकलता झलक रही है, वह मन में सोचे गये कार्य की अपेक्षा प्रतीत हो रही है। किन्तु किसी द्रव्य ने यह ठेका नहीं लिया कि दूसरे व्यक्ति की विवक्षा के अनुसार उस समय उस कार्य का उसे उपादान होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो द्रव्य जिस समय जिस कार्य को करता है, उस समय वह उसका उपादान नियम से होकर ही उसे करता है और उस कार्य के अनुकूल बाह्य सामग्री उस समय नियम से मिलती है।

आगे अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका में उपस्थित किये गये तर्कों पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करने की सलाह देने के बाद अपनी कल्पित उस मान्यता को पुनः दुहराया है, जिसमें अपर पक्ष ने समर्थ या निश्चय उपादान को अनेक योग्यतावाला प्रसिद्ध करके प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति बाह्य सामग्री के आधार पर स्वीकार की है। किन्तु अपर पक्ष की यह मान्यता असमीचीन कैसे है, इसका आगम से अच्छी तरह खुलासा हो जाता है। आगम में एक द्रव्य की अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायों में कारण-कार्यभाव स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

यथा—अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्। *—प्रमेय रत्नमाला, अध्याय 3, सूत्र 57।*

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समर्थ उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर, प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है।

परीक्षामुख अध्याय तीन में अविनाभाव का लक्षण लिखते हुए बतलाया है—

सह-क्रमभावनियमोऽविनाभ्भावः ॥1 2॥

सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं॥ 12॥

आगे क्रमभाव नियम को दिखलाते हुए वहाँ लिखा है—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्य-कारणयोश्च क्रमभावः॥ 14॥

पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है।

इससे विदित होता है कि कारण और कार्य में क्रमभाव नियमरूप अविनाभाव है। और इसी आधार पर '**यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्य कारणम्**'—जिसके अनन्तर जो होता है, वह उसका कारण है—यह वचन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से इन तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—

(1) उपादानकारण और कार्य में क्रमभाव अविनाभाव नियम है।

(2) उपादानकारण समनन्तर पूर्व पर्यायरूप होता है और कार्य समनन्तर उत्तर पर्यायरूप होता है।

(3) प्रमेयरत्नमाला के पूर्वोक्त उल्लेख द्वारा पर्याय में उपादानकारणता स्वीकार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक उपादानकारण जिस कार्य को जन्म देता है, उसी योग्यता की अपेक्षा ही वह उपादानकारण कहलाता है।

(4) उक्त कथन की पुष्टि इससे भी होती है कि जिस प्रकार द्रव्यदृष्टि से बाह्य सामग्री अनेक योग्यतावाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूप से ही वह अन्य द्रव्य के कार्य में निमित्त होती है। उसी प्रकार अन्तः-सामग्री द्रव्यदृष्टि से अनेक योग्यतावाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूप से ही वह अपने कार्य की उत्पत्ति में उपादानकारण होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती वस्तु, उत्तर क्षण में प्रतिनियत कार्य को ही उत्पन्न करती है। उस समय उसमें अनेक कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता ही नहीं होती। उसे आगम में निश्चय (यथार्थ) कर्ता इसीलिए ही स्वीकार किया गया

है। परसापेक्ष कार्य होता है, यह व्यवहारनय वक्तव्य है; निश्चयनय से तो प्रत्येक कार्य परनिरपेक्ष ही होता है, इसलिए जिस समय जो द्रव्य जिसरूप परिणमता है, वह यथार्थ में अन्तःसामग्री के बल पर ही परिणमता है। अतएव प्रकृत में यही स्वीकार करना चाहिये कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाला होता है, उसी प्रकार वह किस समय किस परिणाम को उत्पन्न करे, यह भी उसके स्वभाव में दाखिल है, क्योंकि कर्ता, कर्म और क्रिया—ये तीनों वस्तुपने की अपेक्षा अभिन्न है। उत्पाद का अर्थ केवल परिणमन ही नहीं है। किन्तु उसमें परिणाम और परिणमन क्रिया दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 30 में कहा है—

चेतनास्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावन्तरावाप्ति-रुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

अपनी जाति को न छोड़ते हुए चेतन और अचेतन द्रव्य का उभय निमित्त के वश से भावान्तर को प्राप्त करने का नाम उत्पाद है, जैसे मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय।

तत्त्वार्थवार्तिक में इसी प्रसंग से उत्पाद का यही अर्थ किया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसी प्रसंग से उत्पाद का लक्षण निबद्ध करते हुए लिखा है—

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों से विदित होता है कि उत्पाद में केवल परिणमन क्रिया का ग्रहण न होकर, जिस समय जिस परिणामरूप द्रव्य परिणमता है, वह परिणाम भी गृहीत है।

अतएव अपर पक्ष का यह कहना तो बनता नहीं कि प्रत्येक वस्तु मात्र स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली है, उसमें किस समय क्या परिणाम उत्पन्न हो, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री अन्तःविशेषण है और प्रतिविशिष्ट बाह्य-सामग्री बाह्य-विशेषण है, इसलिए जिस समय अन्तः-बाह्य जैसी सामग्री का योग होता है, (जो प्रति समय नियम से होता ही है) उसके अनुरूप परिणाम को उत्पन्न करना, यह प्रत्येक द्रव्य का स्वतः-सिद्ध स्वभाव है। इसके लिए अष्टसहस्री, पृष्ठ 150 पर दृष्टिपात कीजिए। प्रमाण पूर्व में ही लिपिबद्ध कर आये हैं। वस्तुतः यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है, यह व्यवहारनय का ही वक्तव्य है। पर्यायार्थिकनय

से तो जो पर्याय जिस काल में उत्पन्न होती है, वही उसका कार्य है और वही उसका कारण है। देखो, तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 33। यथा—

पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्, अतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभगिति पर्यायार्थिकः।

पर्याय ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन है जिसका; द्रव्य नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत पर्यायें विनष्ट और अनुत्पन्न होने से उनका व्यवहार नहीं बनता। वही एक पर्याय कार्य-कारण व्यपदेश को प्राप्त है—ऐसा जिसका मत है, वह पर्यायार्थिकनय है।

अतएव अपर पक्ष को अपने मत का आग्रह छोड़कर प्रकृत में यही निर्णय करना चाहिए कि प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर अपने प्रतिनियत कार्य को ही करता है और प्रतिनियत बाह्य सामग्री उसमें नियम से निमित्त होती है। इसमें किसी समय भी खण्ड पड़ना सम्भव नहीं।

यहाँ यह अपर पक्ष ने उपादान और निमित्त शब्द का निरुक्त्यर्थ लिखकर अपने अभिप्राय की पुष्टि करनी चाही है। किन्तु आगम में निमित्त शब्द कारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—**उभयनिमित्तवशात्।** सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 30। इस वचन द्वारा जैसे बाह्य सामग्री में निमित्त शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार प्रतिविशिष्ट अन्तः सामग्री के अर्थ में भी निमित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 7 में भी '**निमित्त**' शब्द दोनों प्रकार की सामग्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा — **उभयनिमित्तापेक्षः** (पृष्ठ 367), **उभयनिमित्तापेक्षत्वात्** (पृष्ठ 398)। अतएव केवल निरुक्ति के बल पर बाह्य सामग्री में किये गये निमित्त व्यवहार को यथार्थ कारण के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है। प्रकृत में अपर पक्ष को विचार इस बात का करना चाहिए कि आगम में जो उपादान को निमित्त कहा है, वह किस अपेक्षा से कहा है और बाह्य सामग्री में जो निमित्त व्यवहार किया है, वह किस अपेक्षा से किया है। तत्त्वनिर्णय का यह यथार्थ मार्ग है। यदि अपर पक्ष इस मार्ग से तत्त्व का निर्णय करे, तो उसे बाह्य सामग्री में किये गये निमित्त व्यवहार को उपचरित या असद्भूत मानने में आपत्ति ही न हो। फिर भी यदि अपर पक्ष '**निमित्त**' शब्द के निरुक्त्यर्थ के आधार से ही प्रकृत विषय को ग्रहण करना चाहता है, तो उसे इसके लिए उपादान पर ही दृष्टिपात करना चाहिए। वह प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक परिणमन का मित्र या तेल के समान वास्तव में स्नेहन करता ही है और उसके साथ एक कालप्रत्यासत्ति होने से बाह्य सामग्री भी

उपचार से उस संज्ञा को धारण करती है। इससे प्रत्येक कार्य में उपादान का क्या स्थान है और बाह्य सामग्री का क्या स्थान है, इसका निर्णय हो जाता है। फिर भी यदि अपर पक्ष असद्भूत व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को कार्य के प्रति मददगार, सहकारी या उपकारी आदि कहना चाहता है, तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि आगम में भी इसी अभिप्राय से बाह्य सामग्री को उक्त शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया ही है।

आगे अपर पक्ष ने पण्डितप्रवर बनारसीदासजी के '**पदस्वभाव**' इत्यादि दोहे को उद्धृत कर और उसके विषय का गोम्मटसार कर्मकाण्ड में प्रतिपादित (काल आदि) विषय के साथ मिलान करते हुए अन्त में लिखा है कि 'परन्तु जब आप द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं या सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इन सिद्धान्तों के माननेवाले हैं, तो कार्योत्पत्ति में फिर इन पाँच के समवाय की आपकी दृष्टि में क्या आवश्यकता है?' आदि।

समाधान यह है कि '**यदन्तरं यद्भवति**' सिद्धान्त के अनुसार इन पाँच का प्रत्येक समय में युगपत् योग होता है और ऐसा योग होने पर अनन्तर समय में अपने उपादान के अनुरूप कार्य भी होता है, इसलिए इन पाँच में कारणता स्वीकार की गई है। उदाहरणार्थ जब कुशूल पर्याययुक्त मिट्टी से घट पर्याय की उत्पत्ति होती है, तब उसमें मिट्टी का अन्वय रहता ही है; परन्तु मिट्टी जब भी घट बनेगी, अपनी कुशूल पर्याय के बाद ही बनेगी। इससे पूरवा, रकावी आदि अन्य-अन्य पर्यायों की उत्पत्ति त्रिकाल में नहीं हो सकती, इसलिए कुशूल पर्याय में घट की कारणता स्वीकार की गई है। कुशूल से घट पर्याय की उत्पत्ति होते समय मिट्टी स्वयं परिवर्तित होकर घट बनेगी, इसलिए वीर्य या पुरुषार्थ में कारणता स्वीकार की गई है। मिट्टी, कुशूल पर्याय से घट पर्याय को उत्पन्न करते समय प्रतिनियत क्रियायुक्त कुम्भकार आदि में कारणता स्वीकार की गई है। तथा मिट्टी से घट पर्याय की उत्पत्ति अपने प्रतिनियत काल में ही होगी, इसलिए प्रतिनियत काल में कारणता स्वीकार की गई है। इस प्रकार उक्त पाँच के समवाय में प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए उक्त पाँचों में कारणता स्वीकार की गई है। जैसे अपर पक्ष यह मानता है कि अपने स्वभाव के अनुरूप ही उपादान होता है, वैसे इसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रतिनियत कार्य के लिए इन पाँच का योग प्रतिनियत काल में ही होता है, अन्यथा कोई भी द्रव्य परिणामस्वभावी नहीं बन सकता।

महापुराण पर्व 9 में वर्णित वज्रजंघ आर्य की कथा से इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। वज्रजंघ आर्य को दो चारणऋद्धिधारी मुनियों को आता हुआ देखकर जातिस्मरण होता है और वह स्नेह से प्लावित चित्त होकर पूछता है। ज्येष्ठ मुनि संबोधित कर उसे समझाते हुए अन्त में कहते हैं कि हे आर्य! इस समय सम्यक्त्व को ग्रहण कर, उसके ग्रहण करने का ही यह काल है, क्योंकि काललब्धि के बिना इस संसार में जीवों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती॥ 115॥ देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण सम्पदा तथा करणलब्धिरूप अन्तरंग कारणसामग्री के होने पर भव्य आत्मा विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है॥116॥

यह महापुराण का उल्लेख है। इसमें '**भव्यात्मा**' पद द्वारा स्वभाव को सूचित किया गया है, '**करणलब्धि**' पद द्वारा निश्चय या समर्थ उपादान को सूचित किया गया है। यह सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने का ही काल है और '**काललब्धि**' पदों द्वारा प्रतिनियत काल को सूचित किया गया है। '**देशनालब्धि**' पद द्वारा अन्य बाह्य सामग्री को सूचित किया गया है। तथा '**गृहाण**' पद द्वारा पुरुषार्थ को सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति स्वभाव आदि पाँचों का समवाय होने पर ही होती है और यत: प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपना-अपना कार्य करता ही है, अत: प्रत्येक समय में पाँचों का समवाय होता रहता है, यह भी इससे सिद्ध होता है। महापुराण पर्व 9 का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

तद् गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एव ते।
काललब्ध्या बिना नार्य! तदुत्पत्तिरिहांगिनाम्॥ 115॥

देशना-कालब्ध्यादिबाह्यकारणसम्पदि।
अन्त:करणसामग्र्यां भव्यात्मा स्यात् विशुद्धकृत् [दृक्]॥ 116॥

हमें भरोसा है कि उक्त विवेचन से अपर पक्ष के समझ में यह बात अच्छी तरह से आ जायेगी कि 'पाँचों के समवाय में प्रत्येक कार्य होता है' इस सिद्धान्त का 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती है' इस सिद्धान्त के साथ तथा 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस सिद्धान्त के साथ किसी प्रकार का विरोध न होकर, अविरोध ही है। जहाँ 'सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर होते हैं' यह कहा जाता है, वहाँ अन्य चार कारणों की गौणता होकर कार्यकाल की मुख्यता रहती है और जहाँ 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रम से ही होती है' यह कहा जाता है वहाँ अन्य कारणों की गौणता होकर समर्थ या निश्चय उपादान की मुख्यता रहती है। अथवा 'प्रत्येक समय में

प्रतिनियत पाँचों का समवाय नियम से होता है और तदनुसार प्रत्येक समय में प्रतिनियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है' इस व्यवस्था के अनुसार भी यह कहा जाता है कि 'द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती हैं।' अपर पक्ष को यह दृष्टिपथ में लेना चाहिए कि जिस प्रकार पंक्तिबद्ध किसी सेना के सैनिक चलते समय क्रमभंग किये बिना अपने पग उठाते और धरते हैं, अतएव उनके पग नियत क्रम से ही उठाये जाते और रखे जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अनादि काल से नियत क्रम से ही परिवर्तन करता हुआ आ रहा है। कहीं किसी द्रव्य के कभी किसी परिवर्तन में किसी प्रकार का क्रमभंग नहीं हुआ, अत: उनका प्रत्येक समय में प्रतिनियत ही योग मिलता है और उससे प्रतिनियत ही कार्य होता है। अनादिकाल से अब तक एक द्रव्य के जितने परिणाम हुए, उतने ही दूसरे द्रव्य के हुए। ऐसी अवस्था में सभी कार्य क्रमनियत ही होते हैं, अन्य प्रकार से नहीं हो सकते—ऐसा निर्णय यहाँ करना चाहिए।

अपर पक्ष यदि इस कार्य-कारणभाव की प्रतिनियत व्यवस्था को गोरखधन्धा समझता है, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं दिखलाई देता, क्योंकि वह सभी तथ्यों का निर्णय अपने श्रुतज्ञान के द्वारा ही करना चाहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 237 में आचार्य प्रभाचन्द्र तो यह लिखते हैं—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नौत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्य, कारण का उपकार तो करता नहीं, अत: वह प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है, तो सबको क्यों नहीं उत्पन्न करता है—ऐसा प्रश्न होने पर उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने **अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं** (स्व० स्तो०) इत्यादि कारिका द्वारा प्रत्येक कार्य के प्रति प्रतिनियत भवितव्यता को ही स्वीकार किया है।

और अपर पक्ष इन सब तथ्यों का उल्लंघनकर तथा अपने श्रुतज्ञान के बल पर प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला बतलाकर, बाह्य सामग्री में समर्थ यथार्थ कारणता स्वीकार करता हुआ भी उसे गोरखधन्धा नहीं समझता, इसका हमें आश्चर्य है।

उपचरित कारण कौन और अनुपचरित कारण कौन? इस प्रश्न का समाधान यह है

कि बाह्य सामग्री अपने से भिन्न अन्य द्रव्य के कार्य का वास्तविक कारण तो नहीं, फिर भी उसमें कारणता स्वीकार की गई है, इसलिए तो उसे उपचरित कारण समझना चाहिए और अन्तरंग सामग्री स्वयं कारण होकर अपने से अभिन्न कार्य को उत्पन्न करती है, इसलिए उसे अनुपचरित कारण जानना चाहिए। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस आधार पर स्वभाव आदि पाँच में से कौन उपचरित कारण है और कौन अनुपचरित कारण है, इसका निर्णय कर लेगा।

निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इनके विषय का स्पष्ट खुलासा प्रतिशंका 6 में आगे करनेवाले ही हैं। फिर भी समयसार गाथा 272 की आत्मख्याति टीका के आधार पर प्रकृत में इतना स्पष्टीकरण कर देना पर्याप्त है कि निश्चयनय, स्व के आश्रित है और असद्भूत व्यवहारनय, पर के आश्रित है। तथा निश्चयनय के विषय में भेद विवक्षा होने पर, वही (विकल्प) सद्भूत व्यवहारनय हो जाता है। असद्भूत व्यवहारनय का विषय उपचरित क्यों है और निश्चयनय का विषय अनुपचरित क्यों है, यह उक्त विवेचन से अपर पक्ष की समझ में अच्छी तरह से आ जायेगा।

हमने अपने पिछले विवेचन में यह लिखा था कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचों के समवाय की अपेक्षा क्रमनियत होता है, अनियतक्रम से नहीं होता। ऐसे अनेकान्त को स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' किन्तु अपर पक्ष ने इस पर टिप्पणी करते हुए हमारा ध्यान समयसार की आत्मख्याति टीका में निर्दिष्ट अनेकान्त के लक्षण की ओर आकृष्ट किया है और साथ ही हमारे द्वारा निर्दिष्ट की गई उक्त व्यवस्था पर आश्चर्य और दुःख भी प्रगट किया है।

इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि उक्त कथन में हमने जो कुछ लिखा है, वह जिनागम को लक्ष्य में रखकर ही लिखा है। इस प्रसंग में हमें अपर पक्ष ने जैन संस्कृति का योग्यतम विद्वान सूचित किया है, उसके लिए तो हम उस पक्ष के आभारी हैं। किन्तु साथ ही यह भी संकेत कर देना चाहते हैं कि यदि अपर पक्ष का पूरे जिनागम पर ध्यान गया होता, तो उसे हमारे उक्त कथन पर न तो आश्चर्य ही होता और न ही दुःख प्रगट करने का उसे अवसर आता, क्योंकि जिनागम में जहाँ (अनेकान्त को वस्तु का स्वरूप स्वीकार करते हुए) एक ही वस्तु में उसके वस्तुत्व का प्रकाशन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्तिद्वय का प्रकाशन अनेकान्त स्वीकार किया गया है, वहाँ दूसरे प्रकार के विरोध के परिहार में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके लिए तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 5 पर दृष्टिपात कीजिए—

शंकाकार विरोध होने से नामादि चार का अभाव करता है। उसका कहना है कि एक

शब्दार्थ के नामादि चार विरुद्ध हैं। यथा—जो नाम है, वह नाम ही है; स्थापना नहीं हो सकता। यदि स्थापना को नाम कहते हो, तो वह नाम नहीं होगा। यदि कहो कि तो वह स्थापना रहा आवे, तो शंकाकार कहता है कि वह स्थापना नहीं हो सकता, क्योंकि वह नाम है। अतएव नामार्थ विरोध होने से स्थापना नहीं हो सकता?

यह एक शंका है। भट्टाकलंकदेव ने इस शंका का कई प्रकार से समाधान किया है। उनमें से एक समाधान अनेकान्त का आश्रय लेकर किया गया है। उनका वह समग्र वचन इस प्रकार है—

अनेकान्ताच्च ॥ 22 ॥ नैतदेकान्तेन प्रतिजानीमहे—नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च। कथम्?

मनुष्यब्राह्मणवत्॥ 23 ॥ यथा ब्राह्मणः स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात्। मनुष्यस्तु ब्राह्मणः स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्। तथा स्थापना स्यान्नाम, अकृतानाम्नः स्थापनानुपपत्तेः, नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्।

और अनेकान्त है ॥ 22 ॥ यह हम एकान्त से नहीं स्वीकार करते कि नाम ही स्थापना है अथवा नहीं है, अथवा स्थापना नाम है या नहीं है। कैसे?

मनुष्य-ब्राह्मण के समान ॥ 23 ॥ जिस प्रकार ब्राह्मण कथंचित् मनुष्य जातिस्वरूप होता है। परन्तु मनुष्य ब्राह्मण है, नहीं भी है; क्योंकि मनुष्य ब्राह्मण जाति आदि पर्यायस्वरूप नहीं भी देखा जाता है। वैसे ही स्थापना कथंचित् नाम है, क्योंकि अकृत नामवाले की स्थापना नहीं बन सकती। परन्तु नाम स्थापना है और नहीं भी है, क्योंकि दोनों प्रकार से व्यवहार देखा जाता है।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि नाम और स्थापना ये दोनों व्यवहार हैं, वस्तुस्वरूप नहीं। फिर भी एक वस्तु में इन दोनों के आश्रय से होनेवाले व्यवहार में आनेवाले विरोध का परिहार, जैसे अनेकान्त का अवलम्बन लेकर किया गया है, उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहाँ निश्चयनय की अपेक्षा स्वभाव, समर्थ उपादान और पुरुषार्थ का समवाय है, वहाँ निश्चयनय के विषय का अविनाभावी प्रतिनियत काल और वह बाह्य सामग्री भी है, जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, अतएव इस अपेक्षा से हमारा यह कहना सर्वथा योग्य है कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचों के समवाय की अपेक्षा क्रमनियत

होता है, अनियत क्रम से नहीं होता—ऐसे अनेकान्त को स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' इसी तथ्य को पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने इन शब्दों में स्वीकार किया है—

पदस्वभाव पूरव-उदय निहचे उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यातपथ सरवंगी शिवचाल॥

प्रत्येक द्रव्य में ऐसी स्वाभाविक योग्यता है कि किसके बाद वह किसरूप परिणमे। उसमें ऐसी योग्यता नहीं है कि वह अपने एक परिणाम के बाद दूसरे समय में परिणमनेरूप अनेक योग्यतावाली होकर सर्वथा भिन्न परवस्तु द्वारा उनमें से किसी एकरूप परिणमे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में क्रमनियत अपनी योग्यता और तद्रूप परिणाम की अपेक्षा अस्ति है और पर के द्वारा अनेक योग्यताओं में से किसी एकरूप परिणमे, इसकी सर्वथा नास्ति है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ अनेकान्त भी प्रत्येक द्रव्य में घटित हो जाता है। अतएव अपर पक्ष ने जो हमारे उक्त कथन को ध्यान में रखकर विरोध प्रदर्शित किया है, वह उचित नहीं है—ऐसा मथितार्थ भी प्रकृत में जानना चाहिए। आशा है कि उक्त कथन से प्रत्येक वस्तु में अनेकान्तता कैसे घटित होती है, यह अच्छी तरह से समझ में आ जायेगा।

पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने आत्मा को ध्यान में रखकर यद्यपि '**पदस्वभाव**' इत्यादि पद लिखा है, परन्तु लोक में जितने भी कार्य होते हैं, उन सबमे स्वभाव, निमित्तभूत, बाह्य-सामग्री, निश्चय या समर्थ उपादान, अपनी-अपनी सामर्थ्य और प्रतिनियत काल इन पाँच का समवाय आगम में बतलाया है, तदनुसार प्रतीति में भी आता है। एकमात्र इसी आधार पर हमने उक्त दोहे में प्रतिपादित विषय को वस्तु-सामान्य के कार्य-कारणभाव का अंग बनाकर कथन किया है। यदि अपर पक्ष उक्त दोहे के विषय को सर्वत्र लागू नहीं करना चाहता, तो न करे। परन्तु इस तथ्य को तो उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्रत्येक कार्य इन पाँच के समवाय में होता है।

एक बात तो यह हुई। दूसरी बात यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में काल, ईश्वर आदि एकान्तों का कथन क्रियावादियों के प्रसंग से आता है तथा ईश्वर निमित्तभूत बाह्य-सामग्री का प्रतिनिधि है और आत्मा पद द्वारा द्रव्य की स्वशक्ति का भान होता है। यही कारण है कि हमने अपने कथन में उक्त प्रकार से संगति बिठलाई है, जो कार्य-कारणभाव को देखते हुए उचित ही है।

अपर पक्ष ने '**निहचे अभेद अंग**' इत्यादि पद को उद्धृत कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यहाँ कार्य-कारणभाव का प्रसंग नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि अपर पक्ष उक्त पद्य के अर्थ पर सूक्ष्मता से ध्यान दे, तो उसमें उसे कार्य-कारणभाव के दर्शन हो जावेंगे। '**उदै गुन की तरंग**' पद द्वारा कर्मोदय में होनेवाली ज्ञानादि गुणों की पर्यायों की सूचना मिलती है तथा '**काल की सी ढाल परिनाम चक्रगति है।**' पद द्वारा जो जीव के परिणामों की चक्रगति चल रही है, उसमें प्रतिनियत काल निमित्त है—यह ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। स्पष्ट है कि '**पदस्वभाव**' इत्यादि पद्य द्वारा 'इस जीव में मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि कैसे होती है'—इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में प्रतिपादित पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद और लोकवाद—इन चार एकान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने जिन 363 मतों का कथन किया है, उनसे बहिर्भूत होकर भी ये एकान्त क्रियावादियों के ही मत हैं। हम समझते हैं कि इस तथ्य को स्वीकार करने में अपर पक्ष को कोई विवाद न होगा। ऐसी अवस्था में यदि हमने ईश्वर और आत्मा को उपलक्षण मानकर, ईश्वर के स्थान में निमित्तभूत बाह्य-सामग्री और आत्मा के स्थान पर पुरुषार्थ का निर्देश किया है, तो यह उचित ही किया है। **इससे बाह्य-सामग्री के बल पर कार्य की उत्पत्ति माननेवाले और पुरुषार्थ के बल पर प्रतिनियत समय से आगे-पीछे कार्य की उत्पत्ति माननेवाले एकान्तवादियों का निरसन हो जाता है।**

अपर पक्ष ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अनुसार एकान्त कालवाद आदि का निर्देश करने के बाद जो यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि ' आपके अभिप्राय का समर्थन इन गाथाओं से कदापि नहीं होता।' इस सम्बन्ध में विशेष न लिखकर मात्र इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त कथन का क्या अभिप्राय है, इसकी विस्तृत चर्चा हम स्वयं इसी उत्तर में पहले कर आये हैं। उससे यह बात अपर पक्ष की समझ में अच्छी तरह से आ गई होगी कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त उल्लेख का वही आशय है, जो हमने लिखा है।

सब कार्यों के जितने कारण हैं, उन सबका वर्गीकरण द्वारा स्वभाव आदि पाँच में समावेश हो जाता है, इसलिए '**जावदिया वयणवहा**' इस गाथा द्वारा परसमयों का निर्देश होने पर भी हम सब कार्यों के सब कारणों को पाँच प्रकार का मानने में कोई बाधा नहीं आती।

जिसका इन पाँच में समावेश नहीं हो सकता—ऐसे कारण का निर्देश अपर पक्ष ने किया भी नहीं है। अतएव प्रत्येक कार्य के कारण पाँच ही प्रकार के हैं—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जबकि जैनदर्शन यह स्वीकार करता है कि 'जितने वचनपथ हैं, उतने नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने परसमय हैं और साथ ही जबकि यह भी स्वीकार करता है कि पर समयों के वचन '**सर्वथा**' वचन से युक्त होने के कारण नियम से मिथ्या हैं और '**कथंचित्**' वचन से युक्त होने के कारण जैनों के वचन समीचीन है।' ऐसी अवस्था में इससे यही फलित होता है कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड के कथन में आचार्यश्री नेमिचन्द्र की यही दृष्टि रही है कि काल आदि एक-एक के आश्रय से कार्यों की उत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और स्वभाव, प्रतिनियत बाह्य सामग्री, निश्चय उपादान, पुरुषार्थ (बल) तथा प्रतिनियत काल के समवाय से कार्यों की उत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्व में ही कर आये हैं।

180 प्रकार के क्रियावादियों में यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्र ने ईश्वरवाद और आत्मवाद को भी प्रमुखता दी है, यह सच है। किन्तु इन दर्शनों का प्राबल्य देखकर ही इन्हें प्रमुखता दी गई है। पर जैनदर्शन के अनुसार ईश्वरवाद का अर्थ निमित्तवाद और आत्मवाद का अर्थ पुरुषार्थवाद करने पर पूरी संगति बैठ जाती है। अन्यथा उनका यह कथन नहीं बनता कि 'जितने परमसय के वचन हैं, वे '**सर्वथा**' पद से युक्त होने के कारण मिथ्या है और जैनों के वचन '**कथंचित्**' पद से युक्त होने के कारण समीचीन हैं।' उनका गोम्मटसार कर्मकाण्ड का वह वचन इस प्रकार है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो॥ 895॥

अर्थ पूर्व में ही दिया है।

इससे खींचातानी नहीं की गई है, किन्तु आगम का आशय ही स्पष्ट किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

आगे अपर पक्ष ने स्वभाव, निमित्तभूत बाह्य सामग्री, नियति (निश्चय उपादान), पुरुषार्थ और प्रतिनियत काल, इन पाँच को स्वीकार करके भी उनका सम्बन्ध '**पदस्वभाव**' इत्यादि दोहे और गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त कथन से नहीं जोड़ना चाहा, सो यह अपर पक्ष की मर्जी है कि वह इन पाँच के साथ उनका सम्बन्ध जोड़े या न जोड़े, परन्तु हमें इसमें कोई प्रत्यवाय (विरुद्धता) नहीं दिखलाई देता। विशेष खुलासा पूर्व में ही किया है।

आगे अपर पक्ष ने स्वभाव आदि पाँच को कारणरूप से स्वीकार करके भी उनका जो अर्थ किया है, वह क्यों ठीक नहीं है। इसे समझने के लिए पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी के इस कथन पर दृष्टिपात कीजिए। यह कथन उन्होंने वीर सं० 2486 में श्री परम श्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 321-322 गाथाओं पर लिखे गये भावार्थ के रूप में लिपिबद्ध किया है, जो इस प्रकार है—

'सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव नियत है। जिस समय जिस क्षेत्र में जिस वस्तु की जो पर्याय होनेवाली है, वही होती है; उसे कोई नहीं टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। किन्तु उनके जान लेने से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नहीं हुआ, बल्कि नियत होने से ही उन्होंने उन्हें उस रूप में जाना है। जैसे, सर्वज्ञदेव ने हमें बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय पूर्व पर्याय नष्ट होती है और उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। अतः पूर्व पर्याय, उत्तर पर्याय का उपादानकारण है और उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय का कार्य है। इसलिए पूर्व पर्याय से जो चाहे उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो मिट्टी के पिण्ड में स्थास कोस पर्याय के बिना भी घट पर्याय बन जायेगी। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भय से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं, किन्तु काल को नियत नहीं मानते। उनका कहना है कि पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है, किन्तु काल नियत नहीं है; काल को नियत मानने से पौरूष व्यर्थ हो जायेगा। किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्त विरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि काल को अनियत माना जायेगा, तो काललब्धि कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर तो संसार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक शेष रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और बिना उस काल को पूरा किये ही मुक्ति हो जायेगी। किन्तु यह सब बातें आगमविरुद्ध हैं। अतः काल को भी मानना ही पड़ता है। रही पौरुष की व्यर्थता की आशंका, सो समय से पहले किसी काम को पूरा कर लेने से ही पौरुष की सार्थकता नहीं होती। किन्तु समय पर काम का हो जाना ही पौरुष की सार्थकता का सूचक है। उदाहरण के लिये, किसान योग्य समय पर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है। तभी समय पर पक कर गेहूँ तैयार होता है। तो क्या किसान का पौरुष व्यर्थ कहलायेगा ? यदि

वह पौरुष न करता तो समय पर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः काल की नियतता में पौरुष के व्यर्थ होने की आशंका निर्मूल है। अतः जिस समय जिस द्रव्य की जो पर्याय होती है, वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्ति में हर्ष और विपत्ति में विषाद नहीं करता, और न सम्पत्ति की प्राप्ति तथा विपत्ति को दूर करने के लिये देवी-देवताओं के आगे गिड़गिड़ाता फिरता है ॥321-322॥

यह श्री पण्डित कैलाशचन्द्रजी के शब्दों में आगम का सार है।

इस प्रकार अपर पक्ष के तृतीय दौर की प्रतिशंका पर विस्तार के साथ विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि द्रव्यों में होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रम से ही होती है, अनियत क्रम से त्रिकाल में नहीं होतीं।

●